सस्कृत काव्यशास्त्र में अलंकारों का विकास

दशरथ द्विवेदी



संस्कृत काव्यशास्त्र
में
अलंकारों का विकास

डॉ. दशरथ द्विवेदी

इदं कविभ्यः पूर्वेभ्यो नमोवाकं प्रशास्महे ।
वन्देमहि च तां वाणीममृतामात्मनः कलाम् ।।

—भवभूति

संस्कृत काव्यशास्त्र
में
अलंकारों का विकास

(द्वितीय खण्ड)

डॉ. दशरथ द्विवेदी
आचार्य एवं अध्यक्ष
संस्कृत-विभाग
दीनदयाल उपाध्याय गोरखपुर विश्वविद्यालय
गोरखपुर (उ.प्र.)

राधा पब्लिकेशन्स
नई दिल्ली-110002

द्वितीय संस्करण : 2003
ISBN 81-7487-228-0
मूल्य : 500/- रुपये प्रति खण्ड

राधा पब्लिकेशन्स
4378/4B, अंसारी रोड, दरियागंज,
नई दिल्ली-110002
फोन : 3261839, 3254306

श्री नितिन गर्ग द्वारा राधा पब्लिकेशन्स के लिए प्रकाशित तथा
तरुण आफसेट प्रिंटर्स, मौजपुर, शाहदरा, दिल्ली में मुद्रित।

SANSKRIT KAVYASHATRA MAIN ALANKARON KA VIKAS
by Dr. Dashrath Dwivedi

भूमिका

यश्चित्रशक्तिगणमेत्य करोति शश्व-
च्चित्रं जगज्जगदलङ्करणैकहेतुः।
स्थायी शिवःस सुधियां हृदि चित्रकाव्य-
व्याख्यानतोऽनवधिमङ्गलमातनोतु।।

प्रज्ञापरपर्याय अपनी शक्ति भगवती प्रतिभा से अभिन्न विश्वोत्तीर्ण, विश्वात्मक, परमानन्दमय, प्रकाशैकघन, परमशिव ही समग्र चित्रजगत् में परिव्याप्त, प्रकाशमान, प्रतिबिम्बित हैं। चित्र, मूर्ति, सङ्गीत, काव्य-नाट्य सभी कलाओं में शक्त्यात्मक शिव ही अनुस्यूत हैं। कलायें भगवती का एक सुन्दर रूप हैं। भगवती स्वयं त्रिपुरसुन्दरी हैं, सर्वातिशायिशोभासम्पन्न हैं। भगवती की अनिर्वचनीय सुषमा से सम्पृक्त होने के कारण परमशिव भी त्रिलोकसुन्दर हैं। उमा-महेश्वर शाश्वत एवं सत्य-सनातन हैं। इसीलिये समस्त कलाओं में सत्य, शिव एवं सौन्दर्य का साक्षात्कार होता है—सत्यं शिवं सुन्दरम्। उमा-महेश्वर सहभावोपेत हैं, शब्द-अर्थ के मञ्जुल समन्वय में उन्हीं की दिव्य माधुरी का दर्शन होता है। इस दिव्यता का, सुख का, परमानन्द का अनुभव, भोग, आस्वाद या साक्षात्कार सभी को सहज सुलभ नहीं है। जो लोग परात्मिका जगदम्बा अनादि अव्यय शब्दात्मिका शक्ति की सम्यक् समाराधना में तत्पर हैं, उमा-महेश्वर की साक्षात् मूर्ति सारस्वतसाधना में लीन हैं, काव्यानुशीलनाभ्यासजनित परिपाकप्रौढप्रज्ञोपेत स्वभावतः निर्मलमुकुरहृदय योगिजनवत् सहृदय हैं, संवाद-निपुण हैं उन्हें ही कलाजन्य रस का, सुख का, मङ्गलकारी शिवात्मक आस्वाद का, भोग का अनुभव प्राप्य है।

परमशैव सहृदयचक्रवर्ती अभिनवगुप्त स्पष्टतया प्रतिपादित करते हैं कि, शिव स्वयं स्थायी (भाव) हैं, तन्मय, सहृदयजन के संवाद के एकमात्र हेतु वही हैं, संवाद की दशा में सहृदयों में हर्षोल्लसित परमप्रकाश का वही संतान करते हैं। ऐसा क्यों होता है? इसलिये कि वह अर्थस्वरूप हैं। समग्र भावजगत् अर्थमय है। अर्थ, शब्द का ही, आनन्त्य है। शब्द स्वयं शक्ति है। शक्ति की कोई सीमा नहीं।

काव्यजगत् का अनन्त सुख पाने के लिये रजोरूषित हृदयदर्पण का निर्मलीकरण आवश्यक है। हृदयदर्पण का निर्मलीकरण होने पर ही सहृदयतोन्मिषितवस्तुसंवाद की स्थिति बन पाती है। बिना वस्तुसंवाद के कोई भी प्रमाता, पाठक, आलोचक शब्दार्थमयी रचना का असीम सौन्दर्य देख नहीं पाता। इसीलिये तो भगवदुच्छ्वास वेदगिरा कहती है—उतत्वःपश्यन्न ददर्श वाचम्। अस्तु।

चित्र रङ्गीन संस्कृत-काव्य-जगत् भारतीय संस्कृति का प्रतिबिम्बन है। इसलिये उसके विविध पक्षों की रमणीयता का विचिन्वन एवं विचिन्तन इसी परिवेश में किया जाना चाहिये। भारतीय समीक्षाशास्त्र का विकास भारतीय-दर्शन की विचारसरणि से अनुस्यूत और तदनुगत है। इसीलिये रसानुभूति के धरातल पर, समान सांस्कृतिक परिवेश के कारण, समानता होने पर भी, काव्यानन्द, उसकी अनुभूति और उसके तत्त्वों की पहचान तथा अभिव्यक्ति में विविधता पाई जाती है। इस विविधता ने ही संस्कृत काव्यशास्त्र में विविध प्रस्थानों को जन्म दिया है।

काव्य अभिनेय हो या अनभिनेय दृश्य हो या श्रव्य, शब्दोपधानपूर्वक ही वह आकार ग्रहण करता है। सामान्यजन के समान कविप्रतिभाप्रतीति में कोई भी वस्तु प्रथमतः एक अनगढ़पाषाणशकलमणिप्रख्य के रूप में ही अवतीर्ण होती है। अपनी शक्ति-प्रतिभा और व्युत्पत्ति-अभ्यास से कवि जब उसे तराशकर, कल्पनामण्डित कर प्रस्तुत करता है तो वही अनगढ़ वस्तु मनोहारी मणि के समान अपने विशेषस्वरूप का परित्याग कर सहृदयहृदयहारी, सर्वजनसंवेद्य, संवादक्षम—सर्वसामान्योपयोगी के रूप में मङ्गलमय आनन्द का, सुख का, आह्लाद का संविधान करती है। इस संविधान में उसका सहायक होता है—अभिधेयक्षम योग्य शब्द का विचिन्वन। विशेषाभिधानक्षम शब्दों का ही यह माहात्म्य है कि, शब्दार्थसाहित्य काव्य में शब्द और अर्थ दोनों ही सर्वगुणसम्पन्न, परस्पर अभिन्न दो सुहृद्-मित्रों के समान अन्यूनानतिरिक्तत्व तथा परस्परस्पर्धित्वभावोपेत होकर एक-दूसरे के शोभासर्जक, परस्परोपकारी के रूप में विभ्राजमान अलोकसामान्यसौन्दर्य की सृष्टि करते हैं। इस संविधान में सभी को अपने स्व की अनुभूति और दर्शन होते हैं। यहीं हृदय को विश्रान्ति और शास्त्रातिरिक्त कुछ और की उपलब्धि होती है। यह कुछ और की उपलब्धि ही वह तत्त्व है जिसके संपादन-हेतु कवि रचना में प्रवृत्त होता है। पाठक भी उसी की संप्राप्ति के लिये दर्शन-पठन और श्रवण में निमग्न होता है। शब्द तो वही होते हैं, भिन्न-भिन्नजन में, सभी देश-काल-पात्र में अर्थावबोध की प्रक्रिया में प्रतीति-भेद क्यों होता है? ऐसे अनेक प्रश्नों का समाधान प्राप्त करने के लिये साहित्य-शास्त्र स्वतन्त्रचिन्तन रखते हुए भी दर्शन की ओर उन्मुख दिखाई पड़ता है।

पद, वाक्य, प्रमाण और साहित्यशास्त्र में से प्रत्येक की अपने-अपने विषय में प्रधानता है किन्तु, काव्य प्रथम तीन की प्रयोगभूमि है। इसलिये कवि, काव्यपरीक्षक-साहित्यशास्त्र और साहित्यशास्त्री की भूमिका प्रथम तीन के तद्विद् और तत्परीक्षक की अपेक्षा अधिक महत्त्वपूर्ण और दायित्त्वपूर्ण हो जाती है। व्याकरणमूलत्वात् सर्वविद्यानाम्—के अनुसार सभी शास्त्र व्याकरण से ही प्रतिष्ठा प्राप्त करते हैं। वाक्य तथा प्रमाणशास्त्र से उपकृत भी काव्य व काव्यशास्त्र अपेक्षाकृत इतर दो से व्याकरणशास्त्र से अधिक उपकृत और उसका विशेष ऋणी है। यह विशेषता इसलिये है कि, अन्यशास्त्रों में अर्थनिर्वाहकता प्रधानतः अभिधाव्यापार पर ही अवलम्बित है। इसके विपरीत काव्य व काव्यशास्त्र अभिधा-प्रतिपाद्य अर्थ से व्यतिरिक्त कुछ और की प्राप्ति के भी आकाङ्क्षी हैं। इस आकाङ्क्षा की पूर्ति व्युत्पत्त्यादिमूल व्याकरणशास्त्र ही कर सकता है। संस्कृतकाव्यशास्त्रविद् इस तथ्य से सम्यक् सुपरिचित है।

समग्रसंभारोपेत कोई भी कलाकार-चित्रकार हो, मूर्तिकार या कोई अन्य, अपनी शक्ति या कल्पनानुरूप चित्र, मूर्ति या अपेक्षित अपनी कोई भी कृति विनिर्मित करता है। कलाकारों की यह निर्मिति मूलतः दो प्रकार की होती है। प्रथम में वह रचना के सहजस्वरूप को चित्रित या टङ्कित करता है, दूसरी में लक्षण-व्यञ्जन का भी समावेश करता है। अपनी-अपनी भूमिका में, परिवेशविशेष में दोनों ही मनोहारी होते हैं। अपनी-अपनी भावभूमि के अनुरूप दर्शक उनमें निमग्नान्तश्चित्त होकर आनन्द का, सुख का भोग करता है। विश्रान्तिधाम, सार्ववर्णिक नाट्यवेद-काव्य और उसके निर्माता कवि की स्थिति भी चित्र-मूर्ति और उसके स्रष्टा चित्रकार, मूर्तिकार के समान ही है, कदाचित् उससे कुछ उत्कृष्ट भी। उत्कृष्ट इस अर्थ में कि, चित्र और मूर्ति भी कल्पित नाम-रूप में ही आकार ग्रहण करते हैं, नाम-रूप का आकार शब्दोपधान की अपेक्षा रखता है। इस अपेक्षा की पूर्ति कवि से होती है।

मूर्त्यादि के समान नाट्य और काव्य में भी लोकधर्मी-नाट्यधर्मी तथा स्वभावोक्ति-वक्रोक्ति के माध्यम सहज तथा आहार्य सौन्दर्य की संसृष्टि की जाती है। स्वभावज आनन्द की कोई सीमा नहीं, आहार्यजनित सुख की भी कोई अवधि नहीं है। नाट्य में इसकी अभिव्यक्ति चतुर्विध अभिनय से होती है, काव्य में शब्द-अर्थ उसकी बोधक शक्तियों या वृत्तियों से। मूर्ति के लावण्य की अभिव्यञ्जना में मूर्तिकार का कौशल झलकता है, नाट्यजनित सुख में कवि-अभिनेता की इतिकर्तव्यता में रसमयी, आनन्दमयी चित्तवृत्ति द्रष्टव्य है किन्तु, काव्य में तो कवि-कौशल मात्र का विजृम्भण ही परास्वाद का एकमात्र हेतु है। महर्षि वाल्मीकि

की रसस्यन्दिनी रचना में या महाकविकालिदास जैसे महाकवियों की प्रवहमान सरस्वती के अमृतानिष्यन्दसन्दोह में सुखावगाह की जो अलौकिक अनुभूति देखी जाती है वह इन महाकवियों की वैदग्ध्यावगाहिनी प्रतिभा का ही प्रतिफलन है। संस्कृत के काव्यशास्त्रियों ने जब इन रचनाओं की प्रथम समीक्षा प्रारम्भ की, इनमें विद्यमान सौन्दर्यतत्त्व का अनुसन्धान प्रारम्भ किया तब इनके समक्ष आनन्द का एकमात्र स्रोत नाट्य था, नाट्य लोकव्यञ्जन को उदाहृत कर रसास्वाद का बोध करा रहा था। लोक अभिधापरायण होता है, अभिधोन्मुखी होता है। इसलिये प्रारम्भिक समीक्षाशास्त्री ने अर्थावबोध के लिये अभिधा को ही प्रधानता दी। इसलिये भी अभिधा पर बल दिया क्योंकि ये आचार्य अभिधावादी थे, मीमांसा-शास्त्रोक्तवृत्ति से ही अर्थावबोध करते थे। 'मृदुललितपदाढ्यम' आदि के माध्यम से महर्षि वाल्मीकि ने काव्यत्व के बोधक गुणादितत्त्वों का संकेत कर दिया था। नाट्यशास्त्रोक्त काव्य के गुण-दोष, लक्षण अलंकार तथा नाट्योपयोगी रस-भावादि, वृत्ति-प्रवृत्ति, नाट्यालंकार आदि तत्त्व भामहप्रभृति प्राचीन आचार्यों के समक्ष थे। शब्दार्थयोर्नित्यसम्बन्धः— का शाश्वत सत्य भी उनके समक्ष था। काव्य, शब्दार्थ से परे हो नहीं सकता था—शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्। काव्य को शास्त्र से व्यतिरिक्त भी होना चाहिये था। अतः नाट्योपात्त तत्त्वों को ही उन्होंने ग्रहण-त्याग विधि से उपात्त कर लिया। उनके स्वरूप में अपेक्षानुरूप यथासंभव संशोधन, संवर्द्धन और सम्मिश्रण भी किया। तत्त्वावापसंशुद्धि की इस प्रक्रिया में उन्होंने देखा कि, जिस किसी भी तत्त्व से काव्य में शोभासृष्टि या संवृद्धि हो रही हो, उसमें सौन्दर्य का आधान हो रहा हो, काव्य मण्डित या अलंकृत हो रहा हो उस समग्र तत्त्व को अलंकार कहना ही समीचीन है। समीचीन इसलिये कि काव्य का कलेवर शब्दार्थ ही है। शोभा शब्दार्थ में ही, शब्दार्थ के माध्यम ही प्रकट हो सकती है, फिर तो चाहे वह रस, गुण, अलंकार, रीति, वृत्ति कुछ भी क्यों न हो। इसके मूल में यह भावना निहित थी—काव्यशोभाकरान् धर्मानलङ्कारान् प्रचक्षते। दण्डी की यह उक्ति तो थी ही वामन की यह दृष्टि—सौन्दर्यमलङ्कारः, भी विद्यमान थी। कविकौशल विजृम्भित काव्योपात्त इस सुषमा के समापादन में वक्रोक्ति की प्राणवत्ता विद्यमान थी जिसे भामह ने लोकातिक्रान्तगोचर अतिशयोक्ति और कुन्तक ने प्रसिद्धाभिधानव्यतिरेकिणी अभिधा कहा। अर्थविभावन समर्थ यह वक्रोक्ति ध्वनिवाद में भी प्रतिष्ठित रही। आनन्दवर्द्धन तथा अभिनवगुप्त ने भी इसकी महिमा स्वीकारी। पर, अलङ्कारवादी आचार्यों की अपेक्षा उसके प्रति उनकी दृष्टि अधिक विमल होकर उभरी। जिज्ञासु को एतदर्थ ध्वन्यालोक का अनुशीलन करना चाहिए।

दण्डी ने वक्रोक्ति-साम्राज्य में स्वभावोक्ति का चिन्तन भी जोड़ा। दोनों की अपनी-अपनी सुषमा अपनी-अपनी चमक है जिसका संकेत ऊपर की पंक्तियों में सुलभ है।

प्राचीन आचार्य तथा कुन्तक भी अभिधा के पोषक हैं। लक्षक और व्यंजक शब्द भी अर्थ की ही प्रतीति कराते हैं। अर्थप्रतीतिकारित्वसामान्य के आधार पर ही लक्षक-व्यंजक शब्दों को भी ये आचार्य वाचक ही मानते हैं। फलतः, लक्ष्यार्थ और व्यंग्यार्थ भी वाच्यार्थ से ही गतार्थ होते हैं। इस मन्तव्य का प्रकाशन कुन्तक की रचना में स्पष्टतया उपलब्ध है। अभिधावादी तथा रूपवादी इन आचार्यों के अनुसार अलंकार शब्द का प्रयोग, रमणीयरमणी तनु को विभूषित करने के कारण मुख्यतया कटक-केयूरादि में किया जाता है, शोभाकारित्वसामान्य के कारण काव्य के सौन्दर्याधायकतत्त्व उपमादि में भी उनका उपचारतः प्रयोग होता है। यही नहीं तत्सदृश ही सौन्दर्योपादान होने के कारण गुण-रीत्यादि में भी अलंकार शब्द-प्रयुक्त होता है। इनके अभिधायक ग्रन्थों को भी अलंकार ही कहते हैं। यहाँ कुन्तक द्रष्टव्य हैं। अभिधान प्रकार विशेष ही अलंकार हैं, अभिधान प्रकार होने से अभिधा के विषय हैं, वाचक और वाच्य पर अवलम्बित हैं। शोभाकारी होने से काव्य के समग्रतत्त्व-रस, गुणादि भी अलंकार हैं। अलंकार के विषय में प्राचीनों तथा अभिधावादियों की यह सामान्यदृष्टि रही है।

ऐसा नहीं था कि प्राचीन आचार्य रसानुभूति में असमर्थ थे, ऐसा भी नहीं था कि काव्य में रसवत्ता उन्हें अमान्य थी। उनकी दृष्टि रसभावादि की अभिव्यक्ति के पक्ष में तत्त्वावगाहिनी, उतनी पैनी नहीं थी जितनी आनन्दवर्द्धन और उनके अनुयायियों में देखी गयी। काव्य का जो तत्त्व जीवातु है, प्राण है जिसके लिये कवि काव्यसर्जना में प्रवृत्त होता है, गुणालंकार सभी का जिसके लिये परिग्रह किया जाता है, जो वाच्य-वाचक से परे चतुर्थकक्षानिवेशी मात्र व्यंजना का विषय है, सहृदयहृदयसंवेद्य उस काव्यात्मा, प्राधान्येन रसादिरूपध्वनि का समुन्मेष तथा संस्थापन हो जाने के अनन्तर ही काव्य में गुण-अलंकार-रीत्यादि तत्त्वों का सम्यक् समञ्जन हो सका। यह कार्य प्राचीनों की दृष्टि से दूर रहा। काव्यात्मा के अनुसन्धान की चेष्टा वामन ने भी की थी, ध्वनिवाद ने उसे भी ध्वनि के आलोक में व्यवस्थित किया। ध्वनिवाद की प्रतिष्ठित भूमि में अलंकार का महत्त्व कुछ कम तो हुआ पर उसका तिरस्कार संभव नहीं था। ध्वनिकार ने त्रिधा ध्वनियों में न केवल उसे प्रतिष्ठादी प्रत्युत कहा भी कि रसाभिव्यक्ति में वे बहिरङ्ग नहीं होते। प्राचीन आचार्य भी मानते थे—प्रायः सर्वोऽप्यलङ्कारः रसमर्थे निषिञ्चति। ध्वनि-प्रतिष्ठा के बाद भी अलंकारों की संख्या में निरन्तर वृद्धि होती रही। अलंकारों के स्वरूप तथा भेदों

पर मन्थन चलता रहा। ध्वनिवाद में चित्रकाव्य के रूप में प्रतिष्ठित अलंकार चित्र-जगत् के समान अनवरत जन्म लेता रहा, लोगों को चित्रचमत्कार का सुख प्रदान करता रहा।

जिस विषय पर संस्कृत काव्यशास्त्री निरन्तर चिन्तन करते रहे तथा परवर्ती इतर भाषाओं के साहित्य में भी जिस पर निरन्तर गम्भीर चर्चायें होती रहीं ऐसे महत्त्वपूर्ण विषय पर एक ऐसे महत् प्रयास की आवश्यकता थी जिसमें संस्कृत काव्यशास्त्र परिशीलित समग्र अलंकारसन्दर्भ प्रतिष्ठा पाते, जिज्ञासुजन संस्कृतशास्त्रोक्त अलंकारों से सहजतया परिचित होते। प्रकृतप्रबन्ध को इसी की अपेक्षा में देखना चाहिए।

भारतीय साहित्य विषयक मैक्समूलर की भ्रान्त धारणा[1] अब निराधार सिद्ध हो चुकी है और पाश्चात्त्य सौन्दर्यविद् भी भारतीय अलंकारशास्त्र को न केवल श्रद्धा-दृष्टि से देखने लगा है, उससे कुछ पाने की चाह भी रखने लगा है।[2] ऐसी स्थिति में किसी भी प्रबुद्ध भारतीय विचारक का संस्कृत-अलंकारशास्त्र और विशेषकर अलंकारसिद्धान्त की ओर आकर्षित होना स्वाभाविक ही नहीं, आवश्यक भी है, एतद्विषयक जानकारी के लिये उसका अपना अधिकार तो है ही। संस्कृत वाङ्मय की इस विधा के प्रति अधुनातन विद्वान् पर्याप्त श्रद्धा-बुद्धि रखता है, संतोष का विषय है। अलंकारसिद्धान्त पर लगभग दो हजार वर्षों में की गयी भारतीय मनीषा की अनवरत श्रम-साधना और तज्जन्य महान् उपलब्धि को राष्ट्रभाषा-माध्यम से अलंकार-प्रेमी सहृदय जिज्ञासु तक पहुंचाना ही प्रकृत लेखन का प्रमुख लक्ष्य है।

अब तक संस्कृत काव्यशास्त्र विषयक अनेक ग्रन्थ लिखे जा चुके हैं, किन्तु अलंकारों का ठीक-ठीक और सांगोपांग विवेचन प्रायः अप्राप्य ही रहा है। काणे तथा सुशीलकुमार दे अपने ग्रन्थों में अलंकारों की ऐतिहासिकता पर अवश्य प्रकाश डालते हैं, पर सैद्धान्तिक विवेचन नहीं करते। रामचन्द्र द्विवेदी की कृति[3] इस दिशा में एक नूतन प्रयास होते हुए भी अनेक दृष्टियों से अपूर्ण है। अलंकारमीमांसा में केवल बीस अलंकारों का निरूपण किया गया है, जिसमें कतिपय अन्य आलंकारिकों के मतों की चर्चा होने पर भी रुय्यक को प्रधानता दी गयी है। रुय्यक को प्रधानता

1. There is hardly any trace of feeling for the beautiful in the Brahmanical or Budhistic writings. O.Ae.8.
2. (i) Indian Aesthetics is on the whole more systematically developed than others along the philosophical lines. —Thomas Munro (J.Ae.A.C.P.5)
   (ii) Western Aesthetics can learn much of value from it. —O.Ae.P.4.
3. अलंकार मीमांसा।

मिलने के कारण उनके सिद्धान्तों के प्रति लेखक का स्वभावतः आग्रह बढ़ गया है, फलतः कहीं-कहीं वास्तविक तथ्य भी उपेक्षा का भाजन बन गया है। हिन्दी में लिखे गये अन्य ग्रन्थ अलंकार विषयक पूरी जानकरी देने में असमर्थ तो हैं ही, अनेक भ्रान्तियों से परिपूर्ण भी हैं। इस कमी को पूरा करने के लिये यह—संस्कृत काव्यशास्त्र में अलंकारों का विकास—मेरा एक लघु प्रयास है।

इसके पूर्व के अलंकार विषयक अध्ययनों में निघण्टु वर्णित उपमाबोधक बारह निपातों का उल्लेख मात्र किया गया है, किन्तु उनका क्रम-बद्ध विवेचन वहां प्राप्त नहीं होता, जिसे इस प्रबन्ध में प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया है, साथ ही वैदिक वाङ्मय में उपलब्ध होने वाले कतिपय अलंकार तथा उनके भेदों का निर्देश एवं सोदाहरण विवेचन भी यहां उपलब्ध कराने का प्रयत्न किया गया है, जो पूर्व विवेचनों में या तो संक्षिप्त रूप में मिलता है, या उनकी ओर दृष्टिनिक्षेप भी नहीं किया गया है।

अलंकारों के इस विवेचन में संस्कृत काव्यशास्त्र में वर्णित सभी अलंकार जिनकी संख्या लगभग दो सौ से भी अधिक है, का सांगोपांग भेदोपभेद सहित पूर्ण विवेचन यहां प्रस्तुत किया गया है, जो इसके पूर्व की कृतियों में अनुपलब्ध है। यथास्थान इन अलंकारों के औचित्य का प्रदर्शन और तत्तत्प्रकरणों में अलंकार विषयक विवादस्थलों को शास्त्रीय दृष्टि से उपन्यस्त करते हुए उन पर मौलिक दृष्टि से स्वतंत्र विचार एवं विश्लेषण भी किया गया है। अलंकारों के वर्गीकरण और उनके स्वरूप-विमर्श में शास्त्रीय पद्धति का आश्रय लेते हुए नवीन आलोचनात्मक विधि से उनका निरूपण भी किया गया है। प्रस्तुत प्रबन्ध का महत्त्व इन्हीं दृष्टियों से परिमेय है।

प्रस्तुत प्रबन्ध में बारह अध्याय हैं। प्रथम में सौन्दर्य की व्याख्या, उसकी ऐतिहासिक विवेचना, वैदिक कवि की सौन्दर्य-साधना, अलंकारों के उद्भव में वैदिक सामग्री की उपयोगिता, अलंकरण-भावना, अलंकारों का इतिवृत्त, उनका शब्दार्थोभय त्रिविध विभाग, वर्गीकरण तथा मनोवैज्ञानिक दृष्टि से उन पर विचार प्रस्तुत किया गया है।

द्वितीय अध्याय में विभिन्न प्रस्थानों के परिप्रेक्ष्य में अलंकार-स्वरूप तथा अन्य प्रस्थानों से उसके सम्बन्ध की विस्तृत चर्चा की गयी है। द्वितीय अध्याय के बाद अलंकारों की विवेचना उपलब्ध होती है, विवेचन की सुविधा के लिये रुय्यक कृत अलंकार-वर्गीकरण के आधार पर अध्यायों का नामकरण हुआ है।

तृतीय अध्याय में पौनरुक्त्य-अलंकारों के उद्भव-विकास, ऐतिहासिक

स्वरूप और उनकी बदलती दिशा पर प्रकाश डाला गया है। इस अध्याय में शब्दालंकारों का निरूपण हुआ है। विषय और आकार दोनों ही दृष्टि से ग्रन्थ का चतुर्थ अध्याय सबसे बड़ा और महत्त्वपूर्ण है। इसमें उपमामूलक समग्र अलंकारों का वैज्ञानिक विवेचन तो उपलब्ध ही होगा, अनेक नूतन सामग्री विद्वज्जनों के चित्त का अनुरंजन करेगी। उपमामूलक अलंकारों की लम्बी संख्या होने के कारण यह अध्याय स्वभावतः बड़ा हो गया है, जिसके लिये विषय की व्यापकता ही प्रधानतया उत्तरदायी है। विषय-परिवर्तन के लिये अध्याय को कई भागों में विभक्त किया गया है।

पंचम अध्याय में विरोधमूलक अलंकारों का निरूपण है, तो षष्ठ में शृंखलामूलक का। यद्यपि अधिकांश विद्वान् शृंखलामूल के स्थान पर शृंखलाबन्ध या शृंखला विच्छित्ति कहना अधिक समीचीन समझते हैं, पर यहां जगन्नाथ को ध्यान में रखकर वैसा किया गया है। सप्तम अध्याय में तर्कन्यायमूल तीन अलंकारों की जानकारी मिल सकेगी। अष्टम, नवम, दशम तथा एकादश अध्याय क्रमशः वाक्यन्यायमूल, लोकन्यायमूल, गूढार्थप्रतीतिपर तथा चित्तवृत्तिमूलक अलंकारों का निरूपण करते हैं। ग्रन्थ के अन्तिम अध्याय में मिश्र अलंकारों की शोभा का बखान करते हुए उनके स्वरूप पर प्रकाश डाला गया है और अन्त में उपचार-वश उपसंहार भी जुड़ गया है। अलंकार संख्या के लिये मैंने मम्मट को आदर्श माना है, इसलिये ग्रन्थ में अन्य अलंकारों का स्थान गौण हो गया है, वे खण्डन या अन्तर्भाव के लिये उपात्त हैं, पर मम्मट का सर्वथा अनुकरण नहीं किया गया है, उनके प्रतीप जैसे अलंकारों को प्रमुख स्थान नहीं मिला है।

ग्रन्थ में नवीन क्या है? का निर्णय स्वयं अनुसन्धित्सु विद्वान् कर सकेंगे। मैं तो अभिनव गुप्त के शब्दों में ही कहना चाहूंगा—'उक्तमेव हि तत्पूर्वं मुनिना, न तु अपूर्वं किंचित्।' सागर में डुबकी लगाने वाला गोताखोर सीपी के साथ-साथ मोती ले ही आता है, विशाल और गंभीर अलंकार-सुधा-सिन्धु में डूबने वाला विद्वान् यहां से निराश नहीं हो सकेगा, इसकी पूर्ण आशा है। दो सहस्र वर्षों में किया गया अलंकार-विवेचन उसका परिवर्तित और परिवर्द्धित स्वरूप उसे सर्वप्रथम इस ग्रन्थ में उपलब्ध हो सकेगा।

सुदीर्घ काल की अलंकार-विषयक ज्ञान-राशि का एकत्र निबन्धन होने के कारण ग्रन्थ का आकार स्वभावतः भारी हो गया है। सागर के आयाम और गिरिराज हिमालय के औन्नत्य के औचित्य को जाननेवाले के लिये यहां भी कोई कठिनाई नहीं होगी। संस्कृत के उद्धरण ग्रन्थ में बहुलता से मिलेंगे, तथ्य को निर्मूल लिखना

अपनी परंपरा के विरुद्ध है—नामूलं लिख्यते किंचित्। विषय भी शास्त्रीय समीक्षा का है, मूल के बिना तथ्य को प्रमाणित करना कठिन हो जाता है, तथापि यथासंभव उद्धरण कम करने का प्रयास किया गया है। इस पर भी यदि सुधीजनों को कुछ असुविधा हो तो क्षमा करेंगे। ग्रन्थ में जो कुछ भी अच्छाई है, वह हमारे प्राचीन आचार्यों की समझी जानी चाहिये, जो दोष आ गये हैं, वे मेरे अपने हैं, संस्कृत आचार्यों का उनसे कोई सम्बन्ध नहीं है।

संस्कृत-विभाग, गोरखपुर विश्वविद्यालय के भूतपूर्व प्रोफेसर एवं अध्यक्ष तथा काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के भूतपूर्व यू.जी.सी. प्रोफेसर प्रातःस्मरणीय स्व. गुरु डॉ. वीरमणिप्रसाद उपाध्याय, एम.ए., बी.एल., डी.लिट्., साहित्याचार्य से इस प्रबन्ध को लिखने की सत्प्रेरणा मुझे वर्षों पूर्व मिली थी। उनकी प्रेरणा ही थी कि मैं संस्कृतकाव्यशास्त्रोदधि में अवगाहनक्षम हुआ। परिणाम समक्ष है। हृदय में प्रसन्नता है कि गुरु के एक सारस्वतादेश का परिपालन हुआ। भ्रातृकल्प स्नेहप्रदाता, शिष्यवत्सल स्व. गुरु पं. श्री विश्वम्भरनाथ त्रिपाठी, भूतपूर्व आचार्य, संस्कृत-विभाग मेरे इस बृहत्कार्य में निरन्तर अग्रज तथा आलोकप्रदाता की भूमिका में सन्नद्ध रहे। श्रद्धेय गुरु डॉ. हेमचन्द्र जोशी, पूर्व आचार्य एवं अध्यक्ष संस्कृत-विभाग तथा वर्तमान में राष्ट्रपति पुरस्कार समलंकृत की वैपाश्चिती से मुझे अहर्निश लाभ मिलता रहा। इन गुरुजन की प्रेरणा, आलोक एवं वैदुष्य का सम्बल ही इस वृहत्तम ग्रन्थ की पूर्ति में सहायक रहा है। मैं इनके, जहाँ कहीं भी हों, चरणों में श्रद्धावनत हूँ, हार्दिक कार्तज्ञ्य सम्प्रेषित करता हूँ। डॉ. अतुलचन्द्र बनर्जी, भूतपूर्व आचार्य एवं अध्यक्ष संस्कृत-विभाग तथा तत्समान पदविभ्राज गुरुवर प्रो. करुणेश शुक्ल का मैं निरन्तर स्नेहभाजन रहा हूँ। उनकी असीम कृपा मेरे लिये चिरस्मरणीय और किसी के लिये भी स्पृहणीय है। मैं इन सुधी-सहृदय गुरुद्वय को सप्रश्रय प्रणिपात निवेदन करता हूँ। विभाग के अन्य पूज्य गुरुजन स्व. डॉ. लक्ष्मीनारायण सिंह, स्व. डॉ. शिवशंकर अवस्थी तथा अनेक महत्त्वपूर्ण रचनाओं के यशस्वी चिरंजीवी लेखक वर्तमान में मेरे भविष्यमार्ग के देष्टाश्रद्धेय पं. राजकिशोरमणि त्रिपाठी के वैदुष्यपूर्ण व्याख्यानों से मैं सदैव उपकृत होता रहा हूँ। इन विद्वद्वरेण्यों के प्रति मेरा सश्रद्ध प्रणाम है जिनका आशीर्वाद न केवल इस प्रबन्धमात्र प्रत्युत अनेक प्रबन्धों के निर्माण में सहायक रहा है।

विद्याधर की 'एकावली' सुलभ नहीं थी। गोरखपुर विश्वविद्यालय केन्द्रीय ग्रन्थालय ने सम्पूर्णानंद संस्कृत विश्वविद्यालय-ग्रन्थालय, वाराणसी से मंगाकर मुझे पुस्तक उपलब्ध करायी जिसकी प्रति, मेरे घनिष्ठ मित्र एवं विभाग के यशस्वी

अध्यापक प्रोफेसर उमेशचन्द्र पाण्डेय ने साध्यवसाय तैयार कर दी। एतदर्थ मैं उपर्युक्त उभय विश्वविद्यालयों के ग्रन्थालयों, ग्रन्थालयीयजनों तथा प्रोफेसर पाण्डेय का हृदय से आभारी हूँ। स्व. प्रोफेसर रामचन्द्र द्विवेदी की अपनी पुस्तक 'अलङ्कार मीमांसा' के अस्पष्ट अंशों पर मेरा उनसे सुमधुर संवाद हुआ था, समाधान भी मिला था। इस अवसर पर मैं उनका सादर स्मरण करता हूँ। मेरे श्रद्धा-सुमन भी उन्हें अर्पित हैं। मेरी साधना के मूल, सहोदर अग्रज प्रोफेसर बी.एल. दुबे, रसायन-विभाग ने मेरे लिये जो तपस्या की है उसे विस्मरण करना असंम्भव है। इस प्रकार के सहोदर सभी को मिलें के साथ परमात्मा से प्रार्थना है कि वह अनामयपूर्वक चिरायु होकर अपने स्नेहसुधा से सतत अभिषिञ्चित करते रहें। जिन प्राचीन-अर्वाचीन आचार्यों, विद्वान् विचारकों, समीक्षकों की कृतियों से प्रकृत प्रबन्ध को पूरा करने में मुझे सहायता मिली है, उन समस्त महामनीषियों के चरणों में सश्रद्ध प्रणिपात करते हुए उनके प्रति मैं अपनी अधमर्णता ज्ञापित करता हूँ। अन्य अनेक मित्रों, छात्रों, बान्धवजनों ने मेरी कल्पना को साकार करने में प्रत्यक्षाप्रत्यक्षतया सोल्लास निरन्तर सहयोग किया है उनके प्रति कार्तज्ञ्य-ज्ञापन शिष्टाचार का परिपालनमात्र होगा। ऐसे सुधी-स्निग्धजनों की सदाशयता को शब्द-सीमा में नहीं बाँधा जा सकता।

किसी भी रचनाकार, लेखक, विचारक को जो तृप्ति प्रबन्ध निर्माण में होती है उससे कहीं अधिक तृप्ति उसे तब मिलती है जब उसकी कृति प्रकाश में आ जाती है, प्रबुद्ध पाठक के हाथों में पहुँच जाती है। 'राष्ट्रिय संस्कृत संस्थानम्' नई दिल्ली ने प्रकृत के प्रकाशनार्थ अवदान-राशि प्रदान कर इस काम्य-यज्ञ की पूर्ति में यथासमय सहायता की है। इस कृपा के लिये मैं 'संस्थानम्' के अधिकारियों का अत्यन्त आभारी हूँ क्योंकि उनके सहयोग के बिना यह गुरुतर कार्य सम्भव ही नहीं था। प्रबन्ध की सुन्दर, सुरुचिपूर्ण छपाई के लिये 'राधा पब्लिकेशन्स' नई दिल्ली के तरुण प्रकाशक प्रियश्री नितिन गर्ग को मैं हृदय से धन्यवाद देता हूँ जिन्होंने समय-सीमा में ही सोत्साह इस कार्य को सम्पन्न किया। इस सुयोग को घटित करने वाले मेरे अतिशय स्नेही प्रोफेसर जे.एल. उपाध्याय ग्रन्थालयी, गोरखपुर विश्वविद्यालय, गोरखपुर को मैं विस्मृत नहीं कर सकता। प्रो. उपाध्याय प्रबन्ध के प्रकाशन में प्रतिपल मेरे सहयोगी रहे हैं। इसके लिये मैं उनको जितना भी धन्यवाद दूँ कम ही होगा।

प्रस्तुत प्रबन्ध में क्या कुछ नवीन है? मौलिक क्या है? सुधीजन ही विवेक करेंगे। मैंने, संस्कृत-ग्रन्थों की अलंकार-विषयक निधि को यथामति प्रस्तुत करने का प्रयासमात्र किया है। संस्कृत-सुधीजनों से निवेदन है कि प्रमाद-परिमार्जनपूर्वक

ही इसे ग्रहण करेंगे। प्रमाद को यथावसर इङ्गित भी करेंगे। और अन्त में आचार्य जयन्तभट्ट के शब्दों में यही कहना है :

"कुतो वा नूतनं वस्तु वयमुत्प्रेक्षितुं क्षमाः।
वचोविन्यासवैचित्र्यमात्रमत्र विचार्यताम्।।"

(न्यायमंजरी)

विदुषामाश्रवः-
दशरथ द्विवेदी

श्रीरामनवमी
विक्रमाब्द, 2058

विषय सूची

उपमा-विवेचन, शिलालेखों और अभिलेखों का साक्ष्य, दार्शनिक ग्रन्थों का योग, काव्यों में उपमा, काव्यशास्त्र में प्रथम आविर्भाव, भरत, भामह, दंडी, उद्भट, वामन, कुन्तक, भोज, मम्मट, रुय्यक, शोभाकर, नरेन्द्रप्रभसूरि, वाग्भट प्रथम, वाग्भट द्वितीय, अजितसेन, जयदेव, विद्याधर, विद्यानाथ, विश्वनाथ, अमृतानन्दयोगी, केशवमिश्र, अप्पयदीक्षित, कर्णपूर, देवशंकर, चन्द्रशेखर, रामचन्द्रन्यायवागीश, भावदेवसूरि, नरसिंह, जगन्नाथ, विश्वेश्वर, अच्युतराय, पुंजराज, छज्जूराम तथा वेणीदत्त के उपमा-लक्षण, सादृश्य और साधर्म्य, लक्षण-विश्लेषण, उपमा-तत्त्व, कल्पितोपमा आदि का निरास, साधारण धर्म तथा उसके आधार पर उपमा-भेद, उपमावाचक, भेद-विवेचन : ऋग्वेद से लेकर पूर्वोक्त अनुक्रम से, उपमादोष। अनन्वय : व्युत्पत्ति, निष्पत्ति, वेद में प्रमाण, काव्यशास्त्र में उद्भव, उपमा-क्रम से विकास,[1] भेद-निरूपण, असम और प्रतिमा अलंकार का खंडन। उपमेयोपमा : व्युत्पत्ति, अन्वर्थाभिधा, उद्भव, क्रमिक विकास तथा भेद, दोष-विचार। स्मरण : व्युत्पत्ति, निष्पत्ति, स्मरण की त्रिविध प्रक्रिया, त्रिधास्मृति, उद्भव विकास, खण्डन-मण्डन, विनोद और व्यासंग अलंकार का खंडन।

(ब) **अभेदप्रधान अलंकार**

(क) *आरोपगर्भ* — रूपक, व्युत्पत्ति, निष्पत्ति, वैदिक साहित्य में प्रयोग, काव्यशास्त्र में प्रथम उदय, विकास तथा बदलता रूप, सादृश्य या इतर सम्बन्ध, रूपक में लक्षणा, भेदनिरूपण, अभेद अलंकार का रूपक में अन्तर्भाव, परिणाम और उसका खंडन। ससन्देह : व्युत्पत्ति, निष्पत्ति, वैदिक साहित्य में निदर्शन, उद्भट क्रमिक विकास, बदलती दिशा, त्रिविध प्रतीति, आरोप और अध्यवसाय, भेद, वितर्क, सन्देहाभास, विकल्प तथा विकल्पाभास अलंकार का खंडन। अपह्नुति : व्युत्पत्ति, निष्पत्ति, वैदिक साहित्य में प्रयोग, उद्भव-विकास, अपह्नुति में सादृश्य, पर्यस्तापह्नुति, भ्रान्तापह्नुति तथा छेकापह्नुति का खण्डन, आरोप या अध्यवसाय, भेद-निरूपण। भ्रान्तिमान् : व्युत्पत्ति, निष्पत्ति, उद्भव, क्रमिक ऐतिहासिक रूप, आरोप या अध्यवसाय, भेदोपभेद, संस्कार अलंकार का अन्तर्भाव, निश्चय का खंडन।

(ख) *अध्यवसायगर्भ अलंकार* : उत्प्रेक्षा—व्युत्पत्ति, निष्पत्ति, वेद में उदाहरण, उद्भव-विकास, विवाद, अध्यवसाय-संभावना, अध्यवसाय में लक्षणा, भेदोपभेद, उत्प्रेक्षावयव का अन्तर्भाव, उत्प्रेक्षा व्यंजक। अतिशयोक्ति—महत्त्व, अन्वर्थामिधा, वैदिक साहित्य में, उद्भव-विकास,

1. बाद के सभी आलंकारों में उपमा-क्रम से आलंकारिकों की दृष्टि के अनुसार लक्षण, भेद आदि का निरूपण किया गया है, उनका प्रयोग सूची के सभी अलंकारों में जान लेना चाहिये।

1. सभी अलंकारों की व्युत्पत्ति, निष्पत्ति, प्राप्त वैदिक उदाहरण, लक्षण से उनका आगमन (यदि है तो) पूर्वोक्त रूप से क्रमिक विकास, भेद-विवेचन आदि की सामान्य- विवेचन-प्रक्रिया ग्रन्थ में प्राप्य है। अतएव यहां सूची में प्रधान विषय का ही निर्देश किया जा रहा है।

संकेत-सूची

अ	= अलंकार, अध्याय
अ.क्र.वि.	= अलंकारों का क्रमिक विकास
अ.को.	= अमरकोष
अ.कौ.	= अलंकार कौस्तुभ
अ.चिं.	= अलंकार चिंतामणि
अ.चू.	= अलंकार चूडामणि
अ.चं.	= अलंकार चन्द्रिका
जे.ए.आ.सी.	= जर्नल ऑफ एस्थेटिक्स एण्ड आर्ट्स क्रिटिसिज़्म
अ.प्र.	= अलंकार प्रदीप
अ.पु.	= अग्निपुराण
अ.भा.	= अभिनव भारती
अ.म.	= अलंकार महोदधि, अलंकार मणिहार
अ.मणि.	= अलंकार मणिहार
अ.मी.	= अलंकार मीमांसा
अ.मु.	= अलंकार मुक्तावली
अ.मं.	= अलंकार मंजूषा, अलंकार मंजरी
अ.र.	= अलंकार रत्नाकर
अ.स.	= अलंकार सर्वस्व
अ.सं.	= अलंकार संग्रह
अ.शे.	= अलंकार शेखर
आ.	= आरण्यक
आ.आ., आ.आ.सं.ग्र.	= आनन्द आश्रम, आनन्द आश्रम, संस्कृत ग्रन्थावलि
उ.	= उणादि, उद्योत
एका.	= एकावली
ऐ.उ.	= ऐतरेय उपनिषद्
ओ.रि.इ.	= ओरियन्टल रिसर्च इन्स्टीच्यूट

ओ.ए.	= ओरियन्टल एस्थेटिक्स
औ.वि., औ.वि.च.	= औचित्य विचार चर्चा
ऋ.	= ऋग्वेद संहिता
कठ., कठो.	= कठोपनिषद्
का.	= काव्यालंकार, काव्यादर्श, कारिका
का.चं.	= काव्यचन्द्रिका
का.दी.	= काव्यदीपिका
का.धे.	= कामधेनु
का.प्र.	= काव्यप्रदीप, काव्यप्रकाश
का.मा.	= काव्यमाला सीरीज
काव्या. काव्यालं.	= काव्यादर्श, काव्यालंकार
काव्यानु.	= काव्यानुशासन
का.वि.	= काव्यविलास
का.सा.	= काव्यालंकारसार
का.सा.सं.	= काव्यालंकार सार संग्रह
का.सू.	= कामसूत्र
का.सू.वृ.	= काव्यालंकार सूत्रवृत्ति
का.सं., का.प्र.सं.	= काव्यादर्श संकेत, काव्यप्रकाश संकेत
का.सं.सी.	= काशी संस्कृत सीरीज
कु.	= कुवलयानन्द
कु.का.	= कुवलयानन्द कारिका
कु.सं.	= कुमारसंभव
गा.ओ.सी.	= गायकवाड़ ओरियन्टल सीरीज
गुरुम.	= गुरुमर्म प्रकाश
चन्द्रा.	= चन्द्रालोक
चि.मी.	= चित्रमीमांसा
चौ.सं.सी.	= चौखम्बा संस्कृत सीरीज
छा.उ.	= छान्दोग्य उपनिषद्
ज.मं.	= जयमंगला
तैत्तिरीयो.	= तैत्तिरीयोपनिषद्
त्रिवे.	= त्रिवेन्द्रम्
द्वि.	= द्वितीय

ध्व., ध्वन्या.	= ध्वन्यालोक
न.सा.	= नमिसाधु
ना.शा.	= नाट्यशास्त्र
नि.	= निघण्टु, निरुक्त
नि.सा.	= निर्णय सागर प्रेस, बाम्बे
नं.य.	= नञ्जराजयशोभूषण
न्या.सू.	= न्यायसूत्र
पा.	= पाणिनीय अष्टाध्यायी
पो.व्यू.रि.	= पोइटिक ब्यूटी ऑफ दि रिग्वेद
प्र.	= प्रदीप
प्र.प्र.	= प्रदीपप्रभा
प्र.रु., प्रता.रु.	= प्रतापरुद्रयशोभूषण
प्रश्नो.	= प्रश्नोपनिषद्
बा.बो.	= बालबोधिनी
बा.रा.	= बालरामायण
बी.ओ.आर.आई.	= भंडारकर ओरियन्टल रिसर्च इन्स्टीच्यूट
भा.	= भाग
भा.पु.	= भागवत पुराण
भा.सा.का.	= भारतीय साहित्य शास्त्र और काव्यालंकार
भा.सा.शा.	= भारतीय साहित्य शास्त्र
म.भा.	= महाभारत, महाभाष्य
मा.मा.	= मालती माधव
मीमा.	= मीमांसा सूत्र
मुण्डक, मुण्डको.	= मुण्डकोपनिषद्
य., य.भा.	= यजुर्वेद, यजुर्वेदभाष्य
र.गं.	= रस गंगाधर
रत्ना.	= रत्नापण
र.द.	= रत्नदर्पण
र.मी.	= रस मीमांसा
र.रं.	= रसिक रंजनी
रि.सि.सं.लि.	= रिमार्क्स ऑन सिमिलीज़ इन संस्कृत लिट्रेचर
ल.वृ.	= लघुवृत्ति

लो.	=	लोचन
व.जी.	=	वक्रोक्तिजीवित
वा.प.	=	वाक्यपदीय
वा.सं.	=	वाजसनेयी संहिता
वि.	=	विवृति, विमर्शिनी, विवेक
वि.पु., वि.धर्मो.	=	विष्णु धर्मोत्तर पुराण
वि.रा.भा.प.	=	विहार राष्ट्रभाषा परिषद्
वि.इ.ज.	=	विश्वेश्वरानन्द इंडोलजिकल जर्नल
व्य.वि.	=	व्यक्ति विवेक
श.ब्रा.	=	शतपथ ब्राह्मण
शु.य.	=	शुक्ल यजुर्वेद
शृं.प्र.	=	शृंगार प्रकाश
स.कं.	=	सरस्वती कंठाभरण
स.ब.	=	समुद्रबन्ध
सा.कौ.	=	साहित्य कौमुदी
सा.चू.	=	साहित्य चूडामणि
सा.द.	=	साहित्य दर्पण
सा.बि.	=	साहित्य बिन्दु
सा.सा.	=	साहित्यसार
स्ट.सं.पो.	=	स्टडीज़ इन संस्कृत पोइटिक्स
स्टा.रि.वे.	=	स्टाइलिस्टिक रिपिटीशन इन वेद
सि.कौ.	=	सिद्धान्त कौमुदी
सु.	=	सुधा
सु.सा.	=	सुधा सागर
सं.	=	संजीवनी, संकेत
सं.का.इ.	=	संस्कृत काव्यशास्त्र का इतिहास
संजी.	=	संजीवनी
सं.पो.	=	संस्कृत पोइटिक्स
सं.प्र.	=	संप्रदाय प्रकाशिनी
सं.सा.अ.वि.	=	संस्कृत साहित्य में सादृश्यमूलक अलंकारों का विकास
सं.इ.	=	संस्कृत इंग्लिश डिक्शनरी
हि.सं.पो.	=	हिस्ट्री ऑफ संस्कृत पोइटिक्स

चतुर्थ अध्याय

उपमामूलक अलंकार
(स) भेदप्रधान अलंकार

व्यतिरेक

व्यतिरेक का शाब्दिक अर्थ है, आधिक्य या विलक्षणता।[1] प्रायः व्यतिरेक की दो व्युत्पत्तियाँ पाई जाती हैं। प्रथम व्युत्पत्ति इन्दुराज की है— 'उपमानादुपमेयस्योपमेयादुपमानस्य वा केनचिद्विशेषेण अतिरेक आधिक्यं व्यतिरेकः।'[2] किसी विशेष (गुण आदि) से उपमान से उपमेय या उपमेय से उपमान का आधिक्य व्यतिरेक है। दूसरी व्युत्पत्ति—'व्यतिरिच्यते उपमानवैलक्षण्येन उपलभ्यते उपमेयम् अनेन इति व्यतिरेकः'[3] ही विद्वानों में अधिक समादृत है। जिसके द्वारा उपमान से विलक्षण, उत्कर्षपूर्ण उपमेय का प्रतिपादन हो, उसे व्यतिरेक कहते हैं। 'वि' उपसर्गपूर्वक, वियोजन-संपर्चन अर्थवाली रिच् धातु से भाव अर्थ में घञ् प्रत्यय करने पर व्यतिरेक शब्द निष्पन्न[4] होता है, जो उक्त अर्थ का प्रतिपादक है। व्यतिरेक के स्वरूप पर आलंकारिकों में दो मत हैं। प्रथम तो वे हैं, जो उपमान से उपमेय या उपमेय से उपमान के आधिक्य में व्यतिरेक मानते हैं और द्वितीय श्रेणी के वे आचार्य हैं, जो केवल उपमान से उपमेय के आधिक्य में व्यतिरेक मानते हैं। जैसा कि आगे प्रकट होगा, प्रथम मत को माननेवाले आचार्य हैं: रुद्रट, जयदेव, विद्यानाथ, देवशंकर, आदि तो द्वितीय के भामह, वामन, मम्मट, शोभाकर, जगन्नाथ, विश्वेश्वर, सर्वेश्वर, अच्युतराय, छज्जूराम, आदि हैं। उपमा में साधर्म्य के अतिरिक्त वैधर्म्य भी एक तत्त्व के रूप में उपस्थित रहता है। अतएव उपमा आदि को भेदा-भेद प्रधान अलंकार कहा गया है। रूपक आदि अलंकारों में अभेद का प्राधान्य होता है, जिसकी चरम परिणति अतिशयोक्ति में पायी जाती है। अतएव उन्हें अभेद प्रधान अलंकार कहा गया है। व्यतिरेक आदि अलंकारों में किसी एक वस्तु का अतिशायी उत्कर्ष या वैलक्षण्य प्रतिपादन ही कवि को अभिप्रेत रहता है। इसलिये व्यतिरेक सहोक्ति आदि अलंकारों में भेद (वैलक्षण्य) तत्त्व की प्रधानता ही मुख्य रूप से विवक्षित होती है। यह भेद-प्राधान्य अन्ततः दो वस्तुओं के सादृश्य को ही अभिव्यक्त करता है। 'निष्कलंकं मुखं न चन्द्रवत्' में चन्द्र और मुख के निष्कलंकत्व को लेकर भेद-प्रतीति तो होती ही है, हृद्यत्व आदि गुणों के आधार

पर इनमें औपम्य भी प्रत्याशित रहता है। दो वस्तुओं में यदि सादृश्य का अभाव हो तो किसी विशेष गुण के आधार पर उन्हें भिन्न बताना भी संभव न हो।[5] अतएव व्यतिरेक गम्यौपम्य मूल भेद-प्रधान अलंकार माना गया है। रुय्यक ने स्पष्ट कहा है कि यहां भेद का अर्थ वैलक्षण्य है—भेदो वैलक्षण्यम्—अ.स., पृ. 96

'द्वादशाक्षरं नहि तज्जरायबवर्तिचक्रं परिद्यामृतस्य' ऋ., 1/164/1

ऋग्वेद के इस मन्त्र में द्वादशाक्षर ऋतचक्र को लौकिक चक्र से विलक्षण बताया गया है। अतएव यहां व्यतिरेक है।

विष्णुधर्मोत्तर पुराण में व्यतिरेक का भी उल्लेख है।[6] सर्वप्रथम भामह ने ही व्यतिरेक का सुस्पष्ट लक्षण प्रस्तुत किया है। उनके अनुसार विशेषप्राप्ति कराने के कारण प्रकृत पदार्थ का विशेष कथन (निदर्शन) व्यतिरेक अलंकार है।[7] मम्मट आदि आचार्य भामह के ऋणी हैं। दंडी का अभिमत है कि दो वस्तुओं के सादृश्य के शब्दोपात्त या प्रतीत (गम्य) होने पर उनमें भेद (वैधर्म्य) का कथन व्यतिरेक अलंकार है।[8] यद्यपि दंडी ने प्रतीत शब्द का प्रयोग कर यह बताने का प्रयास किया है कि यहां औपम्य गम्य रहता है, किन्तु उनके लक्षण से यह संकेत नहीं मिलता कि केवल उपमेय का ही भेद कथन हो या उपमान का। उनके उदाहरणों से उपमेय का उत्कर्ष प्रतीत होता है। उद्भट के अनुसार उपमान-उपमेय का विशेष आपादन व्यतिरेक है।[9] उद्भट के टीकाकार इसका भिन्न अर्थ लेते हैं। इन्दुराज के अनुसार किसी विशेष गुणादि से उपमान से उपमेय का और उपमेय से उपमान का आधिक्य व्यतिरेक है,[10] किन्तु राजानक तिलक उपमेय के उत्कर्ष और उपमान के अपकर्ष को ही व्यतिरेक मानते हैं।[11] टीकाकरों के मत को छोड़ दिया जाये तो कहना पड़ेगा कि भामह, दंडी या उद्भट किसी की परिभाषा स्पष्ट रूप से यह नहीं बताती कि व्यतिरेक में उपमेय का उत्कर्ष होना चाहिये। इस बात को सर्वप्रथम स्पष्ट किया वामन ने, व्यतिरेक में उपमान से उपमेय का गुणाधिक्य बताकर।[12] परन्तु वामन के बाद रुद्रट ने उपमेय तथा उपमान दोनों के आधिक्य में व्यतिरेक माना।[13] कुन्तक ने व्यतिरेक का दो लक्षण किया है। प्रथम के अनुसार श्लेषहेतुक शब्दवाच्य तथा धर्म-साम्य होने पर प्रस्तुत के उत्कर्ष के लिये उपमेय से उपमान या उपमान से उपमेय का व्यतिरेचन (पृथक्करण) व्यतिरेक अलंकार है, तथा द्वितीय के अनुसार लोकप्रसिद्ध सामान्यव्यापार से विशिष्ट किसी वस्तु का औपम्य की विवक्षा से व्यतिरेचन व्यतिरेक अलंकार है।[14] भोज का लक्षण दंडी के समान है। भोज का वैशिष्ट्य यह है कि वे इसे भेद और व्यतिरेक दो अभिधान प्रदान करते हैं।[15] मम्मट,

भामह तथा वामन मत का अनुगमन करते हुए उपमान से उपमेय के आधिक्य में ही व्यतिरेक स्वीकारते हैं।[16] वस्तुतः रुद्रट के बाद आलंकारिकों में दो धारायें हो जाती हैं। प्रथम में भामह, वामन के अनुयायी, मम्मट, शोभाकर, हेमचन्द्र, विद्याधर, जगन्नाथ, अच्युतराय, विश्वेश्वर, नरसिंह, कर्णपूर, सर्वेश्वर तथा छज्जूराम शास्त्री आते हैं[17] तो द्वितीय में रुद्रट, इन्दुराज के अनुगामी, रुय्यक, नरेन्द्रप्रभसूरि, वागभट प्रथम, वाग्भट द्वितीय, जयदेव, विद्यानाथ, विश्वनाथ, अप्पयदीक्षित, देवशंकर, आदि।[18]

लक्षणों के परिशीलन से यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि उपमान से उपमेय का उत्कर्ष या आधिक्य दिखाना ही व्यतिरेक है। इसी मत को अधिकांश आचार्य मानते हैं। रुद्रट का अनुसरण करने वाले रुय्यक, जिनके अनुसार उपमान का भी उपमेय से आधिक्य व्यतिरेक है, के मत पर उनके टीकाकरों में सहमति नहीं है। जयरथ ने रुय्यक का समर्थन किया है,[19] किन्तु समुद्रबन्ध ने 'विपर्यय' ग्रहणं न कर्तव्यम्'[20] कहकर वामन तथा मम्मट लक्षण को ही समादृत किया है। विद्याचक्रवर्ती संजीवनी में तो रुय्यक के ऊपर कुछ भी नहीं कहते, किन्तु 'काव्यप्रकाश' की संप्रदायप्रकाशिनी' टीका में रुय्यक मत को उपन्यस्त कर उसकी अयुक्तता सिद्ध करते हैं।[21] मल्लिनाथ ने एकावली की 'तरल' टीका में तथा उनके पुत्र कुमार स्वामी ने प्रतापरुद्रीय की 'रत्नापण' टीका में रुय्यक के मत का खण्डन करते हुए मम्मट के मत की स्थापना की है।[22] साहित्यदर्पण की टीका में रामचरण तर्कवागीश व्यतिरेक की जो व्युत्पत्ति प्रस्तुत करते हैं,[23] उससे भी यही प्रतीत होता है कि उन्हें दर्पणकार का मत अमान्य है। इससे सिद्ध होता है कि अधिकांश विद्वान् मम्मट आदि के मत का ही अनुमोदन करते हैं। उर्पमेय के उत्कर्ष प्रतिपादन में व्यतिरेक माननेवाले विद्वानों का अभिमत है कि उपमान तो सदैव उत्कृष्ट गुणयुक्त होता है, और उपमेय निकृष्ट। इस प्रकार उपमान का आधिक्य तो स्वभावतः सिद्ध है, फिर उसकी उत्कृष्टता सिद्ध करने का प्रश्न ही नहीं उठता :

उपमानस्यान्यस्मादाधिक्यं हि स्वभावतः सिद्धम्।
तत्त्वे तेन न युक्तो व्यतिरेकश्चारुता विरहात्।। —अ.र., पृ. 26

इसीलिये शोभाकर ने रुय्यक के मत की आलोचना की है।[24] डॉ. रामचन्द्र द्विवेदी ने[25] रुय्यक के लक्षण की संगति बताते हुए यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि संभवतः रुय्यक को व्यतिरेक में उपमानाधिक्य अभीष्ट नहीं था। उनका कथन है कि वृत्ति में रुय्यक विपर्यय का अर्थ न्यूनगुणत्व करते हैं। इस आधार पर व्यतिरेक

का लक्षण होगा उपमान से उपमेय का आधिक्य या न्यूनत्व प्रतिपादन। उपमेयाधिक्य तो प्रायः सभी मानते हैं, किन्तु रुय्यक ने उपमानाधिक्य शब्द का प्रयोग न करके, द्वितीय भेद के लिये न्यूनगुणता का ही प्रयोग किया है। इससे रुय्यक का अभीष्ट यही प्रतीत होता है कि व्यतिरेक में कवि की दृष्टि सदैव उपमेय पर टिकी रहती है। कभी वह उत्कृष्ट गुण होता है तो कभी न्यूनगुण। अतः ऐसे स्थल में उपमेय की न्यूनगुणता वास्तविक नहीं होती। यही रुय्यक का अभिमत है, जिसका प्रतिपादन जयरथ भी करते हैं।[26]

विश्वनाथ आदि कतिपय आचार्यों ने भी उपमानाधिक्य में व्यतिरेक स्वीकार किया है। सबसे ज्यादा विवाद रुद्रटोक्त व्यतिरेक के निम्न उदाहरण में है :

क्षीणः क्षीणोऽपि शशी भूयो भूयोऽभिवर्धते नित्यम्।
विरम प्रसीद सुन्दरि यौवनमनिवर्ति यातं तु।। —काव्यालं., 7/90

रुद्रट के अनुसार यह उपमानाधिक्य व्यतिरेक का उदाहरण है। यहां यौवन उपमेय है, शशि उपमान। दोनों का समान धर्म है अस्थैर्य। वक्ता का तात्पर्य यह है कि चन्द्र की अस्थिरता तो जाकर भी पुनः लौट आती है, किन्तु अस्थिर यौवन एक बार गया तो गया, पुनः लौटकर आने को नहीं। कह सकते हैं कि चन्द्र का गुण यौवन की अपेक्षा कम नश्वर है। इस प्रकार चन्द्र या उपमान अधिक उत्कृष्ट है, अपेक्षाकृत उपमेय यौवन के। यद्यपि क्षीणत्व उभयविशिष्ट है, किन्तु चन्द्र में वृद्धि रूप गुण होने से वह यौवन से उत्कृष्ट है। अतएव यह उपमानाधिक्य का उदाहरण है।[27] रुय्यक विश्वनाथ आदि भी उपर्युक्त मत का अनुसरण करते हैं। मानिनी नायिका को उसकी प्रियसखी यौवन की अस्थिरता को बताकर प्रिय-संगम का उपदेश करना चाहती है। 'यौवन अस्थिर है, अतः तुम्हें मान नहीं करना चाहिये। यदि चन्द्र की भांति यौवन भी जाकर लौट सकता तो प्रियतम के प्रति चिरकाल तक की ईर्ष्या उचित भी थी, परन्तु यह हत यौवन चले जाने पर पुनः आने को नहीं है। अतएव मान का परित्याग कर प्रिय के निरन्तर साहचर्य से जन्म सफल करना चाहिये। इस प्रकार की ईर्ष्या व्यर्थ है, प्रिय के प्रति कोप का परित्याग कर उसके ऊपर अनुग्रह करो।' इस प्रकार प्रिय के प्रति कोप-शांति के लिये यौवन की अपुनरावृत्ति बताकर चन्द्र की अपेक्षा उसकी न्यून गुणता ही स्थापित की गयी है। अतएव रुय्यक के अनुयायियों के अनुसार यहां उपमेय न्यूनगुण और उपमान[28] उत्कृष्ट गुण है। इन आचार्यों के विपरीत मम्मट, शोभाकर, आदि का मत है कि यहां उपमेय यौवनगत अस्थैर्य गुण ही अधिक उत्कर्षशाली है। प्रिय की हितेच्छु

वक्त्री चन्द्र की अपेक्षा यौवन को ही अधिक उत्कृष्ट समझती है। प्रियतम के प्रति प्रेम निरन्तर सजग रहे, इसके लिये यौवन की अस्थिरता का प्रतिपादन ही गुण है, क्योंकि 'प्रिय संगम के लिये वही रुझान का कारण है। सखी यौवन की अस्थिरता बताकर नायिका को अनुराग के लिये प्रेरित कर रही है। अतएव उपमेय ही अधिक उत्कृष्ट है, उपमान नहीं'।[29] वस्तुतः द्वितीय मत अधिक ग्राह्य है। सखी का कथन है 'सखि! चन्द्र तो इस जगत् में बार्-बार आता रहता है, अतएव वह उतना महत्त्वपूर्ण नहीं है। यह यौवन, जिसका पुनः आगमन अत्यन्त अशक्य होने से, अत्यन्त दुर्लभ है, अधिक महत्त्वपूर्ण है। विदग्धा तुम्हें मूर्ख की भांति व्यर्थ के मान से काल का यापन नहीं करना चाहिये।' अतएव यहां उपमेय का आधिक्य स्पष्ट है, क्योंकि प्रियानुराग ही प्रतिपाद्य है। और यदि यहां उपमान को उत्कृष्ट और उपमेय यौवन को निकृष्ट सिद्ध किया जाये, तब तो नायिका यह भी कह सकती है, कि 'यदि यह यौवन इतना महत्त्वहीन और निकृष्ट है तो, जाये, मैं क्यों मान को छोड़ूं।' वस्तुतः जो आचार्य यहां उपमेय का न्यूनगुणत्व स्वीकारते हैं, उनका भी अभीष्ट है अप्रत्यक्ष रूप से उपमेय का उत्कर्ष बताना। कवि कोई भी विधान प्रकृत को आकर्षक, हृद्य तथा अत्यन्त सौन्दर्यपूर्ण बनाने के लिये करता है। उपमान की अपेक्षा उपमेय का उत्कृष्ट वर्णन कथन का सीधा प्रकार है, परन्तु उपमान के आधिक्य[30] कथन में भी कवि का लक्ष्य उपमेयोत्कर्ष ही होता है। यह अवश्य है कि प्रथम स्थल में वह शाब्द होता है, द्वितीय में आक्षेपलभ्य। इस प्रकार से व्यतिरेक की औपम्य-गर्भता भी सिद्ध होती है। अतएव आचार्यों के मतों का समन्वय ही उचित है।

व्यतिरेक के भेद

भामह ने व्यतिरेक का एक ही उदाहरण प्रस्तुत किया है,[31] जिसमें उपमेयोत्कर्ष विवक्षित है। दंडी अनेक भेद करते हैं। शब्दोपात्त सादृश्य की श्रेणी में वह एकव्यतिरेक, उभयव्यतिरेक, सश्लेषव्यतिरेक, साक्षेपव्यतिरेक तथा सहेतुव्यतिरेक का विवेचन करते हैं। प्रतीयमान सादृश्य व्यतिरेक का दो भेद माना है—भेदमात्र कथन तथा आधिक्य प्रदर्शन में। इन भेदों का विवेचन कर लेने के बाद दंडी पुनः शब्दोपात्त सादृश्य व्यतिरेक, शब्दानुपात्त सादृश्य व्यतिरेक तथा सजातीय व्यतिरेक का विवेचन प्रस्तुत करते हैं।[32] उद्भट व्यतिरेक के चार प्रकारों का विवेचन करते हैं। प्रथम व्यतिरेक—जिसमें सादृश्य गम्यमान रहता है, के वे दो भेद मानते हैं, विशेष ख्यापन करने वाले निमित्त के शब्दोपात्त और आक्षेपलभ्य

होने से।[33] द्वितीय व्यतिरेक में वह इव, आदि के द्वारा उपमानोपमेय भाव होने से सादृश्य वाच्य स्वीकारते हैं।[34] ध्यातव्य है कि इन्दुराज इसका भी पूर्ववत् दो भेद मानते हैं।[35] इन दो व्यतिरेकों के अतिरिक्त उद्भट श्लेष व्यतिरेक का भी विवेचन करते हैं।[36] इस प्रकार उद्भट के अनुसार व्यतिरेक के चार भेद होते हैं, इन्दुराज के अनुसार पांच। परन्तु उद्भट के द्वितीय टीकाकार राजानक तिलक इस भेद संख्या को चौबीस तक पहुंचा देते हैं। उनके अनुसार उद्भट के प्रथम व्यतिरेक के चार भेद हैं—उपमेय के उत्कर्ष और उपमान के अपकर्ष के निमित्त के उपादान में, उपमेय के उत्कर्ष-निमिंत्त, उपमान के अपकर्ष-निमित्त तथा उभय के निमित्त के अनुप्रादान में होने से। द्वितीय भेद में भी निमित्त के उपादान अनुपादान से दो भेद होते हैं। इस प्रकार व्यतिरेक के कुल छः भेद शाब्द, आर्थ भेद से बारह हो जाते हैं। उद्भट के तृतीय भेद के आधार पर श्लिष्ट-अश्लिष्ट भेद से ये चौबीस भेद तिलक को अभिमत हैं[37] जिनके ऋणी मम्मट हैं। वामन ने धर्म[38] के वाच्य और गम्य भेद से दो भेद का उदाहरण प्रस्तुत किया है।

रुद्रट ने व्यतिरेक को वास्तवमूल माना है। नमिसाधु ने रुद्रट को स्पष्ट करते हुए कहा है कि लक्षण में उपमान-उपमेय शब्द का ग्रहण व्यतिरेक की सिद्धि के लिये है, इससे यह न समझना चाहिये कि यहां औपम्य विवक्षित है।[39] रुद्रट ने चार भेदों का विवेचन किया है, केवल गुणयुक्त उपमेय, केवल दोषयुक्त उपमान, गुणोपेत उपमेय, दोषयुक्त उपमान तथा गुणयुक्त उपमान-दोषयुक्त उपमेय।[40] रुद्रट का पूर्वोक्त 'क्षीणः क्षीणोऽपि' आदि उदाहरण चतुर्थ व्यतिरेक का है। नमिसाधु दो और भेदों का निर्देश करते हैं, केवल गुणयुक्त उपमान और केवल दोषयुक्त अपमेय के विवेचन में।[41] कुन्तक शाब्द-आर्थ द्विधा व्यतिरेक का उल्लेख करते हैं।[42] दंडी का अनुगमन करते हुए भोजराज ने 'शृंगारप्रकाश'[43] में छः भेदों का विवेचन किया है, एकव्यतिरेक उभयव्यतिरेक, सदृशव्यतिरेक, असदृशव्यतिरेक, स्वजातिव्यतिरेक और स्वव्यक्तिव्यतिरेक। यद्यपि इन्हीं भेदों का उल्लेख वे 'सरस्वती कंठाभरण'[44] में भी करते हैं, किन्तु सादृश्य के शाब्द और प्रतीयमान के आधार पर उपर्युक्त प्रत्येक भेदों के दो-दो उदाहरण प्रस्तुत करते हैं। अग्निपुराण में व्यतिरेक का उल्लेख नहीं है।

मम्मट का भेद-विवेचन राजानक तिलक के विवेचन पर आधारित है। व्यतिरेक-निमित्त की उक्ति-अनुक्ति के आधार पर पूर्ववत् तिलक की भांति चार भेद मम्मट भी मानते हैं, उपमेयगत उत्कर्ष तथा उपमानगत अपकर्ष-निमित्त की उक्ति में एक भेद होता है। निमित्त की अनुक्ति में तीन भेद : (क) उपमेयगत उत्कर्ष

निमित्तमात्र की अनुक्ति, (ख) उपमानगत अपकर्ष निमित्तमात्र की अनुक्ति, (ग) उभय के निमित्त की अनुक्ति, होते हैं। सादृश्य के शाब्द, आर्थ तथा आक्षेप (व्यंजना) लभ्य होने से उपर्युक्त चार भेदों के प्रत्येक के तीन-तीन भेद होकर व्यतिरेक के बारह भेद होते हैं। इनके भी श्लिष्ट-अश्लिष्ट होने से 24 भेद व्यतिरेक के मम्मट को मान्य हैं।[45] मम्मट मालाव्यतिरेक का भी उल्लेख करते हैं। संभवतः व्यतिरेक के उपर्युक्त भेद-प्रपंच में सौन्दर्य का अभाव देखकर रुय्यक ने केवल दो ही उदाहरण का प्रदर्शन उचित समझा। वे हैं, उपमेय-आधिक्य और उपमान-आधिक्य के।[46] शोभाकर प्रथम व्यतिरेक, उपमेय की उत्कृष्टता तथा उपमान की अपकर्षता में स्वीकारते हैं।[47] जो जिसका सजातीय है, उसकी अतद्धर्मता द्वितीय व्यतिरेक है।[48] इसका वे दो भेद करते हैं, सजातीय सम्बद्ध धर्म के अभाव तथा विजातीय धर्म सद्भाव में। सजातीय स्वाभाविक या अध्यारोपित हो सकता है। इस प्रकार शोभाकर का विभाजन औरों से विचित्र ढंग का है।

नरेन्द्रप्रभसूरि उपमा, श्लेषोपमा, श्लेष, रूपक, प्रसिद्धि विपर्यास तथा सादृश्य को व्यतिरेक का विषय स्वीकारते हैं, परन्तु भेद-विवेचन नहीं करते।[49] हेमचन्द्र श्लिष्ट व्यतिरेक को संकर का विषय मानते हुए मम्मटोक्त अश्लिष्ट बारह भेदों को ही मान्यता देते हैं।[50] वाग्भट प्रथम के उदाहरण में उपमेयोत्कर्ष निरूपित है।[51] वाग्भट (द्वितीय) दंडी और भोजराज की परंपरा का उद्वहन करते हुए सदृश, स्वजाति, एक, अनेक, श्लेष, आक्षेप, हेतु, आदि भेदों को स्वीकारते हैं।[52] जयदेव एक उदाहरण के लिये प्रख्यात हैं। विद्याधर[53] तथा विद्यानाथ[54] रुय्यक का अनुगमन करते हैं, किन्तु रुय्यक के ही अनुकृती विश्वनाथ व्यतिरेक के 48 भेद स्वीकारते हैं। उन्होंने मम्मट के 24 भेदों के अतिरिक्त उपमाधिक्य के 24 और भेदों को मान्यता दी है।[55] अप्पयदीक्षित को तीन भेद मान्य हैं, उपमेयाधिक्य, उपमेय-न्यूनत्व तथा अनुभयपर्यवसायी।[56] उनके द्वितीय तथा तृतीय उदाहरणों को जगन्नाथ ने असंगत सिद्ध किया है।[57] कर्णपूर मम्मट के अनुगामी हैं,[58] तो देवशंकर[59] दीक्षित के। जगन्नाथ यद्यपि मम्मटोक्त चौबीस भेदों को आदर की दृष्टि से देखते हैं, पर उन्हें ये अभिमत नहीं हैं।[60] उनका अभिमत है कि श्लिष्ट व्यतिरेक के वैधर्म्य के अनुपादान में प्राचीनों के शाब्द, आर्थ तथा आक्षेपलभ्य आदि भेदों का उदाहरण मिलना कठिन है। विद्वान् ही चौबीस भेदों के उदाहरण की उपपत्ति कर सकते हैं। उनका तो यह भी आक्षेप है कि यदि भेद-गणना मात्र ही पांडित्य है तो उपमा के भी समस्त भेद व्यतिरेक में कहे जा सकते हैं।[61] अन्ततः उन्होंने स्वाभिमत तीन भेदों का उल्लेख किया है : व्यतिरेक में कहीं सादृश्य का निषेध शब्दतः वर्णित रहता

है, उससे उपमेयोत्कर्ष तथा उपमान-अपकर्ष का आक्षेप होता है, कहीं शब्दतः उपमेयोत्कर्ष वर्णित होने पर उससे उपमान का अपकर्ष एवं सादृश्य का अभाव आक्षिप्त रहता है और कहीं अपमान का शब्दतः अपकर्ष वर्णित होने पर उससे उपमेय का उत्कर्ष तथा सादृश्य का अभाव आक्षिप्त रहता है।[62] इन भेदों के अतिरिक्त जयरथ तथा जगन्नाथ, धर्म के आधार पर अनुगामी, बिम्बप्रतिबिम्बभाव, शुद्धसामान्य, आदि भेद भी मानते हैं।[63] विश्वेश्वर मम्मट का अनुसरण करते हैं।[64] अन्य आचार्यों में कोई वैशिष्ट्य नहीं है।

उपर्युक्त विवेचन से यह सिद्ध होता है कि दंडी तथा उद्भट का व्यतिरेक विभाजन अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। बाद में उन्हीं को आधार मानकर व्यतिरेक का पल्लवन हुआ है। राजानक तिलक के 24 भेद अन्त तक आचार्यों को मान्य रहे हैं। वस्तुतः श्लेष आदि के आधार पर किये गये व्यतिरेक विभाजन में न तो सौन्दर्य है, न सादृश्य। व्यतिरेक सादृश्यमूलक अलंकार है, श्लेष शब्दालंकार भी है। जहां श्लेष होगा, वहां संकर होगा, हेमचन्द्र का यह मत भी समादरणीय है। व्यतिरेक प्रपंच के विस्तार में सौन्दर्य का अभाव देखकर ही, रुय्यक, विद्याधर, विद्यानाथ, आदि प्रमुख आचार्यों ने उद्भट-प्रोक्त भेद का भी प्रदर्शन अयुक्त समझा। जगन्नाथ ने इसीलिये उनका निराकरण कर दिया है। जैसा कि पहले ही कहा जा चुका है, उपमान की उत्कृष्टता स्वतः सिद्ध है। अतः उपमेयाधिक्य रूप केवल एक व्यतिरेक ही समादरणीय और ग्राह्य है। शोभाकर आदि उपमान की न्यूनता का भी उल्लेख करते हैं, किन्तु वह अयुक्त है। उपमेय की उत्कृष्टता प्रतिपादित करने पर उपमान की न्यूनता तो स्वाभाविक है, फिर उसकी न्यूनता को भेद मानना कहां तक संगत है? अतएव व्यतिरेक का एक भेद उपमेयाधिक्य वाला ही मानना चाहिये। इसका उदाहरण 'क्षीणः क्षीणोऽपि' इत्यादि दिया जा चुका है।

वैधर्म्य अलंकार का खण्डन

शोभाकर ने वैधर्म्य नामक एक पृथक् अलंकार का विवेचन किया है। पूर्वकथित अर्थ के बाद उसके प्रतिभटभूत (विरोधी) अन्य अर्थ का स्थापन वैधर्म्य अलंकार है।[65]

'नाथे श्रीपुरुषोत्तमे त्रिजगतामेकाधिपे चेतसा।
सेव्ये स्वस्य पदस्य दातरि परे नारायणे तिष्ठति।
यं कंचित्पुरुषाधमं कतिपयग्रामेशमल्पार्थदं
सैवायै मृगयामहे नरमहो मूढा वराका वयम्।। —अ.र., पृ. 31

(मन से सेवा करने वाले को अपना पद प्रदान करने वाले सेव्य पुरुषोत्तम, त्रिलोकपति, श्रेष्ठ नारायण के रहते आश्चर्य है कि बेचारे मूढ हम, सेवा के किये कुछ ग्रामों के स्वामी, स्वल्प-प्रदाता, जिस किसी अधम पुरुष को खोज रहे हैं।)

शोभाकर के अनुसार यहां श्लोक के पूर्वार्द्ध में पहले विष्णु की उत्कृष्टता का वर्णन है, बाद में उत्तरार्द्ध में उत्कृष्टता के विरोधी अधम पुरुष की न्यूनता का कथन है, अतएव यहां वैधर्म्य अलंकार है। शोभाकर का यह भी मत है कि वैधर्म्य को द्वितीय व्यतिरेक में नहीं अन्तर्भूत कर सकते, क्योंकि यहां साधर्म्य का गन्ध भी नहीं पाया जाता तथा उपमानोपमेय भाव की विवक्षा भी नहीं रहती।[66] वस्तुतः शोभाकर के इस उदाहरण में अलंकार न होकर भगवद्विषयक रतिभाव ही अधिक चमत्कारी है और यदि अलंकार ही मानना हो तो व्यतिरेक सुतरां संभव है। यहां वर्ण्य है, सेव्य पुरुष का मार्गण, उससे सम्बद्ध विष्णु को अप्रकृत रूप में उपस्थित किया गया है। अतएव उपमानाधिक्य में व्यतिरेक माननेवालों की दृष्टि से यहां उपमानाधिक्य व्यतिरेक है। शोभाकर ने :

शङ्खाः सन्ति सहस्रशो जलनिधेर्वीचिच्छटाघट्टिताः।
पर्यन्तेषु लुठन्ति ये दलशतैः कल्माषितक्ष्मातलाः।।
एकः कोऽपि स पांचजन्य उदभूदाश्चर्यभूमिः सतां।
यः संवर्तभरक्षमैर्मधुरिपोः श्वासानिलैः पूर्यते।। —वही, पृ. 28

इसे द्वितीय व्यतिरेक के उदाहरण में प्रयुक्त किया है। अन्यशंखों से पांचजन्य को उत्कृष्ट बताया गया है। इसी प्रकार उक्त श्लोक में अन्य दाता या सेव्य से भगवान् विष्णु को श्रेष्ठ बताया गया है। यदि प्रकृत में व्यतिरेक है, तो 'नाथे श्री पुरुषोत्तमे' में भी व्यतिरेक मानने में कोई आपत्ति नहीं है। अतएव वैधर्म्य की पृथक् अलंकारता असिद्ध है। शोभाकर जो सादृश्य और उपमानोपमेयभाव भाव का अभाव बताते हैं, वह तो नितान्त भ्रम है, क्योंकि सादृश्य के बिना वैधर्म्य होना असंभव है।

—

सहोक्ति

'सहभावस्य उक्तिः सहोक्तिः।'[67] यहां 'सह' का अर्थ साहित्य है।[68] एककालिक क्रिया सम्बन्ध को साहित्य कहा जाता है। अतएव जहां, एक अर्थ से सम्बद्ध एक ही धर्म (गुण-क्रिया रूप) 'सह' या उसके वाचक अन्य शब्दों की सामर्थ्य से अन्य अर्थ का भी वाचक होता है, उसे सहोक्ति कहते हैं, यह सहोक्ति का अर्थ है। सहोक्ति अलंकार का स्वरूप भी यही है।[69] सहोक्ति अलंकार का मूल है,

व्याकरण-सिद्धान्त। महर्षि पाणिनी ने तृतीया विभक्ति विधायक एक सूत्र सहयुक्तेऽप्रधाने 2/3/29—का उल्लेख किया है। 'सह' शब्द के योग में अप्रधान पद में तृतीया विभक्ति होती है। जैसे—'पुत्रेण सह आगतः पिता' में 'सह' के योग में अप्रधान पुत्र में तृतीया विभक्ति हुई है। इस प्रकार सह के योग में जिससे भी तृतीया विभक्ति होगी, वह अप्रधान या गौण होगा और उसके साथ अन्य विभक्ति-पद प्रधान होगा। ठीक यही स्थिति सहोक्ति अलंकार में पायी जाती है। व्यतिरेक की भांति सहोक्ति भी औपम्यमूलक भेद-प्रधान अलंकार माना गया है। ध्यातव्य है कि यह भेद प्रधानता व्यतिरेक की भांति साधर्म्यमूलक न होकर गुणप्रधानभावमूलक की है।[70] चूंकि सहोक्ति भी उपमा मूलक अलंकार है, अतः एक वस्तु का उपमान और अन्य का उपमेय होना स्वाभाविक है, परन्तु यहां उपमानोपमेय भाव न वास्तविक होता है, न नियत ही। वह कवि-विवक्षा और सहृदय पर आधारित है, क्योंकि सहोक्ति में दोनों ही अर्थ या तो प्रकृत होते हैं या अप्रकृत। सहार्थ के सामर्थ्य से दोनों की स्थिति समान होती है। तथापि जो अर्थ तृतीया विभक्ति से निर्दिष्ट हुआ रहता है, नियमतः गौण होने के कारण उसे उपमान कहा जाता है, और जिसका निर्देश अन्य विभक्ति से होता है, वह प्रधान होने के कारण प्रकृत या उपमेय माना जाता है। सह शब्द पर अवलम्बित होने के कारण सहोक्ति का प्रधानगुणभाव शाब्द है, आर्थ नहीं। रुय्यक का अभिमत है कि कभी-कभी तृतीया विभक्ति निर्दिष्ट भी पद प्रधान तथा अन्य विभक्तिक पद अप्रधान देखा जाता है। अतएव सहोक्ति के ऐसे स्थलों में मूलरूप से अतिशयोक्ति पायी जाती है :

'तत्रापि नियमेनातिशयोक्तिमूलत्वमस्याः'[71]

वैदिक ग्रन्थों में भी सहोक्ति के अनेक अच्छे उदाहरण पाये जाते हैं। ऋग्वेद के निम्न मन्त्र में सहोक्ति का सौन्दर्य है :

साकं जातः क्रतुना साकमोजसा बवक्षिथ
साकं वृद्धो वीर्यैः सासहिर्वृधो विचर्षणिः।। ऋ., 2/23/3

निम्नस्थल में भी सहोक्ति समुल्लसित है :

स्वप्नान्तमुच्चावचमीयमानः (नो)रूपाणि देवः कुरुते बहूनि।
उतेव स्त्रीभिः सह मोदमानो जक्षदुतेवाऽपि भयानि पश्यन्।।
—श.प., 14/4/1/14

इसी प्रकार प्रश्नोत्तर उपनिषद् की यह उक्ति भी परम रमणीय है :

'विज्ञानात्मा सहदेवैश्चसर्वैः प्राणाभूतानि संप्रतिष्ठन्ति यत्र।

—प्रश्नो., 4/11

सहोक्ति के सर्वप्रथम उद्भावक आचार्य भामह हैं। उनके अनुसार दो वस्तुओं में अवस्थित समकालिक दो क्रियाओं का एक पद से अभिधान सहोक्ति अलंकार है।[72] दंडी गुण और कर्म के सहभाव कथन को ही सहोक्ति मानते हैं।[73] उद्भट ने भामह लक्षण को ही ले रखा है।[74] वामन भी भामह की कारिका का गद्यानुवाद मात्र करते हैं।[75] रुद्रट सहोक्ति को वास्तव तथा औपम्य दो वर्गों में रखते हैं। प्रथम वर्ग की सहोक्ति में कार्यकारण भाव और औपम्य का अभाव पाया जाता है, तो द्वितीय वर्ग में केवल औपम्य संपृक्त है।[76] जो अर्थ जिस रूप में है, उसके समान दूसरे अर्थ का उसी के साथ कथन, या कर्मभूत अर्थ का कर्तृभूत अर्थ के साथ समान कथन अथवा अन्योन्य निरपेक्ष दो समान अर्थ का एकसाथ (तुल्यकाल) कथन वास्तवमूल सहोक्ति है।[77] औपम्यमूला सहोक्ति तब होती है, जब उपमान से सम्बद्ध क्रिया के साथ उपमेय का भी निबन्धन हो अथवा एक कर्तृक अनेक कर्माश्रित क्रिया होने पर उपमेय (प्रधान) का उपमान (अप्रधान कर्म) के साथ निबन्धन हो।[78] ध्यातव्य है कि रुद्रट की अन्तिम सहोक्ति को ही रुय्यक आदि ने स्वीकार किया है। कुन्तक ने भामह की सहोक्ति का खंडन करते हुए कहा है कि प्रस्तुत अर्थ की निष्पत्ति के लिये जहां एक ही वाक्य से एक साथ (युगपत्) अन्य पदार्थों का भी अभिधान हो, वहां सहोक्ति होती है। उनका यह भी अभिमत है कि कुछ विद्वान् इसे सहोक्ति कहते हैं तो कोई समासोक्ति और कुछ दोनों को भिन्न मानते हैं।[79] हेमचन्द्र ने विवेक में यह मत व्यक्त किया है कि कुन्तक सहोक्ति और समासोक्ति को अलंकार नहीं मानते।[80] परन्तु वक्रोक्तिजीवित में कुन्तक के नाम से प्रयुक्त हेमचन्द्र की कारिका अप्राप्य है। भोजराज के अनुसार सहोक्ति उभयालंकार है। क्रियादि में कर्ता आदि की अन्य के साथ अवस्थिति सहोक्ति अलंकार है।[81] 'शृंगारप्रकाश' में वह द्रव्य, गुण, क्रिया, आदि के सह-कथन को सहोक्ति कहते हैं।[82] मम्मट के अनुसार एक अर्थ का अभिधायक पद जब सह शब्द की सामर्थ्य से दो अर्थों का अभिधायक होता है, तो सहोक्ति होती है।[83] वस्तुतः मम्मट भी सहोक्ति में कोई नूतनता का संचार नहीं कर सके।

सहोक्ति का सर्वप्रथम वैज्ञानिक विवेचन रुय्यक ने प्रस्तुत किया। उन्होंने ही सर्वप्रथम सहोक्ति के मूल में व्याकरण-सिद्धान्त की प्रतिष्ठा की। यद्यपि रुद्रट

के लक्षण से व्याकरण का संकेत अवश्य मिलता है, नमिसाधु ने गुण-प्रधान भाव का निर्देश भी किया है, पर स्पष्ट शब्दों में किसी ने इस तत्त्व की उद्‌भावना नहीं की। रुय्यक ने ही सहोक्ति को भेद-प्रधान अलंकारों की श्रेणी में रखा तथा यह स्पष्ट किया कि भेद प्रधानता गुण-प्रधान भाव ही है, अन्य कुछ नहीं। उनके अनुसार उपमान-उपमेय में एक के प्राधान्य तथा अन्य के सहार्थ (गौण) सम्बन्ध में सहोक्ति होती है।[84] समुद्रबन्ध के शब्दों में इस प्रकार कह सकते हैं :

'यत्र खलु द्वयोर्गुणप्रधानभूतयोः समकालमेवैकक्रियाद्यनुप्रवेशः तत्र सहार्थोन्मज्जनम्।' —स.बं, पृ. 79

समुद्रबन्ध के उक्त कथन से यह स्पष्ट सिद्ध होता है कि मम्मट आदि के लक्षण भी रुय्यक के समान हैं। 'सह' शब्द का प्रयोग करते समय इन आचार्यों की दृष्टि में भी प्रधानगुणभाव की बात आयी होगी, पर वे इसे व्यक्त न कर सके, जिसका श्रेय रुय्यक को है। वस्तुदृष्टि से विचार किया जाये तो मम्मट, रुय्यक, आदि के लक्षण समान ही प्रतीत होते हैं। शोभाकर भी सहार्थवश एक का अनेक के साथ सम्बन्ध को सहोक्ति कहते हैं।[85] वृत्ति में रुय्यक के अनुसार अतिशय-मूलकता भी मानते हैं।[86] नरेन्द्रप्रभसूरि रुय्यक के पूर्णतः अनुगामी हैं।[87] हेमचन्द्र भी मम्मट के समान लक्षण करते हैं।[88] वाग्भट प्रथम कार्यकारण की एक साथ उत्पत्ति कथा को सहोक्ति कहते हैं।[89] वाग्भट द्वितीय, जयदेव, दीक्षित, देवशंकर, अमृतानन्दयोगी, आदि सहभाव कथन को सहोक्ति स्वीकारते हैं।[90] विद्याधर, विश्वनाथ, रुय्यक का अनुगमन करते हैं,[91] किन्तु विद्यानाथ की रुय्यक से कुछ विलक्षणता है। रुय्यक सहोक्ति को भेदप्रधान मानकर अतिशयोक्तिमूल स्वीकारते हैं, पर विद्यानाथ अतिशयोक्ति का प्राधान्य होने से अतिशयोक्ति के बाद ही सहोक्ति का विवेचन प्रस्तुत करते हैं। लक्षण में कोई अन्तर नहीं है।[92] कर्णपूर मम्मटानुसारी हैं।[93] जगन्नाथ के अनुसार गुणप्रधान भाव से सहार्थ सम्बन्ध सहोक्ति है,[94] जो रुय्यक के ही समान है। विश्वेश्वर, अच्युतराय, नरसिंह, छज्जूराम, आदि के लक्षणों में भी कोई वैशिष्ट्य नहीं है।[95]

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि सहार्थ सम्बन्ध में उभयार्थ कथन सहोक्ति है। वह नियमतः अतिशयमूल है। सहार्थ सम्बन्ध के कारण एक अर्थ प्रधान होता है, द्वितीय गौण। इसी आधार पर उनमें उपमानोपमेय भाव होता है, किन्तु यह उपमानोपमेय भाव नियत न होकर विवक्षाधीन है क्योंकि सहोक्ति में दोनों ही अर्थ प्रस्तुत या अप्रस्तुत होते हैं। सहोक्ति की भेद-प्रधानता साधर्म्य के कारण न होकर

गुणप्रधानभाव के कारण है। सहार्थ सम्बन्ध से ही यह गौण या प्राधान्यभाव आता है, अतएव दोनों ही अर्थ शाब्द होते हैं।[96] ध्यातव्य है कि जहां केवल प्राधान्य में क्रिया का योग होगा, वहां दीपक-तुल्ययोगिता होंगे और गुणप्रधानभाव में सहोक्ति।[97] सहवाचक, साकं, सार्धं, समं, आदि के योग में सहोक्ति वाच्य होती है, उनके अभाव में इवादि-शून्य उत्प्रेक्षा आदि की तरह व्यंग्य।

सहोक्ति भेद

भामह के उदाहरण में क्रियासहोक्ति[98] है, तो दंडीप्रयुक्त तीन उदाहरणों में गुण, क्रिया और गुण-क्रिया सहोक्ति है।[99] उद्भट ने भी एक ही क्रिया-सहोक्ति का उदाहरण प्रस्तुत किया है।[100] वामन ने एक ही उदाहरण प्रस्तुत किया है।[101] वामन तक किसी ने सहोक्ति का भेद विवेचन नहीं किया, दंडी अपवाद है जो लक्षण में ही गुण और क्रिया का निर्देश कर देते हैं। सर्वप्रथम रुद्रट ने सहोक्ति का पांच भेद प्रस्तुत किया। इन पांचों का निर्देश सहोक्ति लक्षण में प्राप्य है। वास्तवमूल तीन सहोक्ति है, कार्यकारण क्रियासहोक्ति, एककर्तृकक्रियासहोक्ति और अन्योन्यनिरपेक्ष कर्तृद्वय क्रिया सहोक्ति।[102] औपम्य सहोक्ति के दो भेद हैं, तुल्यक्रियासहोक्ति तथा अनेककर्माश्रिता एकक्रियासहोक्ति।[103] भोज मुख्यतः चार भेद मानते हैं, विविक्ता, अविविक्ता, सादृश्यवती तथा असादृश्या।[104] इनमें भी विवक्ता अविविक्ता के कर्ता-क्रिया और गुण, के उदाहरण प्रस्तुत किये हैं, जो कोई विशेष महत्त्व नहीं रखते।[105] शृंगारप्रकाश में केवल सादृश्यवती और वैसादृश्यवती दो भेदों का विवेचन है।[106] संभवतः चमत्कार का अभाव ही इस त्याग का कारण है। मम्मट ने कोई भेद नहीं किया है, केवल एक उदाहरण प्रस्तुत किया है :

सहदिवसनिशाभिः दीर्घाः श्वासदण्डाः
सहमणिबलयैर्बाष्पधारा गलन्ति।
तव सुभग वियोगे तस्या उद्विग्नायाः
सह च तनुलतया दुर्बला जीविताशा।। का.प्र., पृ. 673

यहां श्वास दंड, वाष्पधारा तथा जीविताशा आदि प्रथमान्त पदों का दीर्घ आदि क्रियाओं से साक्षात् सम्बन्ध होने से सम्बन्ध शाब्द है, तथा तृतीया विभक्ति निर्दिष्ट दिवस निशा आदि पदों का 'सह' शब्द के सामर्थ्य से क्रिया-सम्बन्ध स्थापित होता है, अतएव उनका सम्बन्ध आर्थ है। दीर्घत्व, गलन और दुर्बलत्व आदि धर्म दोनों में ही समान हैं। यद्यपि दिवसनिशा आदि तथा श्वासदंड आदि की दीर्घता आदि

में भेद अवश्य है, परन्तु दोनों में अभेदाध्यवसाय होने से यह उदाहरण अभेदाध्यवसाय मूल सहोक्ति का माना जाता है।[107] इस आधार पर भामह, उद्भट तथा वामन आदि की सहोक्ति के उदाहरण भी अभेदाध्यवसाय मूलक कहे जा सकते हैं।

सर्वप्रथम रुय्यक ने अतिशयोक्ति को आधार मानकर सहोक्ति का विभाजन प्रस्तुत किया। ऊपर कही गयी गुणप्रधानभाव की स्थिति नियत नहीं है। कहीं-कहीं प्रथमा विभक्ति निर्दिष्ट पद अप्रधान तथा तृतीयनिर्दिष्ट प्रधान हो जाता है। रुय्यक के अनुसार ऐसी स्थिति में सहोक्ति के मूल में नियमतः अतिशयोक्ति पायी जाती है। इस प्रकार सहोक्ति, कार्यकारणविपर्ययमूला तथा अभेदाध्यवसाय मूला दो प्रकार की होती है। अभेदाध्यवसाय अतिशयोक्ति मूला कहीं श्लेष और कहीं अन्य ढंग से होती है।[108] रुय्यक ने इनके उदाहरण भी दिये हैं :

'भवदपराधैः समं संतापो वर्धतेतरामस्याः' अ.स., पृ. 98

यहां, संतापरूप कार्य के हेतुभूत अपराधों के साथ ही संताप का भी कथन होने से कार्यकारणविपर्ययरूपा अतिशयोक्तिमूला सहोक्ति है। रुय्यक का अभिमत है कि सहोक्तिमात्र अलंकार नहीं है, उसमें अतिशयोक्ति का होना आवश्यक है। उपर्युक्त रुय्यककृत सहोक्ति भेदों को शोभाकर, नरेन्द्रप्रभ, विद्यानाथ तथा विश्वनाथ भी स्वीकारते हैं। जगन्नाथ उनका विवेचन अवश्य करते हैं पर उन्हें सभी भेद नहीं मान्य हैं। रुय्यक कर्ता-कर्म के आधार पर कर्तृ साहित्य और कर्म-साहित्य में भी सहोक्ति मानते हैं, जो रुद्रट से प्राप्त है। वस्तुतः रुय्यक रुद्रट के अत्यन्त ऋणी हैं। रुय्यक मालासहोक्ति भी मानते हैं।[109] जयरथ ने (वि., पृ. 82) शुद्ध सामान्य और बिम्बप्रतिबिम्बभाव में भी सहोक्ति माना है।

शोभाकर सहोक्ति के चार भेदों का उल्लेख करते हैं, तुल्ययोगितागर्भा, अध्यवसायगर्भा, कार्यकारणपौर्वापर्यविपर्ययमूला तथा सम्बन्धे असम्बन्धगर्भा।[110] रुय्यक से नरेन्द्रप्रभसूरि का वैशिष्ट्य यह है कि वे गुण-क्रिया रूप अतिशयोक्ति का विवेचन करते हैं,[111] और भोज की भांति सह आदि के अप्रयोग होने पर इवादि के योग में औपम्यगर्भा भी सहोक्ति का उल्लेख करते हैं।[112] हेमचन्द्र ने गुण-क्रिया-रूप सहोक्ति के दो भेद को स्वीकार किया है। 'विवेक' में वह सहोक्ति को अलंकार न माननेवालों का खंडन भी करते हैं।[113] वाग्भट-प्रदत्त उदाहरण में अभेदाध्यवसायगर्भा सहोक्ति है।[114] वाग्भट द्वितीय ने मम्मटोक्त उदाहरण का प्रयोग किया है। विद्याधर कार्यकारणविपर्ययात्मिका तथा अभेदाध्यवसायगर्भा का उदाहरण प्रस्तुत करते

हैं।[115] जैसा कि पहले ही कहा जा चुका है, विद्यानाथ और विश्वनाथ रुय्यक से अतिरिक्त किसी अन्य वैशिष्ट्य का उद्भावन न कर सके। यह अवश्य है कि विश्वनाथ मालासहोक्ति का उल्लेख करते हैं, विद्यानाथ नहीं। जयदेव कर्णपूर, अप्पयदीक्षित, देवशंकर, अच्युतराय, विश्वेश्वर, आदि आचार्य सहोक्ति के भेद प्रपंच में नहीं पड़े हैं। नरसिंह कवि विद्यानाथ के लक्षण और भेद का विवेचन करते हैं।[116] जगन्नाथ रुय्यकप्रोक्त समग्र भेदों का विवेचन करते हैं।[117] किन्तु सभी को वे मानते नहीं हैं। प्राचीनों के ही मत का विवेचन करते हुए उन्होंने कहा है कि प्राधान्यतया क्रिया से योग होने पर तुल्ययोगिता और दीपक अलंकार होते हैं, गुणप्रधानभाव में सहोक्ति। सह आदि के अभाव में सहोक्ति गम्य भी होती है :

> **'प्राधान्येन क्रियान्वये तु यथायथं तुल्ययोगिता दीपकं वा भवति। सहादि शब्दप्रयोगाभावेऽप्येषा। .... परन्तु इवादिशब्दरहिता उत्प्रेक्षादिवद्गम्या।'** —र.गं., पृ. 359

जगन्नाथ का अभिमत है कि पौर्वापर्यविपर्यय से अनुप्राणिति सहोक्ति को नहीं मानना चाहिये क्योंकि ऐसे स्थलों में अतिशयोक्ति की ही प्रधानता रहती है, सहोक्ति-चमत्कार नाममात्र को होता है। 'तव कोपोऽपि नाशश्च जायते युगपन्नृप' में जिस प्रकार अतिशयोक्ति है, उसी प्रकार 'तव कोपोऽरिनाशेन सहैव नृप जायते' में भी अतिशयोक्ति कृत चमत्कार ही प्रधान है, केवल गुणप्रधानभाव मात्र का वैशिष्ट्य है। अतएव इस भेद को कार्यकारणपौर्वापर्यविपर्ययरूपा अतिशयोक्ति में ही डाल देना चाहिये।[118] नागेश जगन्नाथ का प्रतिवाद करते हुए उक्त भेद को भी स्वीकारने का आग्रह करते हैं।[119] परन्तु यह उनका दुराग्रह मात्र ही है।

वस्तुतः सहोक्ति को एक पृथक् अलंकार नहीं मानना चाहिये। अधिकांश आलंकारिक सहोक्ति के मूल में अतिशयेक्ति मानते हैं, और अतिशयोक्ति के ही आधार पर भेद-विवेचन भी करते हैं। शोभाकर तो तुल्ययोगिता के आधार पर भी एक भेद स्वीकारते हैं। क्यों न इसे अतिशयोक्ति या दीपक तुल्ययोगिता में अन्तर्भूत कर दिया जाये? अतिशय प्रायः अनेक अलंकारों में पाया जाता है। दीपक तुल्ययोगिता में क्रियादि रूप धर्म का प्राधान्य रूप में विवेचन किया ही जाता है, फिर क्यों न गुण-प्रधान भाव को उसी का एक अंग मान लें? स्वल्पसौन्दर्य-भेद को लेकर यदि अलंकार विस्तार करने लगेंगे तब तो असंख्य अलंकार मानने पड़ जायेंगे। यदि कोई कहे कि प्राचीन परंपरा का उल्लंघन होता है, तो यह कोई तर्क नहीं है। प्राचीनों के सिद्धान्त को आंख मूंदकर मान लेने में कौन-सा वैदग्ध्य है।

इसलिये अच्छा होगा कि, सहोक्ति को अतिशयोक्ति या दीपक-तुल्ययोगिता के अन्तर्गत रख लिया जाये। जगन्नाथ ने इस ओर संकेत भी किया है :

'इह तु गुणप्रधानभावेनैवेति विशेषः सन्नपि विच्छित्तिविशेषानाधायकतया नालंकारान्तरताप्रयोजकः।' —र.गं., पृ. 362, अ.कौ., पृ. 331

संदर्भ

1. व्यतिरेक आधिक्यम्। का.प्र., पृ. 645; व्यतिरेको विलक्षणः, अ.कौ., पृ. 308 (कर्णपूर)
2. दे., ल.वृ., पृ. 35.
3. सा.द. की टीका, रामचरण तर्कवागीश, पृ. 524; व्यतिरिच्यते उपमानाद्‌व्यावर्त्यते अनेन उपमेयमिति व्युत्पत्तेः। अ.कौ., पृ. 297 (विश्वेश्वर); तु. प्रदीप, व्यतिरेको विशेषेण अतिरेक आधिक्यम्। प्रदीप, पृ. 346; बा.बो., पृ. 645.
4. व्यतिरेकशब्दो भाव घञन्तः। —बा.बो., पृ. 645.
5. दे., र.गं., पृ. 350.
6. वि. धर्मोत्तर, 14/5.
7. उपमानवतोऽर्थस्य यद्विशेषनिदर्शनम्।
   व्यतिरेकं तमिच्छन्ति विशेषापादनाद्यथा।। —काव्यालं., 2/75.
8. शब्दोपात्ते प्रतीते वा सादृश्ये वस्तुनोर्द्वयोः।
   तत्र यद्‌भेदकथनं व्यतिरेकः स कथ्यते।। —काव्यादर्श, 2/180.
9. विशेषापादनं यत् स्यादुपमानोपमेययोः।
   निमित्तादृष्टिदृष्टिभ्यां व्यतिरेको द्विधा तु सः।। का.सा.सं., 2/12.
10. उपमानोपमेययोः परस्परं यत्र विशेषः ख्याप्यते स व्यतिरेकः। तत्र ह्युपमानादुपमेयस्योपमेयादुपमानस्य वा केनचिद्विशेषेणातिरेक आधिक्यं तस्माद्व्यतिरेकः।।—ल.वृ., पृ. 35.
11. स चोपमेयोत्कर्षोपमाननिकर्षरूपं व्यतिरेकः। —विवृत्ति, पृ. 25.
12. उपमेयस्य गुणातिरेकत्वं व्यतिरेकः। का.सू.वृ., 4/3/22 तथा वृत्ति।
13. यो गुण उपमेये स्यात्तत्प्रतिपन्थी च दोष उपमाने।
    यो गुण उपमाने वा तत्प्रतिपन्थी च दोष उपमेये।। काव्यालं. 7/86/89.
14. दे., व.जी., पृ 207-208.
15. शब्दोपात्ते प्रतीते वा सादृश्ये वस्तुनोर्द्वयोः।
    भेदाभिधानं भेदश्च व्यतिरेकश्च कथ्यते।। —स.कं., 3/32; शृं.प्र., पृ. 399.
16. उपमानाद्यदन्यस्य व्यतिरेकः स एव सः। —का.प्र., 10/105.
17. उपमानाद्यदन्यस्य न्यूनत्वं प्रतिकूलत्वं वा व्यतिरेकः—अ.र. सूत्र-22, उत्कर्षापकर्षहेत्वोः साम्यस्य चोक्तावनुक्तौ चोपमेयस्याधिक्य व्यतिरेकः —काव्यानु. 6/18.
    उपमानादुपमेयं यत्राधिक्यस्य गोचरी भवति।

सतिभेदप्राधान्ये व्यतिरेकोऽयं समाख्यातः।। एका. 8/20.
उपमानादुपमेयस्य गुणविशेषवत्वेनोत्कर्षो व्यतिरेकः —र.गं., पृ. 346.
उभयोः साम्यप्रोक्तौ विशेष उपमेये व्यतिरेकः। अ.कौ., पृ. 297; तु., अ.प्र. 32; नं.य., पृ. 201; सा.वि. 5/15; अ.मु. 23; सा.सा. (सर्वेश्वर), 2/121; सा.सा., 8/268; अ. मंजरी 100.

18. भेदप्राधान्ये उपमानादुपमेयस्याधिक्ये विपर्यये वा व्यतिरेकः। अ.स. सूत्र-28.
केनचिद्यत्रधर्मेण द्वयोः संसिद्धसाम्ययोः।
भवत्येकतराधिक्यं व्यतिरेकः स उच्यते।। वाग्भटालंकार 4/83.
साम्यस्य भेदकारणस्य चोक्तौ यद्द्वयोर्भेदकारणं स व्यतिरेकः।।—काव्यानु., पृ. 39.
व्यतिरेको विशेषश्चेदुपमानोपमेययोः। —चन्द्रा., 5/59.
आधिक्यमुपमेयस्योपमानान्न्यूनताथवा। व्यतिरेक—सा.द., 10/52/3.
तु.अ.म. 8/38; अ.चि. 4/39; कु., पृ. 65; प्र.रु., पृ. 313; अ.मं., कारिका 37; अ.सं. 5/26.

19. दे., वि., पृ. 79-80.

20. वही, स.बं., पृ. 78.

21. अलंकार सर्वस्वकृता तु 'उपमानादुपमेयस्याधिक्ये विपर्यये वा व्यतिरेकः' इति सूत्रयता उपमेयस्य न्यूनगुणत्वमुदाहृतम्। तदसमंजसम्। .... उपमानस्याधिक्यं इति रुचकेनोक्तमयुक्तम्। —सं.प्र., पृ. 317-18.

22. दे., तरल पृ. 249, तथा रत्नापण, 'उपमानाद्यदन्यस्य व्यतिरेकः स एव सः' इति तल्लक्षणमेव साधीयः। रत्नापण, पृ. 314.

23. देखिये, व्यतिरेक की व्युत्पत्ति।

24. दे., अ.र., पृ. 26.

25. अलंकार मीमांसा, पृ. 345.

26. न चैतद्वास्तवं उपमेयस्य न्यूनगुणत्वम्। तस्यैव सातिशयत्वेन प्रतिपाद्यत्वात्। —वही, विमर्शिणी।

27. अत्र शश्युपमानं क्षीणोऽपि वृद्धिगुणयुक्तो निर्दिष्टः यौवनन्तु उपमेयत्वं क्षयदोष युक्तम्।। —न.सा., पृ. 94; तु. अ.स., पृ. 97; सा.द., पृ. 525.

28. दे., र.गं., पृ. 352-3.

29. अत्र यौवनगतास्थैर्याधिक्यं हि विवक्षितम्। का.प्र., पृ. 645; तु., प्र., पृ. 347; स.प., पृ. 318; अ.चू., पृ. 318.
अत्र .... यौवनस्योपमेयस्यैव गतत्वापुनरागमनादधिकगुणत्वम्। —अ.र., पृ. 26. अस्मिन्हि प्रियहितकारिण्या वचने, चन्द्रादप्यधिकगुणत्वमेव विवक्षितं, न न्यूनगुणत्वम्। —र.गं., पृ. 252-3; दे., अ.कौ., पृ. 297.

30. किं च यत्र क्वापि शाब्द उपमेयस्यापकर्षस्तत्रापि स तस्य वाक्यार्थ पर्यवसायित्वेनोत्कर्षात्मना परिणमति। —र.गं., पृ. 353.

31. काव्यालंकार, 2/76.
32. दे., काव्यादर्श, 2/178-196.
33. वही, पूर्वोक्त उद्भट का लक्षण, का.सा.सं., 2-12.
34. यो वैधर्म्येण दृष्टान्तो यथेवादिपदान्वितः।
व्यतिरेकोऽत्र सोऽपीष्टो विशेषापादनान्वयात्।। —वही, 2/15.
35. दे., ल.वृ., पृ. 36-37.
36. श्लिष्टोक्तियोग्यशब्दस्य पृथक् पृथगुदाहृतौ।
विशेषापादनं यत् स्यात् व्यतिरेकः स च स्मृतः।। —वही, 2/17.
37. एषां द्वादशभेदानां न केवलं गम्यमानो (न उ) पादीयमानो वा साधारणधर्मो (र्म उ) पमामूलं यावच्छ्लेशेषेण स्थितः। —विवृति, पृ. 25-26.
38. दे., का.सू.वृ., पृ. 140.
39. नात्रौपम्यालंकारभेदत्वमाशंकनीयम्, सादृश्याभावात्। न.सा., पृ. 93.
40. काव्यालंकार, 7/86/90.
41. वही, 7/89 पर नमिसाधु की टीका।
42. व.जी., पृ. 207.
43. शृं.प्र., पृ. 399.
44. स्वजातिव्यक्त्युपाधिभ्यां एकोभयमिदा च सः। सादृश्याद्वैसादृश्याच्च भिन्नः षोढाभिजायते।। —स.कं., 3/33 तथा विवेचन, पृ. 355-60.
45. हेत्वोरुक्तावनुक्तीनां त्रये, साम्ये निवेदिते। शब्दार्थाभ्यामथाक्षिप्ते श्लिष्टे तद्वत्त्रिरष्ट तत्।। —का.प्र., 10/105-6.
46. दे., अ.स., पृ. 96-97.
47. वहीं, अ.र., पृ. 26-27.
48. सजातीयस्यातद्धर्मत्वं च। अ.र. सूत्र 23, अतद्धर्मत्वं च सजातीयसम्बन्धि धर्माभावात् विजातीयधर्मसद्भावाच्चेति द्विधिम्। —वही, पृ. 28.
49. गोचरश्चोपमाश्लेषोपमा श्लेषोऽथ रूपकम्।
प्रसिद्धेश्च विपर्यासः सादृश्यं चास्य कीर्तितः।। अ.भ., 8/39.
50. श्लेषव्यतिरेकस्तु संकरालंकारस्य विषयः। —काव्यानु., पृ. 384.
51. वाग्भटा., 4/84.
52. स च सादृश्यस्वजाति एकानेकश्लेषाक्षेपहेतुभेदैरनेकधा। —काव्यानु., पृ. 39.
53. एका., पृ. 249-50.
54. प्र.रु., पृ. 313-14.
55. सा.द., 10/52/54.
56. कु., पृ. 65-66.
57. दे., र.गं., पृ. 353-56; उद्योत, पृ. 503 तथा पृ. 508.
58. अ.कौ., 8/269.

59. अलंकार मंजूषा, 74-75.
60. सोऽपि .... चतुर्विंशतिप्रकार इति प्रांचः। र.गं., पृ. 347.
61. इदं तु बोध्यम् — इहोभयानुपादानं भेदत्रयं दुरूपपादम्। .... एवं च चतुर्विंशति-भेदा इतिप्राचामुक्तिर्विपुलोदाहरणाभिज्ञैर्यथा कथंचिदुपपादनीया। —वही, पृ. 350.
62. वही, पृ. 351.
63. दे., वि. तथा र.गं., पृ. 357.
64. वही, अ.कौ., पृ. 299.
65. उद्दिष्टस्य प्रतिपक्षतयानुनिर्देशो वैधर्म्यम्। —अ.र. सूत्र 25 तथा वृत्ति।
66. न चायं द्वितीयो व्यतिरेकः साधर्म्यगन्धस्याप्यभावात्। उपमानोपमेयभावस्य अविवक्षणाच्च। —अ.र., पृ. 31.
67. सहभावस्य उक्तिः सहोक्तिः। हेमचन्द्र, काव्यानुशासन, 6/13 की वृत्ति। तु. काव्यादर्श 2/349; बा.बो., पृ. 672; सा.बि., पृ. 186.
68. सहशब्दार्थोऽत्र साहित्यम्। सा.बि., पृ. 186; अ.कौ., पृ. 330.
69. दे., काव्यप्रकाश — सहोक्तिलक्षणम्।
70. भेदप्राधान्यं तु व्यतिरेकनयेन साधर्म्यनिमित्तकमिह न भवति, अपितु गुणप्रधानभावनिमित्तकमिति यावत्। —संजीवनी, पृ. 97.
71. दे., अं.स. पृ. 97-98 तथा वही संजी., र.गं. पृ. 359-60; अ.र., पृ. 70; एका., पृ. 251; प्र.रु., पृ. 289; सा.द., पृ. 526.
72. तुल्यकालक्रिये यत्र वस्तुद्वयसमाश्रये।
पदेनैकेन कथ्येते सहोक्तिः सा मता यथा। —काव्यालं., 3/39.
73. सहोक्तिः सहभावेन कथनं गुणकर्मणाम्। —काव्यादर्श, 2/349.
74. दे., का.सा.सं., 5/29.
75. वस्तुद्वय क्रिययोसतुल्यकालयोरेक पदाभिधानं सहोक्तिः। —का.सू.वृ., 4/3/28
76. अथ वास्तवसहोक्तेरस्याश्च को विशेषः? उच्यते—तत्र कार्यकारणभावः, औपम्या-भावश्च समस्ति। अस्यां तु तद्विपर्ययः। नमिसाधु., पृ. 119, डॉ. रामचन्द्र द्विवेदी भ्रान्तिवश प्रथमवर्ग की सहोक्ति में औपम्याभाव का अर्थ औपम्य की स्थिति मानते हैं। दे., अ.मी., पृ. 347. पुरुषोत्तमशर्मा चतुर्वेदी कहते हैं कि रुद्रट सहोक्ति केवल वास्तव-वर्ग में ही मानते हैं। उनकी भ्रान्ति है। दे., अ.वि., पृ. 192.
77. दे., काव्यालं, 7, 13-18.
78. वही, 8/99/102.
79. अत्र परस्परसाम्यसमन्वयो मनोहारिनिबन्धनमित्युपमैव —दे., व.जी., पृ. 210-12.
80. कश्चित्तु— समासोक्तिः सहोक्तिश्च नालंकारतया मता।
अलंकारान्तरत्वेन शोभाशून्यतया तथा।। (कुन्तकस्य)
इति सहोक्तिलंकारो न भवतीति प्रतिपादयति। —विवेक, पृ. 378.
81. कर्त्रादीनां समावेशः सहान्यैर्यः क्रियादिषु। .... सहोक्तिः सा निगद्यते। स.कं., 4/59

82. द्रव्यक्रियागुणादीनां सहाभिधानं सहोक्तिः। शृं.प्र., पृ. 419.
83. सा सहोक्तिः सहार्थस्य बलादेकं द्विवाचकम्। —का.प्र., 10/112.
84. उपमानोपमेययोरेकस्य प्राधान्यनिर्देशेऽपरस्य सहार्थसम्बन्धे सहोक्तिः। अ.स. सूत्र-29 तथा वृत्ति। तुलना के लिये देखिये, शोभाकर, विद्यानाथ, विश्वनाथ, जगन्नाथ, विश्वेश्वर तथा नरेन्द्रप्रभसूरि का विस्तृत विवेचन।
85. सहार्थवशादेकस्यानेकसम्बन्धे सहोक्तिः। —अ.र. सूत्र-42 तथा वृत्ति।
86. दे., वही, पृ. 70.
87. दे., अ.म., 8/5 तथा वृत्ति।
88. सहार्थबलाद्धर्मस्यान्वयः सहोक्तिः। काव्यानु. 6/13 तथा वृत्ति।
89. सहोक्तिः सा भवेद्यत्र कार्यकारणयोः सह।
समुत्पत्तिकथा हेतोर्वक्तुं तज्जन्यशक्तताम्। —वाग्भटा., 4/118.
90. सहभावकथनं सहोक्तिः। काव्यानु., पृ. 38; तु. चन्द्रा. 5/60; कु.का. 58; अ.मं. कारिका, 38; अ.सं. 5/47.
91. दे., एका. 8/21 तथा सा.द. 10/54/5 तथा वृत्ति।
92. सहार्थेनान्वयो यत्र भवेदतिशयोक्तितः।
कल्पितौपम्यपर्यन्ता सा सहोक्तिरितीष्यते।। —प्र.रु., पृ. 289 तथा वृत्ति। दे., नंजराजयशोभूषण, पृ. 183 भी।
93. दे., अ.कौ., 8/278.
94. गुणप्रधानभावावच्छिन्न सहार्थसम्बन्धः सहोक्तिः। —र.गं., पृ. 357 तथा वृत्ति।
95. सहसमभिव्याहारात्सहोक्तिरुभयान्विते धर्मे। अ.कौ., पृ. 330; अ.प्र., 43; अ.मु. 31; सा.बि. 5/16; सा.सा. 8/177; अ.चि., 4.60.
96. दे., अस.स., पृ. 96-97; अ.र., पृ. 70; अ.म., पृ. 232; प्र.रु., पृ. 289-90; सा.द., पृ. 526; र.गं., पृ. 359-61; संकेत पृ. 261; अ.कौ. पृ. 331; न.स., पृ. 183.
97. दीपके तुल्ययोगितायां च उपमानोपमेययोः प्राधान्येन क्रियादिरूपधर्मान्वयः। इह तु गुणप्रधानभावेनैवेति विशेषः —र.गं., पृ. 362.
98. भामहा., 2/40.
99. काव्यादर्श, 2/350/2.
100. का.सा.सं., 5/30.
101. दे., का.सू.वृ., पृ. 145.
102. काव्यालंकार, 7/13/18.
103. वही, 8/99-102.
104. स.कं., 4/59-60.
105. वही, पृ. 481-4.
106. शृं.प्र., पृ. 419.
107. दे., प्रदीपोद्योत, पृ. 523-4, माणिक्यचद्र के अनुसार यहां मालासहोक्ति है,

सं.पृ. 261; सा.चू., पृ. 343; बा.बो., पृ. 673, शोभाकर इसे विनोक्तिगर्भा मानते हैं। —अ.र., पृ. 71.

108. तत्रापि नियमेनातिशयोक्तिमूलत्वमस्याः। सा तुकार्यकारणप्रतिनियमविपर्ययरूपा अभेदाध्यवसायरूपा च। अभेदाध्यवसायश्च, श्लेषभित्तिकोऽन्यथा वा। अ.स., पृ. 98; तु.-अ.र., पृ. 70; सा.द., पृ. 526; प्र.रु., पृ. 289; र.गं., न.य., पृ. 183; प्रदीपोद्योत, पृ. 523.

109. अ.स., पृ. 99.

110. अ.र., पृ. 70-71.

111. अ.म., पृ. 232-33.

112. वही, 8/6.

113. काव्यानुशासन तथा विवेक, पृ. 378.

114. वाग्भटा., 4/119.

115. एका., पृ. 251-52.

116. न.य., पृ. 183.

117. र.गं., पृ. 357-58.

118. '.......... तस्मात् 'कार्यकारणपौर्वापर्यविपर्ययमूलः सहोक्तेरेकः प्रकारः' इति सर्वस्वकारादीनामुक्तिराग्रहमूलैव। —र.गं., पृ. 361-62; अ.कौ., पृ. 331.

119. दे., गुरुमर्मप्रकाश, पृ. 362.

(द) विशेषण विच्छित्याश्रय

समासोक्ति

'उच्यते इति उक्तिः, समसनं समासः[1] अथवा समस्यन्ते शब्दार्थाः अस्मिन्निति समासः।' वच् धातु से भाव स्त्रीत्व में (पा. 3/3/94) क्तिन् प्रत्यय होकर उक्ति की निष्पत्ति होती है। उक्ति का अर्थ है कथन। सम् उपसर्गपूर्वक भाव (पा., 3/3/18) और करण अर्थ (पा., 6/4/27) में घञ् प्रत्यय करने पर समास शब्द की निष्पत्ति होती है। अनेक पदों का एकत्व या संक्षेप समास कहा जाता है। प्राचीन भामह आदि आचार्यों से लेकर मम्मट आदि अर्वाचीन सभी आलंकारिक प्रकृत-अप्रकृत का संक्षेप में कथन होने के कारण समासोक्ति की अन्वर्थकता स्वीकार करते हैं।[2] रामचरण तर्कवागीश का कथन है कि सकृत् उच्चारण रूप संक्षेप से अवस्थाद्वय की प्रतीति समासोक्ति है।[3] इस प्रकार इस अलंकार का समासोक्ति अभिधान महत्त्वपूर्ण है। समासोक्ति में विशेषणों के साम्य से अप्रस्तुत की प्रतीति होती है, इसलिये इसे विशेषणविच्छित्तिमूल माना गया है। प्रस्तुत के द्वारा अप्रस्तुत की प्रतीति गम्य होने से समासोक्ति को गम्यौपम्य मूल भी माना जाता है।

ऋग्वेद 6/6/35 में समासोक्ति पायी जाती है। भरत प्रोक्त आक्रन्द या तुल्यतर्क लक्षण समासोक्ति के किंचित् समीप है।[4] समासोक्ति का सर्वप्रथम विवेचन भामह के काव्यालंकार में मिलता है। किसी कथन के समान विशेषणों से अन्य अर्थ की व्यंजना समासोक्ति है।[5] दंडी के अनुसार किसी वस्तु के अभिप्राय से उसके समान अन्य वस्तु की उक्ति समासोक्ति है।[6] दंडी के लक्षण और उदाहरणों से समासोक्ति और अप्रस्तुतप्रशंसा का विलगाव कठिन है। भामह और दंडी से स्पष्ट परिभाषा है उद्भट की, जिसके अनुसार प्रकृतार्थ वाक्य के समान विशेषणों से अप्रकृत अर्थ का कथन समासोक्ति है।[7] इन्दुराज ने अप्रकृत को उपमान बताकर रुय्यक आदि परवर्ती आचार्यों का अत्यन्त उपकार किया है।[8] वामन की दृष्टि में उपमेय की अनुक्ति में समान वस्तु का न्यास समासोक्ति है।[9] रुद्रट का कथन है कि समग्र समान विशेषण से युक्त वाच्य केवल उपमान ही जहां उपमेय की प्रतीति कराये उसे समासोक्ति कहते हैं।[10] समासोक्ति की अलंकारता कुन्तक को अमान्य

है।[11] अत्यन्त प्रसिद्धिवश उपमान से ही उपमेयप्रतीति को समासोक्ति मानने वाले भोजराज,[12] दंडी, वामन और रुद्रट की परम्परा को समादृत करते हैं। समासोक्ति को यथार्थ स्वरूप प्रदान करने का प्रथम श्रेय मम्मट को है, जिन्होंने समासोक्ति का सम्यक् स्वरूप स्थापित कर उसे अप्रस्तुतप्रशंसा से पृथक् किया। उनके अनुसार प्रकृतार्थ प्रतिपादक विशेषणों के श्लिष्ट होने से प्रकृत के द्वारा अप्रकृत की प्रतीति समासोक्ति है।[13]

अग्निपुराण में दंडी आदि का ही अनुकरण है। रुय्यक ने समासोक्ति को पूर्णतः सुस्पष्ट किया। मम्मट आदि प्रकृत से अप्रकृत की उक्ति या अभिधान को समासोक्ति कहते हैं। इससे प्रतीत होता है कि मम्मट समासोक्ति में अप्रकृत की प्रतीति व्यंजना से न करके अभिधा से करते हैं। इस कमी को पूरा किया रुय्यक ने, विशेषणों के साम्य से अप्रस्तुत की गम्यता को समासोक्ति मानकर।[14] रुय्यक ने समासोक्ति में व्यवहार समारोप मानकर समासोक्ति को रूपक आदि अलंकारों से पृथक् किया। परवर्ती आलंकारिक प्रायः मम्मट, रुय्यक का ही अनुकरण करते हैं। रुय्यक के सूत्र में 'विशेषणानां साम्यात्' और 'विशेषण साम्यात्' दो पाठ प्राप्य हैं। विशेषणों का बाहुल्य न होने पर भी समासोक्ति पायी जाती है, अतएव एकवचनान्त पाठ ही उपयुक्त है।[15] शोभाकर रुय्यक के लक्षण की अयुक्तता सिद्ध करते हैं। उनका अभिमत है कि समासोक्ति में अप्रस्तुत गम्य न होकर उसका धर्म गम्य रहता है। इसलिये अप्रस्तुत की गम्यता मानने वाला लक्षण अलक्षण ही है।[16] इसी दोष से बचने के लिये शोभाकर ने अपने लक्षण में 'अप्रस्तुतधर्मावच्छेद' पद का सन्निवेश किया है।[17] नरेन्द्रप्रभसूरि रुय्यक का अनुगमन करते हैं।[18] हेमचन्द्र, वाग्भट द्वितीय तथा कर्णपूर का लक्षण मम्मट के समान है।[19] वाग्भट प्रथम, अमृतानन्दयोगी, केशवमिश्र तथा आचार्य सर्वेश्वर दंडी के अनुगामी हैं।[20] जयदेव, विद्याधर, विद्यानाथ, अप्पयदीक्षित, देवशंकर, नरसिंह, अच्युतराय, आदि रुय्यक के अनुसारी हैं।[21] जगन्नाथ के अनुसार जहां प्रस्तुत धार्मिक व्यवहार, साधारण विशेषण मात्र से उपस्थापित अप्रकृत धार्मिक व्यवहार से अभिन्न प्रतीत होता है, वहां समासोक्ति होती है।[22] विश्वेश्वर भी मम्मट का ही अनुगमन करते हैं।[23]

समासोक्ति और अन्य अलंकार

समासोक्ति अप्रस्तुतप्रशंसा से पूर्णतः विपरीत अलंकार है। अप्रस्तुतप्रशंसा में प्रस्तुत गम्य रहता है और अप्रस्तुत वाच्य इसके विपरीत समासोक्ति में अप्रस्तुत गम्य होता है, प्रस्तुत वाच्य। दो अर्थों की प्रतीति दोनों ही अलंकारों में होती है,

किन्तु एक अर्थ वाच्य होता है, दूसरा गम्य। श्लेष में भी दो अर्थों की प्रतीति होती है, किन्तु दोनों ही अर्थ यहां वाच्य होते हैं। समासोक्ति में केवल विशेषण ही श्लिष्ट होता है जबकि श्लेष में विशेष्य भी श्लिष्ट रहता है।[24] वस्तुतः समासोक्ति, श्लेष और शब्दशक्तिमूलध्वनि तीनों ही स्थल पर श्लिष्ट पदों का निबन्धन किया जाता है। श्लेष में दोनों ही अर्थ नियमतः वाच्य होते हैं। श्लेष अलंकार में जब दोनों ही अर्थ प्राकरणिक या अप्राकरणिक होते हैं तो वहां विशेषण और विशेष्य दोनों ही पद श्लिष्ट होते हैं, क्योंकि अभिधा के द्वारा उनका किसी एक अर्थ में नियन्त्रण असंभव है। जब एक अर्थ प्राकरणिक तथा दूसरा अप्राकरणिक होता है, तो उस समय विशेष्य के लिये पृथक् शब्द का उपादान आवश्यक हो जाता है। किन्तु विशेष्य भी श्लिष्ट हो जाता है, तो अभिधा से प्राकरणिक अर्थ की प्रतीति हो जाने के बाद, उसकी शक्ति क्षीण हो जाती है और मुख्यार्थबाध आदि हेतुत्रय के अभाव में लक्षणा प्रवृत्त नहीं होती। अतः ऐसी स्थिति में द्वितीय अप्राकरणिक अर्थ की प्रतीति के लिये व्यंजना वृत्ति का सहारा लेना पड़ता है। ऐसे स्थल पर शब्दशक्तिमूल ध्वनि होती है, श्लेष नहीं। समासोक्ति में विशेष्य-अंश में श्लेष कभी नहीं होता। अर्थद्वय प्रतिपादक शब्द का निबन्धन केवल विशेषणांश में ही होता है, विशेष्य तो केवल प्राकरणिक का ही बोध कराता है।[25] यही इन तीनों में भेद है।

समासोक्ति में होनेवाला विशेषण-साम्य रुय्यक के अनुसार त्रिधा होता है—श्लेष से, साधारण्य तथा औपम्यगर्भ से। श्लिष्ट विशेषण का उदाहरण :

उपोढरागेण विलोलतारकं तथा गृहीतं शशिना निशामुखम्।
यथासमस्तं तिमिरांशुकं तया पुरोऽपि रागाद्गलितं न लक्षितम्।।

—अ.स., पृ. 105

यहां नायक है शशि और नायिका है निशा। दोनों ही विशेष्य हैं और उपोढराग, विलोलतारकं आदि शब्द विशेषण तथा श्लिष्ट हैं। श्लिष्ट विशेषणों के माहात्म्य से ही प्रकृत निशा-शशि में अप्रकृत नायिका तथा नायक व्यवहार की प्रतीति हो रही है। यह प्रतीति वाच्य न होकर गम्य है। रूपक अलंकार में विशेषण और विशेष्य दोनों की समान रूप से प्रतीति होती है। समासोक्ति में न केवल प्रकृत का ही उपादान रहता है, अपितु विशेषण-साम्य भी उपस्थित रहता है। उपर्युक्त उदाहरण में 'गृहीतम्' शब्द व्यवहार का परिचायक है, रूप का नहीं। अतएव समासोक्ति में व्यवहार समारोप होता है, रूपक में रूप का।[25] प्रतिवस्तूपमा आदि अलंकारों में भी धर्म पर ही सहृदय की चित्तवृत्ति केन्द्रित रहती है, किन्तु वहां धर्म की

पृथक्-पृथक् प्रतीति होती है, पर समासोक्ति में धर्म के आधार पर उनकी पृथक् प्रतीति नहीं होती। पूर्वोक्त उदाहरण में शशि-निशा और नायक-नायिका के ग्रहण रूप धर्म की पृथक् प्रतीति नहीं होती। रुय्यक, दीक्षित, आदि के अनुसार प्रकृत में अप्रकृत व्यवहार—समारोप ही समासोक्ति में चमत्कार का कारण है।[27] जगन्नाथ इससे सहमत नहीं हैं। उनके अनुसार समासोक्ति में प्रकृत वस्तु पर अप्रकृत वस्तु का आरोप भी होता है। प्रकृत वस्तु के व्यवहार पर अप्रकृत के व्यवहार समारोप से उक्त कथन की पुष्टि होती है। जगन्नाथ दीक्षित के इस मत से भी असहमत हैं कि समासोक्ति में प्रकृत-अप्रकृत दोनों का उपादान होना चाहिये।[28] वस्तुतः जगन्नाथ का मत उपयुक्त नहीं प्रतीत होता। आचार्य विश्वेश्वर ने सविस्तार जगन्नाथ के मत का निराकरण प्रस्तुत किया है।[29]

द्वितीय अर्थ की प्रतीति व्यंजना से

जयरथ के अनुसार विशेषणसाम्य के कारण प्रस्तुत व्यवहार में जब अप्रस्तुत व्यवहार की प्रतीति होती है, तो वह आक्षेप या व्यंजनालभ्य होती है, लक्षणा से नहीं।[30] प्राचीन आलंकारिक प्रतीयमान अर्थ की प्रतीति लक्षणा से करते थे या नहीं यह कहना कठिन है, किन्तु काव्यादर्श की 'रत्नश्री' टीका में समासोक्ति को ही ध्वनि कहा गया है।[31] जगन्नाथ ने भामह उद्भट के मत को उपस्थापित करते हुए कहा है कि उनके मत में शक्ति तथा आक्षेप से ही सकल अर्थ का निर्वाह हो जाता है, व्यंजना की आवश्यकता नहीं पड़ती।[32] वस्तुतः समासोक्ति में अप्रकृत अर्थ की प्रतीति व्यंजना से ही होती है। रुय्यक, विद्याचक्रवर्ती, जगन्नाथ, आदि सभी आलंकारिक यही मानते हैं।[33] ध्वनिकार भी यही मानते हैं :

'.......... इत्यादौ व्यंग्येनानुगतं वाच्यमेव प्राधान्येन प्रतीयते'

—ध्व., पृ. 110

विश्वनाथ ने समासोक्ति लक्षण में 'कार्य-लिंग' पदों का सन्निवेश किया है। धर्म, गुण-क्रिया से व्यतिरिक्त नहीं है। अतएव 'कार्य' पद का ग्रहण व्यर्थ है, क्योंकि उसके अभाव में भी धर्ममात्र से उसकी प्रतीति हो जाती है। इसी प्रकार लिंग-ग्रहण भी अनुपयुक्त है। लिंग अप्रस्तुत का व्यंजक नहीं होता। वह तो व्यवहार साधारणता की व्यंजकता में सहायक मात्र होता है।[34] समासोक्ति में 'विशेषण' पद अनियन्त्रित है, इसलिये कार्य और लिंग द्वारा निर्दिष्ट साम्य को भी विशेषण साम्य कह सकते हैं। रुय्यक ने साधारण्य विशेषण को कार्य तथा धर्म पर आधृत माना है।[35] धर्म

का उदाहरण उन्होंने 'तन्वी मनोरमारामा'[36] इत्यादि को माना है, जिसमें नायिका ही प्रकृत है। विकास धर्म लता में ही हो सकता है 'तन्वी' में नहीं। अतः उपचरित 'विकास' धर्म तन्वी आदि विशेषणों के द्वारा नायिका में लता की प्रतीति कराता है। अतएव यह धर्मगत साधारण्य समासोक्ति का उदाहरण है। कार्य समारोप का सुन्दर उदाहरण विश्वनाथ ने 'व्याधूय यद्वसनम्'[37] इत्यादि को प्रस्तुत किया है। यहां गन्धवाह पर हठकामुक के व्यवहार का समारोप है। रुय्यक के अनुसार औपम्यगर्भ का उदाहरण :

दन्तप्रभा पुष्पचिता पाणिपल्ल्वशोभिनी।
केशपाशालिवृन्देन सुवेषा हरिणेक्षणा।। —अ.स., पृ. 106

रुय्यक की दृष्टि में हरिणाक्षी यहां प्रकृत है। वाक्य श्रवण के तुरन्त बाद 'दन्तप्रभा' आदि के द्वारा कामिनी का सुवेषा होना प्रतीत होता है क्योंकि सुवेषा कामिनी ही हो सकती है, लता नहीं। इसलिये पहले उपमितसमास 'दंतप्रभा पुष्पाणि इव' से नायिका की प्रतीति होती है, उसके बाद मध्यम पदलोपी समास 'दन्त प्रभा सदृशैः पुष्पैश्चिता' से नायिका में अप्रकृत लता की प्रतीति होती है। यहां न श्लेष है, न उभयार्थसाधारणविशेषण। अतएव रुय्यक के अनुसार यहां औपम्य-गर्भ विशेषण पर आश्रित समासोक्ति है। विद्याचक्रवर्ती, विश्वनाथ, आदि भी मानते हैं।[38] विश्वनाथ और जगन्नाथ इस उदाहरण के आलोचक हैं।[39] उनके अनुसार औपम्यगर्भ विशेषण समासोक्ति के विषय नहीं हो सकते।

अप्पयदीक्षित ने सारूप्यमात्र में समासोक्ति स्वीकार किया है, जिसका अनुकरण देवशंकर पुरोहित भी करते हैं।[40] इसका उदाहरण उन्होंने उत्तररामचरित के 'पुरायंत्रस्रोतः'[41] आदि को माना है। दीक्षित के अनुसार यहां प्रस्तुत वनवर्णन के सारूप्य से कुटुम्बियों के धन सन्तान आदि समृद्धि-असमृद्धि का विपर्यास प्रतीत हो रहा है तथा उससे उसके आश्रयभूत ग्राम-नगर आदि का वृत्तान्त प्रतीत होता है। इस प्रकार यहां सारूप्य-निबन्धन समासोक्ति है। दीक्षित का उपर्युक्त मत उपयुक्त नहीं प्रतीत होता। समासोक्ति में प्रकृत-अप्रकृत वस्तु के धर्मों में समानता होनी चाहिये। यहां वैसी स्थिति नहीं है। वन के नदी आदि धर्म ग्राम-नगर आदि में नहीं है। ग्राम-नगर में तो धन-सम्पत्ति की समृद्धि तथा उसका अभाव ही धर्म है। अतएव यहां समासोक्ति मानना उचित नहीं है। संभवतः इसीलिये जगन्नाथ ने भी दीक्षितप्रोक्त सारूप्यनिबन्धन में समासोक्ति नहीं स्वीकार किया है।[42]

समासोक्ति में व्यवहार समारोप ही जीवायित है।[43] यह व्यवहार समारोप

सदैव व्यंग्य होता है, वाच्य या लक्ष्य नहीं कहा जा सकता। प्रतीत होने वाला अप्रकृत रूप द्वितीय अर्थ वाच्यार्थ का उपस्कारक होता है। अतएव स्वयं प्रधान नहीं होता। 'उपोढरागेण' इत्यादि में प्रतीत होने वाला नायक-नायिका का व्यवहार स्वतः चमत्कारी न होकर प्रस्तुत चन्द्र निशा पर आरोपित है। इस प्रकार वह प्रकृत को ही अधिक उत्कर्ष युक्त बनाता है। अतएव समासोक्ति में अप्रस्तुत व्यवहार की व्यंग्यता प्रस्तुत व्यवहार में चमत्कार का आधान करती है। चूंकि यह चमत्कार एक नवीन अद्भुत सौन्दर्य की सृष्टि करता है, अतएव सहृदय की चित्तवृत्ति अप्रस्तुत व्यवहार पर ही अधिक आकृष्ट रहती है। अतएव समासोक्ति को ध्वनि नहीं मानना चाहिये। ध्वनिकार आनन्दवर्द्धन तथा जगन्नाथ आदि आचार्यों ने इस विषय पर प्रभूत प्रकाश डाला है।[44]

भेद

भामह ने समासोक्ति का एक ही उदाहरण प्रस्तुत किया है, जिसमें श्लिष्ट विशेषणों का उपयोग है।[45] दंडी का प्रथम उदाहरण भी इसी कोटि में आता है :

> **'पिबन्मधु यथाकामं भ्रमरः फुल्लपङ्कजे।**
> **अप्यसन्नद्धसौरभ्यं पश्य चुम्बति कुड्मलम्।।** —काव्या., 2/204

यहां भ्रमर और असन्नद्ध सौरभ वाली कलिका पर नायक और अप्राप्तयौवना नायिका का व्यवहार समारोप है, जो 'उपोढरागेण' आदि सर्वस्वप्रयुक्त उदाहरण से कम मनोहारी नहीं है। इस उदाहरण के अतिरिक्त दण्डी ने तीन और भेदों के उदाहरण प्रस्तुत किये हैं, विशेष्यमात्र से भिन्न होने पर तुल्यआकार विशेषणवाली, भिन्नाभिन्नविशेषणा तथा अपूर्वासमासोक्ति। अन्तिम भेद में पूर्वधर्म का निवर्तन कर दिया जाता है इसलिये उसे अपूर्वा कहते हैं।[46] उद्भट के उदाहरण को एकदेशविवर्ति रूपक कहा जा सकता है। राजानक तिलक ने उक्त आशंका व्यक्त भी की है।[47] वामन का उदाहरण अप्रस्तुतप्रशंसा से भिन्न नहीं है।[48] रुद्रट भामह के समान ही उदाहरण प्रस्तुत करते हैं।[49] मम्मट का भी उदाहरण इसी कोटि में आता है।[50]

भोजराज का समासोक्ति-भेद निरूपण विचित्र और दंडी के समीप है। प्रथमतः वह समासोक्ति के दो भेद करते हैं, प्रतीयमानसादृश्या और अभिधीयमान-सादृश्या। ये भी श्लाघा, गर्हा, उभयवती तथा अनुभयवती भेद से चार-चार प्रकार की होती हैं। पुनः दंडी के अनुसार तुल्याकारविशेषणा, तथा तुल्यातुल्यविशेषणा

भेद का भी भोज ने उल्लेख किया है। इसके बाद उन्होंने अन्योक्ति (द्विधा), अनन्योक्ति (द्विधा) तथा उभयोक्ति को भी भेद रूप में स्वीकार किया है।[51] इसी प्रकार वह संक्षेपोक्ति का भी संकेत करते हैं।[52] वस्तुतः श्लाघा, गर्हा आदि भेद का विवेचन प्राचीनों की अप्रस्तुतप्रशंसा और समासोक्ति की एकत्व दृष्टि का परिचायक है। तुल्याकार विशेषण आदि भेद दंडी का अनुगमन मात्र है। अन्योक्ति का विवेचन तो रुद्रट ने ही कर दिया था। रुद्रट की अन्योक्ति[53] अप्रस्तुतप्रशंसा से व्यतिरिक्त नहीं है। बाद में तो अमृतानन्दयोगी, अच्युतराय प्रभृति आचार्यों ने समासोक्ति को अन्योक्ति अभिधान भी प्रदान किया है। आज हिन्दी-जगत् में समासोक्ति अन्योक्ति के नाम से ही विख्यात है। अनन्योक्ति में अध्यास होता है, वह अतिशयोक्ति का विषय है। भोज की उभयोक्ति सन्देह का विषय है। संक्षेपोक्ति उत्प्रेक्षा से व्यतिरिक्त नहीं है। ध्यातव्य है कि भोज ने सरस्वतीकंठाभरण में ही इन भेदों का पल्लवन किया है, शृंगार प्रकार में प्रथमोक्त मूल दो भेदों का ही उल्लेख है।[54]

वस्तुतः भोजराज तक अप्रस्तुतप्रशंसा और समासोक्ति का भेद बहुत कुछ अस्पष्ट सा है। विशेषकर वामन, रुद्रट और भोज इस कोटि में लिये जा सकते हैं। प्राचीन आलंकारिक संभवतः अप्रस्तुतप्रशंसा और समासोक्ति-जन्य विच्छित्ति को एक ही कोटि मानते थे। अतः उन्हें इनकी भिन्नता स्पष्ट नहीं जान पड़ती। काव्यादर्श के टीकाकार रंगाचार्य शास्त्री ने यह बात कही भी है[55] तथा दो अलंकार माननेवालों का खंडन भी किया है। परन्तु प्राचीनों की इस प्रकार की व्याख्या में कोई सार नहीं है। अप्रस्तुतप्रशंसा और समासोक्ति का विषय वैभिन्न्य स्पष्ट है।

समासोक्ति के भेदों का सर्वप्रथम विस्तार किया रुय्यक ने, जिसका अनुगमन परवर्ती विद्याधर, विद्यानाथ, विश्वनाथ, दीक्षित, जगन्नाथ, आदि ने किया है। रुय्यक ने विशेषण साम्य पर आधारित प्रथमतः समासोक्ति के तीन भेद किये, श्लिष्ट विशेषणमूला, अश्लिष्ट विशेषणमूला (साधारण विशेषण) तथा औपम्यगर्भ विशेषण। प्रथम एक ही प्रकार का है। साधारणविशेषणमूला समासोक्ति धर्म और कार्य समारोप से द्विधा होती है। अन्तिम भी उपमागर्भ-समास तथा संकर भेद से दो प्रकार की होती है। इस प्रकार रुय्यक के अनुसार विशेषण-साम्य पर आधृत समासोक्ति के पांच भेद होते हैं।[56] मूल भेद तीन ही हैं, शुद्धकार्यसमारोपा, विशेषण साम्यमूला तथा कार्य-विशेषण उभयमूला। वस्तुतः कार्य और धर्म में कोई अन्तर नहीं है। सभी को विशेषण के अन्तर्गत किया जा सकता है। विशेषण पद से प्रस्तुत-अप्रस्तुत के धर्मों की प्रतीति होती है। धर्मों को गुण, कार्य आदि कुछ भी कहा जा सकता है। अतः इनका पृथक् निरूपण अनुपयुक्त है। कार्य समारोप में

विशेषण-साम्य उपचरित नहीं होता। इसी प्रकार धर्म आदि में भी मानना चाहिये। रुय्यक के उपर्युक्त मत का विरोध शोभाकर भी करते हैं।[57] शोभाकर के अनुसार स्वरूप मात्र से अवगत वस्तु का जिस सम्बन्ध के द्वारा वैशिष्ट्य ज्ञात होता है, उसे विशेषण कहते हैं। इसीलिये रुय्यकप्रोक्त कार्यसमारोपा समासोक्ति में वह विशेषण समासोक्ति स्वीकारते हैं। उचित भी है। शोभाकर रुय्यक द्वारा कथित तीन शुद्ध भेदों के अतिरिक्त चार प्रकार के संकीर्ण का भी उल्लेख करते हैं।[58] पर संकीर्ण भेदों का विवेचन नहीं करते। पूर्वकथित भेदों के भी चार प्रकार होते हैं। समासोक्ति में व्यवहार समारोप ही जीवन है, वह कहीं लौकिकवस्तु में शास्त्रीय, शास्त्रीय में लौकिक, शास्त्रीय में शास्त्रीय और लौकिक वस्तु में लौकिक वस्तु के व्यवहार समारोप से होता है। ये चार भेद रुय्यक के परवर्ती प्रायः सभी आलंकारिकों को मान्य हैं। लौकिक वस्तु के भी जाति, गुण, स्थावर, जंगम, भाव, अभाव, आदि अनेक भेद हो सकते हैं। इसी प्रकार शास्त्रीय वस्तु के तर्क आयुर्वेद, ज्योतिःशास्त्र, नाट्य, साहित्य, व्याकरण, आगम, आदि अनेक भेद होने से समासोक्ति के अनन्त भेद हो सकते हैं :

'तत्रापि लोकस्य स्थावरजङ्गमात्मनोऽनन्तत्त्वात्, शास्त्राणां चेत्यानन्त्यमस्याः।' –अ.र., पृ. 71

इन भेदों के अतिरिक्त अर्थान्तरन्यास के आधार पर भी समासोक्ति के भेद किये गये हैं, कहीं समर्थक वाक्य में समासोक्ति होती है, कहीं समर्थ वाक्य में और कहीं उत्प्रेक्षा से उद्भूत। रुय्यक के इन भेदों का अनुमोदन करनेवालों में विश्वनाथ,[59] जगन्नाथ, देवशंकर, अच्युतराय प्रभृति आचार्य हैं।

हेमचन्द्र ने समासोक्ति-प्रपंच का प्रदर्शन नहीं किया है। मम्मट की तरह केवल एक उदाहरण 'उपोढरागेण' प्रस्तुत करते हैं। वाग्भट प्रथम के उदाहरण में अप्रस्तुतप्रशंसा ही कहना संगत है।[60] वाग्भट द्वितीय हेमचन्द्र के अनुगामी हैं। अन्य आचार्यों के भेद-विवेचन में कोई वैशिष्ट्य नहीं है। रुय्यक का अनुसरण मात्र है।

समासोक्ति के अनेक भेदों का निर्देश किया गया है, लोक तथा शास्त्र पर आधृत भेदों में विच्छित्ति-विशेष का भाव होने से उन्हें अलंकार नहीं मानना चाहिये। प्रमाता यदि तर्क, व्याकरण आदि के गूढ रहस्यों में ही उलझ गया तो उसे आनन्द की अनुभूति कैसे हो सकेगी? इसी प्रकार कार्य, लिंग, प्रशंसा, गर्हा, आदि के आधार पर भी समासोक्ति विभाजन अहृद्य है।

परिकर

परिकर शब्द की प्रायः दो व्युत्पत्ति पायी जाती है। प्रथम व्युत्पत्ति के अनुसार परिकर का अर्थ होता है, उपस्कार। अतएव व्यंग्यार्थ विशेषण से जहां वाक्यार्थ का उपस्कार हो उसे परिकर कहते हैं, विशेषणव्यंग्यार्थेन वाक्यार्थस्य परिकरणम् उपस्करणम् परिकरः।[61] द्वितीय व्युत्पत्तिं के अनुसार प्रकृत अर्थ को उपस्कृत करने वाले साभिप्राय शब्द को परिकर कहा जाता है। इसलिये जहां साभिप्राय शब्द का निबन्धन हो उसे परिकर अलंकार कहते हैं, परिकरोति प्रकृतार्थमुपकरोतीति परिकरः साभिप्रायशब्दः, सोऽस्मिन्नस्ति इति परिकरः।[62] परि उपसर्गपूर्वक कृ धातु से पचादि से अच् प्रत्यय करने पर परिकर शब्द निष्पन्न होता है। परिकर की द्वितीय व्युत्पत्ति ही आचार्यों की परिभाषा को अभिव्यक्त करती है। रुय्यक आदि आलंकारिक परिकर को भी विशेषणविच्छित्तिमूल अलंकारों की श्रेणी में मानते हैं। अतएव परिकर नाम अन्वर्थक है। परिकर का उदाहरण ऋग्वेद में भी पाया जाता है :

'गोजिन्नः सोमो रथजित् हिरण्यजित् अब्जजितूपवतो सहस्रजित्'

ऋ. 9/78/4

इस ऋचा में भी रुय्यक विश्वनाथ प्रदत्त परिकर के उदाहरण 'अंगराज! सेनापते! द्रोणोपहासिन्! रक्षैनं भीमादुःशासनम्।' से कम सौन्दर्य नहीं है।

भरत ने 'निर्भासन' नामक एक काव्य-लक्षण स्वीकार किया है। जो वाक्य अनेक युक्तिपूर्ण, अनेक अर्थ का प्रसाधक तथा अनेक वाक्यों से संयुक्त हो उसे निर्भासन कहते हैं।[63] अभिनवगुप्त ने इसके उदाहरणस्वरूप 'कर्ताद्यूतच्छलानां' इत्यादि को प्रस्तुत किया है, जिसमें शोभाकर परिकर अलंकार स्वीकारते हैं।[64] अभिनव ने निर्भासन की व्युत्पत्ति की है—'भास्यते प्रकृतः क्रोधादिर्येन' परिकर अलंकार में अभिप्राय (क्रोध आदि) ही प्रकट किया जाता है। अतएव परिकर के मूल में उक्त लक्षण को रखा जा सकता है।

भामह, दण्डी, उद्भट और वामन ने परिकर का उल्लेख नहीं किया है। इस अलंकार की उद्भावना का श्रेय रुद्रट को है। रुद्रट ने इसका परिगणन वास्तव मूल में किया है। उनका अभिमत है कि द्रव्य, गुण, क्रिया और जाति रूप चतुर्विध वस्तु जहां साभिप्राय विशेषणों के द्वारा सम्यक् विशिष्ट की जाये वहां परिकर अलंकार होता है। कारिका की व्याख्या में 'भिन्न' पद के उपादान का औचित्य बताते हुए नमिसाधु ने कहा है कि कुछ लोग क्रिया को अप्रस्तुत मानकर तीन प्रकार के परिकर का उल्लेख करते हैं।[65] ऐसे मत के निरास के लिये 'द्रव्यादिभेदभिन्नं' पद

का सन्निवेश किया है।[66] नमिसाधु के इस कथन से प्रतीत होता है कि रुद्रट के पूर्व भी इस अलंकार की सत्ता स्वीकृत हो चुकी थी।

पुरुषोत्तम शर्मा चतुर्वेदी का मन्तव्य है कि भोजराज परिकर का उल्लेख ही नहीं करते।[67] उनका यह कथन भ्रान्तिमात्र है। भोज ने परिकर का जितने विस्तार में विवेचन किया है, शायद ही कोई आलंकारिक वहां तक पहुंच पाये। उनके अनुसार क्रिया, कारक, सम्बन्धी, साध्य, दृष्टान्त, वस्तुओं में क्रियादि का उपस्कार परिकर है। क्रिया परिकर का लक्षण करते हुए वह कहते हैं कि जिस प्रकार समास से क्रिया की विशेषता होती है, उसी प्रकार यदि कृत्, तद्धित आदि से भी क्रिया विशिष्ट हो तो क्रियापरिकर नामक द्वितीय परिकर होता है। उनका यह भी कहना है कि कुछ लोग क्रिया-विशेषण को ही सम्बोधन विशेषण कहते हैं। परिकर का परिकीर्तन करते हुए भोज ने आगे कहा है कि उपमा-रूपक आदि का शब्दार्थोभय भंगी से साधर्म्य उत्पादन ही परिकर है।[68] भोजकृत प्रथम परिकर आचार्यों के परिकर को अभिव्यक्त करता है। अन्य प्रभेदों को परवर्ती आलंकारिकों ने नहीं माना। भोज की सरस्वतीकंठाभरण के टीकाकार रामसिंह ने परिकर का स्पष्ट लक्षण किया है :

'साभिप्रायविशेषणेन विशेष्योक्तिः परिकरः' —स.कं., 4/74 की टीका।

सर्वप्रथम मम्मट ने परिकर का स्पष्ट लक्षण किया। बाद के प्रायः सभी आचार्य उन्हीं का अनुसरण करते हैं। मम्मट परिकर के लिये रुद्रट के ऋणी अवश्य हैं। मम्मट के अनुसार साभिप्राय विशेषणों के द्वारा विशेष्य का अभिधान परिकर अलंकार है।[69] मम्मट के टीकाकार साभिप्राय का अर्थ लेते हैं, प्रकृत अर्थ का उपपादक चमत्कारी व्यंजक पद और उक्ति का अर्थ परिपुष्टि करते हैं। इस प्रकार मम्मट लक्षण की व्याख्या इस प्रकार की जा सकती है : प्रकृतार्थोपपादक चमत्कारी व्यंजक साभिप्राय विशेषणों के द्वारा विशेष्य अर्थ की परिपुष्टि ही परिकर है।[70] मम्मट ने अपुष्टार्थ नामक एक अर्थदोष का परिगणन किया है। जिस अर्थ के अनुपादान होने से विवक्षित अर्थ के बोध में बाधा पैदा हो, उसे अपुष्टार्थ कहते हैं, इससे भिन्न को पुष्टार्थ। मम्मट का अभिमत है कि यद्यपि अपुष्टार्थ दोष के परिहार मात्र से पुष्टार्थ की प्राप्ति हो जाने के कारण परिकर को अलंकार मानने की आवश्यकता नहीं है, तथापि एकवस्तु में बहुत से विशेषणों के विन्यास से वैचित्र्य का निर्माण हो जाता है। अतएव परिकर को भी अलंकारश्रेणी में परिगणित कर लिया गया है।[71] पर मम्मट के टीकाकारों ने उनके इस मत को अस्वीकृत कर दिया कि साभिप्राय बहुत से विशेषणों के ही उपन्यास में परिकर होता है। उनका कथन है कि साभिप्राय एक

भी विशेषण के उपन्यास होने पर परिकर अलंकार हो सकता है। उनका यह भी मन्तव्य है कि अपुष्टार्थता का अभाव तो निरभिप्राय विशेषणों से भी होता है। उक्त प्रकार के साभिप्राय एक विशेषण के निबन्धन में भी चमत्कार का होना अनुभव सिद्ध है। इसलिये साभिप्राय एक विशेषण के भी उपन्यास में परिकर संभव है। गोविन्द ठाकुर, भीमसेन प्रभृति टीकाकार इस मत के समर्थक हैं।[72] ध्यातव्य है कि निदर्शना टीकाकार के अनुसार मम्मट ने परिकर अलंकार पर्यन्त ही ग्रन्थ का निर्माण किया था, शेष को अल्लट ने पूरा किया।[73]

रुय्यक का लक्षण मम्मट के समान है।[74] उनका यह भी कथन है कि विशेषणों की साभिप्रायता प्रतीयमान अर्थ के गर्भीकरण के कारण है, किन्तु यह ध्वनि का विषय नहीं है। रुय्यक के टीकाकार भी उन्हीं का अनुगमन करते हैं। शोभाकर भी रुय्यक के अनुगामी हैं। उनका अभिमत है कि विशेषणों की साभिप्रायता या प्रतीयमान अर्थगर्भता ही परिकर है। पर यह प्रतीयमान अर्थ वाच्य का उपस्कारक होने से गुणभूत हो जाता है, अतएव अलंकार्य न होकर अलंकार ही माना जाता है।[75] नरेन्द्रप्रभसूरि पूर्वाचार्यों का अनुसरण करते हैं।[76] हेमचन्द्र इसे अपुष्टार्थ दोषाभाव मात्र स्वीकारते हैं :

'इह चापुष्टार्थत्वलक्षण दोषाभावमात्रं साभिप्रायविशेषणोक्तिरूपः परिकरः'

—अ.चू., पृ. 401

वाग्भट प्रथम ने परिकर का उल्लेख नहीं किया है। वाग्भट द्वितीय, जयदेव, विद्याधर, विद्यानाथ, मम्मट-रुय्यक के समान ही लक्षण करते हैं।[77]

अप्पयदीक्षित की विशेषता यह है कि वह साभिप्राय अनेकों विशेषणों के अतिरिक्त एक विशेषण के प्रयोग में भी परिकर स्वीकारते हैं। उनका कथन है कि विशेषण कहीं एक अभिप्राय वाले होते हैं, कहीं भिन्न अभिप्राय वाले। कुछ विद्वान् (हेमचन्द्र आदि) परिकर को पृथक् अलंकार नहीं मानते। ऐसे लोगों का अभिमत है कि काव्य में निष्प्रयोजन विशेषण का प्रयोग तो होता नहीं, क्योंकि ऐसे प्रयोग अपुष्टार्थ दोष माने जाते हैं। अतः सप्रयोजन विशेषण-विन्यास दोषाभाव मात्र हैं, अलंकार नहीं। परिकर यदि होगा भी तो वहीं होगा, जहां एक ही विशेष्य के लिये अनेक साभिप्राय विशेषण प्रयुक्त होंगे, क्योंकि ऐसे प्रयोगों में ही चारुत्व विशेष पाया जाता है। अप्पयदीक्षित इसका विरोध करते हुए कहते हैं कि यह कोई नियम नहीं है कि अनेक साभिप्राय विशेषणों के ही प्रयोग में परिकर माना जाये। देखा जाता है कि श्लेष, यमक, आदि में अपुष्टार्थ दोष नहीं होता। ऐसे स्थान पर यदि

एक भी साभिप्राय विशेषण का प्रयोग हो जाये, तो वह विच्छित्ति की सृष्टि करता ही है, फिर यदि अन्यत्र एक विशेषण की साभिप्रायता में परिकर माना जाये तो क्या दोष?[78] इसका उदाहरण उन्होंने 'क्षितिभृतैष सदैवतका वयम्' आदि प्रस्तुत किया है। कर्णपूर, देवशंकर, आदि के लक्षण भी पूर्वाचार्यों के समान हैं।[79] जगन्नाथ भी लक्षण में तो मम्मट का ही अनुगमन करते हैं :

'विशेषणानां साभिप्रायत्वं परिकरः' —र.गं., पृ. 386

परन्तु एक विशेषण के प्रयोग में भी उन्हें परिकर मान्य है। अप्पयदीक्षित के समान वह भी पूर्वाचार्यों के मत को उद्धृत करते हैं। मम्मट-मत के निरास-परिसर में वह विमर्शिणीकार का भी विरोध प्रकट करते हैं। उनका कहना है कि विमर्शिणीकार जो 'यह मानते हैं कि यहां विशेषणों का बहुत्व ही विवक्षित है। एक विशेषण तो दोषाभाव मात्र है।' यह कथन अनुपयुक्त है। जगन्नाथ का विचार है कि विशेषणों की अनेकता अधिक व्यंग्यत्व का आधायक होने से भले ही अधिक वैचित्र्यविशेष की सृष्टि करे, पर वह प्रकृत अलंकार का शरीर ही है, यह नहीं कहा जा सकता। 'वीचिक्षालित' आदि उदाहरण में एक विशेषणजन्य चमत्कार का अपह्नव असंभव है।[80]

'अयि लावण्यजलाशय तस्या हा हन्त मीननयनायाः।
दूरस्थे त्वयि किंवा कथयामो विस्तेरणालम्।।' वही, पृ. 387

यहां एक विशेषण मात्र ही सकल वाक्य का जीवन भूत है। इसी अनुक्रम में जगन्नाथ ने अप्पयदीक्षित के इस मन्तव्य की आलोचना की है कि श्लेष, यमक, आदि में अपुष्टार्थ दोष के अभाव होने से वहां एक भी साभिप्राय विशेषण-विन्यास से विच्छित्तिविशेष की सृष्टि के कारण परिकर अलंकारता स्पष्ट है।[81] जगन्नाथ ने सविस्तार विवेचन करते हुए कहा है कि सुन्दरता होने पर भी उपस्कारकता का होना अलंकारता है। चमत्कार के अपकर्ष का अभाव ही निर्दोषता या दोषाभाव है। इस प्रकार के विविक्त विषय धर्मद्वय यदि दैववश एक स्थल पर उपस्थित हो जायें तो कौन सी हानि है? जैसे ब्राह्मण का मूर्ख होना दोष है, पंडित होना दोषाभाव तथा गुण दोनों हैं। वैसे ही परिकर के विषय में भी समझना चाहिये। यदि कहें कि दोषाभाव मात्र से परिकर की प्राप्ति थी फिर अलंकारों में इसकी गणना से कौन सा गौरव हो गया? बात यह नहीं है। वस्तुतः परिकर उभयात्मक है तथापि दोषाभाव से इसकी विलक्षणता बतलाने के लिये अलंकार रूप में परिगणन उचित है। जैसे गुणीभूतव्यंग्य से गृहीत होने पर भी समासोक्ति की अलंकार में गणना की जाती

है, या जैसे प्रासादनिवासियों में परिगणित किये जाने पर भी भूवासी की गणना में उभयवासी की पुनः गणना की जाती है, वैसे ही परिकर के विषय में भी समझना चाहिये, अन्यथा निर्हेतुरूप दोषाभाव से काव्यलिंग को भी गतार्थ करना पड़ेगा।[82] नागेश ने जगन्नाथ का खंडन करते हुए दीक्षित का समर्थन किया है।[83] विश्वेश्वर, अच्युतराय, अजितसेन, नरसिंह, आदि भी परिकर के विषय में कोई नवीन मत की स्थापना नहीं कर सके।[84]

इस प्रकार समग्र आलंकारिकों के मतों का विवेचन करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि परिकर के विषय में विद्वान् दो विचार रखते हैं। एक तो वे आचार्य हैं, जो बहुत से साभिप्राय विशेषणों के उपयोग में परिकर मानते हैं, दूसरे वे हैं, जो एक विशेषण के प्रयोग में भी परिकर की संभावना करते हैं। प्रथम श्रेणी में रुद्रट, मम्मट, रुय्यक, वाग्भट द्वितीय, शोभाकर, विद्याधर, विद्यानाथ, विश्वनाथ, जयरथ, विद्याचक्रवर्ती, कर्णपूर, आदि आते हैं, तो द्वितीय श्रेणी में गोविन्द ठाकुर, भीमसेन, नागेश, अप्पयदीक्षित, जगन्नाथ, आदि। अतएव जहां एक विशेष्य के लिये अनेक या एक साभिप्राय विशेष का उपयोग किया जाये, वहां परिकर अलंकार होता है। यह साभिप्रायता प्रकृतार्थ के उपपादक चमत्कारपूर्ण व्यंग्य से भिन्न नहीं है।

साभिप्राय विशेषण सदैव व्यंग्यगर्भित होता है। परन्तु इसे ध्वनि नहीं कहा जा सकता, क्योंकि ध्वनि सदैव व्यंग्यार्थ के प्राधान्य में होती है। परिकर में व्यंजित होने वाला अर्थ अगूढ होने से गुणीभूत होकर वाच्य का उपस्कार करने के कारण अलंकार बन जाता है, अलंकार्य नहीं। वाच्यार्थ जब व्यंग्यार्थ में पर्यवसित हो जाता है तो ध्वनि होती है, परिकर में इसके विपरीत व्यंग्यार्थ वाक्यार्थ का उपस्कारक होता है। अतएव ध्वनि से परिकर का विषय भिन्न है।[85] उद्योतकार के अनुसार परिकर में व्यंग्य कहीं वाच्यसिद्ध्यंग तथा कहीं अपरांग रूप गुणीभूत व्यंग्य होता है।

भेद

रुद्रट द्रव्य, गुण, क्रिया और जाति रूप से चार भेद मानकर परिकर के चार उदाहरण प्रस्तुत करते हैं।[86] जैसा कि पहले ही कहा जा चुका है, भोज परिकर के अनेक भेद करते हैं। प्रथमतः वह क्रिया, कारक, सम्बन्धवान्, साध्य, दृष्टान्त तथा वस्तु परिकर भेद से छः भेद करते हैं। पुनः वह क्रिया-परिकर के कृदन्त से तादर्थ्य में, अव्यय से तथा कहीं बाह्य कृदन्त रूप या कृदर्थ रूप में, तद्धित में कृत्वसुच्

तथा थाल् प्रत्यय में, यथा-तथा, क्रिया-विशेषण में—अनेक उदाहरण प्रस्तुत करते हैं। उनका कथन है कि क्रिया-विशेषण कभी-कभी सम्बोधन पद से भी जाना जाता है। आगे वह सम्बोधन-परिकर, लक्षण-परिकर, हेतु-परिकर, सहार्थ-परिकर, तादर्थ्य-परिकर, उपपद-परिकर, आदि का उदाहरण प्रस्तुत करते हुए उपमा रूपक आदि के शब्दार्थोभयभङ्गी से साधर्म्य उत्पादन रूप परिकर का भी विवेचन करते हैं।[87] पुनः भोजराज का अभिमत है कि शब्द, अर्थ तथा उभयरूप त्रिधा एकावली भी परिकर से व्यतिरिक्त नहीं है।[88]

रुद्रट और भोजराज को छोड़कर किसी भी आलंकारिक ने परिकर के भेद-विवेचन की आवश्यकता नहीं समझी। जगन्नाथ ने चार भेद का विवेचन किया है, वाच्यसिद्ध्यङ्ग व्यंग्यगर्भ तथा उपस्कारक व्यंग्यगर्भत्व भेद से दो भेद व्यंग्य के वाच्यायमान तथा विपर्यय रूप से चार भेद होते हैं। ध्यातव्य है कि परिकर का यह विभाजन व्यंग्य के आधार पर किया गया है।[89] अनेक साभिप्राय विशेषण परिकर का उदाहरण :

द्विजराज कलाधर विश्वतापनिवारण।
कथं मामबलां क्रूरैः करैर्दहसि निर्दय।। —वही, पृ. 390

विरहिणी की चन्द्र के प्रति उक्ति है। यहां चन्द्र के द्विजराज, कलाधर तथा विश्वताप निवारण आदि सभी विशेषण साभिप्राय हैं। अतएव यहां परिकर अलंकार है।

परिकरांकुर परिकर से पृथक् नहीं है

जयदेव ने साभिप्राय विशेष्य निबन्धन में परिकरांकुर 'परिकरस्यांकुर इति परिकरांकुरः' नामक अलंकार माना है।[90] जिसका विवेचन, विद्याधर, अप्पयदीक्षित, देवशंकर, अच्युतराय, अजितसेन,[91] आदि परवर्ती विचारक भी करते हैं। जयदेव का उदाहरण निम्न है :

'चतुर्णां पुरुषार्थानां दाता देवश्चतुर्भुजः' —चन्द्रा. 5/40

जयदेव, दीक्षित के अनुसार यहां भगवान् विष्णु के लिये चतुर्भुज शब्द का प्रयोग भगवान् के पुरुषार्थचतुष्टयदान सामर्थ्य के अभिप्राय से किया गया है। अतएव ऐसे स्थलों में परिकरांकुर अलंकार मानना चाहिये।

वस्तुतः विशेषण अंश ही साभिप्राय होता है। निर्धर्मक विशेष्यांशमात्र स्वप्न में भी साभिप्राय नहीं होता। अतएव भीमसेन दीक्षित के अनुसार परिकरांकुर अलंकार नहीं हो सकता।[92] नागेश के अनुसार परिकर में विशेषण शब्द विशेष्य

का भी उपलक्षण है। अतएव साभिप्राय विशेष्य में भी परिकर अलंकार ही मानना चाहिये।[93] वस्तुतः जयदेव के उक्त उदाहरण में उनका लक्षण भी अव्याप्त है। यहां देव ही विशेष्य है, चतुर्भुज तो विशेषण है और उसकी साभिप्रायता परिकर को ही व्यक्त करती है। परिकरांकुर परिकर का ही अंकुर है—परिकरस्यांकुरः। जिस प्रकार अंकुर वृक्ष से भिन्न नहीं होता, उसी प्रकार परिकरांकुर परिकर से भिन्न नहीं हो सकता। यही कारण है कि जयदेव की इस उद्भावना को अधिकांश आलंकारिकों ने मान्यता नहीं दी :

'वृक्षात्तदङ्कुर इवायं परिकरान्नातिरिच्यते। परिकरस्य अङ्कुर इति व्युत्पत्तेः' —सा.द., टिप्पण, दुर्गादास, पृ. 534

संदर्भ

1. भट्टोजिदीक्षित, लघुसिद्धान्त कौमुदी, वृत्ति, समास प्रकरण, पृ. 333.
2. दे. भामह और दंडी का लक्षण। समसनं समासः संक्षेपः तदुक्तिः। टीका सं.कं., पृ. 457, संक्षेप वचनात् समासोक्तिः इत्याख्या। का.सू. वृ., पृ. 261; संक्षेपेण उपमानोपमेयलक्षणार्थ द्वितयाभिधानात्समासोक्तिः। ल.वृ., पृ. 39; समासेन संक्षेपेण अर्थद्वयकथनात् समासोक्तिः का.प्र., पृ. 611; प्रदीप, पृ. 334; संजी., पृ. 103; रत्नापण, पृ. 291; सा.द. टिप्पण, पृ. 528; काव्यानु., पृ. 378; समासेन संक्षेपेण प्रस्तुताप्रस्तुतवृत्तान्तयोर्वचनात्, कु., पृ. 69 तथा वही टिप्पण, राकागम, पृ. 81; अ.कौ., पृ. 252; एका., पृ. 254; सा.बि., पृ. 191.
3. समासेन सकृदुच्चारणरूप संक्षेपेण अवस्थाद्वयप्रतीतिः समासोक्तिः। —सा.द. टीका, द्वारा—रामचरण तर्कवागीश, पृ. 529.
4. दे., ना.शा., 16/19.
5. यत्रोक्ते गम्यतेऽन्योऽर्थस्तत्समानविशेषणः।
   सा समासोक्तिरुद्दिष्टा संक्षिप्तार्थतया यथा। —काव्यालं., 2/79.
6. वस्तु किंचिदभिप्रेत्य तत्तुल्यस्यान्यवस्तुनः।
   उक्तिः संक्षिप्तरूपत्वात् सा समासोक्तिरिष्यते।। —काव्यादर्श, 2, 203.
7. प्रकृतार्थेन वाक्येन तत्समानविशेषणैः।
   अप्रस्तुतार्थकथनं समासोक्तिरुदाहृता।। —का.सा. सं., 2/21.
8. अप्रस्तुतमर्थमुपमानभूतम्। ल.वृ., पृ. 39.
9. अनुक्तौ समासोक्तिः का.सू.वृ., 4/3/3. उपमेयस्य अनुक्तौ समानवस्तुन्यासः समासोक्तिः। वही, वृत्ति।
10. सकलसमानविशेषणमेकं यत्राभिधीयमानं सत्। उपमानमेव गमयेदुपमेयं सा समासोक्तिः।। काव्यालंकार, 8/67.
11. कुन्तक ने इसका उल्लेख नहीं किया है। हेमचन्द्र ने कुन्तक के नाम से निम्न कारिका

उद्धृत की है—समासोक्तिः सहोक्तिश्च नालंकारतया मता। अलंकारान्तरत्वेन शोभाशून्यतया तथा।। —(कुन्तकस्य) विवेक, पृ. 378.

12. यत्रोपमानादेवैतदुपमेयं प्रतीयते।
अतिप्रसिद्धेस्तामाहुः समासोक्तिं मनीषिणः।। —स.कं., 4/48.

13. परोक्तिर्भेदकै श्लिष्टैः समासोक्तिः का.प्र. 10/97 — प्रकृतार्थप्रतिपादकवाक्येन श्लिष्टविशेषणमाहात्म्यात्, न तु विशेष्यस्य सामर्थ्यादपि यदप्रकृतार्थस्याभिधानं सा संक्षेपेण अर्थद्वयकथनात् समासोक्तिः। —वही, वृत्ति।

14. विशेषणसाम्यादप्रस्तुतगम्यत्वे समासोक्तिः। —अ.स., सूत्र-31.

15. विशेषणानां चात्र बहुत्वमेव विवक्षितम् इति न वाच्यम्। .... विशेषण बहुत्वाभावेऽपि समासोक्तेः दर्शनात्। वि., पृ. 85.

16. .... अतएव नाप्रस्तुतस्य गम्यत्वमपि तु तद्धर्माणामेव।तेनाप्रस्तुतस्य गम्यत्वमित्यादि अलक्षणमेव। —अ.र., पृ. 74.

17. विशेषणानां साम्यादप्रस्तुतधर्मावच्छेदः समासोक्तिः। अ.र. सूत्र-43.

18. अ.म., 8/41-2.

19. श्लिष्ट विशेषणैरूपमानधीः समासोक्तिः।काव्यानु. 6/14; तु. वाग्भटद्वि. काव्यानु., पृ. 36; अ.कौ. 8/251.

20. वाग्भटा., 4/94; अ.सं. 5/23, अ.शे. त्रयोदशमरीचि, सर्वेश्वर, सा.सा. 2/98.

21. समासोक्तिः परिस्फूर्तिः प्रस्तुतेऽप्रस्तुतस्य चेत्। —चन्द्रा. 5/62. साधारणधर्मवशात् गम्येनाप्रस्तुतेन चारुत्वम्।प्रस्तुतमुपैतिवाच्यं यस्यामेषा समासोक्तिः।।एका. 8/23; प्र.रु., पृ. 291; सा.द., 10/56; कु.का. 61; अ.मं. का. 40; नं.य., पृ. 185; सा.सा. 8/179; अ.चिं 4/63; सा.बि. 5/18.

22. यत्र प्रस्तुतधर्मिको व्यवहारः साधारणविशेषणमात्रोपस्थापित अप्रस्तुतधर्मिव्यवहाराभेदेन भासते सा समासोक्तिः। —र.गं., पृ. 367.

23. अ.कौ., पृ. 252.

24. दे., का.प्र., पृ. 611; अ.स., पृ. 104.

25. अ.स., पृ. 103-4 तथा संजी. वही।

26. अवच्छेदकत्वाच्च व्यवहारसमारोपो न तु रूपसमारोपः। —अ.स., पृ. 104.

27. ततश्च समासोक्तावप्रस्तुतव्यवहारसमारोपश्चारुता —वही, संजीवनी।
हेतुः न तु रूपकइव प्रस्तुतेऽप्रस्तुतसमारोपेऽस्ति। —कु., पृ. 71.

28. दे., र.गं., पृ. 373-6.

29. वही, अ.कौ., पृ. 254-60.

30. वि., पृ. 85.

31. इयं गुणीभूता अर्थान्तरं (स्फुटयति) न तु स्वार्थतन्त्रा। इयमेव चान्यैः ध्वनिरिति व्यवह्रियते। —रत्नीश्री, पृ. 131.

32. एवं चात्र शक्त्याक्षेपाभ्यां सर्वार्थनिर्वाह इति भामहोद्भटप्रभृतीनां चिरन्तनानामाशयः। —र.गं., पृ. 172.

33. संजी., पृ. 106; र.गं., पृ. 172.
34. व्यंजकं हि .... स्त्रीत्वादिकं तु सहकारिमात्रम्। —अ.कौ., पृ. 259.
35. अ.स., पृ. 106 तथा संजीवनी।
36. तन्वी मनोरमा रामा बालाक्षी पुष्पहासिनी।
विकासमेति सुभग भवद्दर्शनमात्रतः।। —अ.स., पृ. 106.
37. व्याधूय यद्वसनमम्बुजलोचनायाः वक्षोजयोः कनककुम्भविलासभाजोः।।
आलिङ्गसि प्रसभमङ्गमशेषमस्या धन्यस्त्वमेव मलयाचलगन्धवाहः।। सा.द., पृ. 529.
38. अ.स. तथा संजी., पृ. 106-7; सा.द., पृ. 531.
39. दे., सा.द., पृ. 531-33 तथा र.गं., पृ. 381.
40. सारूप्यादपि समासोक्तिर्दृश्यते। कु., पृ. 70; तु. अ.मं., 81.
41. वही, पृ. 70.
42. यत्तुकुवलयानन्दे 'सारूप्यादपि समासोक्तिर्दृश्यते ....' तदसत्। —र.गं., पृ. 382-4.
43. सर्वत्र चात्र व्यवहार समारोप एव जीवितम्। अ.स., पृ. 110; अ.म., पृ. 281; का.प्र. संकेत, पृ. 239; अ.र., पृ. 71; सा.द., पृ. 533; कु., पृ. 73; अ.मं., पृ. 82.
44. र.गं., पृ. 377, वही गुरुमर्मप्रकाश, पृ. 368-70; ध्व., पृ. 110.
45. काव्या. 2/80.
46. काव्यादर्श, 2/206/11.
47. का.सा.सं. 2/22 तथा विवृत्ति।
48. दे., का.सू.वृ., पृ. 126-27.
49. रुद्रट, 8/68.
50. का. प्रदीप, पृ. 334.
51. स.कं., 4/48-51.
52. तेनान्यापि योपमानोपमेयविषये संक्षेपोक्तिः सापि समासोक्तिरेव। स.कं., पृ. 464.
53. असमानविशेषणमपि यत्र समानेतिवृत्तमुपमेयम्।
उक्तेन गम्यते परमुपमानेनेति साऽन्योक्तिः।। —काव्या., 8/74.
54. शृं.प्र., पृ. 418.
55. केचित्तु प्रस्तुतादप्रस्तुतावगतौ समासोक्तिः, अप्रस्तुतात्प्रस्तुतावगतौ अप्रस्तुतप्रशंसा इति एकस्यैव वैचित्र्यस्य उपन्यासप्रकारभेदे अलंकारद्वयमाहुः, परं तन्न रुचिरम्। वैचित्र्यविशेषाभावे ईदृशभेदकरणेऽलंकाराणामानन्त्यापत्तेः।
56. तदेवं पंचप्रकारा समासोक्तिः —अ.स., पृ. 109-10.
57. यदाहुः कार्यसमारोपे विशेषणसाम्यं यथाकथञ्चिद्योज्यमिति तदपर्यालोचिताभिधानमेव।। —अ.र., पृ. 72.
58. वही, पृ. 71.

59. विश्वनाथ कार्य, लिंग साम्य दो भेद रुय्यक से अधिक मानते हैं। यद्यपि औपम्य गर्भ का विवेचन करते हैं, पर उन्हें अस्वीकार्य है। —सा.द., पृ. 529-33. जगन्नाथ विशेषण साम्य श्लेष तथा शुद्ध साधारण भेद से द्विधा मानकर उनके भी धर्मान्तर तथा कार्य-भेद से दो-दो भेद मानते हैं। रुय्यकोक्त लौकिक-शास्त्रीय भेद उन्हें भी स्वीकार्य हैं। दे., र.गं., पृ. 377-85.
60. वाग्भटालंकार, 4/95.
61. सु.सा., पृ. 649; तु. बा.बो., पृ. 698.
62. सा.द. टिप्पण, दुर्गादास द्विवेदी, पृ. 534 तथा कुवलयानन्द टिप्पण, पृ. 74; बा.बो., पृ. 698-99; परिकर इति सान्वयं नाम। संकेत, पृ. 271; काव्यादर्श संकेत, पृ. 316.
63. अनेकयुक्ति यद्वाक्यमनेकार्थप्रसाधकम्।
अनेक वाक्यसंयुक्तं तन्निर्भासनमुच्यते।। —ना.शा., 16/26.
64. अ.र., पृ. 80.
65. साभिप्रायः सम्यग्विशेषणैः वस्तु यद्विशिष्यते।
द्रव्यादिभेदभिन्नं चतुर्विधः परिकरः स इति।। —काव्या., 7/89.
66. न.सा., पृ. 90.
67. पुरुषोत्तम शर्मा चतुर्वेदी, अलंकारों का क्रमिक विकास, पृ. 205.
68. क्रियाकारकसम्बन्धि साध्यदृष्टान्तवस्तुषु।
क्रियापदाद्युपस्कारमाहुः परिकरं बुधाः।। —स.कं., 4/74.
दे., वही, कारिका 75-77 तक। क्रियापदादीनामुपस्कारः परिकरः। शृं.प्र., पृ. 423.
69. विशेषणैर्यत्साकूतैरुक्तिः परिकरस्तुसः।। —का.प्र., 10/118.
साकूतैः साभिप्रायैरुक्तिरर्थाद्विशेष्यस्य। —वही, वृत्ति।
70. सा.बो., देखिये, बा.बो., पृ. 699.
71. यद्यप्यपुष्टार्थस्य दोषताभिधानात्तन्निराकरणेन पुष्टार्थस्वीकारः कृतः, तथाप्येक-निष्ठत्वेन बहूनां विशेषणानामेवमुपन्यासे वैचित्र्यमित्यालंकारमध्ये गणितः। का.प्र., पृ. 700.
72. दे., प्रदीप, पृ. 369; सु.सा., पृ. 649.
73. कृतः श्रीमम्मटाचार्यवर्यैः परिकरावधिः। प्रबन्धः पूरितः शेषो विधायाल्लटसूरिणा। —वही, निर्दशना।
74. विशेषणसाभिप्रायत्वं परिकरः। अ.स. सूत्र-32. यद्यपि रुय्यक ने सूत्र में विशेषण पद का एकवचनान्त प्रयोग किया है, किन्तु वृत्ति में 'विशेषणानां' का प्रयोग है।
75. साभिप्रायत्वं परिकरः। अ.र. सूत्र-45. विशेषणानामित्युनुषज्यते। विशेषणानां साभिप्रायत्वं प्रतीयमानार्थगर्भता परिकरः। वही, वृत्ति, पृ. 80.
76. अ.म., 8/40.
77. चन्द्रा. 5/39; एकावली 8/24; प्रता.रु., पृ. 316; सा.द. 10/57; काव्यानु., पृ. 42; कु. कारिका, 62.

78. केचित्तु निष्प्रयोजनविशेषणोपादाने पुष्टार्थ दोषतयोक्तत्त्वात् सप्रयोजनत्वं विशेषणस्य दोषाभावमात्रं न कश्चिदलंकारः। .... वस्तुतस्तु अनेक विशेषणोपन्यास एव परिकर इति न नियमः। .... एकस्यापि विशेषणस्य साभिप्रायस्य विन्यासे विच्छित्तिविशेषसद्भावात् परिकरत्वोपपत्तेः। —कु., पृ. 76; तु.अ.मं., पृ. 85-6.
79. अ.कौ., 8/291; अ.मं. 159; विद्याभूषण, सा.कौ., 10/33.
80. र.गं., पृ. 387.
81. यत्तु कुवलयानन्दकार आह—श्लेषयमकादिष्टापुष्टार्थदोषाभावेन तत्रैकस्यापि विशेषणस्य साभिप्रायस्य विन्यासे विच्छित्तिविशेषाभावात् परिकरत्वोपपत्तिः। .... तदसत्। वही, पृ. 388.
82. .... एवं प्राप्ते ब्रूमः। सुन्दरत्वे सत्युपस्कारकत्वमलंकारत्वम्। चमत्कारापकर्षकाभावत्वं च दोषाभावत्वम्। तदेतद्धर्मद्वयं विविक्तविषयं यदि दैवादेकस्मिन् विषयविशेषे समादिशेत्तदा का हानिः। .... यथा वा प्रसादवासिषु गणितोऽप्युभयवासी भूवासिगणनायां पुनर्गण्यते तथेहापीति न कश्चिद्दोषः। अन्यथा प्राचां काव्यालिंगमप्यलंकारो न स्यात्। र.गं., पृ. 388-90.
83. वही, गुरुमर्मप्रकाश, पृ. 388-89.
84. अ.कौ., पृ. 354 तथा अ.मु., अ.प्र., सा.सा. 8/181; अ.चि. 4/245, न.य., पृ. 203; सा.बि. 5/18.
85. संकेत पृ. 271; काव्यादर्श सं., पृ. 316; सा.चू., पृ. 368; बा.बो., पृ. 700; अ.स. तथा सं., पृ.122; अ.र., पृ. 80; अ.म., पृ. 279; कु., पृ. 76; अ.मं., पृ. 85; र.गं., पृ. 386.
86. काव्यालंकार, 7/72-76.
87. स.कं., पृ. 507-24 तथा शृं.प्र., पृ. 423, ध्यातव्य है कि शृंगारप्रकाश में भोज ने क्रिया, कारक तथा वस्तु परिकर के तीन ही मुख्य भेदों का उल्लेख किया है।
88. एकावलीति या सापि भिन्ना परिकरान्नहि।
त्रिधा सापि समुद्दिष्टा शब्दार्थोभयभेदतः।। स.कं., 4/78.
एकावल्यपि परिकरविशेष एव। —शृं.प्र., वही।
89. र.गं., पृ. 390.
90. साभिप्राये विशेष्ये तु भवेत्परिकरांकुरः। —चं., 5/40.
91. विद्याधर इसे परिकर के ही अन्तर्गत रखते हैं, एकावली, 8/25; कु. कारिका, 63; अ.मं. कारिका, 41; सा.सा., 8/182; अ.चिं., 4/246.
92. विशेष्यांशस्य साभिप्रायत्वे परिकरांकुरालंकारः स्वीकृतो जयदेवादिभिः। न चासौ प्रमाणिकः। .... सु.सा., पृ. 649; तु. कु. टिप्पण, पृ. 77.
93. उद्योत, पृ. 542; तु.अ. कौ., पृ. 356-7; अजितसेन को परिकरांकुर परिकर का भेदरूप मान्य है—परिकरापेक्षया किंचिद्गूढत्वात्तद्भेदः। अ.चिं., पृ. 85.

(य) विशेषण विशेष्य विच्छित्त्याश्रय

श्लेष

'शिलष्यन्ते शब्दार्थाः अस्मिन् इति श्लेषः' जहां शब्द और अर्थ आपस में शिलष्ट होकर दो या अनेक अर्थों की उत्पत्ति करते हैं उसे श्लेष कहा जाता है। आलिङ्गन या श्लेषण अर्थ में पठित शिलष् धातु से ण प्रत्यय[1] करने पर श्लेष शब्द की निष्पत्ति होती है। अपने उक्त अर्थ के अनुसार 'श्लेष' यथार्थ का वाचक है। श्लेष शब्द और अर्थ दोनों में माना गया है। शब्दश्लेष में दो भिन्न शब्द एकस्वरूप होते हैं, जबकि अर्थश्लेष में दो अर्थ ही एक शब्द में सन्निहित रहते हैं। प्रथम की हृद्यता शब्द को लेकर है, तो द्वितीय की अर्थ (उपमानोपमेय भाव) को लेकर।

वेदों में श्लेष के अनेक सुन्दर उदाहरण पाये जाते हैं। 'स्वसुर्जारः शृणोतु नः।'[2] तथा 'यत्रा सुपर्णा अमृतस्य'[3] में श्लेष पाया जाता है। यजुर्वेद के मन्त्रों में तो श्लेष का अत्यधिक सहारा लिया गया है। एक-एक उक्ति के तीन-तीन अर्थ यजुर्वेद में प्राप्य हैं :

'भूताय त्वा नरातये स्वरभिविख्येशं हन्तां दुर्यां पृथिव्यामुर्वन्तरिक्षमन्वेमि पृथिव्यास्त्वानाभौ सादयाभ्यदित्याऽयसेऽग्ने हूवां रक्ष।'[4]

इस मन्त्र का स्वामी दयानन्द सरस्वती ने तीन अर्थ निकालकर यह स्पष्ट कहा है कि यहां श्लेष है। स्वामीजी ने यजुर्वेद में 100 से भी अधिक श्लेष स्थलों का निर्देश किया है।

भरत के नाट्यशास्त्र में श्लेष अलंकार का निरूपण नहीं किया गया है, किन्तु श्लेष, शिलष्ट या अनेकार्थक शब्दों का अनेकशः प्रयोग हुआ है। भामह से ही श्लेष निरूपण की अविच्छिन्न परम्परा चल रही है। भामह के अनुसार गुण, क्रिया और नाम से सिद्ध की जाने वाली उपमान से उपमेय की तद्रूपता श्लेष अलंकार है। यह लक्षण यद्यपि रूपक में भी अतिव्याप्त है, किन्तु यहां (श्लेष में) उपमान-उपमेय का एक साथ एक शब्द से अभिन्न रूप में प्रयोग ही अभीष्ट है।[5] श्लेष शब्दगत अलंकार है या अर्थगत, भामह इस पर मौन हैं, किन्तु उपमान-उपमेय शब्द ग्रहण

से प्रतीत होता है कि श्लेष उन्हें अर्थगत ही स्वीकार है। दंडी का अभिमत है कि एक रूप से युक्त अनेक अर्थवाले कथन को श्लेष कहते हैं।[6] दंडी का लक्षण भामह से अधिक स्पष्ट है।

श्लेष में प्रमुख परिवर्तन लाने का श्रेय उद्भट को है। सर्वप्रथम उन्होंने श्लेष को शब्द तथा अर्थ के आधार पर विभाजित किया। उन्होंने ही शब्दश्लेष तथा अर्थश्लेष की व्याख्या की और श्लेष अन्य अलंकारों का बाधक है, इस सिद्धान्त की स्थापना की।[7] इन्दुराज के शब्दों में उद्भट का श्लेषनिरूपण इस प्रकार है। उद्भट का सिद्धान्त है कि अर्थ-भेद से शब्दों का भी भेद हो जाता है। अर्थ-भेद से शब्द-भेद होने पर शब्द-प्रयोग की दो गति है, तन्त्रपूर्वक और अतन्त्रपूर्वक। जिन शब्दों में हल्, स्वर, प्रयत्न, आदि समान हों, वे तन्त्रपूर्वक प्रयुक्त हो सकते हैं, किन्तु जिनके स्वर, प्रयत्न, आदि भिन्न हैं, वे तन्त्रपूर्वक प्रयुक्त नहीं हो सकते। यदि हल् एक, अनेक हों, स्वर में उदात्त अनुदात्त हो, स्थानों में दन्त्य-ओष्ठ आदि हो, प्रयत्नों में लघु-दीर्घ हों तो शब्दों का तन्त्रपूर्वक प्रयोग असंभव है, क्योंकि तन्त्र सामान्य रूप होता है। इस प्रकार जो तन्त्र या एक प्रयत्न उच्चार्य हैं, वहां अर्थ-श्लेष होता है और दूसरे में शब्दश्लेष।[8] उद्भट का यह भी सिद्धान्त है कि श्लेष सभी अलंकारों का बाधक है, क्योंकि वह प्रत्येक अलंकारों के मूल में अवस्थित है। इन्दुराज का कथन इस प्रकार है :

> **'एतच्च शिलष्टं द्विविधमप्युपमाद्यलंकारप्रतिभोत्पादनद्वारेण अलंकारतां प्रतिपद्यते। अतोऽनेनानवकाशत्वात् स्वविषयेऽलंकाराण्यपोह्यन्ते, तेषां विषयान्तरे सावकाशत्वात्।'** —ल.वृ., पृ. 55

इस प्रकार उद्भट के अनुसार श्लेष जहां होता है, वहां अन्य अलंकारों का प्रतिभान मात्र होता है। वास्तव में वहां श्लेष ही होता है, अन्य अलंकार नहीं। ध्यातव्य है कि उद्भट तक श्लेष के लिये शिलष्ट शब्द का ही प्रयोग होता रहा है। सर्वप्रथम वामन ने श्लेष शब्द का प्रयोग किया है। वामन के अनुसार उपमान उपमेय के गुणक्रिया शब्दरूप धर्मों में तन्त्र प्रयोग (सकृत् उच्चारण) होने पर श्लेष अलंकार होता है।[9]

रुद्रट ने श्लेष को शब्द तथा अर्थ—दो भेदों में विभक्त किया है। उनके अनुसार अर्थश्लेष अर्थालंकार विभाजन का एक माध्यम भी है, जिसके अविशेष, विरोध, आदि अलंकार भेद हैं। रुद्रट का कथन है कि एक प्रयत्न से ही, सुश्लिष्ट, अक्लिष्ट, विविध पद आदि से युक्त अनेक वाक्यों का कथन होने पर शब्दश्लेष

होता है तथा अनेकार्थ पद विरचित एक वाक्य से जहां अनेक अर्थों का निश्चय होता है, उसे अर्थश्लेष कहते हैं।[10] कुन्तक का श्लेषनिरूपण अस्पष्ट है। भोजराज ने श्लेष को शब्दालंकार तथा उभयालंकार की श्रेणी में रखा है। उनके अनुसार तन्त्रपूर्वक एकरूप वाक्य से दो अर्थों का अभिधान शब्दश्लेष है तथा एकपद से अनेक अर्थकथन अर्थश्लेष।[11]

मम्मट रुद्रट के ही समान श्लेष को शब्द और अर्थगत मानकर उसका लक्षण करते हैं। मम्मट जहां उद्भट के 'अर्थभेदेन शब्दभेदः' सिद्धान्त के पोषक हैं, वहीं वह उनके श्लेष विभाजन के विरुद्ध भी है। उनकी दृष्टि में अर्थभेद से भिन्न शब्द उच्चारण काल में जहां एक से प्रतीत होते हैं, वहां शब्द श्लेष अलंकार है। वह प्रकृति, प्रत्यय, आदि भेद से आठ प्रकार का होता है।[12] आठ भेद सभङ्ग श्लेष के हैं। उनका कथन है कि शब्दश्लेष का नवां भेद अभङ्ग श्लेष है :

'भेदाभावात् प्रकृत्यादेर्भेदोऽपिनवमो भवेत्' —का.प्र., 9/84

मम्मट एकार्थ-प्रतिपादक शब्दों के अनेक अर्थ होने पर अर्थश्लेष मानते हैं।[13] उद्भट ने अभङ्ग श्लेष को अर्थालंकार और सभङ्ग श्लेष को शब्दालंकार माना है। मम्मट इसके विरोधी हैं। मम्मट के टीकाकरों का अभिमत है कि मम्मट यहां रुय्यक की आलोचना[14] करते हैं पर यह उनकी भ्रान्तिमात्र है। रुय्यक मम्मट के परवर्ती हैं। वस्तुतः मम्मट यहां उद्भट की आलोचना करते हैं। मम्मट की दृष्टि से स्वर, प्रयत्न, आदि के आधार पर अलंकार विभाजन जैसा कि उद्भट मानते हैं—अनुपयुक्त है। मम्मट का सिद्धान्त है कि गुण, दोष, अलंकार, आदि की शब्दार्थपरकता अन्वय-व्यतिरेक भाव से निश्चित करनी चाहिये। तात्पर्य यह कि उनके शब्दनिष्ठ होने पर शब्दपरकता, उसके अभाव में अर्थ निष्ठ होने पर अर्थपरकता माननी चाहिये।[15]

'स्वयं चपल्लवाताम्रभास्वत्करविराजिता।
प्रभातसन्ध्येवास्वापफललुब्धेहितप्रदा।।'

—का.सा.सं., पृ. 38; का.प्र., पृ. 519

उद्भट के अनुसार यहां पूर्वार्द्ध में अर्थ (अभङ्ग) श्लेष है और उत्तरार्द्ध में शब्द (सभङ्ग) श्लेष। मम्मट का मन्तव्य है कि यहां दोनों ही उदाहरण शब्दश्लेष के हैं, क्योंकि शब्दश्लेष वहां होता है, जहां शब्द परिवर्तित कर देने पर उसकी अलंकारता समाप्त हो जाती है और अर्थश्लेष में शब्द परिवर्तन कर देने पर भी कोई हानि नहीं होती। अर्थात् शब्दालंकार शब्द-परिवृत्ति-असह होते हैं और

अर्थालंकार शब्दपरिवृत्तिसह। उपर्युक्त उदाहरण के पूर्वार्द्ध 'पल्लवाताम्र भास्वत्कर-विराजिता' में यदि आताम्र भास्वत् तथा कर के स्थान पर क्रमशः रक्त, दीप्तिमत् और हाथ कर दिया जाये तो श्लेष असंभव हो जायेगा। अतएव मम्मट के अनुसार ऐसे स्थल अर्थ (अभङ्ग) श्लेष के न होकर शब्दश्लेष के ही हो सकते हैं। मम्मट के इस उपयुक्त मत का समर्थन शोभाकर, विश्वनाथ, कर्णपूर और जगन्नाथ भी करते हैं।[16]

उद्भट तथा उनके टीकाकारों के अनुसार पूर्वोक्त उदाहरण में श्लेष उपमा के प्रतिभास का कारण है। मम्मट का अभिमत है कि यहां श्लेष उपमा का कारण नहीं है, प्रत्युत् उपमा ही श्लेष का कारण है। उनका कथन है कि जिस प्रकार गुण, क्रिया या उभय के साम्य में उपमा हो सकती है, उसी प्रकार 'सकलकलं पुरमेतज्जातं सम्प्रति सुधांशुबिम्बमिव' इत्यादि में शब्द साम्य में भी उपमा संभव है। इसलिये 'स्वयं च पल्लवाताम्र' इत्यादि में भी शब्द-साम्य को लेकर उपमा हो सकती है। उपमा ही श्लेष-प्रतिपत्ति का कारण होने से यहां वही प्रधान है, श्लेष नहीं। उन्होंने रुद्रट के इस मत को भी प्रमाणरूप में रखा है कि शब्दमात्र को आश्रय करके भी साम्य हो सकता है :

स्फुटमर्थालंकारौ एतौ उपमासमुच्चयौ किन्तु।
आश्रित्य, शब्दमात्रं सामान्यमिहापि संभवतः।।

—काव्या. 4/32; का.प्र., पृ. 521; सा.द., पृ. 467

इस प्रकार मम्मट के मत में श्लेष की उपमादि अलंकार से विविक्त विषयता भी है,[17] अन्यथा उपमादि का उच्छेद हो जायेगा। मम्मट के अन्य कथन तो उपयुक्त कहे जा सकते हैं, किन्तु शब्द-साम्य पर उपमा मानना संगत नहीं प्रतीत होता। 'अबिन्दुसुन्दरी नित्यं गलल्लावण्यविन्दुका' में उद्भट आदि के अनुसार श्लेष ही विरोध का कारण है। मम्मट इसका भी विरोध करते हुए स्पष्ट कहते हैं कि यहां भी विरोध अलंकार श्लेष प्रतिभा का हेतु है। वस्तुतः यहां विरोध प्रतीति ही श्लिष्ट चमत्कार की प्रतिपादिका है।[18]

रुय्यक ने उद्भट को आधार मानकर श्लेष निरूपण किया है। उनके अनुसार विशेषण-विशेष्य के साम्य या दोनों के उपादान में श्लेष होता है।[19] उनका कथन है कि दो प्रस्तुत, अप्रस्तुत तथा प्रस्तुत-अप्रस्तुत का श्लिष्ट पद से निबन्धन होने पर श्लेष होता है। इनमें से प्रथम दो भेद विशेषण और विशेष्य दोनों के साम्य होने पर भी होते हैं, पर तीसरा भेद विशेषणसाम्य में ही हो सकता है। विशेष्य का साम्य

होने पर तो शब्दशक्ति मूलध्वनि हो जायेगी क्योंकि प्रकरण आदि से वाच्यार्थ का ज्ञान हो जाने पर दूसरा अर्थ वाच्य नहीं हो सकता। अलंकार अभिधानियामक हैं। अतएव, अप्राकरणिक अर्थ ध्वनि का विषय होगा। प्रथम दो भेदों में दोनों ही अर्थ वाच्य होते हैं, क्योंकि दोनों अर्थ या तो प्राकरणिक होते हैं, या अप्राकरणिक। रुय्यक भी उद्भट का अनुसरण करते हुए उदात्तादि स्वरप्रयत्न भेद के आधार पर शब्द (सभङ्ग) श्लेष और स्वरादि के अभेद पर अर्थ (अभङ्ग) श्लेष मानते हैं। उभय की स्थिति में वह उभय श्लेष भी स्वीकारते हैं।[20] विमर्शिणी आदि टीकाकारों ने मम्मट के अन्वयव्यतिरेक सिद्धान्त का विरोध प्रस्तुत किया है। रुय्यक तथा उनके टीकाकारों के अनुसार अन्वयव्यतिरेक भाव अलंकार विभाजन का दूषित आधार है। लोक की भांति आश्रयाश्रयिभाव के आधार पर अलंकार विभाजन उचित है।[21] उनके अनुसार अर्थश्लेष एकवृन्तगतफलद्वय न्याय पर आधारित है तो शब्दश्लेष जतुकाष्ठ न्याय पर। जैसे एक ही वृन्त अनेक फलों का प्रसव स्थान होता है, उसी प्रकार अर्थश्लेष में एक ही शब्द के अनेक अर्थ होते हैं, और जैसे लाख तथा लकड़ी भिन्न होते हुए भी संश्लिष्ट प्रतीत होते हैं, वैसे ही शब्दकोष में अत्यन्त भिन्न दो शब्द एक से प्रतीत होते हैं। आगे चलकर उन्होंने 'सकलकलं' इत्यादि में उपमा मानने वाले मम्मट-मत का निराकरण भी किया है, जो उपयुक्त है।[22]

शोभाकर का श्लेष लक्षण तो रुय्यक के ही समान है,[23] किन्तु अलंकार की प्रधानता अप्रधानता, विभाजन, आदि के विषय में वे मम्मट का अनुसरण करते हैं।[24] नरेन्द्रप्रभसूरि भी मम्मट के अनुगामी हैं।[25]

हेमचन्द्र ने मम्मट के समान श्लेष का शब्द-अर्थगत विवेचन किया है। लक्षण भी उन्हीं के समान है।[26] सिद्धान्त भी मम्मट का है।[27] वाग्भट प्रथम के अनुसार जहां वही पद या भिन्न पद अनेक अर्थों को व्यक्त करते हैं, वहां श्लेष अलंकार होता है।[28] वाग्भट द्वितीय मम्मट और हेमचन्द्र के अर्थश्लेष की चर्चा मात्र करते हैं।[29] जयदेव ने खंडश्लेष, भङ्गश्लेष तथा अर्थश्लेष तीनों को अर्थालंकार माना है।[30] विद्याधर रुय्यक के अनुसार विशेष्य-विशेषण साम्य में श्लेष स्वीकारते हैं,[31] किन्तु वे रुय्यक के तृतीय भेद को नहीं मानते—'न द्वैविध्यमतिक्रामति।' विद्यानाथ भी रुय्यक के समान शब्दार्थोभयगतत्त्वेन श्लेष का विवेचन करते हैं।[32] विश्वनाथ मम्मट के पूर्ण अनुयायी हैं।[33] उन्होंने भी मम्मट के अनुसार उद्भट, रुय्यक का खंडन प्रस्तुत किया है।[34] अमृतानन्द योगी के अनुसार एक रूप पदों का अनेक अर्थ श्लेष है।[35]

अप्पयदीक्षित ने भी श्लेष के तीन भेद—प्रकृतानेक विषय, अप्रकृतानेक

विषय तथा प्रकृताप्रकृतानेक विषय किये हैं।[36] मम्मट के मत का खंडन करते हुए उन्होंने शब्दशक्तिमूलध्वनि और श्लेष के तृतीय भेद की भिन्नता प्रतिपादित की है।[37] उन्होंने श्लेष का सभङ्ग तथा अभङ्ग दो भेद मानकर दोनों को ही अर्थालंकार घोषित किया है।[38] देवशंकर तो दीक्षित के अनुयायी हैं। दीक्षित ने श्लेष के सविस्तार विवेचन के लिये 'चित्रमीमांसा' अवलोकन का संकेत किया है, पर दुर्भाग्यवश चित्र-मीमांसा का वह अंश अप्रस्तुत है। जगन्नाथ ने श्लेष-निरूपण में रुय्यक का अनुगमन किया है :

'श्रुत्यानेकार्थप्रतिपादनं श्लेषः' —र.गं., पृ. 390

उनका श्लेष-विभाजन इस प्रकार है। प्रथमतः श्लेष द्विधा होता है, अनेक धर्मपुरस्सर और एकधर्मपुरस्सर। पुनः प्रथम के दो भेद होते हैं, जहां अनेक शब्दों से प्रतिभान हो तथा एकशब्द से प्रतिभान हो। इस प्रकार श्लेष के तीन भेद हुए। प्रथम भेद सभङ्ग है, द्वितीय अभङ्ग और तृतीय शुद्ध श्लेष। पुनः ये त्रिविध भेद तीन प्रकार के हो जाते हैं, प्रकृतमात्र, अप्रकृतमात्र और प्रकृताप्रकृत उभय पर आश्रित होकर। प्रथम दो भेदों में विशेष्य श्लिष्टता के लिये कामचार हैं। तृतीय भेद में मात्रविशेषण वाचक पद श्लिष्ट हो सकते हैं। विशेष्य के भी श्लिष्ट होने से तो शब्दशक्तिमूल ध्वनि का उच्छेद हो जायेगा। विशेषणमात्र की श्लिष्टता होने पर भी प्रकृत-अप्रकृत दोनों धर्मियों के उपादान में ही श्लेष होगा, प्रकृतधर्मीमात्र के उपादान होने पर तो समासोक्ति हो जायेगी। इस प्रकार प्रकृतमात्र विशेष्य अनेक अर्थोंवाला विशेषण जहां हो वहां श्लेष का प्रथम भेद होता है तथा अप्रकृतमात्र विशेष्य अनेकार्थक विशेषण में द्वितीय भेद। प्रकृत और अप्रकृत दोनों तरह के विशेष्यों के पृथक्-पृथक् उक्त होने पर अनेक अर्थ की प्राप्ति में तृतीय श्लेष होता है।[39]

'येन नाप्राप्ते य आरभ्यते स तस्य बाधकः' इस न्याय से अन्य अलंकारों को बाधकर श्लेष स्वयं प्रधान बन जाता है, उद्भट के इस मत का जगन्नाथ ने भी मम्मट की भांति विरोध किया है। जगन्नाथ की उक्ति उद्धृत कर देना अच्छा होगा :

'.......... एवं च सावकाशत्वाच्छ्लेषस्य अलंकारान्तरापवादकत्वं न युक्तम्। अतएव उपमादीनां प्रतिभानमात्रमिति यदुक्तं तदपि न संगतम्। .... एवमलंकारान्तरस्यापि श्लेषविषये पारमार्थिक्येव सत्ता न प्रातिभासिकी। प्रत्युत श्लेषस्यैव प्रतिभानमात्रमिति वक्तुं युक्तम्। .... तस्माच्छ्लेषस्य नापवादकत्वं संकीर्णत्वं तु स्यादिति।

—र.गं., पृ. 394-95

अप्पयदीक्षित प्रकृताप्रकृतोभय श्लेष में द्वितीय अर्थ को शब्दशक्तिमूलध्वनि मानने वाले प्राचीनों के मत की आलोचना करते हुए वहां द्वितीय अर्थ को अव्यंग्य मानते हैं, जगन्नाथ उसका खंडन करते हैं। जगन्नाथ का अभिमत है कि ऐसे स्थल में जहां द्वितीय अप्रकृत अर्थ व्यंजित होता है, वह व्यंग्य ही होता है, क्योंकि वाच्यार्थ की प्रतीति के बाद वहां अभिधा नियंत्रित हो जाती है। मुख्यार्थ बाधा आदि के अभाव में लक्षणा प्रवृत्त ही नहीं होती। तात्पर्यावृत्ति तो तात्पर्य निर्णय के बाद विश्रान्त ही हो जाती है। अतएव 'अनेकार्थस्य शब्दस्य संयोगाद्यैर्नियन्त्रिते' इत्यादि वचनानुसार अप्रकृत अर्थ उपमादि, व्यंग्य ही होते हैं वाच्य नहीं।[40]

श्लेष और ध्वनि का विषय-विभाग ध्वनिकार ने ध्वन्यालोक में सविस्तार प्रस्तुत किया है।[41] जहां श्लिष्ट पद के माहात्म्य से वाच्यार्थ की प्रतीति के बाद द्वितीय अर्थ का आक्षेप से ग्रहण होता है, वहां श्लेष संभव नहीं है, क्योंकि श्लेष में दोनों ही अर्थ वाच्य होते हैं। अतएव ऐसे स्थलों में शब्दशक्ति मूल वस्तुध्वनि ही होती है, श्लेष नहीं।

आलंकारिकों में श्लेष की सावकाशता और निरवकाशता का जो विवाद है, वह बहुत कुछ स्पष्ट नहीं है। वस्तुतः श्लेष की पांच स्थितियां हैं। कहीं तो प्रधानभूत अलंकार के अभाव में श्लेष की सावकाशता रहती है, जैसे—'सर्वदोमाधवः पायात्' में वाक्यार्थ विचार के क्षण 'उमाधव' और 'माधव' की निरपेक्षता में, क्योंकि 'माधव' की प्रतीति के समय 'उमाधव' की प्रतीति नहीं होती। कहीं तो श्लेष उपमा की प्रतिभोत्पत्ति का कारण होता है, उदाहरणार्थ 'सकलकलं पुरम् एतज्जातं सम्प्रति सुधांशुबिम्बमिव' में समानधर्म के अभाव में भी श्लेष के कारण शब्दमात्रसाम्य में उपमा की प्रतीति होती है। कहीं-कहीं श्लेष अन्य अलंकार का अंग होता है। जैसे—'सन्निहितबालान्धकारा भास्वन्मूर्तिश्च' में श्लेष विरोध का अङ्गभूत है। कहीं तो श्लेष का प्ररोह न होने से प्रातिभासिकी प्रतीति होती है। और कहीं-कहीं समासोक्ति आदि में वह अनुप्राणक होता है :

'प्रधानभूतालंकारवियोगात्सावकाशता।
कुत्रचित्प्रतिभोत्पत्तिहेतुत्वं क्वचिदङ्गता।।
क्वचित्प्ररोहविरहात्प्रतिभात्वं परत्र च।
अनुप्राणकतास्येति श्लेषोऽयं पंचभूमिकः।। —अ.र., पृ. 76

श्लेष-भेद

भामह ने श्लेष का कोई भेद नहीं किया है, किन्तु सहोक्ति, उपमा और हेतु

को श्लेष का कारण मानकर तीन उदाहरण प्रस्तुत किये हैं।[42] दंडी ने उपमा, रूपक, आक्षेप, व्यतिरेक, आदि को श्लेष का निमित्त मानकर श्लेष का दो भेद भिन्न पद और अभिन्नपद माना है,[43] जिन्हें आगे चलकर सभङ्ग और अभङ्ग कहा गया। इन भेदों के अतिरिक्त उन्होंने, अभिन्न क्रिया, विरुद्ध क्रिया, विरुद्धकर्म, नियमवान् श्लेष, आक्षेप, विरोधी, अविरोधी, आदि श्लेषों के उदाहरण प्रस्तुत किये हैं। उद्भट ने दो भेद क्रमशः अभङ्ग और सभङ्ग मानकर प्रथम को अर्थालंकार द्वितीय को शब्दालंकार माना है। वामन ने भेदों की चर्चा नहीं की है। सर्वप्रथम रुद्रट ने शब्दश्लेष के वर्ण, पद, लिंग, भाषा, प्रकृति, प्रत्यय, विभक्ति और वचन आठ भेदों का विवेचन प्रस्तुत किया।[44] रुद्रट के शब्दश्लेष के इन आठ भेदों को मम्मट, शोभाकर, विश्वनाथ, नरेन्द्रप्रभसूरि, हेमचन्द्र, कर्णपूर, आदि सभी प्रधान आलंकारिक स्वीकारते हैं। रुद्रट ने श्लेषमूल अर्थालंकारों में अविशेष, विरोध, अधिक, वक्रोक्ति, व्याजोक्ति, असंभव, अभाव, तत्त्द तथा विरोधाभास का विवेचन किया है। अर्थश्लेष के ये शुद्ध भेद हैं। संसृष्टि और संकर मिश्र भेद हैं।

भोजराज के अनुसार श्लेष (शब्द) के छः भेद हैं—प्रकृति, प्रत्यय, विभक्ति, वचन, पद तथा भाषा। उनके अनुसार लिंगश्लेष प्रकृतिश्लेष में और वर्णश्लेष पदश्लेष में अन्तर्भूत है। वह प्रत्ययश्लेष के सोद्भेद, निरुद्भेद—दो भेद, तथा विभक्ति श्लेष के भी दो भेद मानते हैं—भिन्नजातीयक और अभिन्नजातीयक। इसी प्रकार वह वचन श्लेष के भी निरुद्भेद, सोद्भेद दो भेद करते हैं।[45] अर्थश्लेष के वे भिन्नपद (सभङ्ग) और अभिन्नपद (अभङ्ग) दो भेदों को पद, क्रिया और कारक के आधार पर छः प्रकार का मानते हैं।[46] शृंगारप्रकाश में भी वह शब्दश्लेष तथा अर्थश्लेष के मूल छः-छः भेद मानते हैं।[47] मम्मट ने सभङ्ग (शब्दश्लेष) के आठ भेद रुद्रट से लिये हैं। इन आठ भेदों के अतिरिक्त नवम अभङ्गश्लेष का भी वह विवेचन करते हैं। परन्तु ध्यान देने योग्य है कि यह नवम भेद मम्मट की कोई निजी उद्भावना नहीं है, प्रत्युत उद्भट, इन्दुराज, आदि की उद्भावना है। अभङ्ग को भी शब्दश्लेष उद्भट के टीकाकार राजानक तिलक स्थिर कर चुके थे।[48] अतएव सभङ्ग अभङ्ग श्लेषों को शब्दालंकार मानकर मम्मट ने कोई नूतनता का सृजन नहीं किया। रुय्यक के तीन भेदों का विवेचन किया जा चुका है, वे हैं, दोनों ही अप्रकृत, दोनों ही प्रकृत और प्रकृताप्रकृत। शोभाकर इन भेदों के चार-चार भेद करके इनकी संख्या बारह तक पहुंचा देते हैं। प्रथम के चार भेद इस प्रकार हैं, दोनों प्रस्तुत अर्थों के विशेष्यद्वय प्रतिपादक शब्द के एकत्व साम्य में, इस प्रकार के दोनों के साम्य में, मात्र एक के साम्य में अथवा विशेषणों मात्र के साम्य में श्लेष होने

से। इसी प्रकार अन्य दो भेदों के भी चार-चार भेद हो जाते हैं, 'इति द्वादश विधः'। वाग्भट प्रथम तथा द्वितीय, जयदेव, अमृतानन्द, आदि श्लेष का विभाजन नहीं करते। हेमचन्द्र, नरेन्द्रप्रभ, विश्वनाथ, कर्णपूर, आदि मम्मट की भांति शब्दश्लेष के नौ भेद करते हैं। मम्मट की ही तरह वे अर्थश्लेष का विभाजन नहीं करते। अप्पयदीक्षित तथा जगन्नाथ का भी विभाजन पहले कहा जा चुका है। वस्तुतः मम्मट तथा रुय्यक के बाद कोई मौलिक विभाजन श्लेष में नहीं हो सका।

ध्यातव्य है कि उद्भट का सविस्तार जो खंडन मम्मट ने प्रस्तुत किया है, वह उनकी कोई मौलिक देन नहीं है। राजानक तिलक ने स्पष्ट रूप से उद्भट के मत का खण्डन किया है। उन्होंने ही अभङ्ग श्लेष की अर्थालंकारता का निरास किया तथा शब्दसाम्य को उपमा का आधार स्थिर कर 'स्वयं च पल्लवाताम्र-भास्वत्करविराजिताः' में उपमा की प्रधानता घोषित की। अन्वयव्यतिरेक के आधार को अलंकार विभाजन का हेतु तिलक ने ही स्थापित किया। इन सबके अतिरिक्त सभङ्ग और अभङ्ग दोनों को ही शब्दश्लेष की मान्यता भी राजानक तिलक ने ही दी। 'अबिन्दुसुन्दरी नित्यं गलल्लावण्यबिन्दुका' जैसे स्थलों पर उन्होंने ही विरोधालंकार की प्रधानता बताकर श्लेष की आभासता सिद्ध की।[49] अन्त में उन्होंने श्लेष को उभयालंकार मानने का जो संकेत किया है, वह अत्यन्त उपयुक्त है—'भवन्तु वापरमेवंभूता उभयस्यालंकाराः', विवृत्ति, पृ. 40. इस प्रकार श्लेष के विषय में मौलिक मत उद्भट तथा राजानक तिलक ने ही प्रस्तुत किये हैं।

संदर्भ

1. श्याद्व्यधास्रुसंस्रतीणवसावहृलिहश्लिषश्वसश्च। —पा. 3/1/141.
   पचाद्यच् करके भी श्लेष बन सकता है।
2. ऋ. 6/55/5.
3. वही, 1/164/21.
4. स्वामी दयानन्द सरस्वती, यजुर्वेद भाष्य, भाग 1, 1/11.
5. विष्णुधर्मोत्तर पुराण में भी इसका उल्लेख है :
   (1) द्वित्र्यर्थवाचकैः शब्दैः श्लेष इत्यभिधीयते। वि.ध., 14/6.
   (2) उपमानेन यत्तत्वमुपमेयस्य साध्यते।
   गुणक्रियाभ्यां नाम्ना च श्लिष्टं तदभिधीयते।। भामहा. 3/14 तथा 15 भी।
6. शिष्टमिष्टमनेकार्थमेकरूपान्वितं वचः।। काव्यादर्श, 2/308.
7. एकप्रयत्नोच्चार्याणां तच्छायां चैव बिभ्रताम्।
   स्वरितादिगुणैर्भिन्नैर्बन्धः श्लिष्टमिहोच्यते।

अलंकारान्तरगतां प्रतिभां जनयत् पदैः।
द्विविधैरर्थशब्दोक्तिविशिष्टं तत्प्रतीयताम्।। —का.सा.सं., 4/23-4.

8. ल.वृ., पृ. 55-56 तथा विवृत्ति, पृ. 37-38.
9. सधर्मेषु तन्त्रप्रयोगे श्लेषः। —का.सू.वृ., 4/3/7 तथा वृत्ति।
10. वक्तुं समर्थमर्थं सुश्लिष्टाक्लिष्टविविधपदसंधि।
युगपदनेकं वाक्यं यत्र विधीयेत स श्लेषः।। काव्यालं, 4/1.
यत्रैकमनेकार्थैर्वाक्यं रचितं पदैरनेकस्मिन्।
अर्थे कुरुते निश्चयमर्थश्लेषः स विज्ञेयः।। —वही, 10/1.
11. द्वयोस्तन्त्रेणाभिधानं श्लेषः —शृं.प्र., पृ. 388; तु. स.कं., 2/68.
श्लेषोऽनेकार्थकथनं पदेनैकेन कथ्यते। स.कं., 4/87; तु. शृं.प्र., पृ. 426.
12. वाच्यभेदेन भिन्ना यद्युगपद्भाषणस्पृशः।
श्लिष्यन्ति शब्दाः श्लेषोऽसावक्षरादिभिरष्टधा।। —का.प्र., 9/82-4.
13. श्लेषः स वाक्ये एकस्मिन् यत्रानेकार्थता भवेत्। वही, 10/96.
14. प्रदीपप्रभा, पृ. 429; झलकीकर, पृ. 516; विश्वेश्वर सिद्धान्त शिरोमणि, का.प्र., पृ. 427.
15. इह दोषगुणालंकाराणां शब्दार्थगतत्वे नयो विभागः स अन्वयव्यतिरेकाभ्यामेव व्यवतिष्ठते।। —वही, पृ. 518.
16. अर्थश्लेषस्य तु स विषयः यत्र शब्दपरिवर्तनेऽपि नश्लेषत्वखंडना —का.प्र., पृ. 520; अ.र., पृ. 75-6; सा.द., पृ. 634; उभावेतौ शब्दालंकारौ शब्दस्य परिवृत्त्यसहत्वादन्वयव्यतिरेकाभ्यां तदाश्रितत्वाबधारणात्। —र.गं., पृ. 401.
17. न चायमुपमा प्रतिमोत्पत्ति हेतुः श्लेषः, अपि तु श्लेष प्रतिभोत्पत्ति हेतुरूपता। का.प्र., पृ. 520-21; तु. अ.र., पृ. 76; काव्यानु., पृ. 329; सा.द., पृ. 468; र.गं., पृ. 394; अ.कौ., पृ. 247-8.
18. का.प्र., पृ. 524 तथा काव्यानु. पृ. 329.
19. विशेष्यस्यापि साम्ये द्वयोर्वोपादाने श्लेषः —अ.स. सूत्र-33 तथा वृत्ति।
20. तत्रोदात्तादिस्वरभेदात् प्रयत्नभेदाच्च शब्दसाम्य शब्दश्लेषः। यत्रप्रायेण पदभङ्गो भवति। अर्थश्लेषस्तु यत्र स्वरादि भेदो नास्ति संकलनया तूभयश्लेषः। —अ.स., पृ. 125.
21. अलंकार्यालंकरणभावस्य लोकवदाश्रयाश्रयिभावेनोपपत्तेः —अ.स. तथा सं., पृ. 126; वि. पृ. 95-99.
22. अ.स., पृ. 127.
23. विशेष्यस्यापि साम्ये द्वयोर्वाच्यत्वे श्लेषः। अ.र. सूत्र-44 तथा दे. विवेचन।
24. दे., अ.र. श्लेष विवेचन।
25. अ.भ. 7/22 तथा 8/49 रुय्यक का खंडन, पृ. 222.
26. काव्यानु., 5/6 तथा 6/17.

27. विवेचन, वहीं, पृ. 324-29.
28. वाग्भटालंकार, 4/127.
29. एकस्मिन्वाक्येऽनेकार्थता श्लेषः —काव्यानु., पृ. 44.
30. चन्द्रा., 5/63-5.
31. एकावली, 8/26. विवेचन देखिये, पृ. 260-62.
32. प्र.रु., पृ. 314.
33. सा.द. 10/11-12 तथा कारिका, 58 अर्थश्लेष के लिये।
34. वही, पृ. 461-69.
35. एकरूपमनेकार्थं श्लिष्टं बहुविधं यथा। अ.स. 5:41.
36. कु. कारिका 64; तु. अ.मं. कारिका 42.
37. वही, पृ. 79-80.
38. उभयमप्यर्थालंकार इति स्वाभिप्रायः। वही, पृ. 82; तु. अ.मं., पृ. 95.
39. र.गं., पृ. 390-1.
40. वही, पृ. 397-401.
41. ध्वन्या. 2/51 तथा वृत्ति और दे., वही, पृ. 253.
42. भामहा. 2/17/20.
43. काव्यादर्श, 2/309-320.
44. काव्यालं, 10/2.
45. स.कं. 2/69 तथा विवेचन, पृ. 221-28.
46. पदक्रियाकारकैः स्याद्भिन्नाभिन्नैः सषड्विधः।। —स.कं. 4/87.
47. शृं.प्र., पृ. 388 तथा 426.
48. दे., विवृत्ति, पृ. 39-40.
49. 'एतच्च श्लेष लक्षणं परीक्ष्यमाणमयुक्तमिव प्रतिभाति। अपि च गुणक्रियासाम्यमुपमा शब्दसाम्यं तु श्लेष इति विशेषस्या (न) भिधानात् शब्द साम्यमुपमायाः विषयः। .... पल्लवेत्यादौ उपमैव न्याय्या। .... न च भास्वत्करविराजिता इत्यत्र श्लेष उपपन्नः। .... अन्वयव्यतिरेकानुविधायिनोऽस्य शब्दालंकारत्वमेवयुक्तम्। अभङ्गसभङ्गत्वेनानयोस्तु शब्दश्लेषयोर्भेदः। एवं च 'अबिन्दुसुन्दरी' त्यादौ शब्दालंकारो विरोधः। अत्र हि श्लेषस्य प्रतिभातमात्रं न तु प्ररोहः।।' —विवृत्ति, पृ. 39-40.

(र) अप्रस्तुतप्रशंसा

'प्र' उपसर्गपूर्वक इच्छार्थक शसि धातु से करण अर्थ में अङ् तथा स्त्रीत्व में टाप् प्रत्यय करने पर प्रशंसा शब्द की निष्पत्ति होती है। प्रशंसा के स्तवन, अभिधान, कथन, आदि अर्थ होते हैं। 'प्र' पूर्वक स्तुत्यर्थक स्तुञ् धातु से भाव अर्थ में क्त प्रत्यय होकर प्रस्तुत शब्द निष्पन्न होता है, उससे नञ् समास करने पर अप्रस्तुत की निष्पत्ति होती है। जो वस्तु अनुपस्थित या अप्रकृत हो उसे अप्रस्तुत करते हैं—'न प्रस्तुतः इति अप्रस्तुतः' अतएव अप्रस्तुत या अप्रकृत का वर्णन या अभिधान अप्रस्तुतप्रशंसा है—अप्रस्तुतस्य अप्रकृतस्य प्रशंसा, वर्णना अभिधानमुक्तिः अप्रस्तुतप्रशंसा।[1] अथवा अप्रस्तुत से प्रस्तुत की उक्ति को अप्रस्तुत प्रशंसा कहते हैं—अप्रस्तुतेन अप्रकृतेन (प्रकृतस्य) प्रशंसा वर्णना अभिधानमुक्तिः। अप्रस्तुत के अभिधान से प्रस्तुत की प्रतीति अप्रस्तुतप्रशंसा अलंकार है, प्रायः सभी आलंकारिक स्वीकारते हैं। इस प्रकार अप्रस्तुतप्रशंसा शब्द अन्वर्थक है। अप्रस्तुत कथन से प्रस्तुत की प्रतीति इस अलंकार का जीवातु है। अतएव जो आलंकारिक प्रस्तुत से अप्रस्तुत की प्रतीति में भी अप्रस्तुतप्रशंसा मानते हैं, उनके मत का निरास भी हो जाता है। ऐसे मत की निरर्थकता अप्रस्तुतप्रशंसा अभिधान से भी सिद्ध है। समासोक्ति में प्रकृत अभिधान से अप्रकृत की प्रतीति होती है। उससे ठीक विपरीत अवस्था है, अप्रस्तुतप्रशंसा की।

प्रशंसा शब्द का स्तवन या अभिधान अर्थ वैदिक साहित्य में भी प्राप्य है।[2] इसी प्रकार प्रस्तुत शब्द भी वहां प्रकृत का अभिधायी है। भरत ने नाट्यशास्त्र में 'मनोरथ' नाम के एक काव्यलक्षण का उल्लेख किया है। हृदयस्थ भाव का अन्य व्यपदेश के द्वारा सुश्लिष्टार्थ प्रदर्शन मनोरथ कहा जाता है।[3] अप्रस्तुतप्रशंसा के मूल में भरत का यह मनोरथ लक्षण वर्तमान है। अभिनव गुप्त और भट्टतौत भी यही मानते हैं।[4]

सर्वप्रथम भामह ने ही अप्रस्तुतप्रशंसा का विवेचन प्रस्तुत किया है। उनके अनुसार अधिकार से अपेत[5] अन्य वस्तु (अप्रकृत) की स्तुति अप्रस्तुतप्रशंसा है। दंडी भी अप्रस्तुतों की स्तुति को अप्रस्तुतप्रशंसा मानते हैं।[6] भामह ने केवल यह

कहा था कि अधिकार से अपेत अन्य वस्तु की स्तुति अप्रस्तुतप्रशंसा है, उद्भट ने उसमें 'प्रस्तुतार्थनिबन्धन' पद को और बढ़ा दिया है।[7] इस प्रकार उन्होंने अलंकार-स्वरूप को स्पष्ट करने का प्रयास किया है। वामन के अनुसार उपमेय के किंचित् लिंगमात्र कथन से समान वस्तु का विन्यास अप्रस्तुतप्रशंसा है।[8] रुद्रट ने औपम्य-वर्ग में उपमान के द्वारा उपमेय के गम्य होने पर अन्योक्ति नामक अलंकार मान रखा है।[9] भोजराज के अनुसार अस्तोतव्य वस्तु की स्तुति अप्रस्तुत प्रशंसा है।[10] उनका अभिमत है कि वह कहीं वाच्य, कहीं व्यंग्य तथा कहीं धर्म-अर्थ आदि की बाध्यता या स्वाभिप्राय की प्रसिद्धि दशा में होती है। वस्तुतः दंडी और भोज की अप्रस्तुतप्रशंसा अस्पष्ट है। दंडी के अनुसार अप्रस्तुत से प्रस्तुत की प्रतीति तो समासोक्ति में भी होती है, किन्तु अप्रस्तुतप्रशंसा में अप्रस्तुत की स्तुति से प्रस्तुत की निन्दा अभिव्यक्त होती है। काव्यादर्श की टीका में रंगाचार्य शास्त्री ने इस ओर संकेत किया है।[11] भोजराज भी इसे सादृश्यमूलक नहीं मानते। सरस्वती कंठाभरण की टीका में जगद्धर ने स्पष्ट रूप से भोज के इस अभिप्राय को व्यक्त किया है।[12] दंडी और भोज के मत अनुपयुक्त प्रशंसा सादृश्यमूलक अलंकार है। यहां अप्रस्तुत से प्रस्तुत की व्यक्ति व्यवहार साम्य से होती है, निन्दा या स्तुति से नहीं। इसलिये जगन्नाथ का यह कथन ठीक है कि अप्रस्तुतप्रशंसा में प्रशंसा का अर्थ वर्णन मात्र है, स्तुति नहीं :

'प्रशंसनम् च वर्णनमात्रं न तु स्तुतिः' र.गं., पृ. 403

अप्रस्तुतप्रशंसा के स्वरूप को स्पष्ट करने का श्रेय मम्मट को है। उनके अनुसार अप्रस्तुत के अभिधान से प्रस्तुत की प्रतीति या आक्षेप अप्रस्तुतप्रशंसा है।[13] रुय्यक ने इसी कथन को सूत्र में भेदों के सहित रख दिया है।[14] परवर्ती प्रायः सभी आलंकारिक मम्मट, रुय्यक के ही समान लक्षण करते हैं।[15] हेमचन्द्र भी रुद्रट की भांति इसे अन्योक्ति कहते हैं, किन्तु विवेचन मम्मट के समान है। जगन्नाथ के अनुसार अप्रस्तुत व्यवहार (सादृश्य, कार्यकारण, सामान्य, आदि) से प्रस्तुत व्यवहार का कथन अप्रस्तुतप्रशंसा है :

'अप्रस्तुतेन व्यवहारेण सादृश्यादिवक्ष्यमाणप्रकारान्यतमप्रकारेण प्रस्तुत व्यवहारो यत्र प्रशस्यते साऽप्रस्तुतप्रशंसा।' —र.गं., पृ. 402

जगन्नाथ का प्रभाव अच्युतराय पर द्रष्टव्य है।[16] आचार्यों के लक्षण विवेचन से यह स्पष्ट है कि अप्रस्तुत कथन से प्रस्तुत का आक्षेप ही अप्रस्तुतप्रशंसा अलंकार है।

भेद

भामह, दंडी, उद्भट, वामन तथा रुद्रट किसी ने भी अप्रस्तुतप्रशंसा का विभाजन नहीं किया है। यह अवश्य है कि प्राचीन आचार्य इसे सादृश्यनिबन्धना मानते रहे हैं। भोजराज ने वाच्या, प्रतीयमाना दो भेद मान कर उनका हेतु धर्म, अर्थ और काम की बाधा को स्वीकार किया है।[17] शृंगारप्रकाश में उन्होंने कोई भेद प्रस्तुत नहीं किया है। सर्वप्रथम अप्रस्तुतप्रशंसा के विभाग का श्रेय मम्मट को ही है। उनके अनुसार अप्रस्तुतप्रशंसा के मुख्य पांच भेद हैं, कार्य के प्रस्तुत रहने पर कारण वर्णन, कारण प्रस्तुत रहने पर कार्य-वर्णन, सामान्य प्रस्तुत रहने पर विशेष-वर्णन, विशेष प्रस्तुत रहने पर सामान्य-वर्णन और तुल्यार्थ के प्रस्तुत रहने पर तुल्यार्थ का वर्णन। अन्तिम भेद तीन प्रकार का है—श्लेषमूलक, समासोक्तिमूलक और सादृश्यमूलक। सादृश्यमात्रमूलक के भी तीन भेद हो जाते हैं: प्रतीयमान-अर्थ-अनध्यारोप, प्रतीयमानार्थाध्यारोप तथा अंशों में अध्यारोप।[18] मम्मटोक्त इन्हीं भेदों को लोगों ने उक्तिभङ्गी से स्वीकार कर लिया है।

रुय्यक का अभिमत है कि अप्रस्तुत का वर्णन ही अयुक्त है। जो अप्रस्तुत हो उसका वर्णन कैसा? अप्रस्तुत का वर्णन प्रस्तुत के सम्बन्ध से कदाचित् संभव है। यह सम्बन्ध तीन प्रकार से हो सकता है : सामान्यविशेषभाव, कार्यकारणभाव और सारूप्य से। प्रथम दो पुनः दो-दो प्रकार के होते हैं : सामान्य से विशेष और विशेष से सामान्य की प्रतीति तथा कार्य से कारण और कारण से कार्य की प्रतीति होने से। मम्मट के पांचों भेदों को रुय्यक तथा विद्याधर ने उक्त प्रकार से अभिव्यक्त किया है।[19] रुय्यक पंचम भेद साधर्म्य वैधर्म्य भेद से द्विधा मानते हैं। ये भी वाच्य के संभव, असंभव और उभयरूप से त्रिधा होते हैं। ये भेद भी मम्मटोक्त प्रतीयमान अर्थ के अनध्यारोप आदि के अपर अभिधान मात्र है।

अप्रस्तुतप्रशंसा में व्यंजना या लक्षणा

प्रायः सभी आलंकारिक इस बात से सहमत हैं कि अप्रस्तुत वर्णन से प्रस्तुत की प्रतीति यहां व्यंजना वृत्ति से होती है। द्वितीय अर्थगम्य या व्यंग्य होता है। शोभाकर इससे भिन्न मत रखते हैं। उनके अनुसार अप्रस्तुत से प्रस्तुत का सम्बन्ध असंभव होने के कारण मुख्यार्थ बाध उपस्थित होता है। तथा रूढि या प्रयोजन-वश कार्यकारण आदि सम्बन्धों के द्वारा प्रस्तुत अर्थ की प्रतीति लक्षणा से होती है। प्रस्तुत अर्थ की प्रतीति व्यंजना से तब संभव थी, जब मुख्यार्थ आदि की बाधा न पैदा होती। वाच्यत्व की संभव दशा में लक्षणा शुद्धा होती है, असंभव दशा में

साध्यवसाना :[20]

'मुख्यार्थबाधादिसमस्तहेतुयोगादसौ लक्षणयैव युक्ता।
विरोधमन्वर्थनिबन्धनादि भेदस्थितेनापि च पंचधैव।।' अ.र., पृ. 61

विचार करने पर शोभाकर का यह मत उचित नहीं जान पड़ता। अप्रस्तुतप्रशंसा में अप्रकृत कथन से प्रतीयमान द्वितीय प्रस्तुत अर्थ की प्रतीति निर्बाध होती है। अप्रस्तुत सामान्य से व्यक्त प्रस्तुत विशेष के उन्हीं के उदाहरण में लक्षणा का अभाव है :

'दुर्जनदूषितमनसां पुसां सुजनेऽपि नास्ति विश्वासः।
बालः पायसदग्धो दध्यपि फूत्कृत्य भक्षयति।।' वही, पृ. 62

'दुष्टों से दूषित मनवालों को सज्जन पर भी विश्वास नहीं होता। दूध से जला बालक दधि भी फूंक कर खाता है।' शोभाकर के इस उदाहरण में तो अप्रस्तुतप्रशंसा भी संभव नहीं है। प्रत्युत 'दूध का जला फूंक कर पीता है, इस सामान्य उक्ति से 'दुर्जन दूषित मन को सज्जन पर भी विश्वास नहीं होता' इस विशेष कथन का समर्थन होने अर्थान्तरन्यास सुतरां संभव है। सारूप्य निबन्धना अप्रस्तुतप्रशंसा में—जहां वाच्य असंभव रहता है, वहां प्रस्तुत अर्थ की प्रतीति लक्षणा से हो सकती है। 'कस्त्वं भोः कथयामि दैवहतकं'[21] इत्यादि मम्मट के प्रतीयमानार्थाध्यारोप सारूप्य निबन्धना तथा रुय्यक के वाच्यासंभविसारूप्यनिबन्धना अप्रस्तुतप्रशंसा के उदाहरण में लक्षणा मानी जा सकती है। अचेतन शाखोटक से प्रश्नोत्तर असंभव होने के कारण, वाच्य की असंभवता होने से यहां साध्यवसान लक्षणा के द्वारा शाखोटक पर प्रकृत साधु पुरुष का अध्यारोप किया गया है।[22] अतः ऐसे स्थलों में लक्षणा हो सकती है, सर्वत्र नहीं। जगन्नाथ का भी यही कथन है कि अप्रस्तुतप्रशंसा में प्रस्तुत सदैव व्यंग्य होता है। कभी-कभी यदि वाच्य अत्यन्त अप्रस्तुत हो तो लक्षणा का अवकाश हो सकता है।[23]

मम्मट के अन्तिम भेद में समासोक्तिमूलक भेद को जगन्नाथ मानने को उद्यत नहीं हैं। उनका तर्क है कि समासोक्ति अप्रस्तुतप्रशंसा का ठीक विपर्ययभूत अलंकार है। ऐसी अवस्था में समासोक्ति के द्वारा आक्षिप्त प्रस्तुत का ज्ञान ही असंभव है। और यदि ऐसा होता है, तो मम्मटोक्त लक्षण दुष्ट हो जाता है।[24] वस्तुतः जगन्नाथ का उक्त मत उचित है, किन्तु मम्मट के समासोक्ति कथन का अभिप्राय यहां विशेषणमात्र की श्लिष्टता से है, समासोक्ति अलंकार से नहीं।[25] शोभाकर का अभिमत है कि अप्रस्तुतप्रशंसा में कहीं-कहीं प्रस्तुत से भी अप्रस्तुत की प्रतीति होती

है। यह प्रतीति कभी विपरीत लक्षणा से कभी श्लेष से तो कभी विपर्यय से संभव है।[26] दीक्षित का अभिमत है कि अप्रस्तुतप्रशंसा को पांच भेद में ही नियंत्रित नहीं किया जा सकता, वह कारणान्तर में भी हो सकता है :

> **'नहि अप्रस्तुतप्रशंसायां प्रस्तुताप्रस्तुतयोः पंचविध एव सम्बन्धः इति नियन्तुं शक्यते, सम्बन्धान्तरेष्वपि दर्शनात्। अतः सहोत्पत्ति आदिकमपि सम्बन्धान्तरमाश्रयणीयमेव।'** —कु., पृ. 87

जगन्नाथ के अनुसार अप्रस्तुतप्रशंसा में कहीं-कहीं दोनों ही अर्थ प्रस्तुत होते हैं। उनका कथन है कि यहां अप्रस्तुत का अर्थ मुख्य तात्पर्यविषयीभूत अर्थ से अन्य अर्थ ही विवक्षित है। अतएव वह प्रस्तुत तथा अप्रस्तुत दोनों हो सकता है। परन्तु इसे ध्वनि नहीं कह सकते। क्योंकि अप्रस्तुतप्रशंसा में सादृश्य आदि भी विवक्षित रहता है। इस प्रकार जगन्नाथ के अनुसार कार्यकारणभाव आदि चार भेदों में गुणीभूतव्यंग्य की अवस्थिति रहती है। सारूप्यनिबन्धना में दो गति है, गुणीभूतव्यंग्य और ध्वनि की। जहां दोनों (वाच्य और व्यंग्य) प्रस्तुत होते हैं, वहां ध्वनि निर्विवाद है, किन्तु अत्यन्त अप्रस्तुत से प्रस्तुत की प्रतीति में गुणीभूतव्यंग्य होता है। परन्तु यह ध्वनि काव्यात्मभूत ध्वनि नहीं है, क्योंकि ध्वनि में अभिधा का लेशमात्र भी अमान्य है। अप्रस्तुतप्रशंसा में गम्य अर्थ की वाच्यता भी रहती है।[27]

अप्रस्तुतप्रशंसा शब्द ही इस बात का सूचक है कि इस अलंकार में अप्रस्तुत कथन से प्रस्तुत की प्रतीति होती है। अतएव जगन्नाथ और शोभाकर के मत अयुक्त जान पड़ते हैं। अप्रस्तुत का अर्थ यदि मुख्यतात्पर्यविषयीभूत अर्थ से अन्य अर्थ स्वीकारते हैं, तब तो प्राचीनों का अप्रस्तुत से प्रस्तुत प्रतीति रूप कथन ही व्यर्थ हो जायेगा। जगन्नाथ प्रस्तुत से प्रस्तुत की प्रतीति में प्रस्तुतांकुर[28] अलंकार मानने वाले अप्पयदीक्षित के मत का खंडन करने के लिये अप्रस्तुतप्रशंसा में भी प्रस्तुत से प्रस्तुत व्यंग्य का स्वांग रचते हैं। इससे तो अच्छा था कि दीक्षित के नवीन अलंकार को स्वीकार कर लेते। अप्रस्तुतप्रशंसा तो विकृत न हो पाती। साधारण विशेषण के द्वारा प्रस्तुत की प्रतीति होने से तो समासोक्ति की भी आपत्ति हो सकती है। और यदि प्रस्तुत की प्रतीति असाधारण विशेषणों के द्वारा मानी जाये, तो व्यंग्य रूपक भी आपतित होगा। इस प्रकार अलंकार और ध्वनि का विभाग जो जगन्नाथ भी मानते हैं, दुष्ट हो जायेगा। दीक्षितोक्त प्रस्तुतांकुर का अन्तर्भाव ध्वनि में असंभव है, अप्रस्तुतप्रशंसा में नहीं। नागेश ने सविस्तार जगन्नाथ के मत का खंडन प्रस्तुत किया है।[29]

मम्मट, रुय्यक, जगन्नाथ के अतिरिक्त किसी आलंकारिक ने भेदोपभेदों के विषय में कोई नवीन बात नहीं कही। अतएव उनका विवेचन अनावश्यक है। वस्तुतः मम्मट-प्रोक्त अप्रस्तुतप्रशंसा के भेद ही आचार्यों द्वारा प्रतिपादित किये गये हैं।

अन्य अलंकार

अप्रस्तुतप्रशंसा में प्रस्तुत का वर्णन न करके अप्रस्तुत का ही वर्णन किया जाता है। अतिशयोक्ति में भी वर्ण्य अप्रस्तुत ही होता है। ऐसी स्थिति में अतिशयोक्ति से इसका भेद बताना आवश्यक है। अतिशयोक्ति में निगरण या अभेदाध्यवसान होता है, जिसका अप्रस्तुतप्रशंसा में अभाव है। अतिशयोक्ति में उपमान से उपमेय का निगरण हो जाने के कारण दोनों की सत्ता का पृथक् आभास नहीं होता, पर अप्रस्तुतप्रशंसा में दोनों ही अर्थों का पृथक्-पृथक् रूप में ज्ञान होता है। यहां कवि को प्रस्तुत के सदृश अप्रस्तुत-वर्णन ही अभीष्ट होता है, न कि वह अतिशयोक्ति की भांति प्रस्तुत में अप्रस्तुत को देखता है। जगन्नाथ का यही मन्तव्य है।[30]

पर्यायोक्त[31] अलंकार में भी कार्य आदि के द्वारा गम्यमान, कारण आदि की प्रतीति होती है। कार्य अप्रस्तुत से प्रस्तुत कारण रूप अप्रस्तुतप्रशंसा में भी कारणगम्य ही होता है। अतः सन्देह हो सकता है कि दोनों में कोई भेद नहीं है? पर्यायोक्त में कारण की अपेक्षा कार्य ही अधिक अतिशयपूर्ण होता है, अतः उसी का वर्णन कर दिया जाता है। इस प्रकार जहां वाच्य अर्थ समान अर्थान्तर का अपने उपस्कार के रूप में आक्षेप करता है, वहां पर्यायोक्त होता है और जहां अप्रस्तुत अर्थ अप्रकृत होने के कारण प्रकृत अर्थान्तर के प्रति अपने को ही समर्पित कर देता है, वहां अप्रस्तुतप्रशंसा होती है।[32]

प्रस्तुतांकुर अलंकार नहीं

अप्पयदीक्षित ने वर्ण्यमान, प्रस्तुत से अन्य प्रस्तुत अर्थ की व्यंग्यता में प्रस्तुतांकुर नामक एक पृथक् अलंकार की उद्भावना की है :

> **'प्रस्तुतेन प्रस्तुतस्य द्योतने प्रस्तुतांकुरः।**
> **किं भृंग सत्यां मालत्यां केतक्या कण्टकेद्धया।'**[33] —कु.का. 67

ऐसे स्थल पर जगन्नाथ अप्रस्तुतप्रशंसा मानकर दीक्षित के इस नवीन अलंकार का उसी में अन्तर्भाव कर डालते हैं। वस्तुतः प्रस्तुतांकुर ध्वनि का विषय है। पूर्वोक्त

उदाहरण में अभिधा, वाच्यार्थ—'भृंग ! मालती के रहते कंटकाचित केतकी से क्या?' का बोध कराकर निवृत्त हो जाती है। मुख्यार्थ बाधादि के अभाव में लक्षणा प्रवृत्त नहीं होती। अतएव 'कामुकी द्वारा कामुक नायक का आमंत्रण, परनायिका का निवारण' द्वितीय अर्थ व्यंजना वृत्ति से ज्ञात होता है। अतएव प्रस्तुतांकुर ध्वनि से व्यतिरिक्त नहीं है। मम्मट के 'कस्त्वं भोः' इत्यादि उदाहरण में दीक्षित प्रस्तुतांकुर मानते हैं, जिसे ध्वनिकार मम्मट तथा रुय्यक अप्रस्तुतप्रशंसा का विषय स्वीकारते हैं। अतएव प्रस्तुतांकुर को पृथक् अलंकार मानने की आवश्यकता नहीं है।[34]

पर्यायोक्त

परि उपसर्गपूर्वक गत्यर्थक इण् धातु से भाव अर्थ में घञ् प्रत्यय करने पर पर्याय शब्द निष्पन्न होता है। पर्याय का अर्थ प्रकार, निर्माण, अवसर, क्रम, आदि है।[35] पर्याय की आचार्यो ने अनेक व्युत्पत्तियां प्रस्तुत की हैं।[36] विवक्षित अर्थ का पर्याय प्रकारान्तर या भंग्यन्तर से कथन ही पर्यायोक्त है।[37] इस प्रकार पर्यायोक्त अलंकार का अभिधान अन्वर्थक है। ध्वनिकार के पूर्व ध्वनि शब्द का उद्भव न होने के कारण प्राचीन आचार्य प्रतीयमान अर्थ की प्रतीति तो करते थे, किन्तु वे उसे ध्वनि अभिधान नहीं प्रदान कर सके। अतएव ध्वनि पूर्व के आचार्य भंग्यन्तर या प्रकारान्तर कथन को ही पर्यायोक्त स्वीकारते हैं। रुय्यक आदि प्रतीयमान अर्थ के कार्यादि रूप प्रकारान्तर से अभिधान को पर्यायोक्त मानते हैं। वस्तुतः जो अर्थ जिस रूप में विवक्षित रहता है, उससे अतिरिक्त कथन प्रकार भंग्यन्तर कहा जाता है।[38] इस प्रकार भंग्यन्तर या प्रकारान्तर कथन में कोई भेद नहीं है। अतएव प्रायः सभी व्युत्पत्तियां एक ही अर्थ को अभिव्यक्त करती हैं।

भरत का प्राप्ति नामक लक्षण पर्यायोक्त के समीप है।[39] पर्यायोक्त सर्वप्रथम भामह के ग्रन्थ में उपलब्ध होता है। भामह का अभिमत है कि किसी वस्तु को सीधे न कहकर जहां दूसरे प्रकार से कहा जाता है, पर्यायोक्त अलंकार होता है।[40] दंडी का कथन है कि इष्ट अर्थ को सीधे न कहकर उसकी सिद्धि के लिये अन्य प्रकार का कथन पर्यायोक्त है।[41] सर्वप्रथम उद्भट ने पर्याय या प्रकार कथन को स्पष्ट करने का प्रयास किया है। लक्षण तो उनका भामह जैसा है, परन्तु 'अवगमन' व्यापार उनकी देन है। वह वाच्य (अर्थ) और वाचक (शब्द) व्यापार से रहित अवगमन (व्यंजना) व्यापार रूप अन्य प्रकार से जो बात कही जाये उसे पर्यायोक्त कहते हैं।[42]

उद्भट के समय तक भी ध्वनि का प्रादुर्भाव नहीं हुआ था, अतएव उन्हें अपनी बात घुमा-फिरा कर कहनी पड़ी। इन्दुराज और तिलक ने उद्भट सिद्धान्त

को और भी स्पष्ट करने का प्रयास किया है। इन्दुराज तो स्पष्ट करने की अपेक्षा और भी अधिक शब्दजाल में फंस गये हैं।[43] तिलक तक ध्वनि की स्थापना हो चुकी थी अतएव उन्होंने स्पष्ट व्याख्या प्रस्तुत की है।[44] वामन और रुद्रट ने पर्यायोक्त का उल्लेख नहीं किया है। कुन्तक का कथन है कि सौन्दर्य सृष्टि के लिये अन्य वाक्य से प्रतिपादन योग्य वस्तु का उससे भिन्न वाक्य द्वारा प्रतिपादन होने पर पर्यायोक्त होता है। पर्यायवक्रता का केवल पदार्थ ही वाच्य रूप में विषय होता है, जबकि पर्यायोक्त अलंकार का वाक्यार्थ भी अंगरूप में विषय हो सकता है। यही दोनों का अन्तर है।[45] भोजराज पर्यायोक्त न कहकर पर्याय ही कहना उपयुक्त समझते हैं। वह मिष, उक्तिभंगी और अवसर को पर्याय मानते हैं।[46]

मम्मट ने उद्भट के लक्षण को ही परिष्कृत करने का प्रयास किया है। वस्तुतः मम्मट के समय तक ध्वनि की पूर्णतः स्थापना हो चुकी थी, अतएव मम्मट ने पर्यायोक्त की स्पष्ट व्याख्या प्रस्तुत की। वह वाच्य-वाचक के बिना कथन को पर्यायोक्त मानते हैं।[47] वृत्ति में उन्होंने इस कथन को स्पष्ट किया है कि वाच्य-वाचक से भिन्न जो व्यंजना के द्वारा वाच्यार्थ का प्रतिपादन किया जाता है, वह पर्याय या प्रकारान्तर से कहे जाने के कारण पर्यायोक्त कहा जाता है। विवरणकार ने इसे स्पष्ट करते हुए कहा है कि यहां विवक्षित अर्थ को स्ववाचक पद से साक्षात् न कहकर वैचित्र्य विशेष की सिद्धि के लिये प्रकारान्तर से कहा जाता है। तात्पर्य यह है कि जहां वाच्यार्थ और व्यंग्यार्थ की पर्यवसान में तो एकता हो केवल उक्ति और प्रतीति में प्रकार भेद हो, वहां पर्यायोक्त है।[48] मम्मट ने वाच्यार्थ और व्यंग्यार्थ का भेद स्पष्ट करने के लिये निर्विकल्पक और सविकल्पक प्रत्यक्ष का दृष्टान्त उपस्थित किया है। उनका कथन है कि यहां जो वाच्यरूप से कहा जाता है, वही व्यंग्य होता है, अन्तर केवल इतना होता है कि व्यंग्य जिस रूप में है, उस रूप में नहीं कहा जाता। उदाहरण के लिये जिस प्रकार चलती हुई सफेद गाय निर्विकल्पक और सविकल्पक प्रत्यक्ष की दोनों ही दशाओं में दिखाई देती है, परन्तु निर्विकल्पक प्रत्यक्ष में गमन, श्वैत्य, गोत्व, आदि जातियां अभिन्न और संसर्ग रहित प्रतीत होती हैं, और सविकल्पक प्रत्यक्ष में इनका भेद और संसर्ग स्पष्ट प्रतीत होता है, उसी प्रकार अभिधा शक्ति से उक्त अर्थ और व्यंजना शक्ति से प्रतीत अर्थ में भी प्रकारान्तर हो जाता है।[49] मम्मट के मत को स्पष्ट करने के लिये जगन्नाथ ने एक सरल दृष्टान्त का उपयोग किया है। जिस प्रकार आलता, कुसुंभा और अनार के फूलों का वर्ण लाल ही कहा जाता है।[50] समान रूप से वाच्य होने पर भी उनका भेद स्पष्ट प्रतीत होता है, पर कथन में उन्हें पृथक्-पृथक् नहीं लाया जा सकता, क्योंकि सभी लाल

हैं। वैसे ही वाच्य अर्थ के अभिन्न होने पर भी व्यंजक वाक्य भिन्न हो सकते हैं। उदाहरणार्थ 'यहां आइये' के स्थान पर 'इस देश को पवित्र कीजिये', 'अलंकृत कीजिये', आदि प्रयोग पाये ही जाते हैं। अतएव इस प्रकार से वाच्य अर्थ को व्यंग्य रूप में कहना ही पर्यायोक्त है।

रुय्यक ने अपने पूर्वाचार्यों की भांति लक्षण को घुमाने का प्रयास नहीं किया है। उन्होंने स्पष्ट कहा है कि प्रतीयमान का भी प्रकारान्तर से अभिधान पर्यायोक्त है।[51] एक ही अर्थ का एक ही प्रकार से एक ही काल में गम्य और वाच्य होना संभव नहीं है। इसलिये-कार्य आदि के द्वारा (कारण आदि का) अभिधान होता है। कार्यादि यहां प्रस्तुत होने से वर्णनीय होते हैं। इसलिये अप्रस्तुतप्रशंसा से इसका भेद भी है।[52] शोभाकर का पर्यायोक्त विवेचन कुछ विचित्र तथा अन्य आचार्यों से विलक्षण भी है। उनका कथन है कि सापेक्ष होने से उपादान लक्षणा द्वारा अन्य प्रतीति या भंग्यन्तर से अभिधान पर्यायोक्त है।[53] अभिधेय की अर्थान्तर प्रतीति में दो गति हैं—सापेक्ष और निरपेक्ष। अन्य अर्थ की निरपेक्षता में ध्वनि होती है। सापेक्षता में अर्थ-प्रतीति 'कुन्ताः प्रविशन्ति' की भांति लक्षणा द्वारा होती है, न कि व्यंजना से, क्योंकि उपादान लक्षणा की अस्तमयता का प्रसंग आ जाता है। इसलिये ऐसे स्थल में लक्ष्य रूप में अर्थान्तर की प्रतीति होने के कारण व्यंग्यत्व का अभाव रहता है। अतएव इसे गुणीभूतव्यंग्य का भेद भी नहीं मान सकते। अतः जहां उपादान लक्षणा के द्वारा एक अर्थ से अन्य अर्थ का आक्षेप होता है, वहां प्रथम पर्यायोक्त होता है तथा जहां वाच्यार्थ का ही भंगीभणिति रूप विच्छित्त्यन्तर से अभिधान होता है, उसे द्वितीय पर्यायोक्त कहते हैं।[54]

नरेन्द्रप्रभसूरि तथा हेमचन्द्र का लक्षण रुय्यक और मम्मट के समान है।[55] हेमचन्द्र मम्मट के अनुसार ही विवेचन भी करते हैं। वाग्भट प्रथम का लक्षण भामह आदि से मिलता-जुलता है।[56] वाग्भट द्वितीय की दृष्टि में ध्वनित अर्थ का अभिधान पर्यायोक्ति है।[57] वाच्य से व्यतिरिक्त अर्थ को वह ध्वनितार्थ मानते हैं। उसका पर्याय या समीहित अर्थ में कथन पर्यायोक्ति है। इनकी पर्यायोक्ति का क्षेत्र इतना व्यापक है कि उसमें ध्वनि भी अन्तर्भूत है। जयदेव, विद्याधर, विद्यानाथ, विश्वनाथ, अप्पयदीक्षित, आदि के लक्षण मम्मट-रुय्यक के ही समान हैं।[58]

अप्पयदीक्षित ने रुय्यक और अभिनवगुप्त की आलोचना करते हुए कहा है कि रुय्यक भी पर्यायोक्त का संप्रदाय आगत लक्षण 'गम्यस्यापि भंग्यन्तरेणाभिधानं पर्यायोक्तम्' करते हैं, पर लक्षण के अनुसार वह लक्ष्य की स्थापना नहीं करते। 'चक्राभिघात प्रसभाज्ञयैव' इत्यादि प्राचीनों के उदाहरण को सर्वस्वकार अन्य ढंग

से उपस्थित करते हैं और कहते हैं कि जो गम्य है उसी का अभिधान उपयुक्त है। अतएव लक्षण में कार्यादि के द्वारा ही (व्यंग्यरूप कारण का) अभिधान विवक्षित है। दीक्षित का तात्पर्य यह है कि रुय्यक की अन्यथा व्याख्या अनुचित है। अभिनव गुप्त ने भी 'पर्यायोक्तं यदन्येन प्रकारेणाभिधीयते' प्राचीनों के इस लक्षण को स्वीकार किया है। अप्पयदीक्षित के अनुसार उक्त लक्षण को स्वीकार कर 'शत्रुच्छेददृढेच्छस्य' इत्यादि उदाहरण में लोचनकार ने भी शब्द के द्वारा वाच्यरूप में प्रयुक्त कार्य के द्वारा कारण रूप व्यंग्य की प्रतीति दिखाकर लक्ष्य और लक्षण की क्लिष्ट योजना कर डाली है। वाच्य से अन्य प्रकार व्यंग्य से उपलक्षित जो कथन वह पर्याय अर्थात् प्रकारान्तर व्यंग्य से उपलक्षित कथन पर्यायोक्त है, इस प्रकार की क्लिष्ट योजना का कोई हेतु नहीं है।[59] वस्तुतः प्रस्तुत की व्यंग्यता में दीक्षित ने प्रस्तुतांकुर अलंकार माना है। उसी की स्थापना हेतु उन्होंने रुय्यक और अभिनवगुप्त की अनायास आलोचना कर डाली है। रसिकरंजनीकार ने दीक्षित के इस आशय को इन शब्दों में व्यक्त किया है :

> **'तथा च कार्येण विशिष्टरतोत्सवेन तत्कारणस्य राहुशिरः छेदस्यावगमनं प्रस्तुतांकुरविषयः। आलिंगनबध्यत्वापादकत्वरूपवाच्यस्योपपादनेन भगवतोऽवगमनं पर्यायोक्तस्य विषयः इति।'** —र.गं., पृ. 140

अप्पयदीक्षित के उक्त मत का खंडन चन्द्रिकाकार ने भी यह कहकर किया है कि दीक्षित का तर्क कोई खास वैशिष्ट्य नहीं रखता।[60]

अमृतानन्द योगी का पर्यायोक्त दंडी के समान है।[61] कर्णपूर और देवशंकर मम्मट-दीक्षित के अनुयायी हैं।[62] जगन्नाथ विवक्षित अर्थ के भंग्यन्तर से अभिधान को पर्यायोक्त मानते हैं। जिस रूप में जो अर्थ विवक्षित है, उससे अतिरिक्त प्रकार के कथन को वह भंग्यन्तर स्वीकारते हैं।[63]

जगन्नाथ ने मम्मट, रुय्यक, अभिनवगुप्त और अप्पयदीक्षित के मतों की विस्तृत विवेचना प्रस्तुत की है। मम्मट के विषय में जगन्नाथ मत का उल्लेख मम्मट के विवेचन के अवसर पर किया जा चुका है।[64] रुय्यक के मत को स्पष्ट करते हुए उन्होंने कहा है कि व्यंग्यांश कभी भी दूसरे प्रकार से अभिधीयमान नहीं होता और जो अभिधा से प्रतिपादित होता है ऐसा धर्मी अभिधा का आश्रय होने से व्यंजना व्यापार का आश्रय नहीं हो सकता। इस प्रकार व्यंग्य का प्रकारान्तर से अभिधान असंगत ही है। अतएव कार्यादि के द्वारा जो व्यंग्य (कारण) उक्त सा हो वह पर्यायोक्त है। प्राचीनों ने जो धर्मी को भी व्यंग्य कहा है, उसका अभिप्राय यह है

कि व्यंजना व्यापार जन्य पूरा वाक्यार्थ ही वहां बोध का विषय होता है, अतएव पूरे वाक्यार्थ की व्यंग्यता समझी जाती है। विश्लेषण करने पर उसमें कुछ अंश अभिधा के विषय होंगे कुछ व्यंजना के।[65] यहां नागेश का मन्तव्य है कि औपाधिक भेद के कारण जिस तरह घटाकाश, मठाकाश, आदि में परस्पर भेद प्रतीत होता है, उसी प्रकार तत्तद् धर्म रूप उपाधि भेद से धर्मी में भी भेद हुआ करता है। अतः धर्म्यंश भी व्यंग्य हो सकता है।[66] जगन्नाथ ने लोचनकार का विवेचन करते हुए कहा है कि अभिनवगुप्त पर्यायोक्त का योगार्थ लक्षण ही ग्रहण करते हैं।[67] अन्त में तीनों मतों का निष्कर्ष रखते हुए जगन्नाथ रुय्यक के मत को उपयुक्त सिद्ध करते हैं। उनका कथन है कि मम्मट और अभिनवगुप्त के लक्षण में 'वापीं स्नातुमितोगतासि' इत्यादि प्रसिद्ध ध्वनि का उदाहरण भी प्रसक्त हो सकता है, जिसका निरास ये आचार्य 'पर्यायोक्त में वक्ता आदि की सहायता के बिना विलक्षण ढंग का व्यंग्य विवक्षित है' यह कहकर करेंगे। जबकि रुय्यक के लक्षण में इस प्रकार के कथन के लिये कोई अवसर नहीं है।[68] आगे चलकर पंडितराज जगन्नाथ ने रुय्यक और अभिनवगुप्त की आलोचना करने वाले अप्पयदीक्षित मत को तर्क-विहीन घोषित करते हुए विस्तार में दीक्षित विवेचन को व्यर्थ और असंगत सिद्ध किया है।[69] जिसके समक्ष नागेश की दीक्षित के सुरक्षा की दलील हल्की सिद्ध हो जाती है।[70]

अपने सिद्धि के लिये अन्य अर्थ का आक्षेप उपादान लक्षणा कही जाती है और अन्य अर्थ की सिद्धि के लिये स्वार्थ का समर्पण लक्षण-लक्षणा। जयरथ के अनुसार पर्यायोक्त उपादान-लक्षणा पर आश्रित है, अप्रस्तुतप्रशंसा लक्षण-लक्षणा पर। दोनों अलंकारों में यही भेद है।[71] जगन्नाथ इस मत के विरोधी हैं। उनका कथन है कि पर्यायोक्त के उदाहरण 'चक्राभिघात प्रसभाज्ञयैव' इत्यादि में चुम्बनमात्र शेष रतोत्सवांश वाच्यार्थ में कोई बाध नहीं है, जिससे लक्षणा की आवश्यकता हो। अप्रस्तुतप्रशंसा में भी व्यंजना ही होती है, लक्षणा नहीं, सर्वसम्मत है। अन्यथा पर्यायोक्त में वाच्य का प्राधान्य होता है। अप्रस्तुतप्रशंसा में गम्य का यह सिद्धान्त ही व्यर्थ हो जायेगा। लक्षणा मानने पर तो प्रधानता लक्ष्यार्थ की होगी, व्यंग्यार्थ की नहीं। दूसरी बात यह है कि जयरथ का कथन अपने मूलग्रन्थ के सिद्धान्त से ही विरुद्ध है। अतएव पर्यायोक्त में लक्षणा का कोई भी प्रसंग नहीं है।[72] वस्तुतः जयरथ ने पर्यायोक्त में लक्षणा शोभाकर के आधार पर स्वीकार की है।[73] अतएव जयरथ के खंडन से शोभाकर का भी खंडन हो जाता है।

विश्वेश्वर के अनुसार वाच्य का ही भंग्यन्तर से कथन पर्यायोक्त है।[74]

विश्वेश्वर ने भी रसगंगाधर में कथित विषय को उपस्थित करते हुए दीक्षित विरोधी जगन्नाथ पक्ष का खंडन प्रस्तुत किया है।[75] अन्य कोई वैशिष्ट्य नहीं है। सिद्धेश्वर, अजितसेन, अच्युतराय, नरसिंह कवि तथा छज्जूराम आदि के विवेचन में कोई मौलिकता नहीं है।[76]

आलंकारिकों के लक्षण-विवेचन से यह निष्कर्ष निकलता है कि, विवक्षित अर्थ का दूसरे ढंग से प्रतिपादन पर्यायोक्त अलंकार है। पर्यायोक्त के भेद का निरूपण प्रायः किसी ने नहीं किया है। केवल भोजराज और शोभाकर जगन्नाथ इसके अपवाद हैं। भोजराज-मिष, उक्तिभंगी और अवसर—तीन प्रकार के पर्याय को निराकाङ्क्ष, साकाङ्क्ष भेद से द्विधा मानकर छः प्रकार स्वीकारते हैं।[77] शोभाकर के दो भेद का निर्देश पहले ही किया जा चुका है। अप्पयदीक्षित ने पर्याय का एक दूसरा भी लक्षण किया है। उसे भी पर्याय कहते हैं, जहां व्याज से इष्ट-सिद्धि हो :

'पर्यायोक्तं तदप्याहुर्यद्वयाजेनेष्टसाधनम्।
यामि चूतलतां द्रष्टुं युवाभ्यामास्यतामिह ।।'[78]

पर्यायोक्त का यह प्रकार भी पर्यायोक्त के प्रथम लक्षण में अन्तर्भूत है। कोई सखी नायक-नायिका को एक दूसरे से मिलाकर 'अपने अभीसिप्त अर्थ का संपादन करो' यह न कहकर 'तुम दोनों यहां बैठो मैं आम्रलता को देखने जा रही हूँ' प्रकारान्तर से उक्त अर्थ को ही व्यक्त कर रही है। अतएव यहां पर्यायोक्त का दूसरा प्रकार मानने की कोई आवश्यकता नहीं है। पूर्वोक्त कथन भी ऐसा ही है कि जैसे 'आप यहां आयें' यह न कहकर यह कहा जाये कि 'इस देश को अलंकृत कीजिये', 'हमें सफलजन्मा बनायें', 'इस देश के भाग्य को पुनरुज्जीवित करें', 'मनोरथ को सफल करें', आदि।[79]

जगन्नाथ ने पर्यायोक्त की तीन गति मानी है : वाच्य कारण से कार्य की गम्यता, वाच्य कार्य से कारण की गम्यता और दोनों से उदासीन सम्बन्धी मात्र वाच्य से सम्बन्धी मात्र की गम्यता।[80] तदेवं संक्षेपतस्त्रिविधः। पर्यायोक्त का उदाहरण :

स्पृष्टास्ता नन्दने शच्याः केशसंभोगलालिताः।
सावज्ञं परिजातस्य मंजर्यो यस्य सैनिकैः।।

'जिस (हयग्रीव) के सैनिकों ने इन्द्राणी के केशों का प्रसाधन करने वाली परिजात मंजरियों का अवज्ञासहित स्पर्श किया था।' हयग्रीव द्वारा स्वर्गविजय विवक्षित है। उसे सीधे न कहकर 'स्पृष्टास्ता' इत्यादि प्रकारान्तर से कहा गया है। अतएव यहां पर्यायोक्त अलंकार है। सर्वस्वकार आदि की दृष्टि में यहां सदर्प परिजात मंजरी

स्पर्श रूप कार्य के द्वारा 'हयग्रीव ने स्वर्ग जीत लिया' इस व्यंग्य (कारणरूप) अर्थ का अभिधान होने से पर्यायोक्त है।

अनुकूल अलंकार का निरास

यदि प्रतिकूलता भी अनुकूलता में पर्यवसित हो तो, साहित्यदर्पणकार विश्वनाथ के अनुसार अनुकूल नामक अलंकार होता है।[81] उदाहरण :

कुपितासि यदा तन्वि निधाय करजक्षतम्।
बधान भुजपाशाभ्यां कंठमस्य दृढं तदा।। —वही

सखी नायिका का परिहास कर रही है। नायक का आलिंगन, जो कि व्यंग्य है, सखी का विवक्षित है। वह उसे सीधे न कहकर प्रकारान्तर करजक्षत आदि के माध्यम से व्यक्त कर रही है। अतएव अनुकूल अलंकार को पर्यायोक्त से व्यतिरिक्त नहीं मानना चाहिये।[82]

व्याजस्तुति

'वि' उपसर्गपूर्वक गति-क्षेपणार्थक अज् धातु से भाव अर्थ में घञ् (हलश्च, पा. 3/3/121) प्रत्यय करने पर व्याज शब्द की निष्पत्ति होती है : व्यजन्ति क्षिपन्ति अनेन इति व्याजः। व्याज का अर्थ मिष, छल, बहाना, आदि है।[83] स्तवनार्थक स्तुञ् धातु से भाव में क्तिन् (स्त्रियां क्तिन्—पाणिनि—3/3/94) प्रत्यय करने पर स्तुति शब्द निष्पन्न होता है—स्तूयतेऽनया इति स्तुतिः। स्तवन, कथन या अवबोधन को स्तुति कहा जाता है। व्याज-स्तुति में आलंकारिका द्विधा समास करते हैं—तृतीया तत्पुरुष और मध्यमपदलोपी कर्मधारय। प्रथम व्युत्पत्ति के अनुसार जहां निन्दा के व्याज से प्रशंसा या स्तुति की जाये उसे व्याजस्तुति कहते हैं—व्याजेन (निन्दा) मिषेण स्तुतिः। ऐसे में निन्दा कृत्रिम या दिखावटी मात्र होती है, पर्यवसान में प्रतीति स्तुति की ही होती हैं। दूसरी व्युत्पत्ति के अनुसार स्तुति या प्रशंसा दिखावा मात्र होती है, एक बहाना होती है। अन्ततः प्रतीति निन्दा की होती है—व्याज रूपा स्तुतिः। ऐसे में—'शाकपार्थिवादीनां सिद्धये उत्तरपदलोपस्योपसंख्यानम्' में मध्यमपदलोपी कर्मधारय समास होता है। मम्मट, रुय्यक, आदि आलंकारिक दोनों 'व्याजेन व्याजरूपा वा स्तुतिः इति व्याजस्तुतिः' व्युत्पत्तियों को स्वीकार कर तदनुसार व्याजस्तुति का अर्थ भी करते हैं।[84] यहां गजेन्द्रगडकर की संभावना है कि संभवतः मम्मट को प्रथम व्युत्पत्ति ही अभिमत थी।[85] वस्तुतः व्याजस्तुति की अन्वयर्थकता दोनों व्युत्पत्तियों के ग्रहण में है। अतएव व्याजस्तुति का अर्थ होता है—जहां स्तुति निन्दा रूप व्याज

से क्रमशः निन्दा या स्तुति की गम्यता या प्रतीति हो, उसे व्याजस्तुति कहते हैं।

व्याजस्तुति का सर्वप्रथम उल्लेख भामह के काव्यालंकार में है। उनका कथन है कि किंचित् समानता प्रतिपादन के लिये अत्यन्त अधिक गुण-स्तुति के व्यपदेश से निन्दा निबन्धन व्याजस्तुति अलंकार है।[86] जहां निन्दा किये जाने की भांति स्तुति की जाये, दंडी उसे व्याजस्तुति मानते हैं। उनका यह भी अभिमत है कि यहां गुण ही मिथ्या-दोष के रूप में सन्निहित रहते हैं।[87] उद्भट का कथन है कि जहां शब्द-शक्ति के माहात्म्य से निन्दा सी प्रतीत हो, वस्तुतः अभिप्रेत स्तुति ही हो, वहां व्याजस्तुति होती है।[88] उद्भट के लक्षण को स्पष्ट किया है, राजानक तिलक ने। शाब्दक्रम से निन्दा और आर्थक्रम से गम्यमान् स्तुति की प्रतीति में यह अलंकार होता है।[89] संभावित विशिष्ट कर्म के न करने से अप्रकृत की स्तुति के लिये प्रकृत की निन्दा को वामन व्याजस्तुति स्वीकारते हैं।[90] वस्तुतः इन आचार्यों का लक्षण पूर्णतः स्पष्ट नहीं है। रुद्रट ने व्याजस्तुति का उल्लेख नहीं किया है, किन्तु उनका व्याजश्लेष अन्य आलंकारिकों की व्याजस्तुति को अभिव्यक्त करता है। विवक्षित स्तुति से निन्दा या निन्दा से स्तुति की प्रतीति में वह व्याजश्लेष मानते हैं।[91] भोजराज व्याजस्तुति को लेश अलंकार से भिन्न नहीं मानते हैं।[92]

सर्वप्रथम मम्मट ने व्याजस्तुति का स्पष्ट लक्षण प्रस्तुत किया। ध्यातव्य है कि मम्मट ने रुद्रट के व्याजश्लेष को ही प्रकृत अलंकार का लक्षण बनाया है। मम्मट के अनुसार जहां प्रारंभ में निन्दा या स्तुति तथा पर्यवसान में अन्यथा (स्तुति या निन्दा) प्रतीति हो, व्याजस्तुति अलंकार होता है।[93] रुय्यक का लक्षण भी मम्मट के समान है—स्तुति और निन्दा के द्वारा निन्दा और स्तुति की गम्यमानता व्याजस्तुति है।[94] परवर्ती अन्य आलंकारिकों के लक्षण भी प्रायः मम्मट, रुय्यक के ही समान हैं।[95] वाग्भट प्रथम ने इसका उल्लेख नहीं किया है। अमृतानन्द योगी का लक्षण दंडी से प्रभावित है।[96] पंडितराज जगन्नाथ का लक्षण अतीव सुलझा हुआ है।[97] विश्वेश्वर आदि में कोई वैशिष्ट्य नहीं है।[98]

आचार्यों के लक्षण विवेचन से प्रतीत होता है कि भामह आदि प्राचीन आलंकारिक स्तुति से निन्दा की प्रतीति में व्याजस्तुति स्वीकारते थे। पर रुद्रट और मम्मट के बाद निन्दा या स्तुति वाच्य दोनों से ही प्रतीत स्तुति निन्दा में व्याजस्तुति माना जाने लगा। अतएव व्याजस्तुति अलंकार वहां होता है, जहां प्रथमतः प्रतीत निन्दा स्तुति का क्रमशः स्तुति और निन्दा में पर्यवसान होता है। एक बात ध्यान देने योग्य है कि यहां जिसकी निन्दा या स्तुति की जाती है, उसी की स्तुति या निन्दा भी प्रतीत होती है, अन्य की नहीं।[99] अन्यथा अप्रस्तुतप्रशंसा से इसमें कोई भेद नहीं रह

जायेगा। अप्रस्तुत प्रशंसा में प्रस्तुत व्यंग्य रहता है, वहां निन्दा और स्तुति की अपेक्षा नहीं रहती, जबकि व्याजस्तुति का समग्र सौन्दर्य व्यंग्य स्तुति या निन्दा पर केन्द्रित है।[100]

व्यंजना या लक्षणा

व्याजस्तुति में निन्दा-स्तुति से होने वाली दूसरी स्तुति-निन्दा प्रतीति यद्यपि गम्य होती है, किन्तु उसे ध्वनि नहीं कह सकते। ध्वनि-प्रतीति निर्बाध होती है, किन्तु यहां द्वितीय अर्थ की प्रतीति प्रथम अर्थ को बाधित करके होती है। वस्तुतः व्याजस्तुति गम्यमूल होने पर भी लक्षणा पर आधारित है। आमुख में होने वाली निन्दा-स्तुति की प्रतीति बाधक होकर द्वितीय अर्थ स्तुति-निन्दा की प्रतीति कराती है। अतएव यहां लक्षणा की प्रवृत्ति अनिवार्य है। जैसे 'उपकृतं बहु तत्र किमुच्यते' इत्यादि में द्वितीय अर्थ की प्रतीति विपरीत लक्षणा से होती है, वही स्थिति यहां भी है। इस तथ्य को शोभाकर, रुय्यक, जयरथ, जगन्नाथ, आदि स्वीकार करते हैं।[101] अतिशय की विवक्षा में एक की स्तुति-निन्दा से अन्य की निन्दा-स्तुति प्रतीति में अतिशयोक्ति होती है, अतिशय के अभाव में अप्रस्तुत-प्रशंसा। जिसकी निन्दा-स्तुति अभिप्रेत है उसीकी स्तुति-निन्दा प्रतीति में व्याजस्तुति होती है। यहां पर भी अतिशय की विवक्षा रहती है, किन्तु यह अध्यवसायात्मक विपरीत लक्षणामूलक है। अध्यवसायात्मिका अतिशयोक्ति में स्तुति निन्दा का अभाव पाया जाता है, जबकि व्याजस्तुति का वही प्राण है। यहां एक सन्देह हो सकता है कि जैसे प्रयोजन रहित 'कुशल' आदि लक्षणा के उदाहरण में सौन्दर्य का अभाव है, उसी प्रकार विपरीत लक्षणा पर आधारित होने के कारण सौन्दर्याभाव होने से व्याजस्तुति की अनलंकारता संभव है, और यदि प्रयोजनीभूत लक्षणा को इसका मूल माना जाये, तब तो ध्वनि के विषय का अपहार हो जाता है? वस्तुतः व्यंग्य की अगूढता तथा वाच्यायमानता में अलंकार होता है। यह ध्वनिकार को भी सम्मत है। लक्षणा में अभिधा आदि व्यापारत्रय के समालम्बन से लक्ष्यप्रतीति अलंकार का प्रयोजक है, तथा व्यंजनावृत्ति से व्यंग्य प्रतीति में ध्वनि होती है।[102]

भेद

अप्पयदीक्षित और उनके अनुयायी आचार्यों को छोड़कर रुद्रट-मम्मट से लेकर प्रायः सभी आलंकारिकों ने व्याजस्तुति का दो भेद स्वीकार किया है। अभिधीयमान स्तुति प्रमाणान्तर से बाधित होकर जहां निन्दा में पर्यवसित होती है, वहां असत्य रूप स्तुति होने से, व्याजरूपा स्तुति, व्याजस्तुति का प्रथम प्रकार होता

है। निन्दा शब्द से प्रतिपादित अर्थ बाधित होकर जब स्तुति में पर्यवसित होता है तो द्वितीय भेद होता है।[103] रुद्रट, मम्मट, शोभकर, हेमचन्द्र, विद्याधर, विद्यानाथ, विश्वनाथ, दीक्षित, कर्णपूर, जगन्नाथ, विश्वेश्वर प्रभृति सभी आचार्य इन दो भेदों को मानते हैं।

अप्पयदीक्षित ने निन्दा-स्तुति की एकविषयता में तो व्याजस्तुति माना ही है, भिन्नविषयता में भी वह मानते हैं। इस प्रकार दीक्षित के मत में उपर्युक्त दो भेदों के अतिरिक्त तीन अन्य भेद भी संभव हैं : अन्य की निन्दा से उससे इतर की स्तुति-प्रतीति, अन्य की स्तुति से तदितर की निन्दा-प्रतीति तथा अन्य की स्तुति से अन्य की स्तुति-प्रतीति में।[104] इन भेदों का उल्लेख, देवशंकर, अच्युतराय, ब्रह्मतन्त्रपरकाल आदि ने भी किया है।[105] अप्पयदीक्षित के उपर्युक्त भेद यद्यपि रुय्यक आदि की दृष्टि में अप्रस्तुतप्रशंसा के विषय हैं, तथापि दीक्षित इन्हें स्वीकार करते हैं। रसगंगाधरकार जगन्नाथ उपर्युक्त भेदों के विरुद्ध हैं। उनका कथन है कि यदि प्राचीन सरणि का परित्याग करके स्वेच्छा से भेदों का निर्माण करते हैं, तो क्यों नहीं ध्वनि और गुणीभूतव्यंग्य को भी अलंकार की कुक्षि में निक्षिप्त कर देते? अथवा क्यों नहीं व्याजस्तुति को भी अप्रस्तुतप्रशंसा में अन्तर्भूत कर देते? दीक्षीतोक्त भेदों को जगन्नाथ ध्वनि में ही अन्तर्भूत करना समीचीन समझते हैं।[106] प्राचीन आचार्यों ने जो भेद निर्मित कर दिया था, मात्र उसी का अनुकरण करने की जगन्नाथ की दलील अनुपयुक्त है। जगन्नाथ ने स्वयं कितनी ही नयी बातें प्राचीनों से भिन्न कही हैं। उपर्युक्त आधार पर तो वे भी व्यर्थ हो जायेंगी। दीक्षितोक्त भेदों को यदि ध्वनि में अन्तर्भूत किया जा सकता है, तो अप्रस्तुतप्रशंसा, पर्यायोक्त, आदि अलंकारों को ही क्यों ध्वनि से भिन्न माना जाये? इसीलिये नागेश ने जगन्नाथ का खंडन करते हुए दीक्षित मत की पुनः स्थापना की है।[107] जगन्नाथ ने दीक्षित के उदाहरणों में भी दोषान्वेषण का प्रयास किया है।[108] जिनका विरोध नागेश ने उनकी टीका में व्यक्त कर दिया है।[109]

जगन्नाथ ने अलंकारान्तर की संकीर्णता में भी व्याजस्तुति स्वीकार करते हुए समासोक्ति, अर्थान्तरन्यास तथा अप्रस्तुतप्रशंसा से संकीर्ण व्याजस्तुति का उदाहरण प्रस्तुत किया है।[110] व्याजस्तुति का एक उदाहरण :

'किं वृत्तांतैः परगृहगतैः किन्तु नाहं समर्थः
तूष्णीं स्थातुं प्रकृतिमुखरः दाक्षिणात्यस्वभावः।
गेहे गेहे विपणिषु तथा चत्वरे पानगोष्ठ्याम्
उन्मत्तेव भ्रमति भवतो वल्लभा हन्त कीर्तिः।।' लोचन, पृ. 133

यहां वल्लभा कीर्ति के सर्वत्र स्वच्छन्द् विचरण रूप राजनिन्दा से 'तुम्हारी कीर्ति सर्वत्र व्याप्त हो गयी है, इस प्रकार की राज-स्तुति प्रतीत हो रही है। अतएव व्याजस्तुति अलंकार है। लोचनकार को भी अभिमत है।[111] रुय्यक तथा उनके टीकाकार जयरथ, विद्याचक्रवर्ती, आदि के अनुसार यद्यपि यहां निन्दा, स्तुति पर्यवसायिनी है, तथपि 'हन्त कीर्तिः' पद से उसका विघात हो जाने के कारण प्ररोह नहीं हो पाता। अतएव उदाहरण क्लिष्ट (श्लिष्ट) सा है।[112] जगन्नाथ ने रुय्यक का खंडन करते हुए लोचनकार के मत को उपयुक्त सिद्ध किया है।[113] वाच्य स्तुति से प्रतीत निन्दा रूप व्याजस्तुति का उदाहरण दीक्षित प्रोक्त 'साधुदूति' आदि है।[114]

व्याजनिन्दा का अन्तर्भाव

अप्पयदीक्षित ने एक व्यक्ति की निन्दा से अन्य की निन्दा व्यंजित होने पर 'व्याजनिन्दा' नामक एक पृथक् अलंकार स्वीकार किया है :

'निन्दाया निन्दया व्यक्तिः व्याजनिन्देति गीयते।
विधे स निन्द्यो यस्ते प्रागेकमेवाहरच्छिरः।।'[115]

इस प्रकार से अलंकार का विस्तार अनुपयुक्त है। जिस प्रकार अप्पयदीक्षित ने स्वयं अन्य की स्तुति से अन्य की स्तुति-प्रतीति में व्याजस्तुति का पांचवां भेद माना है, उसी प्रकार व्याज निन्दा को भी व्याजस्तुति का छठा भेद माना जा सकता है। अतएव इसके पृथक् विवेचन की कोई आवश्यकता नहीं है। कर्णपूर के 'अलंकार कौस्तुभ' की टिप्पणी में शिव प्रसाद भट्टाचार्य ने इसे पृथक् अलंकार न मानने का संकेत किया है।[116]

आक्षेप

आङ् उपसर्गपूर्वक प्रेरणार्थक क्षिप् धातु से भाव में घञ् प्रत्यय करने पर आक्षेप शब्द की निष्पत्ति होती है। यद्यपि धातु का अर्थ प्रेरण है, किन्तु उपसर्ग आङ् के कारण अर्थ बदल जाता है।[117] आक्षेप का अर्थ फेंकना या परित्याग है। आक्षेप अलंकार में इष्टार्थ का परित्याग सा किया जाता है, इसलिये अलंकार का नाम अन्वर्थक है।[118] आक्षेप का प्रतिषेध, निन्दा, अपवाद, भर्त्सन, निक्षेप, आदि अर्थ भी होता है।[119] आक्षेप अलंकार में उक्त या वक्ष्यमाण प्रकृतार्थ की विशेष प्रतिपत्ति के लिये कथन का आभासतः निषेध किया जाता है।[120] इस प्रकार भी अलंकार का नाम उपयुक्त है। आक्षेप का एक अर्थ अनुमान भी होता है। जाति-शक्तिवादियों के मत में जहां व्यक्ति का आक्षेप से बोध होता है, वहां वह

अनुमानरूप ही होता है। कालिदास ने आक्षेप का अपसारण[121] और उपादान[122] अर्थ में प्रयोग किया है। आक्षेप के कटूक्ति धिक्कार, चित्तप्रलोभन, चित्तविक्षेप आदि अन्य अर्थ भी होते हैं, किन्तु यहां आक्षेप का परित्याग, प्रतिषेध, निन्दा आदि अर्थ ही अभीष्ट है, क्योंकि आक्षेप अलंकार में प्रस्तुत अर्थ का वैशिष्ट्य बतलाने के लिये कथन का निषेध या परित्याग-सा किया जाता है।

भरत के अनुसार हृदयस्थ भाव का अन्य व्यपदेश से सुश्लिष्ट रूप में कथन मनोरथ[123] तथा विपरीत कार्य-प्रवृत्ति का निवारण प्रतिषेध[124] नामक लक्षण हैं। आक्षेप के मूल में यही दो लक्षण पाये जाते हैं क्योंकि लक्षणों के परस्पर वैचित्र्य से भी अनेक प्रकार के सौन्दर्य की सृष्टि होती है।[125] आक्षेप अलंकार का विवेचन सर्वप्रथम भामह ने प्रस्तुत किया है। भामहकृत आक्षेप-लक्षण ही मूलरूप में उद्भट मम्मट तथा किंचित् परिवर्तन के साथ रुय्यक, विश्वनाथ, आदि ने स्वीकार कर लिया है। इष्टवस्तु के विशेष कथन की इच्छा से जहां अभीष्ट का निषेध-सा किया जाये भामह उसे आक्षेप मानते हैं।[126] दंडी के अनुसार प्रतिषेध कथन ही आक्षेप है।[127] उद्भट ने भामह की कारिका को अविकल रूप से उद्धृत कर दिया है। भामह से उनका वैशिष्ट्य यह है कि वह यह स्पष्ट कर देते हैं कि यहां इष्ट का अर्थ विधेय है।[128] इन्दुराज ने इसे स्पष्ट करते हुए कहा है कि जिसकी इच्छा की जाये वह इष्ट है। जिस वस्तु की इच्छा की जाये, उसे कहा ही जाये, आवश्यक नहीं है। अतएव यहां विधेय अर्थ का निषेध-सा किया जाता है।[129] वामन का कथन है कि तुल्यकार्यार्थ की निरर्थकता की विवक्षा में उपमान का निषेध आक्षेप है।[130] रुय्यक आदि के प्रतीप अलंकार से इसकी गतार्थता सिद्ध है। रुद्रट के अनुसार प्रसिद्ध या विरुद्ध वस्तु का आक्षेप कर तथात्व सिद्धि के लिये अन्य कथन आक्षेप है।[131] भामह का अनुसरण करते हुए कुन्तक भी मानते हैं कि प्रकृत की उत्कृष्टता के लिये उसकी निषेधच्छाया ही आक्षेप है।[132] भोज का कथन है कि विधि या निषेध से प्रतिषेध कथन आक्षेप है।[133] मम्मट का अभिमत है कि विशेष अभिधान के लिये इष्ट कथन का प्रतिषेध आक्षेप है।[134] परवर्ती आलंकारिक प्रायः तथाकथित भामह, उद्भट, मम्मट द्वारा प्रतिपादित लक्षण को ही स्वीकार करते हैं।[135] हेमचन्द्र भामह और वामन दोनों ही मतों का संकलन करते हैं।[136] वाग्भट निषेध की उक्ति या प्रतीति को आक्षेप मानते हैं।[137] वाग्भट द्वितीय हेमचन्द्र का अनुगमन करते हैं।[138] विद्याधर, विश्वनाथ, कर्णपूर, देवशंकर, आदि प्राचीन आचार्यों के अनुगामी हैं। अमृतानन्द योगी दंडी की परम्परा का निर्वाह करते हैं।[139] जगन्नाथ अपना कोई भी मत नहीं रखते, केवल वामन, मम्मट, रुय्यक और शोभाकर के मतों का विवेचन

प्रस्तुत करते हैं।[140] विश्वेश्वर, नरसिंह, अच्युतराय,[141] आदि भी किसी नूतन वैशिष्ट्य का प्रदर्शन नहीं करते।

आक्षेप व्यंग्यप्रधान अलंकार है। अतएव यहां वाच्य इष्ट-निषेध से विशेष-प्रतीति गम्य होती है। प्राकरणिक होने से यहां प्रकृत अर्थ का वर्णन ही अभीष्ट रहता है। पर इस प्रकार के विधान-योग्य वस्तु का निषेध संगत नहीं लगता। यदि उसका निषेध भी कर दिया जाये, तो स्वरूपतः बाधित होने के कारण निषेध-सा प्रतीत होता है। वस्तुतः निषेध वास्तविक न होकर आभासमात्र होता है। अतएव प्रकृतगत विशेष-प्रतिपादन के लिये विधेय अर्थ का निषेधाभास आक्षेप अलंकार है।[142] यहां प्रकृत कार्य-विधान ही इष्टार्थ है। प्रतिहारेन्दुराज के शब्दों में इसे विधान कर्मता कहेंगे। विधानात्मक उक्ति की कर्मता ही विधानकर्मता कही जाती है। वह शाब्दी आर्थी भेद से द्विधा हो सकती है। जहां स्वशब्द व्यापार के बिना भी शब्दान्तर व्यापार की सहायता से निषेध द्वारा विधित्सित अर्थ की प्रतीति होती है, वहां वह आर्थी होती है। जहां विधिमुख से ही कहने के लिये इष्टार्थ का उपादान किया जाता है वहां शाब्दी होती है। आर्थी वक्ष्यमाण का विषय है, शाब्दी उक्त का। इस प्रकार आक्षेप के दो भेद होते हैं, वक्ष्यमाण और उक्त विषय।[143] प्रथमतः भामह ने ही इन दो भेदों का प्रतिपादन किया है। दंडी ने आक्षेप के अनन्त भेदों की परिकल्पना की है। प्रथमतः वह वर्तमान, भूत और भविष्यत् काल के आधार पर त्रिधा विभाग प्रस्तुत करते हैं। पुनः धर्म, धर्मी, कारण, कार्य, अनुज्ञा, प्रभुत्व, अनादर, आशीर्वचन, परुष, साचिव्य, यत्न, परवश, उपाय, रोष, अनुक्रोश, अनुशय, श्लिष्ट, संशय, अर्थान्तर और हेत्वाक्षेप भेदों का विवेचन करते हैं।[144] दंडी को इतने पर भी तुष्टि नहीं है और कह उठते हैं :

'अनयैव दिशाऽन्येऽपि विकल्पाः शक्यमूहितुम्'

दंडी का कारणापेक्ष कुछ आलंकारिकों की दृष्टि में विभावना अलंकार है। पर प्रधान कारण के आक्षेप में आक्षेप अलंकार होता है और अप्रधान के निषेध में विभावना। कार्याक्षेप को विश्वनाथ आदि की दृष्टि से विशेषोक्ति माना जा सकता है, किन्तु हेतु की अप्रसिद्धि होने पर विशेषोक्ति नहीं होगी। दंडी का अनुज्ञाक्षेप रुय्यक आदि के विध्याभास से व्यतिरिक्त नहीं है। आशीर्वचन को भी इसी भेद में लाया जा सकता है। 'गच्छ गच्छसि चेत्कान्त'[145] इत्यादि विध्याभास का उदाहरण रुय्यक को दंडी से ही मिला होगा। वस्तुतः आक्षेप का जो विस्तार रुय्यक ने प्रस्तुत किया है, उसमें दंडी की महती देन है।

निषेध के शाब्द और आर्थ होने पर उद्भट क्रमशः उक्त विषय और वक्ष्यमाण विषय आक्षेप के दो भेदों का विवेचन करते हैं।[146] वामन ने कोई विषय विभाग नहीं किया है। रुद्रट ने भी दो उदाहरण दिया है। प्रथम को तो अर्थान्तरन्यास मानना उपयुक्त है, द्वितीय में आक्षेप है।[147] कुन्तक के विषय में कुछ कहना कठिन है। भोजराज विधि, निषेध दो भेदों को शुद्ध और मिश्र भेद से चार प्रकार का आक्षेप मानते हैं। उन्होंने एक 'रोध' नामक अलंकार का उल्लेख करते हुए कहा है कि रोध भी आक्षेप से पृथक् नहीं है। उत्तिष्ठमान क्रियाओं का कारण के द्वारा उक्ति अथवा युक्ति से वारण रोध कहा जाता है। वह विधि में प्रतिकूल, अनुकूल और निषेध में अनुकूल-प्रतिकूल दो-दो प्रकार का होता है।[148]

मम्मट ने भी वक्ष्यमाण और उक्त विषय दो भेदों का ही प्रदर्शन किया है। रुय्यक ने प्रथमतः आक्षेप के दो भेद तो उद्भट आदि के समान माने हैं, पर वह दो भेद और स्वीकारते हैं। उनका कथन है कि उक्त-विषय आक्षेप किमर्थक होता है और वक्ष्यमाणविषय आनयनरूप आगूरण। प्रथम में जिस प्रतीयमान अभीसिप्त अर्थ में विशेषता होती है उसी का आक्षेप होता है, द्वितीय में इष्टार्थ के विशेष का आक्षेप होता है। इस प्रकार दोनों आक्षेपों के स्वरूप भिन्न हैं। इनमें विवक्षित विशेष शब्दोपात्त न होने के कारण गम्य होता है। इस प्रकार रुय्यक के अनुसार आक्षेप के चार भेद होते हैं। उक्तविषय आक्षेप में कहीं वस्तु का निषेध किया जाता है और कहीं वस्तु के कथन का। वक्ष्यमाणविषय में तो वस्तुकथन का ही निषेध किया जाता है, वस्तु का नहीं। अतएव वस्तुकथन का निषेध कहीं सामान्य कथन हो जाने पर उसके निषेध को लेकर होता है और कहीं अंश का कथन होने पर अंशान्तर को लेकर। इस प्रकार रुय्यक के अनुसार निषेधाभास आक्षेप के चार भेद होते हैं।[149] इस प्रकार आक्षेप की चार अवस्थाएँ भी हैं, इष्ट अर्थ, उसी का निषेध, निषेध के अनुपपन्न होने से उसकी असत्यता तथा विशेष प्रतिपादन।[150] अतएव आक्षेप में न तो निषेध विधि अपनाई जाती है और न विहित का निषेध किया जाता है, अपितु निषेध के द्वारा विधि का आक्षेप किया जाता है। रुय्यक विधि के निषेध में विध्याभास[151] नामक आक्षेप का एक अन्य भेद भी स्वीकारते हैं। जिस प्रकार इष्टार्थ का निषेध अनुपपन्न होता है, उसी प्रकार अनिष्टार्थ का अनिष्ट होने से विधान अनुपपन्न है। अतएव अनिष्ट का विधान बाधित होने के कारण निषेध में पर्यवसित होता है और इस प्रकार विधि का उपकारक भी बन जाता है। अनिष्ट होने से विधि बाधित होकर निषेध का आक्षेप करती है। अतः निषेध का आगूरण होने से इसे भी आक्षेप कहते हैं। आक्षेप के इन पांच भेदों को रुय्यक, विद्याधर, विद्यानाथ, आदि स्वीकार करते हैं।[152]

शोभाकर का अभिमत है कि आक्षेप में किया जाने वाला निषेध बाधरहित होने से निषेध ही होता है। कभी-कभी बाधित होने के कारण वह निषेधाभास भी हो सकता है, किन्तु सर्वथा नहीं, जैसा कि रुय्यक को मान्य है। वक्ष्यमाणविषय आक्षेप में रुय्यक जो आक्षेप का आगूरण अर्थ करते हैं, शोभाकर उसका भी खंडन करते हैं। वस्तुतः शोभाकर का अभिमत है कि आक्षेप शब्द का पर्यनुयोग अर्थ ही ग्राह्य है, न कि उक्त विषय में पर्यनुयोग और वक्ष्यमाण में उपादानरूप आगूरण। शोभाकर रुय्यक के इस मत का भी विरोध करते हैं कि आक्षेप में विहित का निषेध नहीं होता। शोभाकर रुय्यक की तरह आक्षेप का चार भेद ही न करके पांच भेद करते हैं। वह उक्त विषय आक्षेप में रुय्यक प्रोक्त दो भेदों के अतिरिक्त उक्त वस्तु के निषेध की निषेध्यमान रूप में उक्ति होने पर एक तीसरा प्रकार भी मानते हैं। और कहते हैं—तेनैक एवाक्षेपः पंचभेदः।[153] शोभाकर विध्याभास[154] को आक्षेप से पृथक् अलंकार मानते हैं। उनका कथन है कि आक्षेप में पर्यनुयोग होता है, यहां उसका अभाव है। शोभाकर का तर्क है कि विधि का निषेध होने पर आक्षेप मान लिया जाये तब तो व्याजस्तुति आदि को भी आक्षेप मानना पड़ेगा। यहां विधि से निषेध का आक्षेप नहीं होता है और न विधि के अर्थ में पर्यनुयोग बुद्धि रहती है। इसलिये अनिष्ट विधिरूप यह विध्याभास आक्षेप से पृथक् ही स्वतंत्र अलंकार है।[155] वस्तुतः विध्याभास भी आक्षेप के अन्तर्गत ही आता है :

ब्रज ममैव एकस्याः भवन्तु निःश्वासरोदितव्यानि।
मा तवापि तया विना दाक्षिण्यहतस्य जायन्ते।। —वही, पृ. 87

शोभाकर यहां विध्याभास मानते हैं। प्रियगमन रूप विधि से रोदन, निःश्वास आदि अनिष्ट का विधान किया गया है। यहां विधि का प्रयोग नहीं अपितु विधिरूप कथन प्रस्खलित होकर निषेधरूप अर्थ का आक्षेप करता है। अतएव इसे भी आक्षेप कहा जा सकता है। जयरथ ने सविस्तार शोभाकर का खंडन कर विध्याभास को आक्षेप में ही अन्तर्भूत किया है।[156]

हेमचन्द्र मम्मटोक्त दो भेद को स्वीकार करते हुए उपमानाक्षेप रूप आक्षेप से प्रतीप अलंकार को गतार्थ करते हैं।[157] जयदेव आक्षेप के दो लक्षण करते हैं, आक्षेप और गूढाक्षेप। प्रथम को निषेधाभास तथा द्वितीय को विध्याभास कहा जा सकता है।[158] विद्याधर, विश्वनाथ, विद्यानाथ, नरेन्द्रप्रभसूरि, नरसिंह रुय्यक के अनुयायी हैं। कर्णपूर मम्मट का अनुगमन करते हैं। अप्पयदीक्षित आक्षेप के तीन भेद स्वीकारते हैं : प्रथम तो जयदेव कथित 'स्वयं प्रोक्त अर्थ का विचार कर प्रतिषेध,

दूसरा रुय्यक के आधार पर निषेधाभास तथा तीसरा विधि की व्यक्तता और निषेध की गूढ़ता में।[159] प्रतीत होता है कि अप्पय को वामन अभिमत आक्षेप भी अभीष्ट है, जिसे वह प्रथम भेद के द्वारा सूचित करना चाहते हैं। उनका तृतीय भेद तो विध्याभास का है ही। देवशंकर पुरोहित तो अप्पय के अनुगामी हैं। जगन्नाथ का कोई अपना मत नहीं है। विश्वेश्वर का आक्षेप प्रकरण अधूरा है। और लोगों में कोई वैशिष्ट्य नहीं है।

विवेचन के उपरान्त आक्षेप के विषय में तीन विचारधारायें प्रकट होती हैं, जिनका जगन्नाथ ने संकलन किया है। प्रथम मत के अनुसार उपमेय के उपमान सम्बन्धी सकल प्रयोजन के निष्पादन में समर्थ होने से उपमानाधिक्षेप रूप उपमान की किमर्थकता आक्षेप है। यहां उपमान का तिरस्कार ही अभीष्ट है। यह मत वामन को मान्य है। हेमचन्द्र तथा वाग्भट द्वितीय प्रतीप के निरास के लिये इसको स्वीकार कर लेते हैं। प्रकृत के विशेष प्रतिपादनार्थ इष्टार्थ का निषेध द्वितीय मत का आक्षेप है। इस मत में भामह से लेकर वामन को छोड़कर उद्भट मम्मट आदि सभी आलंकारिक आ जाते हैं। रुय्यक आदि भी इसी में आते हैं अन्तर केवल इतना है कि वे दो भेद ही न मानकर चार भेद स्वीकारते हैं। तीसरे मत के समर्थक आचार्यों में रुय्यक तथा उनके अनुगामियों को रखा जा सकता है, जो विध्याभास को भी आक्षेप मानते हैं। इस तीन विचारधारा के अतिरिक्त चौथी भी एक श्रेणी है जो निषेध मात्र को आक्षेप स्वीकारती है। उसमें शोभातर तथा दीक्षित को भी रखा जा सकता है। इनका विवेचन रसगंगाधर में देखा जा सकता है।[160] आक्षेप के उदाहरण मूल ग्रन्थों में प्राप्य हैं।

संदर्भ

1. गजेन्द्रगडकर : नोट्स काव्य प्रकाश, पृ. 310; एकावली, पृ. 263.
2. ऋ. 2/2/11, 1/153/2, 4/2/12, 8/19/8, 8/74/2; छान्दोग्यो. 1/10/9, 2/11/4-5, 2/9/3, 1/10/8, 1/11/4 तथा मैत्रा. 6/5.
3. ना.शा., 16/20.
4. ना.शा. 16/40 पर अभिनवभारती।
5. अधिकारादपेतस्य वस्तुनोऽन्यस्य या स्तुतिः।
   अप्रस्तुतप्रशंसेति सा चैवं कथ्यते मया।।' भामह, 3/29.
6. अप्रस्तुतप्रशंसा स्यादपक्रान्तेषु या स्तुतिः। काव्यादर्श, 2/338.
7. का.सा.सं., 5/14.
8. किंचिदुक्तावप्रस्तुतप्रशंसा —का.सू. वृ., 4/3/4 तथा वृत्ति।
9. काव्यालंकार, 8/74.

10. स.कं., 4/545. अस्तोतव्यस्वाभिनन्दनमप्रस्तुतप्रशंसा —शृं.प्र., पृ. 420.
11. अयमाचार्य दंडीतु अप्रस्तुताद्वाच्यात् प्रस्तुतस्य प्रतीतौ समासोक्तिः, अप्रस्तुतप्रशंसयांप्रस्तुतस्यनिन्दा अप्रस्तुतप्रशंसा इति, इति विषय विभागेन अलंकारद्वयं स्वीकरोति।
12. अतएव समासोक्तेर्भेदः। तत्र ह्युपमानोपमेयता, अत्र तु निन्दितमर्थान्तरम्, अन्यस्य स्तुतिरिति। टीका स.कं., पृ. 470.
13. अप्रस्तुतप्रशंसा या सा सैव प्रस्तुताश्रया। का.प्र., 10/98 तथा वृत्ति।
14. अप्रस्तुतात्सामान्यविशेषभावेकार्यकारणभावे सारूप्ये च प्रस्तुतप्रतीतावप्रस्तुतप्रशंसा —अ.स. सूत्र-34.
15. अ.र. सूत्र-38; अ.म. 8/43; व.जी., पृ. 188; काव्यानु. 6/8; वाग्भटा. 4/133; काव्यानु., पृ. 36; तु. वामन, चन्द्रा., पृ. 5/66; एकावली 8/27; प्र.रु., पृ. 319; सा.द., 10/58/9; कु. कारिका 66; अ.कौ. 8/14/15; अ.मं., 43; अ.चिं. 4/59; अ.मु. 18; अ.प्र. 19; अ.कौ., पृ. 268; सा.सा. 2/116; नं.य., पृ. 205; सा.बि., 5/19.
16. सा.सा. 8/191.
17. वही, स.कं., 4/54-55.
18. का.प्र., पृ. 618-27.
19. अ.स., पृ. 123 तथा एकावली, पृ. 263.
20. इयं चासम्बन्धप्रलापिता प्रसंगेनाप्रस्तुतस्याभिधातुमयुक्तत्त्वाद्बाधितमुख्यार्थतया सामान्यविशेषभाव कार्यकारणत्वसादृश्यादि विरोधादिके सम्बन्धे चारुढप्रतीत्यादिलक्षणे प्रयोजने सति प्रस्तुतार्थं प्रतिपादयन्ती लक्षणामूलैव युक्ता, न तु व्यंजनात्मिका।। —अ.र., पृ. 61.
21. ध्व., पृ. 523; का.प्र., पृ. 626; अ.स., पृ. 137.
22. प्रमुख एव शाखोटक वृक्षस्य आरोपितत्त्वात् प्रतीतेर्युज्यत एवासंभवः वाच्यस्य, जहत्स्वार्थलक्षणामूलत्वेन अत्यन्ततिरस्कारात्। स., पृ. 137 तथा वही, अ.स. भी।
23. अप्रस्तुतप्रशंसायां प्रस्तुतं व्यंग्यमिति निर्विवादम्।.......... यत्र वाच्यस्य अत्यन्ताप्रस्तुतत्त्वं तत्राभिधाया अपर्यवसानात् स्यादपि कदाचित् लक्षणाया अवकाशः। —र.गं., पृ. 409.
24. समासोक्तिः अत्रानुग्राहिका इति न वक्तव्यम्। तस्याः प्रकृतालंकारविरुद्धात्मकत्वेन, अनुग्राहिकत्वायोगात्। वही, पृ. 403.
25. प्रदीप, पृ. 338-9; तु. बा.बो., पृ. 622.
26. अ.र., पृ. 64.
27. अप्रस्तुतशब्देन हि मुख्यतात्पर्यविषयीभूतार्थातिरिक्तोऽर्थो विवक्षितः। स च क्वचिदत्यन्ताप्रस्तुतः क्वचित्प्रस्तुतश्चेति न कोऽपि दोषः .... एवं च सादृश्यमूलप्रकारे द्वैतम्। —र.गं., पृ. 406-7.

28. एतेन द्वयोः प्रस्तुतत्त्वे प्रस्तुतांकुरनामाऽन्योऽलंकारः कुवलयानन्दाद्युक्तमुपेक्षणीयम्। —वही, पृ. 407.
29. कु., पृ. 90; गुरुमर्मप्रकाश, पृ. 407-8.
30. र.गं., पृ. 409.
31. इस समस्या को सर्वप्रथम राजानक तिलक ने उठाया है। विवृति, पृ. 44.
32. अ.स.सं., पृ. 138.
33. बाद में इस अलंकार को देवशंकर, अच्युतराय, श्रीब्रह्मतन्त्र परकाल आदि ने भी स्वीकार किया है। अ.मं.का.-44; सा.सा., 8/194.
34. उद्योत, पृ. 490; गुरुमर्मप्रकाश, पृ. 407; अ.कौ., पृ. 275-77.
35. पर्यायस्तु प्रकारे स्यान्निर्माणेऽवसरे क्रमे इति विश्वः।
36. प्रकारान्तराख्यानं पर्यायोक्तम्। दंडी 2/295; उभयथाव्युत्पत्ति के लिये दे. विवृति, पृ. 35 तथा 44 पर। पर्यायेण प्रकारान्तरेणावगमात्मना व्यंग्येनोपलक्षितंसद्यदभिधीयते तदभिधीयमानमुक्तमेव सत्पर्यायोक्तम्। लो., पृ. 118; तु. र.गं., पृ. 411; पर्यायेण भंग्यन्तरेण कथनात्। का.प्र., पृ. 680; प्रतीयमानस्यापि कार्यादिमुखेन प्रकारेणाभिधानम्। सं., पृ. 141; पर्यायेण भग्यन्तरेण कथनम्। काव्यानु., पृ. 367; सा.बि., पृ. 203.
37. पर्यायेण भंग्यन्तरेण प्रकारान्तरेण विवक्षितस्य अर्थस्य उक्तं उक्तिः कथनम् इति अन्वर्थाभिधानोऽयम्। नोट्स, गजेन्द्रगडकर, का.प्र., पृ. 374.
38. येन रूपेण विवक्षितोऽर्थस्तदतिरिक्तः प्रकारो भंग्यन्तरम्। र.गं., पृ. 409.
39. ना.शा., 16/32.
40. पर्यायोक्तं यदन्येन प्रकारेणाभिधीयते। भामह, 3/8; तु. अपु. 344/18.
41. अर्थमिष्टमनाख्याय साक्षात्तस्यैव सिद्धये।
यत्प्रकारान्तराख्यानं पर्यायोक्तं तदिष्यते।। —काव्यादर्श, 2/293.
42. पर्यायोक्तं यदन्येन प्रकारेणाभिधीयते।
वाच्यवाचकवृत्तिभ्यां शून्येनावगमात्मना।। —का.सा.सं., 4/11.
43. एवं विधश्च यो वाच्यवाचकयोर्व्यापारः तमन्तरेणापि प्रकारान्तरेण अर्थसामर्थ्यात्मना अवगमस्वभावेन यदवगम्यते तत्पर्यायेण स्वकंठानभिहितमपि सान्तरेण शब्दव्यापारान्तेण अवगम्यमानत्वात् पर्यायोक्तम्। —ल.वृ., पृ. 51-52.
44. दे., विवृत्ति, पृ. 35.
45. व.जी., पृ. 190-1.
46. मिषमुक्तिप्रकारोऽवसरश्चेति पर्यायः। —शृं.प्र., पृ. 424; तु. स.कं. 4/82.
47. पर्यायोक्तं विना वाच्यवाचकत्वेन यद्वचः। का.प्र., 10/115 तथा वृत्ति।
48. यत्र वाच्यार्थयोः व्यंग्यार्थयोः पर्यवसाने ऐक्यम्। केवलमुक्तिप्रतीत्योः प्रकारभेदः तत्र पर्यायोक्तमिति फलितोऽर्थः। —का.प्र., 10/115 पर विवरण।
49. का.प्र., पृ. 681-2 तथा बा.बो.।
50. र.गं., पृ. 410.

51. गम्यस्यापि पर्यायान्तरेणाभिधानं पर्यायोक्तम्। अ.स., सूत्र-36.
52. वही, वृत्ति, पृ. 141.
53. सापेक्षत्वादुपादानेनान्यप्रतीतिर्भङ्ग्यन्तरेण वाभिधानं पर्यायोक्तम्। अ.र., पृ. 46.
54. अ.र., पृ. 81-2.
55. अ.म. 8/45 तथा व्यंग्यस्योक्तिः पर्यायोक्तम्। काव्या., 6/9.
56. वाग्भटालं. 4/107.
57. ध्वनिताभिधानं पर्यायोक्तिः —काव्यानु., पृ. 36 तथा विवेचन।
58. कार्याद्यैः प्रस्तुतैरुक्ते पर्यायोक्तिं प्रचक्षते। —चन्द्रा. 5/70.
यत्र व्यंग्यस्य सतो हेतोः कार्याभिधानभंगीभिः।
स्यादभिधानं सुधियः पर्यायोक्तं विदुस्तदिदम्।। —एकावली, 8/29; तु. प्र.रु., पृ. 321.
पर्यायोक्तं यदा भंग्या गम्यमेवाभिधीयते। —सा.द., 10/60.
पर्यायोक्तं तु गम्यस्य वचो भंग्यन्तराश्रयम् —कु. कारि. 68.
59. अलंकारसर्वस्वकृताऽपि पर्यायोक्तस्य सम्प्रदायागतभिदमेव लक्षणमंगीकृतं। .... प्राचीनोदाहरणं त्वन्यथा योजितम्। .... लक्षणमपि क्लिष्टगत्या योजितं लोचनकृता। .... वाच्यादन्येन प्रकारेण व्यंग्येनोपलक्षितं सद्यदभिधीयते। तत्पर्यायेण प्रकारान्तरेण व्यंग्येनोपलक्षितमुक्तमिति सर्वोऽप्ययं क्लेश किमर्थमिति न विद्मः ....। कु., पृ. 84-5.
60. यत्तु भगवद्रूपेणावगमनं विशेषणमर्यादालभ्यत्वेन सुन्दरं पर्यायोक्तस्य विषयः इति तदविचारितरमणीयम्।......... —अ.च., पृ. 95.
61. अ.सं. 5/38-9.
62. अ.कौ. 8/234; अ.मं. कारिका, 45.
63. विवक्षितार्थस्य भंग्यन्तरेण प्रतिपादनं पर्यायोक्तम्।
येन रूपेण विवक्षितोऽर्थस्तदतिरिक्तः प्रकारो भंग्यन्तरम्। र.गं., पृ. 409.
64. र.गं., पृ. 410.
65. एवं च यो व्यंग्यांशः स न कदापि रूपान्तरपुरस्कारेणअभिधीयते यश्चाभिधीयते धर्मी स तु तदानीं अभिधाश्रयत्वात् व्यंजनाव्यापार अनाश्रय एवेति व्यंग्यस्य प्रकारान्तरेणाभिधानमसंगतमेव।......... —वही, पृ. 410-11.
66. औपाधिकभेदेन घटाकाशादिषु भेदप्रतीतिवत् तत्तद्धर्मरूपोपाधिभेदेन धर्मिणः अपि भेदाद् व्यंग्यस्याभिधायित्वमस्त्येव। —गु.मर्म., पृ. 411; उद्योत, पृ. 530.
67. अभिनवगुप्तपादाचार्यास्तु पर्यायेण वाच्यात् अतिरिक्तप्रकारेण व्यंग्येन उपलक्षितं उक्तं अभिहितं पर्यायोक्तं इति योगार्थलक्षणं चाहुः। —वही, पृ. 411.
68. 'वापीं स्नातुमितोगतासि.........' इति सकलप्रसिद्धध्वन्युदाहरणे .... पर्यायोक्त प्रसंगः ....। मध्यस्थपक्षेतु नेदमपि दूषणम्। र.गं., पृ. 412.
69. दे., र.गं., पृ. 412-14.

70. गुरुमर्म., पृ. 413.
71. '.......... लक्षणाद्वयाश्रितत्वादनयोरवान्तरोऽपि विषयभेदोऽस्ति, इति स्वमूलग्रन्थाशयं वर्णयता विमर्शिणीकारेणोक्तम्, तन्न। वहीं, पृ. 414.
72. दे., वही।
73. दे., अ.र., पृ. 81-2.
74. पर्यायोक्तं कथितं वाच्यस्यैवान्यभंग्योक्तिः। अ.कौ., पृ. 431; तु.अ.मु. 33; अ.प्र. 48.
75. दे., अ.कौ., पृ. 341-5.
76. अ.मं. 114; अ.चिं. 4/265; सा.सा. 8/192; नं.य., पृ. 208; सा.बि., 5/24.
77. स.कं., 4/82; तु. शृं.प्र., पृ. 424. ध्यातव्य है कि शृंगार प्रकाश में मूल तीन भेद ही हैं।
78. तु. अ.मं. कारिका 46; नं.य., पृ. 208; सा.सा. 8/196.
79. दे., उद्योत, पृ. 530-31; बा.बो., पृ. 683.
80. अयं चालंकारः क्वचित्कारणेन वाच्येन कार्यस्य गम्यत्वे, क्वचित् कार्येण कारणस्य, क्वचिदुभयोदासीनेन सम्बन्धिमात्रेण सम्बन्धिमात्रस्य चेति विपुलविषयः। —र.गं., पृ. 415.
81. अनुकूलं प्रातिकूल्यमनुकूलानुबन्धिचेत्। —सा.द., 10/64.
82. दर्पणादौ आनुकूल्यमलंकारान्तमुक्तम्, तदत्रैवान्तर्भावात् उपेक्ष्यम्। —अ.कौ., पृ. 345.
83. कपटोऽस्त्री व्याज, दंभोपधयश्छद्म कैतवे। अमरकोशः।
84. व्याजेन निन्दामिषेण स्तुतिर्व्याजपर्यवसितनिन्दात्वेन मिषरूपा वा स्तुतिः इति योगवृत्त्यापि यथार्थनाम्न्यलंकृतिः। सरसामोद, पृ. 474; रत्नापण, पृ. 319; निन्दया स्तुतेर्गम्यत्वे व्याजेन स्तुतिरिति व्युत्पत्या व्याजस्तुतिः। स्तुत्या निन्दायाः गम्यते व्याजरूपा स्तुतिः। सा.द., पृ. 539; तृतीया तत्पुरुषकर्मधारयाभ्यां योगार्थद्वयेन द्वयोरपि शब्दार्थत्वम्। र.गं., पृ. 416; तु. का.प्र., पृ. 670; संकेत, पृ. 270; काव्यानुशासन, अलंकार चूडामणि, पृ. 381; अ.स., पृ. 142; अ.म., पृ. 291; एकावली, पृ. 270; अ.कौ., पृ. 327; सा.वि., पृ. 194.
85. गजेन्द्रगडकर, का.प्र. नोट्स, पृ. 362.
86. दूराधिकगणस्तोत्र व्यपदेशेन तुल्यताम्।
किंचिद्विधित्सोर्या निन्दा व्याजस्तुतिरसौ यथा। भामहलां., 3/39.
विष्णुधर्मोत्तर पुराण में इसे निन्दास्तुति कहा गया है :
स्तुतिरूपेण या निन्दा निन्दास्तुतिरिहोच्यते।
निन्दास्तुतिस्तथैवोक्ता निन्दारूपेण यास्तुतिः।। —वही, 14/13, 14.
87. यदि निन्दन् इव स्तौति व्याजस्तुतिरसौ स्मृता।
दोषाभासा गुणा एव लभन्ते ह्यत्र सन्निधिम्।। काव्यादर्श, 2/243.

88. शब्दशक्तिस्वभावेन यत्र निन्दैव गम्यते।
वस्तुतस्तु स्तुतिश्चेष्टा व्याजस्तुतिरसौ मता।। —का.सा.सं., 5/16.
89. शाब्देन क्रमेण निन्दा। आर्थेन तु स्तुतिर्गम्यते सत्र सा। —विवृत्ति, पृ. 44.
90. संभाव्यविशिष्टकर्माकरणात् निन्दा स्तोत्रार्था व्याजस्तुतिः। का.सू.वृ. 4/3/24.
91. यस्मिन्निन्दा स्तुतितो निन्दाया वा स्तुतिः प्रतीयेत।
अन्याविवक्षिताया व्याजश्लेषः स विज्ञेयः।। —काव्यालं. 10-11.
92. व्याजस्तुतिरपि लेशएव —शृं.प्र., पृ. 420; तु. स.कं. 4/58.
93. व्याजस्तुतिर्मुखे निन्दा स्तुतिर्वा रूढ़िरन्यथा। —का.प्र., 10/112.
94. स्तुतिनिन्दाभ्यां निन्दास्तुत्योर्गम्यत्वे व्याजस्तुतिः। —अ.स. सूत्र 37.
95. निन्दास्तुतिभ्यां व्याजस्तुतिः। अ.र. सूत्र 39; तु.अ.म. 8/48, स्तुतिनिन्दयोरन्यपरता व्याजस्तुतिः। काव्यानु. 6/16; तु. वाग्भटद्वितीय काव्यानु., पृ. 39; चन्द्रा. 5/71; एकावली, 8/20; प्र.रु., पृ. 319; सा.द. 10/59-60; उक्तिर्व्याजस्तुतिर्निन्दास्तुतिभ्यां स्तुतिनिन्दयोः। कु. कारिका 70; तु. अ.मं., 47; अ.कौ., 8/289.
96. यत्र निन्दन्निव स्तौति व्याजस्तुतिरसौ यथा —अ.सं. 5/46.
97. आमुखप्रतीताभ्यां निन्दास्तुतिभ्याम् स्तुतिनिन्दयोः क्रमेण पर्यवसानं व्याजस्तुतिः। —र.गं., पृ. 416.
98. दे., अ.कौ., पृ. 327; अ.मु. 31; अ.प्र. 41; अ.मं. 126; सा.सा. 8/197; नं.य., पृ. 204; अ.चं. 59; सा.वि., 5/19.
99. यस्यैव स्तुतिनिन्दे तस्यैव निन्दास्तुतिप्रतीतौ त्वतिशयविवक्षायां व्याजस्तुतिः। अ.र., पृ. 65; तु. र.गं., पृ. 419; अ.कौ., पृ. 328.
100. स्तुतिनिन्दारूपस्य विच्छित्तिविशेषस्य भावादप्रस्तुतप्रशंसातो भेदः। अ.स., पृ. 142; तु. उद्योत, पृ. 522.
101. एषापि लक्षणामूलैव। तेनात्र निन्दास्तुयोर्लक्ष्यत्वेन न पुनः व्यंग्यतया गम्यत्वम्। वक्तृप्रकरणादि पर्यालोचनेन आमुख एव वाच्यबाधनात्। अ.र., पृ. 64; तु. अ.स., पृ. 142; वि., पृ. 112; र.गं., पृ. 416; उद्योत, पृ. 522.
102. दे., अ.र., पृ. 65-66.
103. वही, अ.स., पृ. 142.
104. दे., कु., पृ. 97-98.
105. अ.मं., पृ. 31-34; सा.सां. 8/199 तथा वही सरसामोद, पृ. 475.
106. कुवलयानन्दकृता स्तुतिनिन्दाभ्यां वैयधिकरण्येन निन्दास्तुत्योः स्तुतिनिन्दयोर्वावगमने प्रकारचतुष्टयं व्याजस्तुतेर्यदधिकमुक्तं, तदपास्तम्। .... एवं तर्हि पूर्वोक्तं कुत्रान्तर्भवतु इति चेत्, व्यंग्यभेदेषु इति गृहाण। र.गं., पृ. 419.
107. गुरुमर्मप्रकाश, पृ. 419-20.
108. वही, र.गं., पृ. 419-20.
109. वही, पृ. 420.

110. दे., र.गं., पृ. 417-18.
111. लोचन, पृ. 133-34.
112. '.......... क्लिष्टमेतदुदाहरणम्।' अ.स. तथा सं., पृ. 143; वि., पृ. 113-14.
113. 'एतेन .... प्रक्रान्तापि स्तुतिपर्यवसायिनी निन्दा कीर्तिः इति भणित्या उन्मूलिता, न तु प्ररोहं गमिता, इति यत्सर्वस्वकृता उक्तम्। .... तन्निरस्तम्। .... तस्मात् ध्वन्यालोचनकारैः उक्तमुदाहरणं संगतमेव। र.गं., पृ. 418.
114. साधु दूति पुनः साधु कर्तव्यं किमतः परम्।
यन्मदर्थे विलूनासि दन्तैरपि नखैरपि।। —कु. कारि. 71.
115. कु. कारिका 72, तु. अ.मं. 48, सा.सा. 8/200, अ.चं., पृ. 99.
116. दे., अ.कौ., टिप्पण, पृ. 317-18.
117. उपसर्गेण धात्वर्थो बलादन्यत्र नीयते। —सिद्धान्त कौ., पृ. 344.
118. आक्षेपः परित्यागः। अत्र इष्टार्थस्य परित्याग इव दृश्यते इति अन्वर्थं नाम अलंकारस्य। गजेन्द्रगडकर, का.प्र. नोट्स, पृ. 343.
119. वाचस्पत्यम्, भाग 1, पृ. 603; शब्दार्थकौस्तुभ, पृ. 176.
120. उक्तस्य वक्ष्यमाणस्य वा प्राकरणिकस्य विशेष प्रतीत्यर्थं आभासतो निषेधनम् आक्षेपः। सं., पृ. 144.
121. यत्रांशुकाक्षेप विलज्जितानाम्। कु.सं. 1/14.
122. गोरोचनाक्षेप नितान्तगौरैः कु.सं. 1/14.
123. ना.शा. 16/20.
124. वहीं, 16/23.
125. लक्षणानां परस्परवैचित्र्यादप्यनन्तो विचित्रभावः। यथा प्रतिषेधमनोरथयोः संमेलनात् आक्षेपः। ना.शा. 16/40 पर अ.भा.।
126. प्रतिषेध इवेष्टस्य यो विशेषाभिधित्सया।
आक्षेप इति तं सन्तः शंसन्ति द्विविधं यथा। —भामह, 2/68.
127. प्रतिषेधोक्तिराक्षेपः। काव्यादर्श, 2/120.
128. दे., का.सा.सं., 2/1-2.
129. ल.वृ., पृ. 30.
130. उपमानाक्षेपश्चाक्षेपः —का.सू.वृ. 4/3/27 तथा वृत्ति।
131. वस्तु प्रसिद्धमिति विरुद्धमिति वास्य वचनमाक्षिप्य।
अन्यत्तथात्वसिद्ध्यै यत्र ब्रूयात् स आक्षेपः।। काव्यालं., 8/89.
132. निषेधच्छाययाक्षेपः कान्तिं प्रथयितुं पराम्।
आक्षेप इति संज्ञेयः प्रस्तुतस्यैव वस्तुनः।। व.जी., पृ. 214.
133. विधिनिषेधाभ्यां प्रतिषेधोक्तिराक्षेपः। शृं.प्र., पृ. 425; तु. स.कं. 466.
134. निषेधो वक्तुमिष्टस्य यो विशेषाभिधित्सया। वक्ष्यमाणोक्तविषयः स आक्षेपो द्विधा मतः।। —का.प्र. 10/106-7.

135. उक्तवक्ष्यमाणयोः प्राकरणिकयोः विशेष प्रतीत्यर्थं निषेधाभास आक्षेपः —अ.स., 38 इष्टनिषेध आक्षेपः, अ.र. सूत्र-48; तु. अ.म. 8/46; चन्द्रा. 5/72; एकावली 8/31; प्र.रु., पृ. 317; सा.द. 10/65; अ.कौ. 8/270; कु. 73; अ.मं. 49; अ.चिं. 4/253.
136. विवक्षितस्य निषेध इव उपमानस्य आक्षेपश्च आक्षेपः।। काव्यानु., 6/11.
137. दे., वाग्भटा. 4/74.
138. प्रतिषेधपुरःसरोक्तिराक्षेपः —काव्यानु., पृ. 38 तथा वृत्ति।
139. दे., अ.सं., 5/24.
140. वही, र.गं., पृ. 421-424.
141. अ.कौ., पृ. 307; अ.मु. 25; अ.प्र. 33; नं.य., पृ. 203; सा.सा. 8/201; सा.बि., 5/21.
142. दे., अ.स., पृ. 144.
143. वही, ल.वृ., पृ. 30.
144. काव्यादर्श, 2, 120-166.
145. वही, 2/141 तथा अ.स., पृ. 150.
146. दे., का.सा.सं. 2-3-5.
147. काव्यालं., 8/90-91.
148. रोधोऽपि निषेधाक्षेप एव। शृं.प्र., पृ. 425; तु. स.कं., 4/66-68.
149. तदेवमस्य चत्वारो भेदाः। अ.स., पृ. 145.
150. 'एवं च आक्षेपे इष्टार्थ, तस्यैव निषेध, निषेधस्य अनुपपद्यमानत्वादसत्यत्वं, विशेषप्रतिपादनं चेति चतुष्टयं उपपद्यते। —वही, पृ. 146.
151. अनिष्टविध्याभासश्च। वही, सूत्र 39 तथा वृत्ति तु. एकावली, 8/32. प्र.रु., पृ. 318; सा.द., पृ. 548; अ.म. 8/47-8.
152. तु. एकावली, पृ. 272-75; प्र.रु., पृ. 317, 18; सा.द., पृ. 547-8; अ.म., पृ. 288-290.
153. दे., अ.र., पृ. 84.
154. अनिष्टविधानं विध्याभासः। अ.र. सूत्र 49 तथा वृत्ति।
155. आक्षिप्यतेऽत्र विधिना न यतो निषेधः स्वार्थं विधावपि न पर्यनुयोगबुद्धिः। तस्मादनिष्टविधिरेष विलक्षणत्वात् नाक्षेपमध्यपतितोऽपि तु भिन्न एव।। वही, पृ. 86.
156. तस्मात् ……… नाक्षेपमध्यपतितोऽपि तु भिन्न एव, इत्यादि न वाच्यम्। —वि., पृ. 120.
157. उपमानस्याक्षेप इति न प्रतीपमलंकारन्तरम् —काव्यानु., पृ. 372.
158. आक्षेपः स्वयमुक्तस्य प्रतिषेधो विचारणात्।
गूढाक्षेपः विधौव्यक्ते निषेधे चास्फुटे सति।। —चन्द्रा. 5/72-73.
159. कु. कारिका, 73,74,75 तथा तु. अ.मं., 49-51.
160. दे., र.गं., पृ. 421-24.

पंचम अध्याय

विरोधमूलक अलंकार

विरोध

वि उपगर्सपूर्वक आवरणार्थक रुधिर (रुध्) धातु से भाव अर्थ में घञ् प्रत्यय करने पर विरोध शब्द निष्पन्न होता है। विरोध का अर्थ है, विशिष्ट प्रकार का रोध-विशेषेण रुणद्धि इति विरोधः। विरोध तथा तन्मूलक अलंकारों में होने वाला विरोध वास्तविक न होकर अवास्तविक होता है। अतएव ऐसे विरोध को विशिष्ट रोध कह सकते हैं। सामान्य विरोध से काव्य का विरोध विशिष्ट होता ही है, अन्यथा इसे अलंकार ही क्यों माना जाता? वस्तुतः इस अलंकार का विरोध की अपेक्षा विरोधाभास नाम अधिक सार्थक है। विरोध अलंकार में कवि या सहृदय को दो भिन्न वस्तुओं में परस्पर विरोध प्रदर्शन अभीष्ट होता है, पर यह विरोध आभासतः ही प्रतीत होता है, पर्यवसान् में विरोध का परिहार हो जाता है। अन्यथा विरोध के वास्तविक होने पर अलंकार न होकर दोष की सृष्टि होगी। इसीलिये अप्पयदीक्षित ने इसको विरोधाभास अभिधान प्रदान किया है। जगन्नाथ की व्युत्पत्ति भी इसी का समर्थन करती है। विरोधाभास में विरोध और आभास दो शब्द हैं। आभास में 'आ' उपसर्ग का अर्थ है, ईषत् या मामूली। आभास का अर्थ हुआ ईषत् प्रतिभास या प्रतीति। विरोध और आभास में कर्मधारय समास होने पर विरोधाभास शब्द निष्पन्न होता है।[1] विरोध का आभास ही विरोधाभास है। ध्यातव्य है कि यह विरोध अनेक अलंकारों के मूल में अवस्थित है। विरुद्ध असहचारियों की सहचारिता के निबन्धन में विरोध अलंकार होता है और अविरोधी दो वस्तुओं के संसर्ग में विषम आदि अलंकार होते हैं। वस्तुतः जहां एक वस्तु के दुर्बल होने से उसकी बाध्यता और प्रबल होने के कारण दूसरी की बाधकता होती है, वहां विरोधमूलक अन्य अलंकार होते हैं। जगन्नाथ की दृष्टि से विरोध अलंकार कार्य-कारण भाव आदि से शून्य होता है, जबकि विरोधमूलक अलंकार उससे संबलित होते हैं। विरोधमूलक विभावना आदि अलंकारों में भी विरोध की भांति विरोध की आभासमानता ही बीज है।

वैदिक साहित्य में विरोधाभास के अनेक उदाहरण प्राप्य हैं। ऋग्वेद के कुछ

उद्धरण दर्शनीय हैं :

1. उत त्वः पश्यन्न ददर्श वाचं उतत्वः शृण्वन्न शृणेत्येनाम् —ऋ. 10/71/4.
2. सखायस्ते विषुणा अग्नएते शिवासः सन्तो अशिवा अभूवन् । —वही, 5/14/5.
3. दामन्वन्तो अदामानः सुदामन् । —वही, 6/24/4.

ब्राह्मणों और उपनिषदों में अनेकों उदाहरण पाये जाते हैं ।[2]

विरोध अलंकार का उल्लेख विष्णुधर्मोत्तर पुराण में भी मिलता है ।[3] सर्वप्रथम भामह ने ही विरोध अलंकार का विवेचन किया है । उनके अनुसार विशेष अभिधान के लिये गुण या क्रिया के विरुद्ध अन्य क्रिया का वर्णन विरोध अलंकार है ।[4] दंडी गुणक्रिया के स्थान पर 'पदार्थानाम्' पद का प्रयोग करते हैं, और अन्तर नहीं है ।[5] उद्भट ने भामह के लक्षण को ही रख लिया है, केवल 'अभिधा' के स्थान पर 'वचः' और 'या' के स्थान पर 'यद्' का प्रयोग कर देते हैं ।[6] सर्वप्रथम वामन ने यह स्पष्ट करने का प्रयास किया कि विरोध में आभासतः विरोध-प्रतीति होती है ।[7] रुद्रट के अनुसार सर्वथा विरुद्ध द्रव्यादि का एककालिक एकत्र अवस्थान विरोध है ।[8] रुद्रट इसे अतिशयमूलक अलंकारों की श्रेणी में रखते हैं । भोजराज पदार्थों की परस्पर असंगति को विरोध मानते हैं ।[9] वस्तुतः विरोध न होने पर भी दो वस्तुओं का परस्पर विरुद्ध सा वर्णन विरोध अलंकार है, यह मम्मट का अभिमत है ।[10] इसी को रुय्यक ने वामन की भांति स्पष्ट कर दिया है, विरोधाभास ही विरोध है ।[11] अग्निपुराणकार भी प्राचीनों के अनुगन्ता है ।[12]

शोभाकर रुय्यक के समान लक्षण करते हैं ।[13] नरेन्द्रप्रभसूरि में कोई वैशिष्ट्य नहीं है ।[14] हेमचन्द्र अर्थों के विरोधाभास को विरोध कहते हैं ।[15] वाग्भट प्रथम के अनुसार जहां वाक्य में आपाततः न कि तत्त्वतः शब्द तथा अर्थकृत विरोध प्रतीत हो उसे विरोध कहते हैं ।[16] विरोध न होने पर भी विरोध प्रतीति को वाग्भट द्वितीय विरोध मानते हैं ।[17] जयदेव के अनुसार गुण, द्रव्य, क्रियादि में अनुपपत्ति होने पर विरोध होता है ।[18] विद्याधर, विद्यानाथ, विश्वनाथ, कर्णपूर, दीक्षित, देवशंकर तथा अन्य परवर्ती विश्वेश्वर आदि के लक्षण भी मम्मट रुय्यक के समान ही हैं ।[19] जगन्नाथ के अनुसार एकाश्रय में दो वस्तुओं का अवस्थान अप्रसिद्ध होने पर भी यदि उनका एकाश्रय में वर्णन किया जाये तो विरोध होता है ।[20] वस्तुतः देखा जाये तो भामह, दंडी, आदि के द्वारा कहे गये विरोध को ही आलंकारिकों ने कुछ परिवर्तन के साथ ग्रहण किया है । भामह, उद्भट, दंडी जहां यह स्पष्ट नहीं करते कि विरोधालंकार में विरोध वास्तविक होता है या अवास्तविक । वहीं वामन ने

'विरुद्धाभासत्वं विरोधः' कहकर इसे प्रकट कर दिया है। बाद में तो प्रायः सभी ने विरुद्धाभास को विरोध मान लिया है।

विरोध दो प्रकार का होता है, प्ररूढ और अप्ररूढ। बाध ज्ञान से अनभिभूत विरोध प्ररूढ कहा जाता है और अभिभूत प्ररूढ। काव्य में जिस विरोध का परिहार न हो सके ऐसा प्ररुढ विरोध दोष माना जाता है। अतएव अप्ररूढ विरोध ही विरोधालंकार का विषय है, जहां आमुख में तो विरोध प्रतीति होती है, किन्तु पर्यवसान में उसका परिहार हो जाता है। ऐसे में भी जब यह विरोध कार्य-कारण बुद्धि से अनभिभूत रहता है तभी विरोध अलंकार संभव है, अन्यथा तन्मूलक विभावना आदि अलंकार हो जायेंगे।[21] अतएव वस्तुओं का परस्पर आभासमान विरोध ही विरोध अलंकार है।

भेद

भामह प्रदत्त एक ही उदाहरण में क्रिया-विरोध है।[22] दंडी गुण, द्रव्य, क्रिया तथा श्लिष्ट विरोध का उदाहरण देते हुए कहते हैं :

इत्यनेक प्रकारोऽयमलंकारः प्रतायते।[23]

उद्भट ने गुण-क्रिया दो भेद जैसा कि उनके तथा भामह के लक्षण से स्पष्ट है, को ही स्वीकार किया है। उनका उदाहरण गुण विरोध का है। इन्दुराज ने तृतीय भेद द्रव्य विरोध की उद्भावना करते हुए, गुण-क्रिया, गुण द्रव्य, क्रियाद्रव्य भेद से छः भेदों की कल्पना की है।[24] वामन ने भेदों का उल्लेख नहीं किया है। उनके दोनों उदाहरणों में असंगति अलंकार है।[25] रुद्रट ने अतिशयमूल विरोध के तेरह भेद किये हैं। प्रथमतः चार भेद हैं, द्रव्य-द्रव्य का, गुण-गुण का, क्रिया-क्रिया का और जाति का जाति से विरोध। ये चारों भेद सजातीय हैं। विजातीय विरोध पांच प्रकार का है—द्रव्य-गुण का, द्रव्य-क्रिया का, गुण-क्रिया का गुण, जाति और क्रिया-जाति का। जाति नित्य और द्रव्याश्रित है। अतएव रुद्रट के मत में जाति-द्रव्य का विरोध असंभव है। इसके अतिरिक्त जिन दो विरोधियों में से एक की अवश्यंभाविता हो और दोनों का अभाव वर्णन अभीष्ट हो तो चार भेद और उद्भूत हो जाते हैं। इस प्रकार रुद्रट के अनुसार कुल तेरह भेद होते हैं।[26]

'एवं त्रयोदश संख्योऽयं विरोधालंकारः' न.सा., पृ. 128

इन भेदों के अतिरिक्त रुद्रट ने श्लेषमूलक अलंकारों में भी विरोध का परिगणन

किया है। जहां प्रक्रान्त अर्थविशेष विरुद्धविशेष रूप से अन्य अर्थसामान्य का बोध करायें वहां विरोधश्लेष होता है।[27] भोजराज ने असंगति, प्रत्यनीक, अधिक और विषम को विरोध का भेद स्वीकार किया है।[28] इससे प्रतीत होता है कि वह इन अलंकारों को विरोध से पृथक् नहीं मानते। रुद्रट और राजानक तिलक के आधार पर सर्वप्रथम मम्मट ने विरोध के दश भेदों का विवेचन प्रस्तुत किया, जिसका अनुमोदन प्रायः सभी परवर्ती आचार्यों ने किया है। जाति का जाति, गुण, क्रिया और द्रव्य से विरोध होने के कारण चार भेद, गुण का गुणादि तीन से विरोध होने से तीन भेद क्रिया का क्रिया, द्रव्य से विरोध होने से दो भेद तथा द्रव्य का द्रव्य से विरोध होने से एक भेद कुल मिलाकर दश भेदों का विवेचन उन्होंने किया है।[29] राजानकतिलक तथा मम्मट प्रोक्त इन भेदों को रुय्यक, हेमचन्द्र, नरेन्द्रप्रभ, विद्याधर, विद्यानाथ, विश्वनाथ, कर्णपूर; जगन्नाथ, विश्वेश्वर, नरसिंह, अच्युतराय, आदि सभी आलंकारिक स्वीकार करते हैं।

विरोध के सबसे अधिक, इक्कीस भेदों का विवेचन करते हैं, शोभाकर मित्र। शोभाकर जात्यादि चार विरोध पदार्थों के अतिरिक्त धर्ममात्र और अभाव को भी ग्रहण कर लेते हैं। इस प्रकार जात्यादि छः का विरोध होने से छः भेद, गुण का गुणादि पांच से विरोध होने पर पांच भेद, क्रिया का क्रियादि चार से विरोध होने पर चार भेद, धर्म का धर्मादि तीन से विरोध होने पर तीन भेद, द्रव्य का द्रव्यादि दो से तथा अभाव का अभाव से विरोध होकर तीन भेद, कुल इक्कीस भेद उन्हें मान्य हैं।[30] हेमचन्द्र मम्मटोक्त दश भेदों में परस्पर प्रतिबन्ध को विरोध मानते हैं। इनके अतिरिक्त उन्होंने व्याघात को भी विरोध की श्रेणी में रखकर विभावना, विशेषोक्ति, असंगति, विषम, अधिक, व्याघात तथा अतद्गुण को विरोध अलंकार से अभिन्न स्वीकार किया है, जो स्तुत्य है।[31] वाग्भट प्रथम के अर्थकृत विरोध उदाहरण में असंगति अलंकार है।[32] जयदेव, अप्पयदीक्षित, कर्णपूर, आदि विरोध का कोई भी भेद प्रदर्शित नहीं करते। ध्यातव्य है कि विरोधालंकार में प्रयुक्त क्रिया वैयाकरणों की भांति केवल शुद्ध भावना स्वरूप ही नहीं है और न ही वह नैय्यायिक अभिमत स्पन्द स्वरूप है, अपितु वह उन-उन धातुओं से वाच्य व्यापार स्वरूप है।[33] जात्यादि भेद धर्ममात्र के उपलक्षण हैं। वस्तुतः जात्यादि भेद प्रपंच में कोई विशेष सौन्दर्य नहीं है। इसलिये विरोध के दो भेद शुद्ध और श्लेष को ही मानना उपयुक्त है। जगन्नाथ का यही मन्तव्य है।[34]

विरोध और श्लेष अलंकार पर आलंकारिकों में काफी विवाद है। 'हितकृदप्यहितकृत्' 'अगोद्धारकोऽपि नगोद्धारकः' इत्यादि में विरोध का आभास

मात्र होता है। अतएव प्राचीन आलंकारिक उद्भट, रुय्यक, आदि ऐसे में श्लेष को विरोध आदि की प्रतिभा का कारण मानते हैं, क्योंकि श्लेष सभी अलंकारों का अपवाद है।[35] इस विषय पर ध्वन्यालोक, अलंकारसर्वस्व तथा रसगंगाधर में सविस्तार विवेचन किया गया है। वहीं देखना चाहिये।[36] प्राचीन आलंकारिक विरोधसूचक 'अपि' आदि शब्दों के प्रयोग में विरोध को शाब्द मानते हैं, किन्तु शोभाकर आदि इसके विरोधी हैं। जगन्नाथ इस पर प्राच्य और अर्वाचीन आचार्यों का मत उद्धृत करते हुए, 'अपि' के प्रयोग में विरोध शाब्द होता है, अन्यथा आर्थ इस मत की पुष्टि करते हैं।[37] विरोध का एक उदाहरण :

'कुसुमानि शरा मृणालजालान्यपि कालायसकर्कशान्यभूवन्।
सुदृशो दहनायते स्म राका भवनाकाशमथाभवत्पयोधिः।।' र.गं., पृ. 427

यहां जाति का जात्यादि चार से विरोध दिखाया गया है। पुष्पत्व और शरत्व दो जातियों का, मृणालत्व और कर्कशत्व जाति-गुण का, राकात्व और दहन जाति-क्रिया का तथा पयोधित्व-रूप जाति का और आकाश रूप द्रव्य का विरोध दिखाया गया है। विरोध की आभासता मात्र है, क्योंकि नायिका विरहिणी है ऐसा ज्ञान होने पर विरोध का समाधान हो जाता है। अतएव यहां विरोध अलंकार है। यहां यह सन्देह हो सकता है कि 'कुसुमानि शराः' इत्यादि में दो जातियों का तथा 'चन्द्रो वाडवाग्निः' इत्यादि में दो द्रव्यों का विरोध कैसे हो सकता है, क्योंकि यहां स्पष्टतः पुष्प पर शर का और चन्द्र पर वाडवाग्नि का आरोप होने से रूपक उल्लिखित हो रहा है। और यदि आरोप होने पर भी विरोधाभास माना जाये तब तो 'मुखं चन्द्रः' यहां पर भी वही मानना पड़ेगा? वस्तुतः अलंकार वर्ग में जहां जो अलंकार सहृदय में चमत्कार की प्रतीति कराता है, वहां वही अलंकार होता है। यद्यपि 'मुखंचन्द्रः' रूपक में विरोध अवश्य है, किन्तु वह प्रतिपादन का विषय नहीं है। यहां पर चन्द्रनिष्ठ आह्लादकत्व आदि समग्र गुणों की मुख में प्रतीति के लिये मुख-चन्द्र का अभेद ही चमत्कारी है, विरोध नहीं। प्रत्युत वर्तमान विरोध विवक्षित अर्थ से प्रतिकूल होने के कारण दोष रूप कहा जा सकता है, अलंकार नहीं। 'कुसुमानिशराः' इत्यादि में विरहिणी की विस्मयावह दशा ही विवक्षित है, अतएव वहां आर्थ विरोध स्पष्ट है।[38] अलंकारों के विकास में कविनिष्ठ चित्तवृत्ति का ही प्राधान्य है। अतएव रूपक और विरोध कवि-विवक्षा और तदनुरूप चमत्कार के पृथक्-पृथक् आधारों पर अवस्थित होने के कारण पृथक् अलंकार हैं।

असंभव का अन्तर्भाव

जहां प्रस्तुत वाक्य से विलक्षण असंभवी अन्य प्रस्तुत अर्थ गम्य होता है, वहां रुद्रट असंभव श्लेष नामक अलंकार मानते हैं।[39] आगे चलकर इसी को आधार मानकर जयदेव, अप्पयदीक्षित, आदि ने असंभाव्य अर्थ के वर्णन में असंभव अलंकार माना है।[40] वस्तुतः असंभव भी विरोध से भिन्न अलंकार नहीं है। मम्मट ने जिस क्रिया-द्रव्य विरोध के उदाहरण को प्रस्तुत किया है, उसे ही दीक्षित ने असंभव का उदाहरण माना है :

> **'अयं वारामेको निलय इति रत्नाकर इति श्रितोऽस्माभिस्तृष्णातरलित मनोभिः जलनिधिः। क एवं जानीते निजकरपुटीकोटरगतं क्षणादेनं ताम्यत्तिमिमकरमायास्यति मुनिः।।'**[41]

मानव अगस्त्य के द्वारा जलधि का पान असंभव होने के कारण विरोध है। अतएव पानक्रिया और द्रव्यरूप जलधि से विरोध होने के कारण क्रिया द्रव्य विरोध का यह उदाहरण है। दीक्षित यहां जलधि पान की असंभवता के कारण असंभव मानेंगे। पर व्यापक लक्षण विरोध के रहते हुए स्वल्प विषय असंभव को पृथक् अलंकार मानना अयुक्त है।[42]

विभावना

विभावना शब्द की अनेकधा व्युत्पत्ति पायी जाती है। विभावना अलंकार में कारण के बिना कार्य की उत्पत्ति दिखायी जाती है। अतः विरोधाभास रूप भावना या उत्पादना विभावना है, ऐसा प्रतिहारेन्दुराज का मत है।[43] द्वितीय व्युत्पत्ति के अनुसार प्रसिद्ध कारण से व्यतिरिक्त अन्य कारण का विभावन या अनुभान विभावना है।[44] इसी प्रकार कारण के अभाव में भी कार्य का होना कार्य का वैशिष्ट्य बताता है।[45] प्रसिद्ध कारण के अभाव में भी विरुद्ध कार्य की भावना उत्पत्ति विभावना है।[46] अन्यों के अनुसार विदग्धमात्रवेद्य अप्रसिद्ध कारण की विभावना, कल्पना विभावना है।[47] दुर्गाप्रसाद द्विवेदी कारण का विचार होने से विभावना मानते हैं।[48] वैद्यनाथ तत्तत् कारणान्तर का विचार होने से इसकी सार्थकता समझते हैं।[49] अन्य विद्वान् के अनुसार विशिष्ट या कारणनिरपेक्षा भावना, कार्योत्पत्ति विभावना है।[50] भावना या प्रसिद्ध कारण के अभाव के कारण भी इसकी अन्वर्थकता है।[51] कारण के बिना कार्योत्पत्ति विभावना का स्वरूप है। संसार में कोई भी कार्य बिना कारण के उत्पन्न नहीं होता। जो कोई भी कार्य है, उसका कारण कहीं न कहीं अवश्य

होगा। इसलिये विभावना के मूल में अवश्य ही कोई न कोई कारण रहता है, अन्यथा विरोध का परिहार कठिन हो जायेगा। अतएव कारण के बिना भी जहां कार्योत्पत्ति की प्रतीति होती है, वहां प्रसिद्ध कारण भले ही न हो, उसके मूल में अप्रसिद्ध कारण विद्यमान रहता है। इस प्रकार कारणान्तर की कल्पना, या अन्य कारण की विभावना आदि विभावना का अर्थ, जैसा कि ऊपर की व्युत्पत्तियों में किया गया है, उपयुक्त है। वैय्याकरणों के अनुसार भावना क्रिया का अपर पर्याय है[52] और वह हेतु रूप है। अतएव जो आचार्य भावना का अर्थ कारण मानकर व्युत्पत्ति करते हैं, वे व्याकरण सिद्धान्त के अनुसार ही चलते हैं। वह भी उपयुक्त है। वि उपसर्ग पूर्वक ण्यन्त की भू धातु से भाव अर्थ में युच्[53] प्रत्यय करने पर विभावना शब्द की निष्पत्ति होती है, जो अपने अर्थ और अलंकार स्वरूप को पूर्णतः व्यक्त करती है।

विभावना तथा विशेषोक्ति के अनेक अच्छे निदर्शन ऋग्वेद में पाये जाते हैं। प्रसिद्ध ऋचा 'द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया'[54] इत्यादि में दोनों अलंकार माने जा सकते हैं। एक ही वृक्ष पर बैठा हुआ दूसरा पक्षी (परमात्मा) फल का भोग न करते हुए भी चतुर्दिक् अपने प्रकाश को बिखेरा करता है। भोग रूप कारण के न होने पर भी प्रकाश विकिरण रूप कार्य के होने से विभावना अलंकार है।

विष्णुधर्मोत्तर में भी विभावना का उल्लेख है।[55] विभावना की उद्भावना का श्रेय भामह को ही है। भामह प्रतिपादित विभावना स्वरूप में परवर्ती आलंकारिकों ने कोई प्रधान परिवर्तन नहीं किया है, विचार भेद तो सर्वत्र होते ही हैं। उनका कथन है कि समाधान सुलभ होने पर क्रिया (कारण) का निषेध होने पर भी उसके फल (कार्य) की निष्पत्ति विभावना है।[56] भामह ने लक्षण में 'समाधौ सुलभे सति' पद का प्रयोग कर विभावना की विरोधमूलकता तथा विरोध परिहार की ओर संकेत किया है। दंडी ने परिभाषा में परिष्कार प्रस्तुत करने का प्रयास किया है। वह प्रसिद्ध हेतु की व्यावृत्ति से अन्य कारण या स्वाभाविकता के विभावन को विभावना मानते हैं।[57] उद्भंट और वामन की परिभाषा भामह से व्यतिरिक्त नहीं है। उद्भट ने तो भामह की कारिका को ही ले रखा है,[58] वामन उसी को सूत्रबद्ध कर देते हैं।[59] रुद्रट इसे अतिशयमूल मानकर त्रिधा लक्षण करते हैं, कारण के बिना कार्य का कथन, वस्तुविशेष में जिस कारण से जो विकार हो सकता है, उस कारण के अभाव में भी उस विकार की उत्पत्ति तथा जिस अर्थ का जो स्वरूप लोक में प्रसिद्ध है, उससे भिन्न अर्थ का भी वही स्वरूप दिखाने पर।[60] भोजराज ने दंडी के लक्षण को ही ले लिया है, केवल 'प्रसिद्ध' पद के स्थान पर 'विशेष' पद का सन्निवेश कर दिया है।[61] मम्मट का लक्षण भी वामन के समान है।[62] अग्निपुराणकार ने भी दंडी

के लक्षण को अविकल उद्धृत किया है।[63]

जैसा कि स्वाभाविक ही था, रुय्यक अपने पूर्ववर्ती आचार्यों के मतों का विवेचन कर विभावना का सही रूप रखते। उन्होंने भामहोक्त 'समाधौ सुलभे सति' से विभावना की विरोधमूलकता, दंडी से कारणान्तर तथा रुद्रट से अतिशयगर्भता तीनों को लेकर विभावना का सही स्वरूप प्रस्तुत किया। काव्य में व्याकरण की पैठ उतनी अच्छी नहीं मानी जा सकती। अतएव रुय्यक ने मम्मट आदि के क्रिया (कारण) पद की जगह कारण का प्रयोग अधिक उपयुक्त समझा और कहा—कारण के अभाव में कार्योत्पत्ति विभावना अलंकार है।[64] परवर्ती आलंकारिकों में शोभाकर विद्याधर, जयदेव, विद्यानाथ, विश्वनाथ, अप्पयदीक्षित, देवशंकर, विश्वेश्वर, अजिसेन, सर्वेश्वर, अच्युतराय, आदि रुय्यक का अनुसरण करते हुए लक्षण में कारणाभाव या हेत्वभाव का प्रयोग करते हैं,[65] जबकि नरेन्द्रप्रभसूरि, कर्णपूर, आदि मम्मट की भांति क्रियापद का प्रयोग करते हैं।[66] विरोधप्रकरण में कहा जा चुका है कि हेमचन्द्र विभावना को विरोध से पृथक् नहीं मानते। वाग्भट (दोनों) के लक्षण भी रुय्यक के समान हैं।[67] जगन्नाथ कारण व्यतिरेक समानाधिकरण (कारणाभाव) से प्रतिपाद्यमान कार्योत्पत्ति को विभावना मानते हुए, लक्षण की पुष्टि मम्मट-लक्षण को उद्धृत करके करते हैं।[68] लक्षण विवेचन से यह स्पष्ट है कि भामह से लेकर नव्य आचार्यों तक विभावना के स्वरूप पर प्रायः ऐकमत्य है—कारण के अभाव में भी कार्योत्पत्ति का वर्णन विभावना अलंकार है। कारण के लिये क्रियापद का विधान हो या हेत्वादि का, विचारणीय है। प्राचीन आलंकारिक भामह, उद्भट, वामन और मम्मट कारण के स्थान पर क्रियापद का उपयोग करते हैं, पर रुय्यक का कथन है कि क्रिया शब्द का कारण अर्थ वैयाकरणों को छोड़कर जनसाधारण को कठिनता से ज्ञात होता है।[69] अतएव लक्षण में कारण पद का ग्रहण ही उचित है। वस्तुतः कारण की अपेक्षा क्रिया पद का उपादान अधिक उपयुक्त है। क्रियारूप कारण से उत्पन्न कार्य प्रातीतिक होता है, क्रिया कार्य उत्पन्न करने वाले कारणों का अवान्तर व्यापार है, न कि पुष्कल कारण और विभावना में अवान्तर कारण का ही माहात्म्य है। पुष्कल कारण तो द्रव्यादि ही हो सकते हैं। अतएव कारण का अवान्तर व्यापार होने से कारण के स्थान पर क्रिया पद ग्रहण अधिक उपयुक्त है।[70]

कार्य और कारण का अन्वय-व्यतिरेक सम्बन्ध है, क्योंकि संसार में कोई भी कार्य बिना कारण के नहीं होता और यदि बिना कारण के कार्य की उत्पत्ति होती है, तो विरोध दुष्परिहार है। विभावना में बिना कारण के भी कार्योत्पत्ति पायी जाती है। अतएव इसकी विरोधमूलकता स्पष्ट है—'विरोधमूला हिविभावनाद्यलंकाराः'

परन्तु इसे विरोध अलंकार नहीं कह सकते। जहां भी कारणाभाव में कार्योत्पत्ति होती है, वस्तुतः वहां प्रसिद्ध कारण ही बाधित होता है, अप्रसिद्ध कारण तो उसके मूल में रहता है, जिससे विरोध का परिहार होता है। विभावना में विरोध तो होता अवश्य है, पर वह विरोधालंकार से भिन्न है। विरोध में कारण और कार्य दोनों ही बाधित रहते हैं। विभावना में कारण का अभाव होने से केवल कार्य ही बाधित रहता है।[71]

रुय्यक का अभिमत है कि विभावना में कार्यांश में सदैव अतिशयोक्ति की अनुप्राणता पाई जाती है।[72] उदाहरणार्थ 'असंभृतं मण्डनमंगयष्टेः' इत्यादि कुमारसंभव के श्लोक में पार्वती की युवावस्था को आसवरहित मद का जनक बताया गया है। मद का जनक आसव प्रसिद्ध कारण है, उसके अभाव में भी मद की उत्पत्ति होने से यहां विभावना है। आसव और यौवन-जनित पद भिन्न-भिन्न हैं, पर उनका यहां सादृश्य के कारण अभेदाध्यवसान हो गया है। इस प्रकार रुय्यक, जयरथ, आदि विभावना में कार्यांश में अतिशयोक्ति को अनुप्राणक मानते हैं। पर शोभाकर और जगन्नाथ विभावना में अतिशयोक्ति की सत्ता मानते हुए भी सर्वत्र अनुप्राणकता नहीं स्वीकारते।

निरूपादानसंभारमभितावेव तन्वते।
जगच्चित्रं नमस्तस्मै कलाश्लाध्याय शूलिने।।[73]

'उपादान सामग्री (मषी आदि) के बिना अभित्ति पर जगच्चित्र खींचने वाले कलाप्रिय शिव को नमस्कार है।' चित्र बनाने के लिए रंग, तूलिका, भित्ति, आदि आवश्यक हैं, परन्तु उनके अभाव में भी जगच्चित्र का निर्माण होने के कारण यहां विभावना अलंकार है। शोभाकर और जगन्नाथ के अनुसार यह शुद्ध विभावना का उदाहरण है। अतएव सर्वत्र अतिशयोक्ति अनुप्राणक नहीं हो सकती।[74] जयरथ शोभाकर से भिन्न मत रखते हैं। उनका अभिमत है कि यहां विभावना ही नहीं है। कारण के अभाव में कार्योपत्ति विभावना कही जाती है और यहां अन्य उपादानों के अभाव में संसार की उत्पत्ति परमेश्वर से असंभव नहीं है, क्योंकि सृष्टिकाल में परमात्मा के अतिरिक्त कोई अन्य वस्तु थी ही नहीं। 'नासदासीत्' इत्यादि उक्तियां प्रमाण हैं। अतएव उपर्युक्त उदाहरण में विभावना ही नहीं है। पुनः उस की अतिशय मूलकता के अभाव की चर्चा व्यर्थ है।[75] वस्तुतः जयरथ का मत उपयुक्त नहीं है। केवल जगत्-निर्माण की बात होती तो उनका कथन उपयुक्त होता। यहां तो जगत् चित्र की बात है। चित्र निर्माण में संभार आवश्यक है। अतः उसका अभाव होने

से यहां विभावना निर्बाध है। वस्तुतः विभावना में सर्वत्र अतिशयोक्ति अनुप्राणक नहीं होती, प्रत्युत आहार्य-अभेद-बुद्धिमात्र अनुप्राणक होती है। वह कहीं अतिशयोक्ति के रूप होती है, तो कहीं रूपक के रूप में।[76]

विभावना के भेद

भामह ने विभावना का एक ही उदाहरण दिया है। रुय्यक आदि के अनुसार उसे अनुक्तनिमित्ता का उदाहरण कह सकते हैं। जैसा कि दंडी के लक्षण से ही स्पष्ट है, कारणान्तर और स्वाभाविक दो भेद उन्हें मान्य हैं। उद्भट ने एक ही उदाहरण प्रस्तुत किया है, जिसे रुय्यक अनुक्तनिमित्ता के उदाहरण में प्रयुक्त करते हैं।[77] वामन भी एक ही उदाहरण प्रस्तुत करते हैं। रुद्रट के तीन भेदों का विवेचन किया जा चुका है। पुरुषोत्तम शर्मा चतुर्वेदी के अनुसार रुद्रट का अन्तिम उदाहरण दृष्टान्त का ही हो सकता है।[78] कुन्तक के अनुसार सौन्दर्य-सृष्टि के लिये वर्ण्य वस्तु का विशेष रूप से विभावन, स्वकारण परित्यागपूर्वक कथन, विभावना है।[79] 'असंभृतं' आदि को वह भी उदाहरण रूप में प्रस्तुत करते हैं। भोज ने शुद्धा, चित्रा तथा विचित्रा पहले तीन भेद मानकर, कारणान्तरपर्यवसिता तथा स्वभावपर्यवसिता दो भेद और विभावना के कुल छः भेदों का विवेचन किया है।[80] एक वस्तु के उद्देश्य से एक हेतु के निवर्तन में शुद्धा, अनेक हेतु के निवर्तन में चित्रा तथा अतिरिक्त विशेष से अन्य सौन्दर्य के निबन्धन में विचित्रा होती है। शुद्धा और विचित्रा को अनुक्तनिमित्ता तथा चित्रा को उक्तनिमित्ता मान सकते हैं। मम्मट ने भी विभावना का कोई भेद नहीं किया है। उनके उदाहरण में भी अनुक्तनिमित्ता है।[81]

सर्वप्रथम रुय्यक ने विभावना के भेदों की चर्चा की है। विभावना में कहीं कारण साक्षात् नञ् आदि शब्दों से निषिद्ध रहता है, तथा कहीं परम्परा या उक्ति से निषिद्ध होता है। प्रथम में निमित्त का कथन रहता है, द्वितीय में नहीं। अतएव विभावना के उक्तनिमित्ता और अनुक्तनिमित्ता दो भेद रुय्यक ने माने हैं। रुय्यक के बाद इन भेदों को विद्याधर, विद्यानाथ, विश्वनाथ, विश्वेश्वर, आदि सभी ने स्वीकार किया है। उक्त निमित्ता का रुय्यकप्रदत्त उदाहरण :

'असंभृतं मण्डनमंगयष्टेरनासवाख्यं करणं मदस्य।
कामस्य पुष्पव्यतिरिक्तमस्त्रं बाल्यात्परं साथ वयः प्रपेदे।।

—अ.स., पृ. 155

'पार्वती ने उस यौवनावस्था को प्राप्त किया, जो तनुलता का अनगढ़ विभूषण,

आसवरहित मद का जनक तथा काम का पुष्प से अतिरिक्त अस्त्र है।'

रुय्यक के अनुसार श्लोक के द्वितीय पाद में आसवरूप कारण के न होने पर भी मदोत्पत्ति का विधान किया गया है। अतएव यहां विभावना अलंकार है। युवावस्था उसका कारण उक्त है। अतः यह उक्तनिमित्ता विभावना का उदाहरण है। जगन्नाथ का अभिमत है कि यहां मद का कारण यौवन उपात्त है और वह भी शब्द से अभिहित है। अतएव मद की कारणता में यौवन और आसव की परस्पर निरपेक्षता होने से विरोध की लेशमात्र भी प्रतीति नहीं हो रही है। विरोध ही विभावना का बीज है। अतः यहां विभावना है ही नहीं, उक्तनिमित्ता तो दूर की बात है। जगन्नाथ के अनुसार प्रथम तृतीय चरण में न्यूनाभेद रूपक तथा द्वितीय चरण में उत्प्रेक्षा है।[82] रूपक की बात तो समझ में आ सकती है, पर जगन्नाथ ने उत्प्रेक्षा कैसे मान लिया, विचारणीय है। उक्त श्लोक पर रुय्यक स्वयं चार मतों का उल्लेख करते हैं। उनका कथन है कि कुछ लोग इसमें विभावना मानते हैं, तो कुछ लोग विशेषोक्ति, अन्य लोग रूपक और नव्यलोग परिणाम।[83] विद्याचक्रवर्ती 'अद्यतनाः' से इसे रुय्यक का मत मानते हैं।[84] जयरथ ने कहा है कि रुय्यक वाला मत उद्भट का है तथा विशेषोक्ति वाला वामन का। जयरथ यह भी कहते हैं कि यहां परिणाम असभव है। उनका कथन है कि रुय्यक 'साहित्य मीमांसा' में विभावना और परिणाम दो मत ही मानते हैं।[85] मल्लिनाथ ने द्वितीय पाद में विभावना और प्रथम, तृतीय में परिणाम स्वीकारा है।[86] चारित्रबन्ध पूरे श्लोक में विभावना मानते हैं। अरुणगिरि, नारायण रूपक को मान्यता देते हैं।[87]

शोभाकर अनुक्तनिमित्ता के चिन्त्य-अचिन्त्य भेद से दो भेद कर विभावना के तीन भेद का उल्लेख करते हैं—'इतित्रिभेदाः'। 'अनुपादानसंभारम्' इत्यादि अचिन्त्यनिमित्ता का उदाहरण है। नरेन्द्रप्रभसूरि जात्यादि चार कारणों के अभाव से चार भेद मानते हैं। इनके अतिरिक्त, स्वाभाविकत्व तथा कारणाभाव में विरुद्ध उत्पत्ति रूप दो भेद वे और स्वीकारते हैं।[88] वाग्भट (दोनों) ने कोई भेद नहीं किया है। अप्पयदीक्षित ने विभावना के छः भेदों का विवेचन किया है—विनाकारण के कार्य की उत्पत्ति, कारणों की असमग्रता में कार्योत्पत्ति, प्रतिबन्धकत्व होने पर भी कार्योत्पत्ति, अकारणकार्योत्पत्ति, विरुद्धकारण से कार्योत्पत्ति तथा कार्य से कारण की उत्पत्ति।[89] द्वितीय भेद में विभावना से कोई व्यतिरिक्त सौन्दर्य नहीं है। तृतीय में भी वही है। वस्तुतः दीक्षित के उदाहरण—'नरेन्द्रानेव ते राजन् दशत्यसिभुजंगमः' में तो श्लेष की ही चारुता है। चतुर्थभेद में भी कारणाभाव आर्थ है। 'शंखाद्वीणानिनादोऽयमुदेति महदद्भुतम्' में जगन्नाथ के अनुसार इस चतुर्थ

उदाहरण का भी अन्तर्भाव विभावना में होता है, परन्तु यहां विरोधाभास की चारुता ही स्पष्ट है। इसी प्रकार पंचम भेद के उदाहरण 'शीतांशुकिरणास्तन्वीं हन्त सन्तापयन्ति माम्' में भी विरोध ही है। कार्य से कारणजन्म षष्ठभेद को विभावना माना ही नहीं जा सकता, क्योंकि कारणाभाव ही विभावना का जनक है। अतएव दीक्षितप्रोक्त अन्तिम पांच भेद में द्वितीय-तृतीय को विभावना, चतुर्थ-पंचम को विरोध में अन्तर्भूत किया जा सकता है। अन्तिम भेद विभावना हो ही नहीं सकता। उद्योतकार तथा विश्वेश्वर ने इन भेदों का प्रत्याख्यान किया है।[90] जगन्नाथ दीक्षित का खंडन करते हुए उनके भेदों को निम्न प्रकार से रखने की सलाह देते हैं। विनाकारण के कार्योत्पत्ति विभावना का सामान्य लक्षण है। वह दो प्रकार की है—शाब्दी-आर्थी। शाब्दी के तीन भेद होते हैं—कारणाभाव का प्रतिबन्धक के रूप में वर्णन न होकर कारणरूप वस्तु के अभाव का वर्णन, कारणवस्तु के वर्णित होने पर भी उसमें कुछ त्रुटि का होना, कार्य में प्रतिबन्ध के रहते हुए भी उसकी उक्ति। आर्थी भी त्रिधा हो सकती है—प्रकृत कार्य के समान अन्य कार्य के कारण से प्रस्तुत कार्य की उत्पत्ति, प्रस्तुत कार्य से विरुद्ध कार्य के कारण से प्रस्तुत कार्य की उत्पत्ति और अपने कार्य से ही प्रस्तुत कार्य की उत्पत्ति।[91] वस्तुतः इस प्रकार के भेदों में कोई अतिरिक्त सौन्दर्य नहीं है। अतएव विभावना का सामान्य लक्षण ही अलंकार मानने योग्य है।

विशेषोक्ति

विशेषोक्ति शब्द की आलंकारिकों ने अनेक व्युत्पत्तियां की हैं। रुय्यक, विद्याचक्रवर्ती और नागेश किसी अर्थविशेष की अभिव्यक्ति के लिये प्रयुज्यमान उक्ति को विशेषोक्ति कहते हैं।[92] काव्यप्रकाश की विस्तारिका टीका में परमानन्द चक्रवर्ती विशेषरागातिशय आदि विशिष्ट उक्ति को विशेषोक्ति कहते हैं।[93] समुद्रबन्ध भी विशेष प्रकार की उक्ति अर्थ करते हैं।[94] आशाधर भट्ट विशेष, नवीन प्रकार की उक्ति विशेषोक्ति का अर्थ लेते हैं।[95] वैद्यनाथ तत्सत् विशेषोक्ति का अर्थ करते हैं—विशेष अर्थात् अनुत्पत्ति निमित्त की उक्ति अवगति।[96] गजेन्द्रगडकर कारण रहते हुए भी कार्याभाव रूप विशेष की उक्ति को विशेषोक्ति कहते हैं।[97] कारणों के रहते हुए भी कार्याभाव का निबन्धन विशेषोक्ति है। इस प्रकार यद्यपि विशेषोक्ति की उपर्युक्त सभी व्युत्पत्तियां उपयुक्त हैं, तथापि गजेन्द्रगडकर की व्युत्पत्ति अधिक सार्थक है। नियमतः सभी कारण कार्य की उत्पत्ति करते हैं। अतएव कारण-समग्रता रहते हुए भी कार्यानुत्पत्ति कथन विरोध का निर्माण करता है, परन्तु

इस विरोध का परिहार हो जाता है, क्योंकि ऐसे स्थलों पर प्रसिद्ध कारण न होकर कोई अप्रसिद्ध कारण ही रहता है।[98] विरोध की आभासिक प्रतीति होने के कारण विशेषोक्ति भी विरोधमूलक अलंकारों की श्रेणी में मानी जाती है। कारण के अभाव में कार्याभाव की अपेक्षा होने से विभावना में कार्यांश बाधित होता है, इसके विपरीत विशेषोक्ति में कारण रहते हुए भी फलाभाव होने से कारणांश बाधित होता है,[99] और इन दोनों के विपरीत विरोध में कार्य-कारण दोनों की परस्पर बाधकता होती है। अतएव इन तीनों अलंकारों का पृथक् निरूपण किया गया है।

ऋग्वेद 1/64/20 में विशेषोक्ति का सौन्दर्य द्रष्टव्य है। विष्णुधर्मोत्तर में इस अलंकार का भी उल्लेख है।[100] सर्वप्रथम भामह ही विशेषोक्ति का विवेचन करते हैं। उनका कथन है कि एक देश के अभाव (विगम) में भी विशेष प्रतिपादन के लिये अन्य गुण की संस्थिति विशेषोक्ति है।[101] यद्यपि भामह प्रयुक्त उदाहरण 'स एकस्त्रीणि' इत्यादि को परवर्ती आलंकारिक अचिन्त्यनिमित्ता विशेषोक्ति का उदाहरण मानते हैं, तथापि उनका लक्षण स्पष्ट नहीं है। दंडी ने विशेष-प्रदर्शन के लिये गुण, क्रिया, जात्यादि के वैकल्य दर्शन को विशेषोक्ति माना है।[102] यह भी लक्षण प्रचलित नव्य विशेषोक्ति को स्पष्ट नहीं करता। सर्वप्रथम उद्भट ने इसे स्पष्ट करने का प्रयास किया है। उनके अनुसार शक्तियों की समग्रता होने पर भी फल का अनुत्पत्तिनिबन्धन विशेषोक्ति है।[103] इन्दुराज ने 'शक्तीनां' का 'कारकाणां' अर्थ बताकर तथा 'कारण सामग्र्येऽपि यत्कार्यं नोत्पद्यते'[104] कहकर उद्भट के लक्षण को स्पष्ट कर दिया है। इन्दुराज से भी अधिक स्पष्ट व्याख्या है राजानक तिलक की—कंचिद्विशेषं अवगमायितुं कारणानां अविकलत्वेऽपि कार्यानुत्पत्तिर्बध्यते सा विशेषोक्तिः।[105] आगे चलकर उद्भट, इन्दुराज, तिलकप्रतिपादित विशेषोक्ति लक्षण ही आचार्यों को मान्य हुआ। वामन के अनुसार एकगुण हानि की कल्पना में अन्य गुणों के साम्यदार्ढ्य का प्रतिपादन विशेषोक्ति है।[106] स्वयं वामन ने इसे रूपक माना है—रूपकं चेदं प्रायेणेति।[107] रुय्यक, जगन्नाथ, नागेश, आदि ने इसे रूपक ही स्वीकारा है।[108] रुद्रट इस अलंकार का उल्लेख नहीं करते। कुन्तक विशेषोक्ति में स्वभाववर्णन पाते हैं। इसलिये वह इसे अलंकार न मानकर अलंकार्य मानना उचित समझते हैं।[109]

भोजराज, अग्निपुराणकार और अमृतानन्द योगी दंडी के लक्षण का उपयोग करते हैं।[110] दंडी से भोज का वैशिष्ट्य यह है कि वे कारण की अविकलता में भी उसके अभिधेय या प्रत्यय होने पर भी इस अलंकार को मानते हैं।[111] 'शृंगारप्रकाश' में तो वह आधिक्य या न्यूनत्व विवक्षा को विशेषोक्ति[112] कहते हैं,

जो व्यतिरेक से व्यतिरिक्त नहीं है। मम्मट ने उद्भट और उनके टीकाकारों के मत को लेकर विशेषोक्ति का एक स्पष्ट लक्षण प्रस्तुत किया—कारणों की संपूर्णता होने पर भी कार्य (फल) की अनुत्पत्ति का निबन्धन विशेषोक्ति है।[113] रुय्यक आदि परवर्ती सभी आलंकारिक इसी लक्षण को अपने-अपने शब्दों में उपस्थित करते हैं।[114] विरोध प्रकरण में कह चुके हैं कि हेमचन्द्र इसे भी विरोध से अभिन्न मानते हैं। वाग्भट प्रथम विशेषोक्ति के विषय में शांत हैं। वाग्भट द्वितीय इसे अहेतु नाम प्रदान करते हैं।[115] अन्यों के लक्षण में मम्मट से व्यतिरिक्त कोई वैशिष्ट्य नहीं है। अतएव, कारणों की समग्रता, संपूर्णता या अखंडता होने पर भी कार्य की अनुपपत्ति का वर्णन विशेषोक्ति अलंकार है।

विशेषोक्ति के भेद

भामह के उदाहरण में परवर्ती आचार्यों ने अचिन्त्यनिमित्ता विशेषोक्ति माना है। दंडी गुण, जाति, क्रिया और द्रव्य वैकल्प का चार उदाहरण देते हुए पंचम उदाहरण में हेतु विशेषोक्ति मानते हैं। वह यह भी कहते हैं कि अन्य भेदों में भी यही क्रम (हेतु वैकल्प) होता है। इससे प्रतीत होता है कि दंडी को जात्यादि के वैकल्य में कारण वैकल्य ही अभिमत है।[116] सर्वप्रथम उद्भट ने ही विशेषोक्ति और विभावना के दो भेदों की उद्भावना की। वह निमित्त के दर्शन-अदर्शन से दो भेद मानते हैं।[117] रुय्यक आदि ने इसे ही उक्त-अनुक्त निमित्ता कहा है। भोजराज ने दंडी के सभी उदाहरणों को उद्धृत किया है। दंडी से व्यतिरिक्त वह हेतु अवैकल्य वाला एक भेद भी मानते हैं।[118] मम्मट ने उद्भटप्रोक्त दो भेद उक्तनिमित्ता, अनुक्तनिमित्ता के अतिरिक्त अचिन्त्यनिमित्ता एक तीसरा भेद भी स्वीकार किया है।[119] रुय्यक, काव्यप्रकाश के कुछ टीकाकार तथा शोभाकर जगन्नाथ आदि अनुक्त निमित्ता में ही अचिन्त्यनिमित्ता को भी अन्तर्भूत कर केवल दो भेद स्वीकारते हैं।[120] वस्तुतः कारण की चिन्त्यता या अचिन्त्यता व्यक्ति के ही ऊपर निर्भर है। जो वस्तु किसी सामान्य व्यक्तिं के लिये अचिन्त्य होती है, वही प्रज्ञावान् के लिये चिन्त्य भी हो सकती है।[121] काव्य का निर्माण नियत प्रमाता को ध्यान में रखकर नहीं किया जाता। एक ही कारण सबके लिये अचिन्त्य हो, इसमें कोई प्रमाण नहीं है। इसलिये अनुक्त-निमित्ता के दो भेद चिन्त्य-अचिन्त्य निमित्त होने से, अचिन्त्य निमित्ता उससे व्यतिरिक्त नहीं है। वाग्भट(द्वितीय), जयदेव, अप्पयदीक्षित, कर्णपूर, आदि भेदों का उल्लेख नहीं करते। विद्याधर, विद्यानाथ, विश्वनाथ, जगन्नाथ, नरेन्द्रप्रभसूरि, आदि रुय्यक प्रोक्त दो भेद ही मानते हैं। जगन्नाथ ने दो या तीन

भेद माननेवाले मत का उल्लेख किया है।[122] अन्य कोई वैशिष्ट्य नहीं है। विश्वेश्वर तो मम्मट का ही अनुगमन करते हैं।

कारणों के रहते हुए भी कार्याभाव के निमित्त का शब्दतः कथन होने पर उक्तनिमित्ता विशेषोक्ति होती है तथा निमित्त के शब्दतः कथित न होने पर उसका प्रकरण आदि से ज्ञान होने पर अनुक्तनिमित्ता होती है। उक्तनिमित्ता का उदाहरण :

'धनिनोऽपि निरुन्मादा युवानोऽपि न चंचलाः।
प्रभवोऽप्यप्रमत्तास्ते महामहिमशालिनः।।' सा.द., पृ. 549

उन्माद, चंचलता तथा प्रमत्तता के कारण धन, यौवन और स्वामित्व के होने पर भी उन्माद आदि कार्य की अनुत्पत्ति वर्णित होने से यहां विशेषोक्ति अलंकार है। अनुन्मादकत्व आदि का निमित्त महामहिमशालित्व शब्दतः उपात्त है। अतएव यह उक्तनिमित्ता का उदाहरण है। अनुक्तनिमित्ता :

'निद्रानिवृत्तावुदिते द्युरत्ने सखीजने द्वारपदं पराप्ते।
श्लथीकृताश्लेषरसे भुजंगे चचाल नालिंगनतोऽङ्गना सा।।'
—का.प्र., पृ. 658

निद्रा निवृत्ति, सूर्योदय, सखीजन का आगमन तथा उपपत्ति द्वारा आश्लेष का शिथिलीकरण आदि कारण होने पर भी नायिका का आलिंगन परित्याग रूप कार्य न होने के कारण यहां विशेषोक्ति अलंकार है। आलिंगन अपरित्याग का निमित्त अनुरागातिशय अनुक्त है। अतएव यह अनुक्तनिमित्ता का उदाहरण है।

विभावना-विशेषोक्ति की एकता

वस्तुतः विभावना और विशेषोक्ति को पृथक् अलंकार न मानकर एक ही अलंकार के दो भेद मानना चाहिये। देखा यह जाता है कि जहां कारण के रहते कार्याभाव रूप विशेषोक्ति होती है, वहां कारणाभाव होने पर भी कार्योत्पत्ति रूप विभावना पायी जाती है। और जहां विभावना होती है, वहां विशेषोक्ति भी पायी जाती है। 'निद्रानिवृत्तौ' इत्यादि उदाहरण में कारण के होने से कार्याभाव रूप विशेषोक्ति है, यहां पर किसी हेतु के न होते हुए भी अनालिङ्गन रूप कार्योत्पत्ति मानकर विभावना भी हो सकती है। इसीलिये 'यः कौमार हरः' इत्यादि में मम्मट को अस्फुट[123] और रुय्यक आदि को संदेह अलंकार कहना पड़ा।[124] अतः इन्हें पृथक् अलंकार नहीं मानना चाहिये, जो कुछ भेद है, एक ही अलंकार का दो भेद मानकर समाप्त किया जा सकता है।

असङ्गति

'सम्' उपसर्गपूर्वक गत्यर्थक 'गम्' धातु से भाव अर्थ में क्तिन् (स्त्रियां क्तिन्, पा. 3/3/94) प्रत्यय करने पर सङ्गति शब्द निष्पन्न होता है। सङ्गति का अर्थ है युगपत् कार्य-कारण का होना—'सङ्गच्छेते युगपत् कार्यकारणौ यस्यां सा सङ्गतिः'। इस प्रकार की सङ्गति का अभाव ही असङ्गति है—'न सङ्गतिः असङ्गतिः, यद्वा न विद्यते कार्यकारणयोः सङ्गतिः यस्यां सा'। यह नियत है कि जहां कारण होता है, वहीं कार्य भी उत्पन्न होता है, न कि कारण भिन्न देश में, कार्य भिन्न देश में। उदाहरणार्थ पर्वत का धूम्र पर्वत की ही वह्नि का कारण हो सकता है न कि महानस की वह्नि का, पर असंगति अलंकार में एक साथ कारण और कार्य का भिन्न देश में निबन्धन किया जाता है। अतएव कार्य-कारण की संगति का परित्याग होने के कारण इस अलंकार की अन्वर्थकता है।[125] कार्य-कारण का भिन्न अधिकरणस्थ होना अलंकार की विरोधमूलकता का सूचक है। कारण और कार्य के भिन्नदेशस्थ होने के कारण कार्यांश में प्रायः अभेदाध्यवसाय होता है। अतएव विरोधमूलक होते हुए भी असंगति अतिशयोक्ति के चमत्कार से अनुप्राणित है। असंगति अलंकार में कार्य और कारण को सौन्दर्यपूर्ण तरीके से भिन्न देश में बताना ही कवि या सहृदय को अभिप्रेत रहता है।

भामह, दंडी, उद्भट तथा वामन असंगति का उल्लेख नहीं करते। वस्तुतः प्राचीन आचार्य इसे विरोध में ही अन्तर्भूत करते थे। दंडी ने विरोध का एक भेद कार्य-कारण के भिन्न अधिकरण में स्वीकार किया है।[126] असंगति की उद्भावना का श्रेय रुद्रट को है। उनके अनुसार जहां एक ही काल में कारण अन्यत्र और कार्य अन्यत्र स्पष्ट रूप में उपलब्ध हो, वहां असंगति अलंकार होता है।[127] ध्यातव्य है कि रुद्रट ने इसे अतिशयमूल अलंकारों की श्रेणी में रखा है। रुद्रट का ही लक्षण परवर्ती सभी आचार्यों ने स्वीकार किया है।

जैसा कि विरोध प्रकरण में कहा जा चुका है, भोजराज असंगति को विरोध का ही एक भेद मानते हैं।[128] कुन्तक ने इसका उल्लेख नहीं किया है। मम्मट का भी लक्षण रुद्रट के ही समान है—कार्यकारणभूत धर्मों की एक साथ भिन्नदेशतया प्रतीति होने पर असंगति होती है।[129] वृत्ति में मम्मट ने यह समझाने का प्रयास किया है कि जिस देश (अधिकरण) में साधन उपलब्ध (कारण) होता है, वहीं कार्य भी उत्पन्न होता है, पर जहां हेतु और फल (कार्य) भूत धर्मों की किसी अतिशय के कारण भिन्नदेश में एक साथ प्रतीति होती है, वहां स्वभाव से उत्पन्न परस्पर संगति त्याग के कारण इसे असंगति कहा जाता है।[130] उन्होंने विरोध से इसकी

पृथक् सत्ता भी स्थापित की है। यह विरोध की बाधिका है, विरोध नहीं, जैसा कि प्राचीन् आलंकारिक मानते हैं। यहां कारण-कार्य दोनों का विरोध भिन्न आधारतया प्रतीत होता है और विरोध में एकाश्रयनिष्ठ विरोध अनुक्त होने पर भी विरोध में पर्यवसित होता है। असंगति विरोध का अपवाद है और यह नियम है कि उत्सर्ग अपवाद को छोड़कर ही प्रवृत्त होता है। तात्पर्य यह है कि असंगति विरोध से भिन्न है। प्रदीप आदि टीकाकारों ने मम्मट के इस मत को स्पष्ट किया है।[131] रुय्यक ने कोई वैशिष्ट्य का प्रदर्शन नहीं किया है। उन्होंने केवल यह नयी बात कही कि यहां कार्यांश में अभेद अध्यवसाय होता है।[132] अभेदाध्यवसाय शब्द को लेकर विमर्शिनीकार ने यह कहा है कि ग्रन्थकार का अभिप्राय है कि अतिशयोक्ति इसकी अनुप्राणक है अन्यथा विरोध का दुष्परिहार हो जायेगा, क्योंकि दोनों का विरोध प्ररूढ़ हो जाने से दोष हो जाता है।[133] जगन्नाथ ने इसे रुय्यक के नाम से उद्धृत कर उसका खंडन किया है।[134] वस्तुतः जगन्नाथ का यह भ्रम है। यह मत तो जयरथ का है। जगन्नाथ का यह कथन भी तथ्यहीन है कि रुय्यक सर्वत्र असंगति में अतिशयोक्ति मानते हैं। रुय्यक का मन्तव्य कहीं-कहीं अभेदाध्यवसाय दिखाने का है, उसे तो जगन्नाथ स्वीकार ही करते हैं।[135]

शोभाकर का भी लक्षण पूर्ववत् है। वह भी कहीं-कहीं कार्यांश में अतिशयोक्ति को अनुप्राणक स्वीकारते हैं।[136] हेमचन्द्र ने इसे विरोध में ही अन्तर्भूत कर लिया है।[137] वाग्भट प्रथम ने उल्लेख ही नहीं किया है। अन्य परवर्ती आलंकारिकों के लक्षण रुद्रट, मम्मट के ही समान हैं।[138] जगन्नाथ ने आपाततः विरुद्ध रूप से प्रतिभासित हेतु-कार्य की व्यधिकरणता को असंगति कहा है।[139]

समस्त आलंकारिकों के लक्षण-विवेचन से यह स्पष्ट होता है कि कार्य-कारण की भिन्न देश-स्थिति या व्यधिकरणता असंगति अलंकार है। कार्य-कारण का भिन्न देश में कथन होने से आपाततः विरोध-प्रतीति होती है। परन्तु इसे विरोध के अन्तर्गत नहीं रख सकते। मम्मट प्रोक्त विरोध और असंगति का भेद दिखाया जा चुका है। जयरथ के अनुसार विरोध अलंकार में एक ही अधिकरण में कारण-कार्य दोनों के होने से विरोध की प्रतीति होती है, और असंगति में वे दो अधिकरणें में होते हैं, यही दोनों में भेद है। जगन्नाथ इससे असहमत हैं।[140] उनका कथन है कि असंगति में भी विरोध प्रतीति एक आधार में दो धर्मों के सम्बन्ध वर्णन होने पर होती है। अतएव विरोध में विरोध की उत्पत्ति कैसे हुई? इत्यादि विमर्श के बिना ही विरोध-प्रतीति हो जाती है, और यहां उत्पत्ति विमर्शपूर्वक विरोध प्रतीति होती है, यही दोनों में भेद है। वस्तुतः दो व्यधिकरणपदार्थों की एकाधिकरण में अवस्थिति

होने पर विरोध अलंकार होता है और समानाधिकरण रूप में प्रसिद्ध दो पदार्थों की व्यधिकरण रूप में अवस्थिति असंगति अलंकार है।[141] असंगति में कार्यांश में अभेदाध्यवसान पाया जाता है, अतएव अतिशयोक्ति इसकी अनुप्राणिका है।

यस्यैव व्रणस्तस्यैव वेदना भणति तज्जनोऽलीकम्।
दन्तक्षतं कपोले बध्वाः वेदना सपत्नीनाम्।। —का.प्र., पृ. 715

यहां दन्तक्षत कारण का अन्यत्र (वधू के कपोल पर) निबन्धन है, और उसका फल वेदना का अन्यत्र सपत्नी में। अतएव कारण-कार्य की भिन्न देशता होने से यहां असंगति अलंकार है। घाव की शारीरिक वेदना भिन्न होती है और सपत्नीविषयक मानसिक वेदना भिन्न, किन्तु दोनों का यहां एकत्व रूप में अभेदाध्यवसान हो गया है। इस प्रकार असंगति में प्रायः अतिशयोक्ति कार्यांश में अनुप्राणक होती है।[142] असंगति में कार्य-कारण व्यधिकरण रूप विरोध की आपाततः प्रतीति होती है, विषयांश-विमर्श के बाद उसका परिहार हो जाता है।

भेद

रुद्रट ने एक उदाहरण प्रस्तुत किया है, जिसे शुद्ध असंगति का मान सकते हैं।[143] मम्मट ने भी एक उदाहरण दिया है, जिसका विवेचन ऊपर की पंक्तियों में है। रुय्यक इसके दो उदाहरण, शुद्धा और अध्यवसायानुप्राणित का प्रस्तुत करते हैं। असंगति का सबसे ज्यादा, आठ भेद[144] शोभाकर ने माना है, जिसकी एकदेशता प्रसिद्ध है ऐसे कार्य की भिन्न देशता, भिन्न देश की अभिन्न देशता, बाद में होने वाले कार्य की पूर्वभाविता, कारण-कार्य की सहभाविता, कारण के तुरन्त बाद होने वाले कार्य की चिरकालता, चिरकाल में होने वाले की तुरन्त भाविता, ऐहिक कार्य की आमुत्रिकता और आमुत्रिक की ऐहिक रूप में कथन। वस्तुतः शोभाकर के प्रथम के दो और अन्तिम के दो भेद ही असंगति के हो सकते हैं, मध्य के चार भेद कारणकार्यपौवापर्य विपर्ययरूपा अतिशयोक्ति से गतार्थ हो सकते हैं। शोभाकर इस भेद को अतिशयोक्ति में न मानकर असंगति में ही मानते हैं। इसीलिये उन्होंने अतिशयोक्ति के चार भेद ही स्वीकारे हैं।[145]

जयदेव और वाग्भट द्वितीय असंगति का कोई भेद नहीं करते। विद्याधर भी रुय्यक की भांति दो उदाहरण प्रस्तुत करते हैं। भोजराज ने चित्रहेतु नाम का एक अर्थालंकार माना है,[146] जिसका अन्तर्भाव विद्याधर ने असंगति में ही किया है।[147] विश्वनाथ तथा विद्यानाथ भी एक-एक ही उदाहरण रखते हैं। अप्पयदीक्षित

ने असंगति के तीन भेदों का विवेचन किया है, कार्य-कारण की भिन्न देशता में, करणीय कार्य को जिस देश में करना चाहिये, वहां न करके उसको अन्यत्र करने पर तथा प्रवृत्त कार्य को न करके उससे विरुद्ध अन्य कार्य करने पर।[148] बाद में इन भेदों का विवेचन देवशंकर, अच्युतराय, चिरंजीव तथा ब्रह्मतन्त्र परकाल स्वामी ने भी किया है।[149] अप्पयदीक्षित की प्रथम असंगति तो अन्य आचार्यों की असंगति है। द्वितीय असंगति भी प्रथम में ही अन्तर्भूत हो सकती है। दीक्षित के उदाहरण—अपारिजातां वसुधां द्यां चिकीर्षन् तथा कृथाः—में अपारिजात (शत्रुविहीन) करण रूप चिकीर्षाकारण का पृथिवी में और उसका फल रूप कार्य अपारिजात (पारिजात राहित्य) स्वर्ग में होने से कार्य-कारण रूप भिन्नदेशता है ही। अतएव उनका द्वितीय भेद प्रथम भेद से व्यतिरिक्त नहीं है। उनका तृतीय भेद तो पंचम विभावना—विरुद्ध कार्य सम्पत्तिर्दृष्टा काचिद् विभावना—में अन्तर्भूत है। इस प्रकार जगन्नाथ ने दीक्षित के इन दो नूतन भेदों का निराकरण किया है।[150] नागेश और वैद्यनाथ तत्सत् दीक्षित की रक्षा करने का प्रयास अवश्य करते हैं, पर उनका तर्क निर्बल है।[151] दीक्षित का खंडन करने के कारण स्पष्ट है, कि जगन्नाथ असंगति का कोई अन्य भेद मानने को तत्पर नहीं है। अतएव उन्होंने कोई भेद नहीं किया है। विश्वेश्वर आदि भी कोई भेद नहीं करते।

वस्तुतः असंगति को विभक्त करना उचित नहीं है। कार्य-कारण का भिन्नदेशत्व रूप निबन्धन ही असंगति है। वह कहीं शुद्ध तथा कहीं अध्यवसाय से अनुप्राणित हो सकती है। अतिशयोक्ति में भी कार्य-कारण का पौर्वापर्यविपर्यय पाया जाता है, पर वहां वही उसका बीज है, किन्तु यहां कार्य-कारण की व्यधिकरणता ही मूल है।[152]

विषम

समानता के कारण दो वस्तुओं का सम्बन्ध स्थापन ही सम है—सह तुल्यतया मीयते इति समम्।[153] तात्पर्य यह कि अनुरूप सम्बन्ध ही सम है, उससे विपरीत या अननुरूप ज्ञान विषम कहा जाता है—तद्विपरीतः समम् अथवा अननुरूपस्य ज्ञानं विषमम्। इस प्रकार विषम अन्वर्थक है। दो पदार्थों में अननुरूप सम्बन्ध दिखाना ही विषम का काम है। सम्बन्धों की अननुरूपता ही इसके चमत्कार का कारण है, और अननुरूप सम्बन्ध होने से यह भी विरोधमूलक अलंकार है।

विषम अलंकार के भी प्रथम उद्भावक आचार्य रुद्रट ही हैं। वह इसे वास्तव तथा अतिशयमूल मानते हैं। वास्तव विषम की उन्होंने तीन परिभाषा की है :

(1) जहां दो अर्थों में अविद्यमान सम्बन्ध को भी वक्ता प्रतिपक्षी की आशंका से विघटित कर देता है, वहां प्रथम विषम होता है। (2) दो अर्थों के विद्यामान सम्बन्ध का अनौचित्य या असंभाव्य सत्ता का अभिधान द्वितीय विषम है। तृतीय विषम की वह चतुर्धा व्याख्या करते हैं : (1) किसी कारणवश कर्ता स्वल्प कार्य भी न करे, (2) अधिक भी कर डाले, (3) अशक्त होने पर भी कर्ता कार्य को कर दे, और (4) सशक्त होने पर भी न करे।[154] नमिसाधु के अनुसार यहां विषम शब्द अनौचित्य और अशक्य कर्तृत्व का अभिधायक है।[155] कार्य और कारण के गुणों अथवा क्रियाओं में परस्पर विरोध होने पर रुद्रट अतिशयमूल विषम मानते हैं।[156]

भोजराज विषम को विरोध में अन्तर्भूत करते हैं, पहले ही कहा जा चुका है।[157] मम्मट भी विषम का कोई सामान्य लक्षण नहीं बनाते, रुद्रट की तरह केवल भेद-विवेचन प्रारंभ कर देते हैं। उन्होंने विषम के चार लक्षण किये हैं : (1) अत्यन्त अननुरूपता होने के कारण दो वस्तुओं के श्लाघ्य सम्बन्ध न होने पर, (2) प्रारंभ कार्य के विनष्ट हो जाने से कर्ता को क्रियाफल की प्राप्ति तो होती नहीं प्रत्युत् अनर्थ विषय का लाभ हो जाता है, (3) कारणानुरूप कार्य के होने पर भी उनके गुण, और (4) क्रिया के विरुद्ध हो जाने से।[158] ध्यातव्य है कि वृत्ति में मम्मट कहते हैं कि 'सम विपर्ययात्मा चतुरूपो विषमः' पर उन्होंने सम अलंकार का दो ही भेद माना है, तो फिर सम का विपर्यय विषम कैसे हो सकता है? रुय्यक ने इसे विरोधमूलक अलंकारों की श्रेणी में रखा है। रुय्यक ने भी अपने लक्षण में विषम के तीनों भेदों—रुय्यक तीन भेद का ही निरूपण करते हैं—को समेटा है। उनका कथन है कि विरूपकार्य, अनर्थ की उत्पत्ति और विरूप सङ्घटना विषम है।[159] इसको मम्मट की तरह रुय्यक ने भी वृत्ति में स्पष्ट कर दिया है। ध्यान देने की बात है कि मम्मट ने रुद्रट के अतिशय विषम को तृतीय-चतुर्थ भेदों में रखा था और वास्तव के समग्र छः भेदों को प्रथम दो भेदों में अन्तर्भूत कर दिया। रुद्रट के अतिशय वाले भेद को, जिसके मम्मट दो भेद करते हैं, रुय्यक ने विरूपकार्यरूप प्रथम भेद में ही समाहित कर दिया है। विवेचन के पश्चात् रुय्यक विषम का एक सामान्य लक्षण भी प्रस्तुत करते हैं, अननुरूपसंसर्ग विषम है।[160] रुय्यक के भेदों की व्याख्या करते हुए जयरथ ने कहा है कि विषम के प्रत्येक भेद प्रधान हैं, कोई गौण या मुख्य नहीं है, क्योंकि इसका सामान्यलक्षण बन नहीं सकता।[161]

शोभाकर ने विषम को दो सूत्रों में आबद्ध करते हुए पांच भेदों की व्याख्या प्रस्तुत की है। प्रथम सूत्र के अनुसार अर्थ विषय में अनर्थ और अनर्थ विषय में अर्थोत्पत्ति विषम अलंकार है। द्वितीय सूत्र में तीन विषम हैं, (1) विरूप संघटना,

(2) विरूप कार्योत्पत्ति (ये दोनों ही अर्थोत्पत्ति रूप हैं), और (3) कारणों की असमग्रता। इस प्रकार उन्होंने पांच विषमों का विवेचन किया है।[162] नरेन्द्रप्रभसूरि ने रुय्यक का अनुगमन किया है।[163] हेमचन्द्र यद्यपि विषम को विरोध में ही अन्तर्भूत करते हैं, तथापि वह विषम के एक भेद को—जहां कर्ता क्रिया फल तो प्राप्त नहीं करता, प्रत्युत् अनर्थ की प्राप्ति होती है—स्वीकार करते हैं।[164] वाग्भट प्रथम, किसी अनौचित्य के कारण वस्तु के असंभाव्य सम्बन्ध को विषम मानते हैं।[165] वाग्भट द्वितीय दो भेदों का विवेचन करते हैं। द्वितीय भेद हेमचन्द्र के अनुसार है तथा प्रथम वाग्भट प्रथम के अनुसार।[166] अनौचित्य रूप से अनेक भिन्न पदार्थों में एक सम्बन्ध की कल्पना को जयदेव विषम का लक्षण मानते हैं।[167] विद्याधर, विद्यानाथ, विश्वनाथ, रुय्यक के अनुगामी हैं।[168] अप्पयदीक्षित ने तीन भेदों का निरूपण तो रुय्यक के ही समान किया है,[169] किन्तु तृतीय भेद की व्याख्या वह कई प्रकार से करते हैं। कर्ता को इष्ट-प्राप्ति तो होती नहीं, अनिष्ट की प्राप्ति हो जाती है, इष्टार्थ समुद्यम से इष्ट की अप्राप्ति अनिष्ट की प्राप्ति, न केवल अपना अनिष्ट हो, प्रत्युत् आश्रय को भी अनिष्ट-प्राप्ति हो, इनके उदाहरणों को रखते हुए दीक्षित तृतीय विषम के लक्षण में 'अपि' शब्द के ग्रहण से केवल अनिष्ट प्राप्ति तथा केवल इष्टानवाप्ति का भी उपादान करते हैं। इसी प्रकार वह और भी अन्य अनेक उदाहरण प्रस्तुत करते हैं, जिनका सम्बन्ध तृतीय विषम से ही है, अतएव उनका विवेचन अनावश्यक है।[170] कवि कर्णपूर मम्मट का और भट्ट देवशंकर पुरोहित अप्पयदीक्षित का अनुकरण करने में कभी संकोच नहीं करते।[171]

रुद्रट से लेकर जगन्नाथ पूर्व तक किसी आलंकारिक ने विषम का सामान्य लक्षण बनाने का प्रयास नहीं किया। जयरथ के अनुसार तो विषम का सामान्य स्वरूप हो ही नहीं सकता। आलंकारिकों की इस कमी की ओर जगन्नाथ का ध्यान गया और उन्होंने विषम का सामान्यलक्षण बनाने का स्तुत्य प्रयास किया। उन्होंने कहा कि—अननुरूपसंसर्ग ही विषम अलंकार है।[172] अनुरूप शब्द में योग्यता के अर्थ में अव्ययीभाव हुआ है, उससे बहुब्रीहि समास-अनुरूपं यत्र न विद्यते—करने पर अननुरूप का अर्थ होता है, योग्यताविहीन। 'यह उचित है' इस प्रकार की लौकिक व्यवहार विषयता का नाम योग्यता है। संसर्ग द्विधा होता है—उत्पत्तिलक्षण और संयोगादिलक्षण। उत्पत्तिरूप संसर्ग की अयोग्यता दो स्थितियों में हो सकती है : (1) कारण-गुण से विलक्षण गुणवाले कार्योत्पत्ति में, तथा (2) इष्ट साधनरूप में निश्चित कारण से अनिष्ट कार्य की उत्पत्ति होने पर। दो संसर्गियों में से एक के गुण तथा स्वरूप से अन्य के गुण तथा स्वरूप के तिरस्कार होने पर संयोगादि रूप

संसर्ग की अयोग्यता समझी जाती है। इस प्रकार जगन्नाथ के अनुसार—अननुरूपसंसर्गो विषमम्—इस सामान्य लक्षण से ही रुय्यक आदि प्राचीनों द्वारा कथित समग्र विषम भेदों का बोध हो जाता है।[173] जगन्नाथ के अनुसार विषम में भी अभेदाध्यवसान रूप अतिशय से विरोध का स्फुरण होता है, तथा विषयांश के विमर्श के बाद उसका परिहार हो जाता है। अतएव यहां भी अभेद-अध्यवसान अनुप्राणक है, तथा उससे उत्थापित विरोधाभास परिपोषक है। कविप्रतिभानिष्पन्न होने के कारण यही विषम की अलंकारता का बीज है।[174]

इष्टसाधन रूप में ज्ञात कारण से अनिष्ट कार्योत्पत्ति रूप द्वितीय भेद में—'अनिष्टकार्योत्पत्ति' शब्द में एक शेष समास मानकर जगन्नाथ उसके तीन भेद करते हैं: (1) इष्टकार्य की अनुत्पत्ति और अनिष्टकार्य की उत्पत्ति। (2) केवल इष्टकार्य की अनुत्पत्ति, तथा (3) केवल अनिष्टकार्य की उत्पत्ति। इष्ट शब्द से चार अर्थ का ग्रहण होता है: (1) अपने किसी सुखसाधन वस्तु की प्राप्ति, (2) दुःखसाधन वस्तु की निवृत्ति, (3) विरोधी को दुःखसाधन वस्तु की प्राप्ति, तथा (4) विरोधी के सुखसाधन वस्तु की निवृत्ति। इस प्रकार द्वितीय भेद के पूर्वोक्त तीन भेदों में से प्रथम, द्वितीय के चार-चार भेद हो जाते हैं। अनिष्ट तीन प्रकार का होता है: (1) अपने दुःख साधन रूप वस्तुविशेष की प्राप्ति, (2) विरोधी को सुखसाधनरूप वस्तु की प्राप्ति, तथा (3) दूसरे के दुःखसाधनरूप वस्तु का नाश। अपने इष्ट की अप्राप्ति भी अनिष्ट की श्रेणी में आती है, पर इष्ट वस्तु की अप्राप्ति की गणना स्वतंत्र रूप से हो चुकी है, अतः पुनः गणना नहीं की गयी। इस प्रकार जगन्नाथ के अनुसार द्वितीय भेद के प्रथम तथा तृतीय भेद के प्रत्येक के तीन-तीन उपभेद और होते हैं। पुनः जगन्नाथ का कथन है कि चार प्रकार की इष्टाप्राप्ति तथा तीन प्रकार की अनिष्ट प्राप्ति की संसृष्टि होने पर इनके बारह भेद हो जाते हैं। इस तरह जगन्नाथ ने द्वितीय भेद के अनेक प्रकार प्रदर्शित किये हैं।[175] जगन्नाथ ने अप्पयदीक्षित के तृतीय लक्षण में उनके द्वारा 'अपि' शब्द लेकर की गई व्याख्या तथा केवल इष्टानवाप्ति आदि उदाहरणों की आलोचना की है,[176] जिसकी रक्षा नागेश तथा चन्द्रिकाकार ने जगन्नाथ के दूषणान्वेषण को दुष्ट बताकर किया है।[177] नरसिंह कवि, विश्वेश्वर तथा ब्रह्मतन्त्र परकाल स्वामी ने भी रुय्यक के अनुसार तीन भेदों का ही विवेचन किया है।[178] स्वामीजी ने अप्पयदीक्षित और जगन्नाथ के मतों का पल्लवन विशेष रूप से किया है।[179] अन्य आलंकारिकों में इससे अधिक कोई नूतनता नहीं है।[180]

आलंकारिकों के लक्षण विवेचन से स्पष्ट है कि विषम का सामान्य लक्षण

जगन्नाथ को छोड़कर किसी ने नहीं बनाया। हेमचन्द्र ने रुय्यक आदि के द्वारा कहे गये विषम के केवल एक भेद, फ्लानवाप्ति तथा अनिष्टाप्ति को स्वीकार किया है। अन्य भेदों को वे विरोध में ही अन्तर्भूत करते हैं। इस प्रकार रुय्यक प्रोक्त विषम के तीन भेद ही काव्य-शास्त्र में छाये रहे, जोकि रुद्रट तथा मम्मट के भेदों का ही प्रतिनिधित्व करते हैं।

अननुरूप संसर्ग ही विषम अलंकार है। उसके तीन भेद हैं : (1) विरूप कार्योत्पत्ति, (2) किसी अर्थ की सिद्धि के लिये उद्यत व्यक्ति को न केवल उस अर्थ की अनुपलब्धि होती है, प्रत्युत् अनर्थोलपब्धि भी होती है, तथा (3) अत्यन्त अननुरूप वस्तुओं की संघटना, इनके विभिन्न उदाहरण् तत्तद् ग्रन्थों में प्राप्त हैं। केवल प्रथम विषम का उदाहरण यहां दिया जा रहा है :

'अमृतलहरीचन्द्रज्योत्स्नारमावदनाम्बुजानधरितवतोर्निर्मर्याद-प्रसादमहाम्बुधेः।
उदभवदयं देव त्वत्तः कथं परमोल्वणप्रलयदहनज्वालाजालाकुलो महसां गणः।।[181]

'हे देव, अमृत ही लहरी, चन्द्र की ज्योत्स्ना, तथा लक्ष्मी के मुखकमल को तुच्छ कर देने वाले, प्रसन्नता के असीम महासमुद्र आपसे, यह परम प्रचण्ड प्रलयाग्नि ज्वाला जाल से परिपूर्ण प्रतापपुंज कैसे उत्पन्न हो गया?' यहां माधुर्य, शैत्य, आह्लादकत्व, प्रसाद, आदि अनेक गुणयुक्त कारण से उसके विरुद्ध परम प्रचण्ड प्रताप रूप कार्य की उत्पत्ति होने के कारण विरूप कार्योत्पत्ति रूप विषम अलंकार है।

उल्लास का खंडन

दूसरे के गुण प्रभाव से किसी अन्य में दोष का वर्णन उल्लास[182] अलंकार है। इसका सर्वप्रथम विवेचन जयदेव ने प्रस्तुत किया है। इसे और स्पष्ट करते हुए दीक्षित ने कहा कि किसी अन्य वस्तु के गुण-दोष से अन्य वस्तु के गुण-दोष का कथन उल्लास अलंकार है। वह चार प्रकार से हो सकता है : (1) एक वस्तु के गुण से दूसरी वस्तु का गुण, (2) एक के दोष से दूसरे का दोष, (3) एक के गुण से दूसरे का दोष, तथा (4) एक के दोष से दूसरे का गुणवर्णन।[183] प्रथम और चतुर्थ भेद को वह अन्वर्थक मानते हैं तथा द्वितीय, तृतीय को लाक्षणिक।[184] आगे चलकर इस अंलकार का उल्लेख देवशंकर जगन्नाथ, अच्युतराय, चिरंजीव तथा

ब्रह्मतन्त्रपरकाल ने भी किया है।[185] वस्तुतः उल्लास अलंकार काव्यलिंग और विषम से व्यतिरिक्त नहीं है।

यदयं रथसंक्षोभादंसेनांसो निपीडितः।
एकः कृती मदंगेषु शेषमंगं भुवो भरः।। कु., पृ. 153

दीक्षित यहां नायिका (उर्वशी) के सौन्दर्यगुण से पुरुरवा के अंग विशेष में कृतित्त्व गुण आ जाने से प्रथम उल्लास अलंकार मानते हैं। वस्तुतः यहां भी 'वपुः प्रादुर्भावादनुमितमिदं जन्मनि पुरा' इत्यादि काव्यलिंग के समान चमत्कार है।

तदभाग्यं धनस्यैव यन्नाश्रयति सज्जनम्।
लाभोऽयमेव भूपालसेवकानां न चेद्वधः।। —कु. कारिका, 135

दीक्षित इसे तृतीय, चतुर्थ उल्लास का उदाहरण मानते हैं। वस्तुतः यह लौकिक उक्ति होने से चमत्कार विहीन है। अतएव इसे तो अलंकार ही नहीं कह सकते। अतएव जगन्नाथ का यह कथन कि कुछ लोग इसे काव्यलिंग से गतार्थ करते हैं, तो कुछ लोग अलंकार मानते ही नहीं उपयुक्त है।[186] नागेश ने तो उल्लास को भी विषम से ही गतार्थ किया है।[187] अतएव उल्लास का पृथक् विवेचन अयुक्त है।

विषादन का अन्तर्भाव

अभीप्सित अर्थ से विरुद्ध अर्थ की प्राप्ति होने पर दीक्षित ने विषादन नामक एक अलंकार की उद्भावना[188] की है। बाद में देवशंकर, जगन्नाथ और ब्रह्मतन्त्रपरकाल ने भी इसका विवेचन किया है।[189] जगन्नाथ के अनुसार विषादन दो स्थितियों में होता है, अभीष्ट वस्तु कीं प्राप्ति के लिये कारण का प्रयोग न करने पर भी, केवल उसके लिये इच्छा मात्र करने पर विरुद्धार्थ की प्राप्ति तथा इष्टार्थ की प्राप्ति के लिये प्रयुक्त कारण से व्यतिरिक्त स्वतंत्र कारण से विरुद्धार्थ की प्राप्ति। और यही विषम से इसका भेद है। कहीं-कहीं विषम और विषादन का संकर भी पाया जाता है।[190] अन्त में जगन्नाथ ने यह विचार प्रस्तुत किया है कि क्या उल्लास में अनिष्टाप्तिरूप विषम अन्तर्भूत हो सकता है? अथवा विषादन ही विषम में अन्तर्भूत हो सकता है? अन्त में उन्होंने कहा है कि ये दोनों एक-दूसरे के अपवाद नहीं हैं। दोनों के विषय भिन्न हैं। विरुद्धलाभांश विषादन का विषय है और इष्टाप्ति के लिये प्रयुक्त कारण से अनिष्टाप्ति रूप संसर्गाननुरूपत्व विषम का। अतएव दोनों की पृथक् सत्ता है।[191]

वस्तुतः विषादन भी अनिष्टाप्ति रूप विषम में अन्तर्भूत हो सकता है।

'दीपमुद्योजयेद्यावन्निर्वाणस्तावदेव सः' —कु., वही।

नायिका ने दीपक को तेज करना चाहा, कि वह बुझ गया। केवल अनिष्टाप्ति रूप विषम का विवेचन दीक्षित और जगन्नाथ दोनों आलंकारिक करते हैं। यहां भी केवल अनिष्टप्राप्ति है। वैसे देखा जाये तो फल की तो सिद्धि हुई नहीं, प्रत्युत् दीपनिर्वाणरूप अनिष्टार्थ प्राप्त हो गया। अतएव विषादन विषम से भिन्न नहीं है।[192] कभी-कभी अतद्गुण भी इसके विषय को ग्रहण कर लेता है।

अवज्ञा की अवज्ञा

एक के गुण-दोष से दूसरे को गुण-दोष की प्राप्ति न होने पर जयदेव एक अवज्ञा अलंकार मानते हैं।[193] अवज्ञा का अर्थ है, अवहेलना या तिरस्कार—अवज्ञानमवज्ञा। जगन्नाथ ने इसे उल्लास का विपर्यय माना है।[194] इसका भी विवेचन दीक्षित, देवशंकर, चिरंजीव, अच्युतराय, ब्रह्मतन्त्र, आदि करते हैं।[195]

'स्वल्पमेवाम्बु लभते प्रस्थं प्राप्यापि सागरम्' कु. 136

कारण रूप समुद्र के रहते हुए भी स्वल्प जल प्राप्ति होने से कार्याभाव वर्णित है। अतएव इसमें विशेषोक्ति का ही सौन्दर्य है।

'निष्णातोऽपि च वेदान्ते वैराग्यं नैति दुर्जनः।
चिरं जलनिधौ मग्नो मैनाक इव मार्दवम्।।[196]

'चिरकाल तक समुद्र में मग्न मैनाक की मृदुता की भांति वेदान्त में निष्णात भी दुष्ट व्यक्ति वैराग्य नहीं प्राप्त करता।'

जगन्नाथ के अनुसार यहां वेदान्त के गुण रहते हुए भी अवैराग्य वर्णन होने के कारण अन्य गुण का अन्यत्र गुणाभाव रूप अवज्ञा है। वस्तुतः यहां भी वैराग्य रूप कार्य के कारण वेदान्त-निपुणता होने पर भी उसका न होना वर्णित होने से विशेषोक्ति अलंकार ही अधिक चारुत्वावह है। इससे भी बढ़कर पूरे श्लोक में तो उपमा-सौन्दर्य ही प्रधान है। अस्तु। अवज्ञा को विशेषोक्ति से पृथक् नहीं मानना चाहिये।[197] कहीं-कहीं अवज्ञा विषम अलंकार का भी विषय हो जाता है।[198]

विचित्र का खंडन

सर्वप्रथम रुय्यक ने विचित्र नामक एक नवीन अलंकार की उद्भावना की है। अपने (हेतु से) विपरीत फल की प्राप्ति के लिये किया गया प्रयत्न विचित्र अलंकार है। रुय्यक ने विषम से इसका भेद प्रतिपादित करते हुए कहा है कि विचित्र में कारण के निषेध द्वारा विपरीतता का ज्ञान होता है, जबकि विषम में विपरीत प्रतीति के द्वारा हेतु का निषेध होता है।[199] शोभाकर के अनुसार प्रवृत्ति या निवृत्ति रूप कायिक, वाचिक या मानसिक प्रयत्न की विफलता विचित्र अलंकार है।[200] उन्होंने इसके तीन प्रधान भेद किये हैं : (1) जिस कार्य के लिये जो प्रयत्न प्रसिद्ध है, उस प्रयत्न के विरुद्ध कार्य, (2) महान् प्रयत्न से तुच्छ फल या तुच्छ प्रयत्न से महान् फल की प्राप्ति, और (3) असाध्य, असंभव अथवा अनुपयोग होने से फल की विफलता। कायिक आदि भेद से और भी अनेक भेद संभव हैं—एषां च कायिकादिभेदेन बहु भेदत्वम्।' जयदेव, विद्याधर, विश्वनाथ, विद्यानाथ, अप्पयदीक्षित, देवशंकर, आदि ने भी रुय्यक के ही समान लक्षण किया है।[201] जगन्नाथ के अनुसार इष्टाभिलाषी के द्वारा क्रियमाण इष्ट के प्रतिकूल आचरण विचित्र अलंकार है।[202] अच्युतराय आदि भी अपने पूर्वाचार्यों का अनुगमन करते हैं।[203] जगन्नाथ के मत में विषम और विचित्र का भेद यही है कि विचित्र में पुरुष के प्रयत्न का वर्णन होता है, जिसका विषम में अभाव है।[204] रुय्यक, दीक्षित, देवशंकर, इसके दो-दो उदाहरण प्रस्तुत करते हैं, परन्तु विद्यानाथ, विश्वनाथ, आदि केवल एक-एक। वस्तुतः विचित्र भी विषम या विरोध से गतार्थ है।

ग्रहीतुं मुच्यतेऽधरोऽन्यतो वलति प्रेक्षितुं दृष्टिः।
घटितुं विघटेते भुजौ रताय सुरतेषु विश्रमः।।[205]

'ग्रहण के लिये अधर को छोड़ देते हैं, देखने के लिये दृष्टि अन्यत्र मुड़ जाती है, आलिंगन के लिये भुजाएं आलिंगन छोड़ देती हैं, काम-क्रीड़ा में विश्राम सुख के लिये होता है।'

रुय्यक के अनुसार यहां मोचन आदि के ग्रहण आदि विपरीत फलों का उत्साह आदि के रूप में वर्णन होने से विचित्र अलंकार है। नागेश के अनुसार यहां वाच्यान्वय के समय विषम की ही प्रतीति होती है, अतएव विचित्र को भी विषम में ही अन्तर्भूत कर देना चाहिये।[206] वस्तुतः ऐसे स्थल विरोध के अन्तर्गत आते हैं। उक्त उदाहरण में आपाततः विरोध की प्रतीति ही सौन्दर्य का कारण है। अस्तु, विचित्र, विरोध या विषम से व्यतिरिक्त नहीं है।

अचिन्त्य का चिन्तन

शोभाकर ने एक अचिन्त्य नामक अलंकार का विवेचन किया है। अविलक्षण कारण से विलक्षण कार्य की उत्पत्ति अचिन्त्य अलंकार है।[207] इसके उन्होंने दो भेद किये हैं : (1) एक स्वभाव वाले कारण से परस्पर विरुद्ध अनेक कार्योत्पत्ति, (2) विलक्षण स्वभाव वाले कारण से अविलक्षणस्वभाव के कार्य की उत्पत्ति।[208] शोभाकर के लक्षण से ही स्पष्ट है कि यह विरूप कार्योत्पत्ति रूप विषम से व्यतिरिक्त नहीं है।

'चिरसंस्थितोऽपि विगलतिमानः चिरविगलितोऽपि सङ्घटते।
विपरीतरसं करोति मधुमदः कामिनीजने।।' —वही, पृ. 103

शोभाकर के अनुसार यहां मधुमदरूप एक ही कारण से विगलन और संघटनरूप दो विरुद्ध कार्यों की उत्पत्ति होने के कारण अचिन्त्य अलंकार है। वस्तुतः यहां विरोध का ही सौन्दर्य है। आगे चलकर शोभाकर भी इस तथ्य को स्वीकारते प्रतीत होते हैं—एवम् .... यथाकथंचिदन्तर्भावस्य वक्तुं शक्यत्वाद्विरोध एवैकः।[209] अतएव अचिन्त्य भी विरोध या विषम से व्यतिरिक्त नहीं है। इसीलिये परवर्ती किसी आलंकारिक ने शोभाकर की इस नई उद्‌भावना का स्वागत नहीं किया।

सम

योग्यता या समानता के कारण दो वस्तुओं का अनुरूप या श्लाध्य सम्बन्ध सम कहा जाता है।[210] इस अलंकार में दो वस्तुओं का अनुरूप सम्बन्ध दिखाना ही कवि को अभिप्रेत रहता है। जिन दो वस्तुओं में योग्य सम्बन्ध की स्थापना की जाती है, स्वभावतः वे दोनों या तो सुन्दर होती हैं, या असुन्दर। रुय्यक आदि आलंकारिक सम को विरोधमूलक अलंकारों की श्रेणी में रखते हैं। वस्तुतः इस प्रकार के कथन स्वभाव-कथन से व्यतिरिक्त नहीं माने जा सकते।

सम अलंकार के प्रथम उद्‌भावक आचार्य हैं, मम्मट। भामह, दंडी, वामन, रुद्रट तथा भोजराज ने इसका उल्लेख नहीं किया है। योग्यता के कारण दो वस्तुओं के श्लाध्य सम्बन्ध को ही मम्मट सम अलंकार मानते हैं।[211] रुय्यक का अभिमत है कि विषम के तृतीय भेद, विरूप संघटना का विपर्यय अनुरूप संघटना ही सम अलंकार है।[212] उनके अनुसार विरूपकार्य और अनर्थोत्पत्ति रूप विषम के दो भेदों का भी विपर्यय सम अलंकार में नहीं हो सकता, क्योंकि कारण से अनुरूप कार्य की उत्पत्ति तथा वांछित अर्थ की प्राप्ति वस्तु मात्र होने से चमत्कार शून्य है।[213]

सौन्दर्य ही अलंकार का प्राण है। उसके अभाव में इन भेदों को अलंकार ही नहीं माना जा सकता। शोभाकर ने विषम के पांच भदों का उल्लेख किया है, तथापि वह विषम के अंतिम तीन भेदों के विपर्यय—कार्य-कारण की अनुरूपता, अनुरूपसम्बन्ध और सामग्री साकल्य—को ही सम अलंकार मानते हैं।[214] शोभाकर रुय्यक के इस मत से अहसमत हैं कि कारण के अनुरूप कार्योत्पत्ति में कोई चारुता नहीं है।[215] नरेन्द्रप्रभसूरि ने मम्मट के समान ही लक्षण किया है।[216] उत्कृष्टवस्तु उत्कृष्ट के योग्य होती है, निकृष्टवस्तु निकृष्ट के योग्य, इस प्रकार का योग्य सम्बन्ध सम अलंकार है, यह हेमचन्द्र का अभिमत है।[217]

पुरुषोत्तम शर्मा चतुर्वेदी मानते हैं कि दोनों वाग्भटों ने सम अलंकार का उल्लेख नहीं किया है।[218] चतुर्वेदी जी को यह भ्रान्ति हो गयी है। वाग्भट प्रथम इसका उल्लेख नहीं करते, पर वाग्भट द्वितीय ने तो स्पष्ट कहा है कि औचित्यवश दो उत्कृष्ट या अपकृष्ट वस्तुओं का योग सम अलंकार है।[219] जयदेव का लक्षण भी वाग्भट प्रथम के समान है।[220] विद्याधर रुय्यक के अनुगामी हैं।[221] विद्यानाथ, विश्वनाथ और कर्णपूर मम्मट के समान लक्षण करते हैं।[222] अप्पयदीक्षित ने विषमत्रय के विपर्ययभूत सम के तीन भेदों का विवेचन किया है : (1) अनुरूप संघटना, (2) कार्य-कारण का सारूप्य, और (3) बिना अनिष्ट के कार्य-सिद्धि।[223] अन्तिम भेद के अनेक लक्ष्य हो सकते हैं : (1) असंभावित अनिष्ट होने पर श्लेष के कारण इष्टार्थ की प्राप्ति, (2) इष्ट-अर्थ की प्राप्ति होने पर भी श्लेष के कारण मिथ्या अनिष्टार्थ की प्रतीति, तथा (3) श्लेषप्राप्त इष्टावाप्ति की असत् प्रतीति में भी तृतीय सम हो सकता है।[224] देवशंकर तो दीक्षित का अनुगमन करते ही हैं।[225]

जगन्नाथ के अनुसार अनुरूप संसर्ग ही सम अलंकार है।[226] उत्पत्ति और संयोगादिलक्षण दो प्रकार के संसर्गों का विवेचन विषम प्रकरण में किया जा चुका है। उत्पत्तिरूपसंसर्ग की अनुरूपता त्रिधा हो सकती है : (1) कारण से अपने समान गुणवाले कार्य की उत्पत्ति, (2) जिस प्रकार की गुणवाली वस्तु से संसर्ग हो, उस प्रकार के गुण की उत्पत्ति, तथा (3) इष्टप्राप्ति के लिये प्रयुक्त जिस किसी भी कारण से उसकी प्राप्ति। एक के गुण तथा स्वरूप द्वारा दूसरे के गुण तथा स्वरूप के अनुगृहीत होने पर संयोग रूप संसर्ग होता है। इस प्रकार, जगन्नाथ तथा अच्युतराय के अनुसार सम के उपर्युक्त लक्षण से ही, उसके समग्र भेदों का ग्रहण हो जाता है।[227] जगन्नाथ ने दीक्षित के कुछ उदाहरणों पर आक्षेप करने का प्रयास किया है।[228] जिसका निरास नागेश ने भलीभांति कर दिया है।[229] उन्होंने रुय्यक और विमर्शिनीकार के इस मत का भी प्रत्याख्यान किया है कि प्रथम, द्वितीय विषम के

प्रतिद्वन्द्वी दो भेद-कारण के अनुरूप कार्योत्पत्ति और वांछितार्थप्राप्ति—सम अलंकार में नहीं हो सकते ।[230] विश्वेश्वर ने इस अलंकार पर कोई विशेष विवेचन नहीं किया ।[231] नरसिंह कवि ने अनुरूप संघटना, और अनुरूप कार्योत्पत्ति दो भेदों का विवेचन किया है। वांछितार्थ की प्राप्ति वाला भेद उन्हें भी अमान्य है ।[232] ब्रह्मतन्त्रपरकाल स्वामी ने इसका सविस्तार विवेचन किया है ।[233] अन्यों के विवेचन में पूर्वोक्त से कोई वैशिष्ट्य नहीं है ।[234]

भेद

मम्मट ने सम अलंकार के दो भेद माने हैं, दो सुन्दर वस्तुओं के अनुरूप सम्बन्ध होने पर तथा दो असुन्दर वस्तुओं के अनुरूप सम्बन्ध होने पर ।[235] इन दो भेदों को रुय्यक, नरेन्द्रप्रभसूरि, हेमचन्द्र, वाग्भट द्वितीय, आदि आलंकारिक मानते हैं ।[236] जयदेव, विद्याधर, विद्यानाथ और विश्वनाथ केवल एक-एक उदाहरण सद्योग का देते हैं। अप्पयदीक्षित के प्रमुख भेदों की ऊपर चर्चा की जा चुकी है। अनुरूप संघटना रूप प्रथम भेद के उन्होंने स्तुति और निन्दा पर्यवसायी दो उदाहरण प्रस्तुत किये हैं। अनुरूप कार्योत्पत्ति के भी वह दो उदाहरण रखते हैं, कारण के स्वभाव के अनुरूप कार्योत्पत्ति तथा कार्योत्पत्ति की आगन्तुक अनुरूपता में। उनके तृतीय भेद के अवान्तर भेदों का विवेचन पहले ही कर चुके हैं। जगन्नाथप्रोक्त चार भेदों का उल्लेख पहले ही हो चुका है। स्तुति और निन्दा में पर्यवसित होने के कारण संयोग संसर्ग की अनुरूपता को वह भी द्विधा मानते हैं, जो दीक्षित का अनुकरणमात्र है ।[237] अन्य कोई वैशिष्ट्य नहीं है। विश्वेश्वर भी मम्मट की भांति दो भेद मानते हैं।

दो वस्तुओं का अनुरूप सम्बन्ध ही सम अलंकार है। आलंकारिकों ने विषम का प्रतिद्वन्द्वी होने के कारण ही इसे विरोधमूलक अलंकारों की श्रेणी में खड़ा कर दिया है ।[238] वस्तुतः इसमें विरोध का सौन्दर्य न होकर स्वभावसौन्दर्य का ही निबन्धन किया जाता है। दो वस्तुओं का अनुरूप सम्बन्ध दोनों के सुन्दर होने के कारण सौन्दर्य की सृष्टि करता है परन्तु यदि दोनों वस्तुएं असुन्दर भी हों तो उनका संयोग सौन्दर्य-सृष्टि में कम उपयोगी नहीं होता। अतएव इस अलंकार के अभिरूप और अनभिरूप सम्बन्ध से दो भेद मानना उपयुक्त है। अभिरूप सम्बन्ध का उदाहरण :

शशिनमुपगतेयं कौमुदीमेघमुक्तं
जलनिधिमनुरूपं जह्नुकन्यावतीर्णा।
इति समगुणयोगप्रीतयस्तत्र पौराः
श्रवणकटुनृपाणामेकवाक्यं विवब्रुः।।[239] —र.वं., 6/85

इन्दुमती स्वयंवर का वृत्तान्त है। इन्दुमती के द्वारा अज के वरण कर लिये जाने पर दोनों के समान गुण का सम्बन्ध होने से पुरवासियों के मुख से एकसाथ ये वाक्य फूट पड़े 'समान गुणों का सम्बन्ध होने के कारण यह इन्दुमती मेघनिर्मुक्त चन्द्र को प्राप्त चांदनी तथा योग्य समुद्र को प्राप्त गंगा (के समान) हो गयी।' यहां अज और इन्दुमती के समान गुण होने के कारण दोनों का सम्बन्ध अभिरूप है। अतएव यह सद्योग (अभिरूप सम्बन्ध) सम का उदाहरण है। ध्यातव्य है कि वक्ष्यमाण समुच्चय अलंकार में भी सद्, असद्योग का वर्णन होता है, किन्तु वहां अच्छे-बुरे कारणों से सदसत् फल-निष्पत्ति होती है और सम अलंकार में सदसद् वस्तुओं का सम्बन्ध वर्णित होता है।

अधिक

अध्यारूढौ आधाराधेयौ यत्र तदधिकम्। आधार या आधेय की अधिकता को अधिक कहते हैं। अध्यारूढ शब्द से कन् (अधिकम्, पा. 5/27/3) प्रत्यय तथा आरूढ पद के लोप होने पर अधिक शब्द निष्पन्न होता है। अधिक अलंकार में आधार की अपेक्षा आधेय या आधेय की अपेक्षा आधार का सौन्दर्य पूर्ण आधिक्य प्रदर्शन ही कवि या सहृदय का अभिप्रेत होता है। आधार-आधेय प्रायः अनुरूप हुआ करते हैं। उनकी अननुरूपता के कारण ही यहां पर विरोध की प्रतीति होती है, पर विषय-विमर्श के बाद उसका परिहार हो जाता है। इसीलिये अधिक को भी विरोधमूलक अलंकारों में परिगणित किया गया है।

भामह, दंडी, उद्भट तथा वामन ने इस अलंकार का उल्लेख नहीं किया है। दंडी-प्रयुक्त अतिशयोक्ति के एक उदाहरण[240] में मम्मट ने आधाराधिक्य रूप अधिक अलंकार माना है। इस अलंकार के प्रथम उद्भावक आचार्य हैं, रुद्रट। उनके अनुसार अधिक भी अतिशयमूल अलंकार है। रुद्रट ने इसके दो लक्षण किये हैं। एक ही कारण से—परस्पर विरुद्ध अथवा विरुद्ध बलवती दो क्रियाओं से प्रसिद्ध—दो कार्यों की उत्पत्ति में प्रथम अधिक होता है, तथा महान् आधार में अवस्थित स्वल्प भी आधेय यदि किसी प्रकार बढ़ जाये तो द्वितीय अधिक होता है।[241] रुद्रट का प्रथम अधिक परवर्ती आलंकारिकों को मान्य नहीं हुआ। भोज ने अधिक को विरोध का एक भेद माना है।[242]

मम्मट ने रुद्रट के द्वितीय अधिक का ही पल्लवन किया है। रुद्रट ने द्वितीय अधिक में केवल आधेय की अधिकता स्वीकार की थी। मम्मट ने आधार की अधिकता को भी अधिक का विषय मान लिया। उनके अनुसार जहां आधेय के

विशाल होने पर उसकी अपेक्षा स्वल्प भी आधार वर्णनीय वस्तु के उत्कर्ष के लिये महान् रूप में हो अथवा आधार के विशाल होने पर उसकी अपेक्षा स्वल्प भी आधेय महान् रूप में वर्णित किया जाये, वहां अधिक अलंकार होता है।[243] मम्मट की कारिका और वृत्ति दोनों ही क्लिष्ट हो गयी हैं। अतएव काव्यप्रकाश की टीकाओं का इस विषय में अवलोकन उपयुक्त है।[244] उद्योतकार के अनुसार आधार-आधेय की न्यूनता होने पर भी किसी एक की अधिकता का वर्णन कवि-कल्पना-प्रसूत होने पर ही अलंकार हो सकता है, अन्यथा वस्तुमात्र होगा।[245]

रुय्यक ने मम्मट की क्लिष्ट योजना का परिहार करते हुए अधिक का स्पष्ट लक्षण किया है—आश्रय और आश्रयी की अननुरूपता अधिक अलंकार है।[246] यहां अननुरूपता ही विरोध की उत्थापिका है। ध्यातव्य है कि सर्वप्रथम रुय्यक ने ही इसे विरोधमूल माना है। आश्रयाश्रयी की अननुरूपता आश्रय के विशाल होने पर भी आश्रित के परिमित होने अथवा आश्रित के विशाल होने पर भी आश्रय के परिमित होने पर हो सकती है।[247] स्पष्ट है कि रुय्यक भी मम्मट के समान विवेचन करते हैं। समुद्रबन्ध ने अधिक को इस प्रकार स्पष्ट किया है :

> **'आश्रयाश्रयिणोरन्यूनानतिरिक्तत्त्वमानुरूप्यम्। तदभावोऽनानुरूप्यम्। तत्र प्रथमे भेदे आश्रयस्य अतिरिक्तत्त्वं आश्रयिणो न्यूनत्वं, द्वितीये त्वन्यथा।'**[248]

आश्रय और आश्रयी की अननुरूपता में भी विरूपसङ्घटना रूप विषम विद्यमान रहता है। इसीलिये शोभाकर अधिक को पृथक् अलंकार न मानकर उसका विषम में ही अन्तर्भाव करते हैं।[249] उनका विचार है कि यदि आश्रयाश्रयी की अननुरूपता में अधिक अलंकार मानते हैं, तो गुण-गुणी की अननुरूपता में विगुण को भी अलंकार मानना पड़ेगा। इसी प्रकार अन्य वस्तुओं की भी अननुरूपता होने से अलंकार का आनन्त्य संभव है। अतएव अधिक विषम अलंकार से व्यतिरिक्त नहीं है।[250] विमर्शिनीकार ने शोभाकर का विरोध करने का प्रयास किया है।[251] उनका कथन है कि अधिक में दो पदार्थों का परस्पर आधार-आधेय सम्बन्ध होता है, जबकि विषम में दो पदार्थ परस्पर निरपेक्ष और भिन्न होते हैं। वस्तुतः शोभाकर का तर्क अधिक उपयुक्त और ग्राह्य है।

नरेन्द्रप्रभसूरि मम्मट-रुय्यक का अनुगमन करते हैं।[252] हेमचन्द्र इसे भी विरोध से पृथक् नहीं मानते।[253] वाग्भट प्रथम ने अधिक का उल्लेख नहीं किया है। वाग्भट द्वितीय ने मम्मट वाले लक्षण को ही अधिक स्पष्ट कर दिया है।[254] जयदेव ने केवल आधार से आधेय के आधिक्य वर्णन में अधिक स्वीकार किया

है।[255] विद्याधर रुय्यक का ही अनुगमन करते हैं।[256] वस्तुतः परवर्ती समग्र आचार्य मम्मट और रुय्यक के समान ही अधिक का विवेचन करते हैं।[257] यहां तक कि जगन्नाथ और विश्वेश्वर ने भी मात्र लक्षण और उदाहरण के कोई नवीन बात नहीं कही।

उपर्युक्त विवेचन से यह प्रकट है कि इस अलंकार के उद्भावक आचार्य रुद्रटप्रोक्त प्रथम भेद को किसी आलंकारिक ने स्वीकार नहीं किया। मम्मट ने उनके द्वितीय अधिक को ग्रहण कर उसका द्विधा स्वरूप स्थापित किया और परवर्ती आलंकारिक वर्ग एकमत होकर उसे मानता रहा। ध्यातव्य है कि रुद्रट, जयदेव, और चिरंजीव आधेय की अधिकता में ही अधिक को स्वीकारते हैं। वस्तुतः आधार की अधिकता तो स्वभावतः होती है, अतएव उसके वर्णन में कोई चारुता नहीं है। चारुता तो है आधार की अपेक्षा आधेय के आधिक्य प्रदर्शन में। अतएव रुद्रट का द्वितीय अधिक, अधिक समादरणीय है।

'जगद्विशाले हृदि तस्य तन्वी प्रविश्य सास्ते स्म तथा यथा तत्।
पर्याप्तमासीदखिलं न तस्यास्तत्रावकाशस्तु कुतोऽपरस्याः।।'[258]

'जगद्विशाल उसके हृदय में प्रवेश कर वह कृशांगी इस प्रकार निवास कर रही है कि वह उसी के लिये पर्याप्त नहीं है। भला दूसरी के लिये वहां कैसे जगह हो सकती है?'. यहां विशाल हृदय रूप आधार में तन्वी आधेय का न समाना आधेय की अधिकता को प्रकट कर रहा है। नायक के विशाल हृदय में उसका न अंटना अनुरागातिशय के कारण है। अतएव प्रस्तुत के उत्कर्ष के लिये वर्णित यहां आधेयाधिक्य अत्यन्त रमणीय होने से अधिक अलंकार का विषय है।

अल्प अलंकार का अन्तर्भाव

जहां आधेय अत्यन्त सूक्ष्म हो किन्तु कवि आधार को उससे भी अधिक सूक्ष्म बताये, वहां अल्प नामक अलंकार होता है।[259] इसकी प्रथम उद्भावना करने वाले आचार्य हैं, अप्पयदीक्षित।[260] बाद में इस अलंकार का विवेचन देवशंकर, अच्युतराय तथा ब्रह्मतन्त्रपरकाल स्वामी ने भी किया है।[261]

'मणिमालोर्मिका तेऽद्य करे जपवटीयते'

'मणिमालामयी अंगूठी (विरह के कारण) आज तुम्हारे हाथ में जयमाला के समान हो रही है।'

दीक्षित के अनुसार यहां अत्यन्त सूक्ष्म आधेय है, मुद्रिका, परन्तु नायिका की विरहदशा के कारण उसका आधार हाथ आज इतना सूक्ष्म हो गया है कि अंगूठी जपमाला जैसी लगती है। अतएव आधार के अत्यन्त सूक्ष्म होने के कारण यहां अल्प अलंकार है।

वस्तुतः अल्प अलंकार अधिक से व्यतिरिक्त नहीं है। अधिक अलंकार में जहां आधेय की अधिकता विवक्षित होती है, वहां स्वभावतः आधार सूक्ष्म हो जाता है। अतएव दीक्षित की यह नयी उद्‌भावना कोई युक्ति नहीं रखती। इसीलिये नागेश और विश्वेश्वर ने अल्प को अधिक से व्यतिरिक्त नहीं माना।[262]

अन्योन्य

प्राणनार्थक 'अन्' धातु से य[263] प्रत्यय करने पर अन्य शब्द निष्पन्न होता है। अन्य का अर्थ है, असदृश या इतर।[264] जहां दो वस्तुओं की आपस में उपकारिता हो उसे अन्योन्य कहते हैं—अन्यः अन्यं प्रति परस्परोपकारित्वेन स्थितः यत्र। अतएव इस अलंकार का अन्योन्य नाम उपयुक्त है। क्रिया के परस्पर निष्पादन में रुय्यक आदि अन्योन्य मानते हैं। परस्पर उत्पादन विरोध का जनक है। अतएव अन्योन्य को भी विरोधमूलक अलंकार माना गया है।

भामह, दंडी, उद्‌भट तथा वामन इस अलंकार का उल्लेख नहीं करते। अन्योन्य अलंकार के उद्‌भावक आचार्य रुद्रट हैं। उन्होंने इसे वास्तवमूल माना है। उनका कथन है कि जहां दो पदार्थों में एक ही कारकभाव, क्रिया के द्वारा परस्पर विशिष्ट धर्म का पोषण करे, वहां अन्योन्य अलंकार होता है।[265] परस्पर उपकार्य-उपकारक भाव को अन्योन्य मानकर भोजराज ने इसके लक्षण को सरल बना दिया है।[266] रुद्रट के ही लक्षण का परिष्कार करते हुए मम्मट ने कहा है कि दो पदार्थों के उत्पादन में एक क्रिया के द्वारा परस्पर कारणता होने पर अन्योन्य अलंकार होता है।[267] शोभाविहीन वस्तु अजातकल्प ही होती है। वैशिष्ट्यपूर्ण परस्पर एक क्रियाजनकत्व अन्योन्य अलंकार है।[268] उद्योतकार मम्मट के लक्षण में क्रियाग्रहण गुण का भी उपलक्षण मानते हैं।[269] रुय्यक ने मम्मट के लक्षण को ही सूत्र में संक्षेपपूर्वक निबद्ध कर दिया है।[270] रुय्यक की विशेषता यह रही कि उन्होंने इसे विरोधमूलक स्वीकार किया। उनका अभिमत है कि परस्पर उत्पादन विरुद्ध होने से यहां विरोध की मूलतः स्थिति पायी जाती है,[271] पर क्रिया के ही द्वारा परस्पर उत्पादकता यहां संभव है, न कि स्वरूपतः। स्वरूपतः उत्पादकता होने पर विरोध अपरिहार्य हो जायेगा।

शोभाकर रूप और धर्म के परस्पर निबन्धन में अन्योन्य मानते हैं।[272] अन्योन्य में स्वरूपतः अन्योन्य जनकता नहीं हो सकती, रुय्यक के इस मत से शोभाकर असहमत हैं। उनके अनुसार यहां भी आमुख में विरोध प्रतीति होती है। पर्यवसान में उसका समाधान हो जाता है।[273] शोभाकर रुय्यक के लक्षण को अव्यापक तो मानते ही हैं, उनके उदाहरण 'कंठस्य तस्याः स्तनबन्धुरस्य'[274] इत्यादि में क्रिया के द्वारा एक-दूसरे की निष्पादकता, जैसा कि रुय्यक मानते हैं, शोभाकर को अमान्य है।[275] वह यहां शोभन धर्म को ही परस्पर निष्पादक मानते हैं। जयरथ ने रुय्यक की अव्यापकता का निराकरण करते हुए, उनके लक्षण में क्रिया का गुण अर्थ स्वीकार कर उक्त उदाहरण की संगति भी दिखाई है।[276] नरेन्द्रप्रभसूरि का लक्षण रुय्यक के समान है।[277] हेमचन्द्र तथा वाग्भट प्रथम इसका उल्लेख नहीं करते। वाग्भट द्वितीय क्रिया के द्वारा परस्पर कार्य-कारिता होने पर अन्योन्य स्वीकार करते हैं।[278] विद्याधर, विद्यानाथ, विश्वनाथ और कर्णपूर का लक्षण मम्मट रुय्यक के सदृश है।[279] जयदेव परस्पर उपकार को अन्योन्य कहते हैं।[280] अप्पयदीक्षित जयदेव के लक्षण को ही रखते हैं, देवशंकर तो उनके अनुयायी हैं ही। नरसिंह कवि भी अपने पूर्वाचार्यों से व्यतिरिक्त कुछ नहीं कहते।[281]

जगन्नाथ का अभिमत है कि दो वस्तुओं में एक-दूसरे द्वारा परस्पर विशेष संपादन अन्योन्य अलंकार है।[282] अच्युतराय भी इन्हीं का अनुगमन करते हैं। विश्वेश्वर, सर्वेश्वर, ब्रह्मतन्त्र, आदि के लक्षणों में भी कोई वैशिष्ट्य नहीं है।[283]

अन्योन्य के भेद

रुद्रट ने अन्योन्य का कोई भेद प्रतिपादित नहीं किया। भोजराज अन्योन्य के तीन भेद, वाच्य, प्रतीयमान तथा उभयात्मक मानते हुए अन्योन्यचूलिका, अन्योन्य भ्रान्ति और अन्योन्य एकता को अन्योन्य में ही अन्तर्भूत करते हैं।[284] प्रतीत होता है कि अन्योन्य चूलिका आदि अन्योन्य के भेद भोज के पहले ही प्रकाश में आ चुके थे। भोज-प्रोक्त इन भेदों का न उनसे पूर्व और न पश्चात् ही कोई उल्लेख मिलता है। शोभाकर स्वरूप और धर्म निबन्धन में अन्योन्य मानकर उसके अनेक उदाहरण प्रस्तुत करते हैं। जगन्नाथ भी केवल धर्म और क्रिया के उदाहरण देते हैं। अन्य किसी आलंकारिक ने अन्योन्य के भेदों का उल्लेख नहीं किया है। विद्याधर अवश्य भोजराज के भेदों की ओर संकेत मात्र कर देते हैं।[285]

'उद्धर्षः पिबति जलं यथा यथा विरलांगुलिश्चिरं पथिकः।
प्रपापालिकापि तथा तथा धारां तनुमपि तनूकरोति।।[286]

भोजराज यहां प्रतीयमान अन्योन्य अलंकार मानते हैं। उनका कथन है कि पथिक के विरलांगुलि द्वारा जल पीने तथा प्रपापालिका के क्षीण जलधारा गिराने से दोनों के अनुराग रूप वैशिष्ट्य का परस्पर उपकार होने से यहां अन्योन्य अलंकार है। यह परस्पर का उपकार शब्दतः उपात्त नहीं है।[287] अतएव यहां अन्योन्य प्रतीयमान है। उक्त उदाहरण को शब्दों के परिवर्तन के साथ अप्पयदीक्षित उद्धृत करते हैं।[288] वह एक-दूसरे के परस्पर मुखावलोकन रूप उपकार के कारण यहां अन्योन्य स्वीकार करते हैं।[289]

जगन्नाथ यहां दीक्षित की आलोचना करते हैं। उनका अभिमत है कि दीक्षित का वृत्तिभाग व्युत्पत्तिशिथिल है। 'स्वमुखावलोकनममिलषन्त्याः' में दीक्षित स्व का अर्थ पथिक लेते हैं, जबकि वह प्रपापालिका का विशेषण है, इसी प्रकार 'स्वमुखावलोकनमभिलषतः' में स्व शब्द पथिक का विशेषण है, जबकि दीक्षित उसका सम्बन्ध प्रपापालिका से स्थापित करते हैं। इस प्रकार की विसंगति होने से जगन्नाथ के अनुसार अप्पय की पद-योजना तो शिथिल हो ही जाती है, उनका यह भी अभिमत है कि उक्त उदाहरण में अन्योन्य अलंकार नहीं बन सकता। पथिक ने अंगुलियां इसलिये विरल कर ली हैं कि वह स्वयं उस युवती को देखना चाहता है, और प्रपापालिका इसलिये तनुधारा गिराती है कि वह पथिक को देखना चाहती है। अतएव दोनों ने अपना-अपना उपकार किया, परस्पर उपकार कहां हुआ?[290] नागेश और वैद्यनाथ तत्सत् जगन्नाथ के आक्षेपों का निराकरण अवश्य करते हैं, परन्तु अप्पयदीक्षित की रीति से ही।[291]

वस्तुतः जहां मुख्य विशेष्य के विशेषण रूप में 'स्व' निज आदि पद का प्रयोग होता है, वहां वे उसी के वाचक होते हैं, पर जहां उनका प्रयोग मुख्य विशेष्य के विशेषण रूप में नहीं होता, वहां 'स्व' निज आदि शब्द अपने विशेष्य के ही बोधक हों, कोई आवश्यक नहीं। अतएव जगन्नाथ के प्रथम आक्षेप का परिहार संभव है। जहां तक उक्त श्लोक में अन्योन्य अलंकार मानने का प्रश्न है, वह भोजराज की रीति से ही उत्तम है। यहां प्रतीयमान ही अन्योन्य चमत्कारी है। अस्तु।

दो वस्तुओं में एक-दूसरे द्वारा परस्पर विशेष-संपादन अन्योन्य अलंकार है।

विशेष

न्यायशास्त्र के छः भावपदार्थों में विशेष भी एक पदार्थ है। वह नित्य द्रव्यों में रहने वाला, अनेक तथा अतीन्द्रिय है।[292] नैयायिक सम्मत विशेष पदार्थ की भांति काव्य के विशेष का क्षेत्र भी व्यापक है, तथापि यह न्यायशास्त्र के विशेष से भिन्न

है। संभवतः विशेष की व्यापकता के कारण ही आलंकारिक उसका सामान्य लक्षण न बना सके। 'वि' उपसर्गपूर्वक विशेषणार्थक 'शिलष्लृ' धातु से भाव अर्थ में घञ् प्रत्यय करने पर विशेष शब्द की निष्पत्ति होती है। विशेष का अर्थ है, अतिशय वैशिष्ट्य।[293] यह वैशिष्ट्य अनेक प्रकार से हो सकता है, बिना आधार के आधेय की उक्ति, अनेक आधार में एक की स्थिति, क्रियमाण कार्य के साथ अशक्य कार्य का हो जाना तथा गुण, दोष, आदि की अभ्यर्थना आदि। इस प्रकार अनेक वैशिष्ट्य निबन्धन के कारण प्रकृत अलंकार को यथार्थाभिधायी कहा जा सकता है। विशेष अलंकार में बिना आधार इत्यादि के आधेय इत्यादि की स्थिति होने के कारण अनुरूपता का परिहार पाया जाता है। अतएव आनुरूप्य-परित्याग रूप विरोध के कारण इसे भी विरोध अलंकारों की श्रेणी में रखा गया है।

भामह, दंडी, उद्भट तथा वामन ने इस अलंकार का उल्लेख नहीं किया है। विशेष की उद्भावना का श्रेय रुद्रट को है। वह इसे अतिशयमूल अलंकार मानते हैं। उन्होंने इसका त्रिधा लक्षण किया है, आधार के विद्यमान होने पर भी वस्तु को निराधार बताया जाये, एक वस्तु एक साथ अनेक आधारों में विद्यमान बतायी जाये तथा एक कार्य को करता हुआ कर्ता असंभव दूसरा भी कार्य कर डाले तो विशेष अलंकार होता है।[294] नमिसाधु का कथन है कि अन्य वस्तुओं की अपेक्षा विशिष्ट धर्म का अभिधान होने से इस अलंकार को विशेष कहा जाता है।[295] रुद्रट के इस त्रिधा लक्षण को ही परवर्ती सभी विद्वान् मानते हैं।

भोजराज ने इसका उल्लेख नहीं किया है। मम्मट ने रुद्रट के ही लक्षणों को अपनी शब्दावली में रखा है।[296] उनका प्रथम उदाहरण भी रुद्रट का है। अन्य उदाहरण उनके अपने हैं। निराधार आधेय का वर्णन, एक वस्तु की अनेक आधारों में एक साथ उक्ति तथा प्रारंभ कार्य के साथ अशक्य कार्यान्तर का वर्णन, ये सभी अनुपपन्न होने के कारण दोष ही हो सकते हैं, अलंकार नहीं? मम्मट ने इस आशंका के निराकरण के लिये कहा है कि इस प्रकार के विषयों में सर्वत्र अतिशयोक्ति ही प्राणरूप में अवस्थित रहती है, क्योंकि उसके बिना प्रायः अलंकार संभव नहीं है। अपने कथन की पुष्टि के लिये वह भामह की 'सैषा सर्वैव वक्रोक्तिः' आदि उक्ति को उद्धृत करते हैं।[297] यहां मम्मट का अतिशयोक्ति से क्या तात्पर्य है? क्या वह इसे सर्वालंकारसामान्य वक्रोक्तिरूपा अतिशयोक्ति मानते हैं? अथवा उनका अभिप्राय अतिशयोक्ति अलंकार से है? इस पर उनके अधिकांश टीकाकार यहां वक्रोक्ति को काव्य का व्यापक तत्त्व मानते हैं। और उनका कथन है कि मम्मट को यहां अतिशयोक्ति से अलंकार सामान्य वक्रोक्ति अर्थ ही अभिप्रेत है।[298] पर

मम्मट के उदाहरणों में यह बात लागू नहीं होती :

दिवमप्युपयातानामाकल्पमनल्पगुणगणाः येषाम् ।
मदयन्ति जगन्ति गिरः कथमिह कवयो न ते वन्द्याः ।[299]

वाणी के आधार कवि थे, पर उनके स्वर्ग चले जाने पर भी निराधार उनकी वाणी संसार को आनन्दित कर रही है। अतएव यहां प्रथम विशेष है। मम्मट ने लक्षण में प्रसिद्ध आधार का ग्रहण किया है, जिसका अर्थ है, कविकल्पित, न कि वास्तविक। कवि-वाणी का वास्तविक आधार तो है उनका ग्रन्थ। इस प्रकार कवि-गिरा के दो आधार हुए वास्तविक और अवास्तविक। उनका अभेद अध्यवसान होकर एक आधार के रूप में वर्णन होने से यहां 'भेदेऽभेद' रूपा अतिशयोक्ति अनुप्राणक है। इसी प्रकार अतिशयोक्ति के मम्मटोक्त अन्य भेद भी यहां घटित नहीं होते हैं।[300] इसी प्रकार मम्मट के 'सा वसति तव हृदये', 'स्फुरत् अद्भुतरूपम्', 'गृहिणी सचिवः', आदि अन्य विशेष के उदाहरणों में क्रमशः 'असम्बन्धे-सम्बन्धः', 'भेदेऽभेदः' तथा 'असम्बन्धे-सम्बन्धः' रूपा अतिशयोक्ति अनुप्राणक है। अस्तु। इससे यही प्रतीत होता है कि मम्मट यहां अतिशयोक्ति को अलंकारसामान्य न मानकर अलंकार विशेष ही मानते हैं। मम्मट के 'प्रायेण' पद का यही अभिप्राय है कि अतिशयोक्ति प्रायः इस प्रकार के अलंकारों में पायी जाती है। इसकी पुष्टि हेमचन्द्र के कथन से भी होती है, जहां वह मम्मट के प्रथम उदाहरण तथा विशेष के अन्य उदाहरणों में असम्बन्धे-सम्बन्ध रूपा अतिशयोक्ति मानकर विशेष को अतिशयोक्ति से ही गतार्थ करते हैं।[301] मम्मट ने अन्य स्थलों पर वैचित्र्य को अलंकार माना है, इसलिये भी यहां अतिशयोक्ति का व्यापक अर्थ अग्राह्य है। विद्याचक्रवर्ती आदि टीकाकार मम्मट की इस प्रवृत्ति की ओर स्पष्ट संकेत करते हैं।[302] 'प्रभा' टीकाकार 'सैषा सर्वैव' कथन को दंडी की उक्ति मानते हैं,[303] जो भ्रान्तिपूर्ण है।

रुय्यक ने लक्षण वही किया है। आनुरूप्य-परिहार के कारण वह यहां भी विरोध की स्थिति मानते हैं।[304] जयरथ तीनों ही विशेष को स्वतंत्र मानकर सामान्य लक्षण का अभाव सिद्ध करते हैं।[305] समुद्रबन्ध असंभवी अर्थ का सम्भवी रूप में निबन्धन विशेष का सामान्य लक्षण करते हैं।[306] शोभाकर ने भी वही तीन भेद स्वीकारा है।[307] संभावना से अधिक या विरुद्ध उत्पत्ति को वह तृतीय विशेष मानते हैं। विभावना से विशेष को पृथक् सिद्ध करना उनकी विशेषता है। नरेन्द्रप्रभसूरि रुय्यक से अधिक कुछ भी नहीं कहते।[308] हेमचन्द्र, सामान्य, मीलित, एकावली,

निदर्शना तथा विशेष अलंकार को अतिशयोक्ति से अभिन्न मानते हैं। वाग्भट प्रथम ने इसका विवेचन नहीं किया। वाग्भट द्वितीय और जयदेव केवल प्रथम विशेष का लक्षण करते हैं।[309] विद्याधर, विद्यानाथ, विश्वनाथ, कर्णपूर, दीक्षित, देवशंकर, नरसिंह, आदि अपने पूर्वाचार्यों का अनुगमन करते हैं।[310]

जगन्नाथ ने प्रथम, द्वितीय भेद को ही लक्षण के अन्तर्गत माना है।[311] पर्याय अलंकार से पृथक् करने के लिये वह द्वितीय लक्षण में 'युगपत्' का सन्निवेश आवश्यक समझते हैं। इस आधार पर प्राचीनों के लक्षण पर्याय में अतिव्याप्त है। प्राचीनों के त्रिविध विशेष का प्रदर्शन करते हुए प्रथम भेद के दो भेद : आधारान्तरगत वर्ण्यमान आधेय तथा निराधार आधेय—प्रदर्शित करते हैं।[312] जगन्नाथ विशेष के तृतीय भेद पर स्वतंत्र विचार करते हैं। विशेष के तृतीय भेद पर विचार करते हुए पंडितराज ने प्राचीनों के मत का विश्लेषण किया है, कि प्राचीन आलंकारिक विशेष के तृतीय भेद को अन्य अलंकार, अतिशयोक्ति, रूपक या स्मृति से गतार्थ न मानकर विशेष का भेद स्वीकारते हैं। पर जगन्नाथ उनसे सहमत नहीं हैं। उनका तर्क है कि यह कैसे कहा जाये कि यह विशेष का ही भेद हो सकता है, जबकि विशेष का कोई सामान्य लक्षण ही नहीं है। अतएव प्राचीनों की उक्ति का अनुसरण मात्र उचित नहीं है।[313] वस्तुतः अशक्य अन्य वस्तु की सिद्धि को जगन्नाथ निदर्शना आदि से गतार्थ करना चाहते हैं। विश्वेश्वर के लक्षण में कोई वैशिष्ट्य नहीं है।[314] जगन्नाथ की भांति वह भी द्वितीय लक्षण में युगपत् का सन्निवेश करते हैं। तर्क-प्रणाली द्वारा वह विभावना तथा प्रथम और तृतीय विशेष की एकता की संभावना पर प्रभूत प्रकाश डालते हैं।[315] अन्यों के विवेचन में भी कोई वैशिष्ट्य नहीं है।[316]

विशेष अलंकार का किसी आलंकारिक ने सामान्य लक्षण नहीं बनाया। रुद्रट के तीन भेद और उनके उदाहरण या उन्हीं का अनुवाद परवर्ती आलंकारिकों ने किया है। अतएव विशेष के तीन प्रकार हैं : (1) बिना प्रसिद्ध आधार के आधेय वर्णन, (2) एक आधेय की एक साथ अनेक आधारों में स्थिति, तथा (3) किसी कार्य को प्रारंभ करने पर उसके साथ अशक्य अन्य कार्य की सम्पत्ति—ही प्रारंभ से अन्त तक बनी रहे। अतिशयोक्ति इस अलंकार के मूल में है, इसे भी प्रायः आलंकारिकों ने माना। अतएव अतिशय मूलकता तथा तीन भेद निरूपण के लिये सबसे अधिक श्रेय भागी रुद्रट ही हैं। विशेष की सीमा का निर्धारण कठिन है। विशेष कथन या विशिष्ट अभिधान ही विशेष है। अतएव, अनुज्ञा, मुद्रालेख, रत्नावली, आदि अलंकार सभी विशेष की परिधि में आ जाते हैं।

प्रसंग का अन्तर्भाव

किसी कार्य के लिये प्रयुक्त प्रयत्न से प्रसंगवश प्रधान फल के अतिरिक्त अन्य कार्य की उत्पत्ति में शोभाकर एक प्रसंग अलंकार मानते हैं।[317] शोभाकर विशेष से इस अलंकार में केवल इतना अन्तर पाते हैं कि विशेष में एक कार्य के प्रारंभ होने पर अनिच्छित भी अन्य कार्य हो जाता है, और प्रसंग में जो दूसरा कार्य निष्पन्न होता है, वह चिकीर्षित होता है।[318] वस्तुतः तृतीय विशेष में केवल वस्त्वन्तर की सिद्धि नहीं होती, प्रत्युत असंभाव्य वस्त्वन्तर या कार्यान्तर की भी निष्पत्ति होती है। वह कार्यान्तर चिकीर्षित भी हो सकता है, अचिकीर्षित भी। अतएव मात्र चिकीर्षा, अचिकीर्षा को लेकर नित्य नूतन अलंकार की उद्भावना समर्थनीय नहीं है। इसीलिये जयरथ ने प्रसंग अलंकार को विशेष में अन्तर्भूत कर दिया है।[319] इसी प्रकार—एक-कार्य के क्रियमाण होने पर उसके सजातीय अन्य कार्य की सिद्धि में अनुषंग अलंकार होता है—वह भी विशेष से भिन्न नहीं है।[320]

तन्त्र का अन्तर्भाव

जहां एक ही प्रयत्न अनेक फलों का उत्पादक होता है, शोभाकर ने वहां तन्त्र नामक अलंकार माना है।[321] वस्तुतः यह भी तृतीय विशेष से भिन्न नहीं है :

आनन्दनं ममलोचनानां सुखनिर्वृतिरपि हृदयस्य।
अंगानाममृतवर्षो भविष्यति मम वल्लभे दृष्टे।। —वही

दर्शनमात्र से आनन्द आदि अनेक कार्य होने से शोभाकर यहां तन्त्र मानते हैं। वस्तुतः ऐसे कथन वस्तुमात्र हैं। यदि यहां अलंकार ही मानना है, तो दर्शन रूप एक कार्य से आनन्द आदि अन्य कार्य की भी निष्पत्ति होने के कारण विशेष का तृतीय प्रकार ही मानना चाहिये। अतएव तन्त्र भी विशेष से अतिरिक्त नहीं है।

अनुज्ञा की अवज्ञा

दोष में ही गुण-प्राप्ति के कारण उसकी अभ्यर्थना को अनुज्ञा अलंकार कहते हैं।[322] इसके उद्भावक हैं अप्पयदीक्षित। बाद में इसका विवेचन जगन्नाथ और ब्रह्मतन्त्र स्वामी भी करते हैं।[323]

विपदः सन्तु नः शश्वद्यासुसंकीर्त्यते हरिः।

विपत्ति में ही हरि-स्मरण (गुण) की प्राप्ति होने से विपत्ति (दोष) की अभ्यर्थना के

कारण यहां अनुज्ञा अलंकार है। वस्तुतः विशेष अलंकार में त्रिविध भेद उपलक्षण मात्र है। अतएव इस प्रकार के वर्णन भी विशेष के अन्तर्गत रखे जा सकते हैं।[324]

तिरस्कार

गुण रूप में प्रसिद्ध वस्तु का भी दोष विशेष के अनुबन्धन से द्वेष तिरस्कार अलंकार है,[325] ऐसा जगन्नाथ का अभिमत है। बाद में ब्रह्मतन्त्र स्वामी ने भी इसका उल्लेख किया है।[326]

श्रियो में मा सन्तु क्षणमपि च माद्यद्द्विपघटा।
मदभ्राम्यद्भृंगावलिमधुरसंगीतसुभगाः।
निमग्नानां यासु द्रविणरसपर्याकुलहृदां।
सपर्यासौकर्यं हरिचरणयोरस्तमयते।। —वही

प्रकारान्तर से यहां भी धनाभाव रूप दोष की आकांक्षा की गयी है। हरिचरणों की सेवा धन होने पर नहीं हो पाती। अतएव लक्ष्मी की प्राप्ति न हो, यह श्लोक का भाव है। अतएव इसे भी अनुज्ञा के ही समान विशेष में अन्तर्भूत करना सुकर है। वस्तुतः इस प्रकार के कथन-विशेष अलंकार की श्रेणी में नहीं आते, स्वयं जगन्नाथ मानते हैं :

'ननु कथमनयोरलंकारयोः संभवः? यावताप्रार्थनमिच्छा, तिरस्कारश्च द्वेषः।'[327]

व्यत्यास

दोष का गुण और गुण का दोष रूप में वर्णन व्यत्यास अलंकार है।[328] शोभाकर इसके उद्भावक हैं। इसी कोटि में दीक्षित का लेश अलंकार भी आता है, जहां दोष-गुण का क्रमशः विपर्यय पाया जाता है।[329] व्यापक विशेष से व्यत्यास तथा लेश भी गृहीत हो जाते हैं। अतएव उनका पृथक् विवेचन अनावश्यक है।[330] व्याजोक्ति प्रकरण में इसका विवेचन किया जायेगा।

मुद्रा

प्रकृतार्थपरक पदों से सूचनीय अर्थ की सूचना मुद्रा अलंकार है।[331] इसकी भी अलंकारता दीक्षित ने मानी है। वैसे भी भोजराज मुद्रा को शब्दालंकार मानते हैं।[332] भोजराज ने साभिप्राय वचन को मुद्रा माना है। वह इसके पद, विभक्ति,

वचन, वाक्य, समुच्चय तथा संवृत्ति छः भेद करते हैं। वस्तुतः मुद्रा नाटक का विषय है, उसे अलंकार नहीं मानना चाहिये।[333] इसीलिये भोजराज ने इसे शब्दालंकार की परिधि में रखना श्रेयस्कर समझा।

'नितम्बगुर्वी तरुणी दृग्युग्मविपुला च सा' —वही।

'वह नायिका गुर्वी नितम्बवाली तथा विशाल नेत्र द्वयवती है' यहां 'दृग्युग्मविपुला' पद अनुष्टुप छन्द के 'युग्मविपुला' भेद को सूचित करता है, अतएव दीक्षित के अनुसार यह मुद्रा का उदाहरण है। इस प्रकार का कथन सर्व-साधारणवेद्य नहीं है, और न ही इससे प्रकृत का उपकार होता है। अतएव मुद्रा को अलंकार नहीं माना जा सकता।

रत्नावली

प्रकृत-अर्थों का क्रम से विन्यास रत्नावली[334] अलंकार है, यह दीक्षित का अभिमत है। इसका भी विवेचन देवशंकर और ब्रह्मतन्त्र दीक्षित के अनुसार करते हैं।[335]

'चतुरास्यः पतिर्लक्ष्म्याः सर्वज्ञस्त्वं महीपते' —वही

'हे राजन् तुम चतुरों में श्रेष्ठ (ब्रह्मा), लक्ष्मी के पति (विष्णु) और सर्वज्ञ (महेश्वर) हो।' यहां राजा में श्लेष के माध्यम से क्रमशः ब्रह्मा, विष्णु और महेश का आरोप किया गया है। दीक्षित के अनुसार क्रमिक स्थापन होने से रत्नावली का यह उदाहरण है। वस्तुतः यह श्लेषानुप्राणित रूपक है। अतएव इस प्रकार के कथन विशेष को पृथक् अलंकार नहीं मानना चाहिये।[336]

व्याघात

वि, आङ् उपसर्गपूर्वक वधार्थक हन् धातु से भाव अर्थ में (पा. 3/3/18) घञ् प्रत्यय करने पर व्याघात शब्द की निष्पत्ति होती है।[337] व्याघात का अर्थ है अन्याभिमत कार्यकारण भाव[338] या साधित वस्तु का विघात। जिस किसी साधन से एक व्यक्ति कोई कार्यसिद्ध करता है, उसी साधन से यदि दूसरा व्यक्ति उस कार्य का विनाश कर दे तो साधित वस्तु का व्याघात होने से उसे व्याघात कहते हैं—साधितवस्तु व्याहति हेतुत्वात्।[339] जिस कारण से एक कार्य निष्पन्न हुआ उस कार्य के विरुद्ध अन्य कार्य का उसी कारण से सरलतापूर्वक निष्पादन भी व्याघात अलंकार है। इसलिये मुख्य कार्य की व्याहति होने से व्याघात की दूसरी व्युत्पत्ति—मुख्य कार्य व्याहतिहेतुत्वाद् व्याघातः[340]—भी इस अलंकार के उपयुक्त

है। मम्मट आदि प्रथम व्याघात मानते हैं, रुय्यक आदि दोनों को। वस्तुतः दोनों भेदों में पूर्वकर्ता के अभीष्ट की व्याहति समान है, अतएव इन दोनों में कोई तात्त्विक भेद नहीं है।[341] जिस कारण से एक कार्य निष्पन्न हो चुका हो, उसी कारण से उसका व्याघात उचित प्रतीत नहीं होता। अतएव विरोध का प्रतिभास होने से व्याघात अलंकार को भी विरोधमूलक माना गया है।[342] ध्यातव्य है कि जिस कारण से कार्य निष्पन्न होता है उसी से उसका विनाश असंभव है। अतः दोनों कारणों में कुछ न कुछ अन्तर अवश्य रहता है, पर अभेद अध्यवसान होने के कारण दोनों एक से प्रतीत होते हैं। अतएव अतिशयोक्ति भी इस अलंकार में सहायक है।[343] दूसरी बात यह है कि प्रथमकर्ता के कार्य का द्वितीय कर्ता से विनाश होने के कारण द्वितीय कर्ता का सदैव उत्कर्ष पाया जाता है। ऐसी स्थिति में व्यतिरेक न केवल व्याघात का उपस्कारक होता है, प्रत्युत व्याघात में सर्वत्र व्यतिरेक बलवान् होता है। अतएव इसकी स्वतंत्र सत्ता भी सन्देहायित है।[344] द्वितीय विषम में कार्य की निष्पत्ति तो होती नहीं, उलटे अनर्थ की प्राप्ति अवश्य हो जाती है। व्याघात में पूर्व कार्य का विनाश तो अवश्य होता है, पर उसकी निष्पत्ति ही न हो ऐसी बात नहीं है। दूसरी बात यह है कि व्याघात में कार्य सुकर भी होता है।[345] संभवतः विषम से इसी भेद को लेकर इसकी उद्भावना की गयी है।

प्राचीन आचार्य व्याघात का उल्लेख नहीं करते। संभवतः वह इसे व्यतिरेक या अतिशयोक्ति से गतार्थ करते रहे होंगे। इसके उद्भावक हैं, आचार्य रुद्रट। रुद्रट इसे अतिशयमूल मानते हैं। उनके अनुसार जहां अन्य निमित्तों से अप्रतिहत भी कारण से कार्य की निष्पत्ति नहीं होती, वहां व्याघात अलंकार होता है।[346] भोजराज ने व्याघात का उल्लेख तो नहीं किया है, किन्तु उनका अहेतु नामक अर्थालंकार व्याघात के समान है। सामर्थ्य होने पर भी कार्य का अनुत्पादन तथा हेतुका व्याघात अहेतु अलंकार है।[347] उनका कथन है कि इसमें शक्ति का हानि रूप अभिधीयमान या प्रतीयमान व्याघात पाया जाता है।[348] रुद्रट के लक्षण को परिष्कृत करके व्याघात का सर्वमान्य लक्षण बनाया मम्मट ने। जो वस्तु किसी कर्ता के द्वारा जिस उपाय से सिद्ध की गयी हो, विजय की इच्छा से अन्य कर्ता के द्वारा उसी उपाय से उस कार्य का अन्यथा करण (व्याघात) व्याघात अलंकार है।[349] रुय्यक ने लक्षण मम्मट के समान ही किया है।[350] उनकी विशेषता यह है कि वह इसे विरोधमूलक मानते हैं। दूसरी बात यह है कि व्याघात का निमित्त व्यतिरेक है, यह पहले-पहल उन्होंने सिद्ध किया। इसी के आधार पर जगन्नाथ ने व्यतिरेक में व्याघात के अन्तर्भाव की संभावना की है। रुय्यक का अन्य वैशिष्ट्य यह रहा

कि उन्होंने व्याघात का एक दूसरा लक्षण भी बनाया। किसी कार्य-सिद्धि के लिये संभावित हेतु-विशेष का उस कार्य से विरुद्ध सुगमतापूर्वक साधक के रूप में प्रयोग किया जाये, तो संभाव्यमान कार्य का व्याघात होने से द्वितीय व्याघात होता है।[351] समुद्रबन्ध का कथन है कि दोनों भेदों में अन्यथा करण समान है, प्रथम में पूर्व कार्य का अन्यथा करण होता है, तो द्वितीय में संभाव्यमान का। अतएव दोनों में कोई विशेष अन्तर नहीं है।[352] रुय्यक ने विषम से व्याघात का भेद भी बताया है।[353] शोभाकर ने लक्षण को सूक्ष्म और स्पष्ट बनाया है—उत्पत्ति, विनाश—दोनों में एक ही उपाय के होने पर व्याघात होता है। वह इसके दो भेद करते हैं, उत्पत्ति कारण से विनाश और विनाश कारण से उत्पत्ति।[354] शोभाकर ने रुय्यक के द्वितीय व्याघात का खंडन किया है। उनका कथन है कि द्वितीय व्याधात के उदाहरण 'बाल इति सुतरामपरित्याज्योऽस्मि रक्षणीय इति भवद्भुजपंजरं रक्षास्थानम्' में बाल्य आदि कारण से यदि प्रस्थानरूप विरुद्ध कार्य किया जा रहा है, तो इसे प्रथम व्याघात मानने में कोई आपत्ति नहीं है। और यदि प्रस्थान अप्रस्थान रूप विरुद्ध दोनों कार्यों में बाल्यादि कारण के होने से अप्रस्थान में बाल्य आदि की अनैकान्तिकता विवक्षित है, तो इसका अचिन्त्य अलंकार में अन्तर्भाव संभव है। अतएव द्वितीय व्याघात अनावश्यक है।[355] शोभाकर के व्याघात उदाहरण में जयरथ विचित्र तथा वितर्क अलंकार मानते हैं।[356]

नरेन्द्रप्रभसूरि रुय्यक के दोनों भेदों का समादर करते हैं।[357] विरोध प्रकरण में कहा जा चुका है कि हेमचन्द्र व्याघात को विरोध से पृथक् नहीं मानते। वाग्भट प्रथम इसका उल्लेख नहीं करते। वाग्भट द्वितीय तथा जयदेव मम्मट के समान लक्षण करते हैं।[358] विद्याधर और विश्वनाथ रुय्यक के समान दो व्याघात स्वीकार करते हैं,[359] पर विद्यानाथ केवल प्रथम को।[360] विद्यानाथ की एक विशेषता यह भी है कि वह इसे विरोध मूल न मानकर लोकन्यायमूल मानते हैं। कर्णपूर तो मम्मट का अनुसरण करते ही हैं।[361] अप्पयदीक्षित और देवशंकर रुय्यक की भांति दो भेद स्वीकार करते हैं,[362] पर नरसिंह कवि केवल प्रथम को।[363] जगन्नाथ एक ही लक्षण में दोनों को निबद्ध कर देते हैं। उनका अभिमत है कि जहां किसी कार्य को एक कर्ता जिस कारण से निष्पन्न किया हो या निष्पन्न करने की इच्छा रखता हो, दूसरा कर्ता उसी कारण से पूर्व-कार्य के विरुद्ध कार्य की निष्पत्ति या निष्पादन की इच्छा से पूर्व-कार्य का विघात करे वहां व्याघात अलंकार होता है।[364] तात्पर्य यह कि निष्पन्न कार्य का व्याघात और निष्पत्ति के लिये अभिलषित कार्य का व्याघात, दो व्याघात हैं।

आचार्य विश्वेश्वर अलंकार मुक्तावली में तो रुय्यक का अनुसरण करते हैं, पर अलंकारप्रदीप और अलंकारकौस्तुभ में मम्मट का।[365] अच्युतराय तथा ब्रह्मतन्त्र दो-दो लक्षण मानते हैं।[366]

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि व्याघात के विषय में आलंकारिकों में दो मत हैं। प्रथम मत के आचार्य हैं, रुद्रट, मम्मट, शोभाकर, विद्यानाथ, आदि तो द्वितीय के रुय्यक, आदि। पर इनसे भिन्न एक तीसरा मत भी है, देवशंकर पुरोहित का, जो व्याघात का तृतीय भेद भी मानते हैं, साधनीकृत वस्तु का किसी अन्य के द्वारा उसके विरुद्ध साधन के रूप में प्रयोग भी व्याघात है।[367] वस्तुतः रुय्यकोक्त द्वितीय व्याघात और देवशंकर उद्भावित अन्य व्याघात दोनों प्रथम व्याघात में ही अन्तर्भूत हैं।

दृशादग्धं मनसिजं जीवयन्ति दृशैव याः।
विरूपाक्षस्य जयिनीस्ताः स्तुवे वामलोचनाः।।[368]

'नेत्र-दग्ध कामदेव को जो नेत्र से ही जिला देती हैं, ऐसी वामलोचनाओं की प्रशंसा करता हूँ।' नेत्र से शिवजी ने काम को जलाया उसी से वामाओं ने उसे पुनः उज्जीवित कर दिया। अतएव एक ही कारण से प्रथम कार्य का व्याघात होने से यहां मम्मट अभिमत व्याघात अलंकार है। इसी को रुय्यक आदि प्रथम व्याघात मानते हैं। ठीक यही कार्य रुय्यक के द्वितीय व्याधात के उदाहरण 'बाल इति सुतरामपरित्याज्योऽस्मि' में है। राजवर्द्धन हर्ष के बाल्यत्व के कारण उसके प्रस्थान का विरोधी है, किन्तु हर्ष बाल्यत्व के कारण ही प्रस्थान करना चाहता है। जहां तक सुकरता का प्रश्न है, क्या वह प्रथम उदाहरण में नहीं है? क्या वामाओं को दग्ध मनसिज को जिलाने में कोई आयास करना पड़ा है? अस्तु, एक ही व्याघात मानना उपयुक्त है।[369] देवशंकर का तृतीय भेद द्वितीय भेद से व्यतिरिक्त नहीं है।

ध्यान देने योग्य है कि प्रथम उदाहरण में नेत्र रूप कारण एक ही है। वस्तुतः दोनों भिन्न-भिन्न हैं। शिवनेत्र में तेज और ज्वलन शक्ति है, इसके विपरीत कामिनी के नेत्र में मादकता तथा मधुरता है। अभेदाध्यवसान से दोनों को एक बताया गया है। अतएव व्याघात में प्रायः अतिशयोक्ति अनुप्राणक होती है।[370] दूसरी बात यह है कि शिव विरूपाक्ष है, कामिनियां चारु लोचन वाली। अतएव वे विरूपाक्ष से उत्कृष्ट हैं। अतएव उक्त दोनों शब्द व्यतिरेक गर्भित हैं तथा 'जयिनीः' पद से वामलोचनाओं की उत्कृष्टता स्पष्ट है। अतः यहां व्यतिरेक का स्पष्ट अभिधान है।[371] इसी आधार पर जगन्नाथ व्याघात को न केवल व्यतिरेक से अनुप्राणित मानते

हैं, प्रत्युत व्यतिरेक के बली होने से व्याघात के उसी में अन्तर्भाव की संभावना भी व्यक्त करते हैं।[372] विश्वेश्वर जगन्नाथ की संभावना को निराधार सिद्ध करते हैं। उनका मन्तव्य है कि व्यतिरेक सादृश्य-विवक्षा में ही संभव है। उपर्युक्त उदाहरण में शिव और कामिनी का किसी धर्म से साम्य नहीं है। अतएव व्याघात का व्यतिरेक में अन्तर्भाव अशक्य है।[373] विश्वेश्वर का मत आदरणीय अवश्य है, पर व्यतिरेक के सभी उदाहरणों और भेदों में सादृश्य पाया जाता है क्या?

अशक्य का अन्तर्भाव

शोभाकर अशक्य नामक पृथक् अलंकार मानते हैं। कार्योत्पत्ति के प्रतिबन्धक कारण के होने अथवा अन्य निमित्त से जब कार्य अशक्य हो जाता है, तो अशक्य नामक अलंकार होता है।[374] वस्तुतः यह भी व्याघात से व्यतिरिक्त नहीं है। व्याघात का अर्थ है विनाश या विघात। वह पूर्वकार्य के विनाश या कार्य के अशक्य दोनों ही रूपों में हो सकता है। यहां भी प्रतिबन्धक कारण के होने से कार्य की अनुत्पत्ति रूप व्याघात रहता है। अतएव व्याघात से व्यतिरिक्त अशक्य की स्थिति अमान्य है।

प्रत्यूह का अन्तर्भाव

किसी कारण से उपस्थित कार्य का हेत्वन्तर से विघात प्रत्यूह अलंकार है।[375] इसके उद्भावक हैं शोभाकर। वस्तुतः प्रत्यूह को पृथक् अलंकार नहीं मानना चाहिये। कारणान्तर के द्वारा उत्पन्न कार्य का कारणान्तर से प्रतिबन्ध रूप विघात यहां भी रहता ही है। व्याघात से अन्तर केवल इतना है कि व्याघात में उसी कारण से कार्य का व्याघात होता है, यहां भिन्न कारण से।

'पिनाकिनः सूतिषु सर्पिरर्पितं न यत्र नेत्राग्निबलाद्विलीयते।
किरीटकोटिगृहमेधिनोविधोः प्रभाभिराश्यानमिवोत्तरायणे।।'

—अ.र., पृ. 125

शिव की नेत्राग्नि से सर्पि (घी) का पिघलना प्राप्त था, किन्तु चन्द्र की शीतलता से उसका अवरोध हो जाने से शोभाकर यहां प्रत्यूह अलंकार मानते हैं। कार्य-व्याघात रूप व्याघात अलंकार का तत्त्व यहां भी प्राप्य है। दूसरी बात यह है कि यहां विशेषोक्ति और उत्प्रेक्षा का चमत्कार ही अतिशायी है। अस्तु, ऐसे स्थल संकीर्ण अलंकार के भी कहे जा सकते हैं। इसलिये प्रत्यूह की पृथक् अलंकारता असिद्ध है।

विरोध से लेकर व्याघात पर्यन्त विरोधमूलक अलंकारों का विवेचन किया गया। इनमें अतिशयोक्ति (अभेदाध्यवसाय), श्लेष, व्यतिरेक, आदि से उद्भूत विरोधाभास चमत्कार का कारण होता है, और तत्तत्प्रकारों से भासमान विरोध का वर्ण्यविषय के विमर्श के बाद परिहार हो जाता है। वस्तुतः विरोध से लेकर व्याघात पर्यन्त सभी अलंकार विरोध के भेद ही हैं, जैसे कंकण आदि स्वर्ण के विभिन्न भेद हैं।[376]

संदर्भ

1. आ ईषद्भासत इत्याभासः। विरोधश्चासावाभासश्चेति विरोधाभासः। —र.गं., पृ. 427, सा.द., टिप्पण, पृ. 550.
   विरुद्धवदाभासत इति विरुद्धाभासस्तस्य भावस्तत्त्वम् —कामधेनु, पृ. 134.
2. अपाणिपादो जवनोग्रहीता पश्यत्यचक्षुः स शृणोत्यकर्णः। श्वेताश्वतर उप. 3/19.
3. वि.धर्मो., 14/13.
4. गुणस्य वा क्रियाया वा विरुद्धान्यक्रियाभिधा।
   या विशेषाभिधानाय विरोधं तं विदुर्बुधाः।। —भामह, 3/25.
5. विरुद्धानां पदार्थानां यत्र संसर्गदर्शनम्।
   विशेषदर्शनायैव स विरोध स्मृतो यथा। —काव्यादर्श, 3/331.
6. का.सा.सं., 5/9, तु. भामह।
7. विरुद्धाभासत्वं विरोधः —का.सू.वृ., 4/3/12.
8. यस्मिन् द्रव्यादीनां परस्परं सर्वथा विरुद्धानाम्।
   एकत्रावस्थानं समकालं भवति स विरोधः। —काव्यालंकार, 9/30.
9. विरोधस्तुपदार्थानां परस्परमसंगतिः —स.कं., 3/24; शृं.प्र., पृ. 397.
10. विरोधः सोऽविरोधेऽपि विरुद्धत्वेन यद्वचः। का.प्र., 10/110 तथा वृत्ति
11. विरुद्धाभासत्वं विरोधः। अ.स. सूत्र 40.
12. अ.पु., 344/28-29.
13. विरुद्धाभासत्वं विरोधः अ.र. सूत्र-52.
14. अ.म. 8/49.
15. अर्थानां विरोधाभासो विरोधः —काव्यानु. 6/12.
16. वाग्भटाल. 4/120.
17. अविरोधेऽपि विरोध प्रतीतिर्विरोधः। काव्यानु., पृ. 38.
18. विरोधोऽनुपपत्तिश्चेद् गुणद्रव्यक्रियादिषु। चन्द्रा. 5/74.
19. दे., एकावली, 8/33; प्र.रु., पृ 300; सा.द., 10-68-9; अ.कौ. 8/210; कु. कारिका 76; अ.मं. 52; अ.सं. 5/44; विश्वेश्वर अ.कौ., पृ. 321; अ.मु. 29; नं.य., पृ. 190;

सा.सा. 8/202; सा.सा. (सर्वेश्वर) 2/126/7; सा.वि. 5/20.

20. एकाधिकरणसम्बद्धत्वेन प्रतिपादितयोरर्थयोर्भासमानैकाधिकरणासम्बद्धत्वमेकाधिकरणासंबद्धत्वभानं वा विरोधः। यद्वा एकाधिकरणासंबद्धत्वेन प्रतिपादनं सः। —र.गं., पृ. 427.
21. वहीं, पृ. 427.
22. भामह, 3/26.
23. काव्यादर्श, 2/332-27.
24. 'अयं च ·········· गुण-विरोधः। एवं क्रियाविरोधे उदाहार्यम्। तथा द्रव्यविरोधे, गुणक्रियाविरोधे, गुणद्रव्यविरोधे, क्रियाद्रव्यविरोधे च। ल.वृ., पृ. 60.
25. दे., का.सू.वृ., पृ. 138-9; राजानक तिलक उन दश भेदों का उल्लेख करते हैं, आगे चलकर जिन्हें मम्मट आदि ने माना है। विवृत्ति, पृ. 42.
26. काव्यालंकार, 9/31-33.
27. वही, 10/5.
28. असंगतिः प्रत्यनीकमधिकं विषमश्च यः। स.कं. 3/24; शृं.प्र., पृ. 398.
29. जातिश्चतुर्भिर्जात्याद्यैर्विरुद्धास्याद् गुणैस्त्रिभिः।
क्रियाद्वाभ्यामपि द्रव्यं द्रव्येणैवेति ते दश।। —का.प्र. 10/110/11.
30. इत्येकविंशति भेदाः —अ.र., पृ. 90.
31. एवं च विभावनाविशेषोक्तिअसंगतिविषमाधिकव्याघातअतद्गुणा पृथगलंकारत्वेन न वाच्याः। विरोध एवान्तर्भावात्। काव्यानु., पृ. 377.
32. वाग्भटालंकार, 4/121-22.
33. दे., र.गं., पृ. 427.
34. वस्तुतो जात्यादिभेदानामहृद्यत्वात् शुद्धश्लेषमूलत्वाभ्यां द्विविधो ज्ञेयः। —र.गं., पृ. 428.
35. दे., अ.स., पृ. 126, 153.
36. ध्व., पृ. 264-67; अ.स., पृ. 126-28; र.गं., पृ. 394-46 तथा 428-29.
37. वही, पृ. 428-29.
38. दे., र.गं., पृ. 429-31 तथा अ.कौ., पृ. 322-24.
39. गम्येत प्रक्रान्तादसंभवात्तद्विशेषणोऽन्योऽर्थः।
वाक्येन सुप्रसिद्धः स ज्ञेयोऽसंभव श्लेषः।। —काव्यालं. 10/16.
40. असंभवोऽर्थनिष्पत्तेरसंभाव्यत्ववर्णनम्।
को वेद गोपशिशुकः शैलमुत्पाटयेदिति।। —कु. कारिका-84; चन्द्रा., 5/76; तु. अ.मं.का., 58; सा.सा., 8/231.
41. भल्लट शतक 108, का.प्र., पृ. 668; कु, पृ. 108.
42. असंभवालंकारोऽत्रेति अपास्तम्। तदुक्तेर्विरोधपरिपोषकत्वात्। उद्योत, पृ. 520; बा.बो., पृ. 668; टिप्पण, अ.चं., पृ. 108.

43. विरुद्धाभासा भावना उत्पादना तेन विभावना —ल.वृ., पृ. 38.
44. विभाव्यते अनुमीयते कारणान्तरं प्रसिद्धधात् कारणात् अन्यत् कारणं यस्याम्। —गजेन्द्रगडकर, का.प्र. नोट्स, पृ. 345.
45. विशिष्टतया कार्यस्य भावनात्। अ.स. तथा संजीवनी, पृ. 154; तु. संकेत, पृ. 254; एकावली, पृ. 279; रत्नापण, पृ. 305.
46. गजेन्द्रगडकर, वही।
47. विभावयति कारणान्तरं (अप्रसिद्धकारणं विदग्धमात्रवेद्यं) कल्पयतीति। बा.बो., पृ. 656; सा.चू., पृ. 324.
48. विभाव्यते विचार्यते कारणं यस्याम्। —टिप्पण, सा.द., पृ. 549; सा.बि., पृ. 205.
49. विभाव्यते विचार्यते कारणान्तरं यस्याम्। अ.चं., पृ. 104; टिप्पण, अ.कौ., पृ. 313.
50. विशिष्टा कारण निरपेक्षा भावना कार्योत्पत्तिर्यत्र। अ.कौ., पृ. 313.
51. विगता भावना कारणं प्रसिद्धं कारणं यस्याम्। गजेन्द्रगडकर, वही।
52. भावो भावना उत्पादना क्रिया। भट्टोजीदीक्षित, पा. 3/1/61 की वृत्ति।
53. ण्यासश्रन्थे युच् —पा. 3/3/107.
54. द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते। त्योरेकः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नयो अभिचाकशीति। —ऋ. 1/164/20; मुंडक. 3/1 तथा भागवत 11/11/6.
55. हेतुं विना विततताां प्राप्ता सा तु विभावना। —वि.ध. 14/10.
56. क्रियायाः प्रतिषेधे या तत्फलस्य विभावना।
ज्ञेया विभावनैवासौ समाधौ सुलभे सति।। —भामह, 2/77.
57. प्रसिद्धहेतुव्यावृत्या यत् किंचित् कारणान्तरम्।
यत्र स्वाभाविकत्वं वा विभाव्यं सा विभावना।। —काव्यादर्श, 2/197.
58. का.सा.सं. 2/19.
59. क्रियायाः प्रतिषेधे प्रसिद्धतत्फलव्यक्तिर्विभावना। का.सू. वृ. 4/3/13.
60. काव्यालंकार, 9/16-20.
61. स.कं. 3/9 तथा शृं.प्र., पृ. 395.
62. क्रियायाः प्रतिषेधेऽपि फलव्यक्तिर्विभावना। का.प्र. 10/107, क्रियाशब्देन अत्र कारणं विवक्षितम्। —र.गं., पृ. 431.
63. अ.पु., 344/27-28; अ.सं., 5/27.
64. कारणाभावे कार्यस्योत्पत्तिर्विभावना —अ.स. सूत्र-41.
65. हेत्वभावे फनोत्पत्तिर्विभावना। अ.र. सूत्र-52, तु. चन्द्रा. 5/77, एका., पृ. 279, 80; प्र.रु., पृ. 305; सा.द. 10/66, कुवलयानन्द, का. 77; अ.मं. 53, अ.कौ., पृ. 311 तथा अ.प्र. और अ.मु., अ.चिं. 4/204; सा.सा. 2/119, सा.सा. (अच्युतराय) 8/223, सा.बि. 5/24 —नं.य., पृ. 194.
66. दे., अ.म. 8/54, अ.कौ. 8/271.

67. विनाकारणसद्भावं यत्र कार्यस्य दर्शनम्।
नैसर्गिकगुणोत्कर्षभावनात्सा विभावना।। —वाग्भटालं., 4/96.
कारणाभावेऽपि कार्योपक्षेपो विभावना। —काव्यानुशासन, पृ. 42.
68. कारणव्यतिरेक समानाधिकरण्येन प्रतिपाद्यमानकार्योत्पत्तिर्विभावना।—र.गं., पृ. 431.
69. इह कारणपदमेव विहितम्। नहि सर्वैः क्रियाफलमेव कार्यमभ्युपगम्यते। वैयाकरणैरेव तथाभ्युपगम्यत्वात्। अ.स., पृ. 154-55 तथा संजीवनी।
70. स.बं., पृ. 138-9.
71. दे., अ.स., पृ. 154; क.वृ., पृ. 38; अ.र. पृ. 93; सा.द., पृ. 551; र.गं., पृ. 432.
72. मदस्य च द्वैविध्येऽप्यभेदाध्यवसायादेकत्वमतिशयोक्त्या। सा चास्यामव्यभिचारिणीति न तद्बाधेनास्या उत्थानम् अपितु तदनुप्राणितत्वेन। अ.स., पृ. 155; तु. वही, सं., र.गं., पृ. 432.
73. अ.र., पृ. 92; र.गं., पृ. 432.
74. तेन क्वचिच्छुद्धत्वस्यापि संभवात्सर्वत्रास्या अतिशयोक्त्यनुप्राणितत्वमिति न वाच्यम्। अ.र., पृ. 94; तु. र.गं., पृ. 432-33.
75. दे., र.गं., वही।
76. एतेन विभावनायां सर्वत्रातिशयोक्तिरनुप्राणिका इति सर्वस्वोक्तिरपास्ता। तथा 'निरूपादनसंभारम्' इत्यत्र विभावनाया एवाभावात्कुत्र व्यभिचारः' इति वदन् विमर्शिनीकारोऽपि प्रत्युक्तएव।—वही, पृ. 433. आहार्यभेदबुद्धिमात्रमेवानुप्राणकम्। तच्च क्वचिदतिशयोक्त्या क्वचिच्च रूपकेण इति न दोषः। —र.गं., वही, बा.बो., पृ. 657; उद्योत, पृ. 511.
77. अंगलेखामकाश्मीरसमालम्भनपिंजराम्।
अनलक्तकताम्राभं ओष्ठमुद्रां च बिभ्रतीम्।। —का.सा.सं., 2/20 तथा अ.स., पृ. 155.
78. पुरुषोत्तमशर्मा चतुर्वेदी, अलं. वि., पृ. 248.
79. वर्णनीयस्य केनापि विशेषेण विभावना।
स्वकारणपरित्यागपूर्वकं कान्तिसिद्धये।। व.जी., पृ. 215.
80. स.कं., 3/9/11.
81. दे., का.प्र., पृ. 657.
82. विरोधमूला हि विभावना अलंकाराः .... मदे यौवनासवयोः परस्परनिरपेक्षकारणत्वावगतेर्विरोधस्य लेशतोऽप्यप्रतिभानाद्विभावनैव नास्ति। कुतः पुनरुक्तनिमित्ता विभावना। .... प्रथमतृतीयचरणयोर्न्यूनाभेद रूपकम्। द्वितीय चरणे तु प्रतीयमानोत्प्रेक्षा। —र.गं., पृ. 435-6.
83. इयमेव विभावनेतिकेचित्। .... विशेषोक्तिरित्यन्ये। .... रूपकमेव इतित्वपरे। परिणाम इत्यद्यतनाः।। —अ.स., पृ. 156.
84. अद्यतना इत्याचार्यः स्वात्मप्रमुखान् वक्ति। —सं., पृ. 156.

85. वि., पृ. 156 (का.मा. सीरीज)
86. कुमारसंभव, संजीवनी, 1/31 पर
87. दे., एस. जानकी, इन्ट्रोडक्शन, अ.स., पृ. 126.
88. अ.म., पृ. 296-7.
89. कु. कारिका, 77-82.
90. दे., उद्योत, पृ. 511; अ.कौ., पृ. 312-13, बा.बो., पृ. 657.
91. वही, र.गं., पृ. 434-35.
92. कंचिद्विशेषं प्रयुज्यमाना (उक्तिः) विशेषोक्तिः। अ.स. 157 तथा संजीवनी, तु. एकावली, पृ. 281; उद्योत, पृ. 512.
93. रागातिशयादेर्विशिष्टस्य उक्तिर्यत्र सा। उद्धृत, बा.बो., पृ. 658.
94. विशेषाय उक्तिर्विशेषोक्तिः। —स.ब., पृ. 141.
95. विशेस्य नवीनप्रकाररस्य उक्तिर्विशेषोक्तिः। कु. की टीका, कारिका 83; तु. बा.बो., पृ. 658; टिप्पण कुवलयानन्द, पृ. 108.
96. विशेषस्य अनुत्पत्तिनिमित्तस्योक्तिर्यत्र सा। अ.चं., पृ. 108.
97. सत्सु अपि कारणेषु कार्याभावरूपस्य विशेषस्य उक्तिः अस्याम्। का.प्र. नोट्स, पृ. 346.
98. सत्यपि कारणसमवधाने कार्यस्यानुत्पत्तौ विरोधः प्रतिभासमानः प्रसिद्धेतरकारण-वैकल्यधिया निवर्तते। र.गं., पृ. 437.
99. अ.र., पृ. 93.
100. वि.ध., 14/13.
101. एकदेशस्य विगमे या गुणान्तरसंस्थितिः।
विशेषप्रथनायासौ विशेषोक्तिर्मता यथा।। —काव्यालंकार, 3/23.
102. गुणजातिक्रियादीनां यत्तु वैकल्यदर्शनम्।
विशेषदर्शनायैव सा विशेषोक्तिरिष्यते।। —दंडी 2/321.
103. यत् सामग्र्येऽपि शक्तीनां फलानुत्पत्ति बन्धनम्।
विशेषस्याभिधित्सातस्तद् विशेषोक्तिरुच्यते।। —का.सा.सं., 5/5.
104. ल.वृ., पृ. 58.
105. विवृत्ति, पृ. 41.
106. एकगुणहानिकल्पनायां साम्यदार्ढ्यं विशेषोक्तिः।। का.सू.वृ. 4/3/23.
107. वही, 4/3/23 की वृत्ति।
108. 'या तु एकगुणहानिकल्पनायां साम्यदार्ढ्यं विशेषोक्तिः' इति विशेषोक्तिर्लक्षिता, सा असमद्दर्शने रूपकभेद एव। —अ.स., पृ. 159,
जगन्नाथ आदि इसमें दृढारोपरूपक मानते हैं—दे. र.गं., पृ. 349; उद्योत, पृ. 513; संकेत, पृ. 255; अ. मणि. भाग 2, पृ. 319.
109. विशेषोक्तेरलंकार्यतया च भूषणत्वानुपपत्तिः। —व.जी., पृ. 220.
110. दे., स.कं. 4/72; अ.पु. 343-26; अ.सं. 5-42.

111. प्रत्येतव्येऽभिधेये च सा विशेषस्य कारणे।
वैकल्यदर्शनेनापि क्वचिदप्युपपद्यते।। —स.कं., 4/73.
112. आधिक्ये न्यूनतया वोत्कर्षविवक्षा विशेषोक्तिः —शृं.प्र., पृ. 426.
113. विशेषोक्तिरखण्डेषु कारणेषु फलावचः।। —का.प्र., 10/108.
114. कारणसामग्रये कार्यानुत्पत्तिर्विशेषोक्तिः। —अ.स. सूत्र-40.
हेतु साकल्ये फलानुत्पत्तिर्विशेषोक्तिः। —अ.र. सूत्र 54.
विशेषोक्तिः फलाभावः साकल्ये हेतुसम्पदः —अ.म. 8/51.
विशेषोक्तिरनुत्पत्तिः कार्यस्य सतिकारणे। —चन्द्रा. 5/78.
यदि कारण साकल्ये कार्यासिद्धिस्तदा विशेषोक्तिः —एका. 8/36.
तत्सामग्रयामनुत्पत्तिर्विशेषोक्तिर्निगद्यते।। —प्र.रु., पृ. 305; तु. सा.द., 10/67; कु. कारिका 83, अ.कौ. 8/272, अ.मं. 57, जगन्नाथ—प्रसिद्धकारणकलाप समानाधिकरण्येन वर्ण्यमाना कार्यानुत्पत्तिर्विशेषोक्तिः। र.गं., पृ. 437; तु. अ.कौ., पृ. 315; अ.प्र. 35; अ.मु. 26; सा.सा. 8/229; नं.य., पृ. 194; अ.चि. 4/204; अ. मणि. भाग 2, पृ. 311; सा.बि. 5/24; अ.मं. का. 109.
115. विकारहेतावप्यविकृतिरहेतुः।काव्यानु., पृ. 44; वही वृत्ति में कहते हैं—विशेषोक्तिरिति काव्य प्रकाशः।
116. दे. काव्यादर्श, 2/322-327.
117. दर्शितेन निमित्तेन निमित्तादर्शनेन च।
तस्या बन्धो द्विधा लक्ष्ये दृश्यते ललितात्मकः।। का.सा.सं. 5/6.
118. दे., स.कं., पृ. 504-7.
119. उक्तनिमित्ता, अनुक्तनिमित्ता, अचिन्त्यनिमित्ता च —का.प्र., पृ. 255 (आनन्दाश्रम सीरीज)।
120. अचिन्त्यनिमित्तात्वनुक्तनिमित्तैव। अनुक्तस्य चिन्त्याचिन्त्यत्वेन द्वैविध्यात्। अ.स., पृ. 157; सा.द., पृ. 549; अ.र., पृ. 95; र.गं., पृ. 437.
121. शोभाकर यद्यपि विभावना, विशेषोक्ति के तीन भेदों का विवेचन करते हैं, पर उन्हें दो ही मान्य हैं :
अचिन्त्यता नाम न वस्तुधर्मः संदेहवत्साहि भवेत्प्रमातुः।
कस्यापि सर्वस्व तु नैवतस्माद्विभावनादिस्त्रिविधो न वाच्यः।। अ.र., पृ. 95.
122. केचिदचिन्त्यनिमित्तां तृतीयामामनन्ति। .... अन्ये तु .... अचिन्त्यनिमित्ता अनुक्तनिमित्तातो न पृथग्भावमर्हति। —र.गं., पृ. 437-8.
123. अत्र स्फुटो न कश्चिदलंकारः। —का.प्र., पृ. 18; तु. र.गं., पृ. 438-9.
124. इत्यत्र विभावना विशेषोक्त्योः सन्देहसंकरः —अ.स., पृ. 158; तु.सा.द., पृ. 550.
125. तयोः (कार्यकारणयोः) स्वभावोत्पन्नपरस्परसंगतित्यागात् असंगतिः। —का.प्र., पृ. 714; उचितसंगति निवृत्तेरसंगत्याख्योऽलंकारः। अ.स., पृ. 160; वही, संजीवनी, तु. सं.प्र., पृ. 380; एकावली, पृ. 286; रत्नापण, पृ. 306.

126. देखिये, दंडी के विरोध के प्रथम दो उदाहरण, काव्यादर्श, 2/332-33.

127. विस्पष्टे समकालं कारणमन्यत्र कार्यमन्यत्र।
यस्यामुपलभ्येते विज्ञेयासंगतिः सेयम्।। —काव्यालंकार, 9/48.

128. दे., स.कं., 3/24.

129. भिन्नदेशतयात्यन्तं कार्यकारणभूतयोः।
युगपद्धर्मयोर्यत्र ख्यातिः सा स्यादसङ्गतिः।। —का.प्र., 10/124.

130. का.प्र., पृ. 714; तु. प्रदीप, पृ. 375; सं.प्र., पृ. 380; प्र.रु., पृ. 306; अ.स., पृ. 160; एका., पृ. 286; काव्यादर्श सं., पृ. 323; अ.म., पृ. 293.

131. एषा च विरोधबाधिनी, न विरोधः। ……… अपवादविषयपरिहारेणोत्सर्गस्य व्यवस्थितेः। का.प्र., पृ. 716; तु. प्र. 375-76; सा.चू., पृ. 380; विवरण, बा.बो., पृ. 716.

132. तयोर्भिन्न देशत्वेऽसंगतिः। अ.स. सूत्र 44 तथा वृत्ति।

133. अनेनातिशयोक्तिरस्यानुप्राणकत्वेन कटाक्षिता, अन्यथा विरोधो दुष्परिहारः स्यात्। वही, वि.

134. अस्यां कार्यांशेऽतिशयोक्त्यनुप्राणनमावश्यकम् ……… इत्यलंकारसर्वस्वकारादीनां मतम्। तच्च ……… असंगतम्। —र.गं., पृ. 440-41.

135. तस्मात् येन केनापि प्रकारेण कार्यांशेऽभेदाध्यवसानम् आवश्यकम् इति तु संगतम्। —वही, पृ. 441.

136. तयोर्देशकालान्यत्वमसंगतिः। अ.र. सूत्र-55; दे. वही, पृ. 97-98 भी।

137. दे., काव्यानुशासन, पृ. 377.

138. आख्याने भिन्नदेशत्वे कार्यहेत्वोरसंगतिः। चन्द्रा., 5/79.
एषासंगतिरुक्ता हेत्वोः कार्यस्य भिन्नदेशत्वे। —एकावली, पृ. 286.
कार्यकारणयोर्भिन्नदेशत्वे सत्यसंगतिः। —प्र.रु., पृ. 306.
कार्यकारणयोर्भिन्नदेशतायामसंगतिः। —सा.द., 10/69.
विरुद्धं भिन्नदेशत्वं कार्यहेत्वोरसंगतिः। —कु. कारिका, 85; इसी प्रकार अन्यों के भी लक्षण हैं, दे., काव्यानु. (वाग्भट द्वितीय), पृ. 44; अ.म. 8/51; अ.कौ. 8/300; अ.मं. कारिका, 59; अ.कौ., पृ. 366; अ.मु. 41; अ.प्र., अ.चि. 4/206; नं.य., पृ. 195; सा.बि. 5/25; अ. मणि. भाग-2, पृ. 322; अ.मं., कारिका-179.

139. विरुद्धत्वेनापाततो भासमानं हेतुकार्ययोर्वैयधिकरणयमसंगतिः। र.गं., पृ. 439; तु. सा.सा., 8/232.

140. विरोधालंकारे ह्येकस्मिन्नधिकरणे द्वयोः सम्बन्धाद्विरोधप्रतिभानम्, असंगतौ त्वधिकरणद्वय इति तस्मादस्य वैलक्षण्यम् इति विमर्शिनीकार आह, तदसत्। र.गं., पृ. 441.

141. तस्माद्विरोधालंकारे उत्पत्तिविमर्श विनैव विरोध प्रतिभानम्। इह तूत्पत्ति विमर्शपूर्विकैव।

.... वस्तुतस्तु व्यधिकरणत्वेन प्रसिद्धयोः सामानाधिकरणत्वेनोपनिबन्धने विरोधालंकारः। समानाधिकरणत्वेन प्रसिद्धयोः द्वयोर्वैयधिकरण्येनोपनिबन्धनेऽसंगतिः।। —वही

142. इत्यनयोरभेदाध्यवसायः। —अ.स., पृ. 161; अ.र., पृ. 98; र.गं., पृ. 440.

143. काव्यालंकार, 9/49.

144. '.......... इत्यष्टधा। अ.र., पृ. 96.

145. दे., वही, अ.र., पृ. 58-59.

146. विदूरकार्यः सहजः कार्यानन्तरजस्तथा।
युक्तो न युक्त इत्येवमसंख्याश्चित्रहेतवः।। स.कं., 3/16.

147. राज्ञात्वंगीकृतस्य चित्रहेतुनाम्नो हेतुभेदस्यात्रैव अन्तर्भावो द्रष्टव्यः। एका., पृ. 288.

148. दीक्षित का प्रथम लक्षण दिया जा चुका है, दो निम्न हैं :
अन्यत्रकरणीयस्य ततोऽन्यत्र कृतिश्च सा।
अन्यत् कर्तुं प्रवृत्तस्य तद्विरुद्धकृतिस्तथा।। —कु., 86.

149. दे., अ.मं. कारिका-60; सा.सा. 8/233-34; अ. मणि. भाग-2, पृ. 330-334.

150. यत्तु—कुवलयानन्दकृता असंगतेरन्यद्भेदद्वयं लक्षयित्वा उदाहृतम्, तन्न। तत्र 'अपारिजातां ....' इत्यत्र प्राथमिकाऽसंगतितो वैलक्षण्यानुपपत्तेः। गोत्रोद्धार प्रवृत्तोऽपि .... इति .... विभावनयैवगतार्थत्वादसंगतिभेदान्तरकल्पनानुचिता। र.गं., पृ. 443; तु. अ.कौ., पृ. 368-69; अ. मणि., पृ. 339.

151. दे., अ.च., पृ. 111; गु.म.प्र., पृ. 443; अ. मणि., वही।

152. विस्तारिका, दे. बा.बो., पृ. 715.

153. बा.बो., पृ. 707; दुर्गाप्रसाद द्विवेदी, सा.द., टिप्पण, पृ. 554; अमरकोश की सुधा टीका में 'समतीति समम्' व्युत्पत्ति करके 'आभीक्षण्येणमुल्' प्रत्यय करते हैं, जो कि अयुक्त है। सुधा., पृ. 444.

154. विषम इति प्रथितोऽसौ वक्ता विघटयति कमपि सम्बन्धम्।
यत्रार्थयोरसन्तं परमतमाशङ्क्य तत्सत्वे।।
अभिधीयते सतो वा सम्बन्धरयार्थयोरनौचित्यम्।
यत्र स विषमोऽन्योऽयं यत्रासंभाव्यभावो वा।।
तदिति चतुर्द्धा विषमं यत्राण्वपि नैव गुर्वपि च कार्यात्।
कार्यं कुर्यात् कर्ता हीनोऽपि ततोऽधिकोऽपि न वा।। —काव्यालं. 7/47, 49, 51.

155. अत्र अनौचित्यं अशक्यकर्तृत्वं च विषमशब्दार्थः। वही, 7/51 पर नमिसाधु।

156. कार्यस्य कारणस्य च यत्र विरोधः परस्परं गुणयोः।
तद्वत् क्रिययोरथवा संजायेतेति तद्विषमम्।। —वही, 9/45.

157. दे., स.कं., 3/24.

158. क्वचिद्यतिवैधर्म्यान्निश्लेषोघटनामियात्।
कर्तुः क्रियाफलावाप्तिः नैवानर्थश्च यद्भवेत्।।

गुणक्रियाभ्यां कार्यस्य कारणस्य गुणक्रिये।
क्रमेण च विरुद्धे यत्स एष विषमो मतः।। —का.प्र. 10/126 तथा वृत्ति, देखिये, प्रदीप, पृ. 379; सं.प्र., पृ. 384; सा.चू., पृ. 384-5; संकेत, पृ. 278; काव्यादर्श संकेत, पृ. 325.

159. विरूपकार्यानर्थयोरुत्पत्तिर्विरूपसंघटना च विषमम्। अ.स. सूत्र-45 तथा वृत्ति।

160. अननुरूपसंसर्गो हि विषमम्। —अ.स., पृ. 161.

161. एकमित्यभिदधता ग्रन्थकृता विषमाणां भिन्नत्वमुक्तं न प्रकारप्रकारित्वम्, सामान्य-लक्षणस्य असंभवात्। —वि., पृ. 130-31.

162. अर्थानर्थपदे तदन्यस्योत्पत्तिर्विषमम्।—अ.र. सूत्र-59 तथा अनर्थोत्पत्तिर्विरूपकार्यो-त्पत्तिर्विरूपसंघटनमसाकल्यं च। —वही, सूत्र 60.

163. दे., अ.म., 8/57.

164. क्रियाफलाभावोऽनर्थश्च विषमम्। काव्यानुशासन, 6/26.

165. वस्तुनो यत्र सम्बन्धमनौचित्येन केनचित्।
असंभाव्यं वदेद्वक्ता तमाहुर्विषमं यथा।। —वाग्भटालंकार, 4/116.

166. असंभावितसम्बन्धः कार्याभावोऽनर्थश्च विषमम्। —काव्यानु. पृ. 40.

167. विषमं यद्यनौचित्यादेकान्वयकल्पनम्। —चन्द्रा. 5/80.

168. विषमं विरूपघटना विसदृशकार्यानभीष्टयोर्जननम्। —एका. 8/38. तु., प्र.रु., पृ. 307, सा.द., 10/70.

169. विषमं वर्ण्यते यत्र घटनाऽननुरूपयोः।
विरूपकार्यस्योत्पत्तिरपरं विषमं मतम्।।
अनिष्टस्याप्यवाप्तिश्च तदिष्टार्थसमुद्यमात्।। —कु. कारि., 88-90.

170. दे., कु., पृ. 112-116.

171. अ.कौ. 8/303, अ.मं.का. 61/63.

172. अननुरूपसंसर्गो विषमम् —र.गं., पृ. 443.

173. एवं चाननुरूपसंसर्गत्वेन सामान्येनोक्ता वक्ष्यमाणाश्च सर्वे प्रभेदाः संगृह्यन्ते। वही, पृ. 443-44.

174. '.......... इतीहाप्यभेदाध्यवसानस्यानुप्राणकत्वम्, तदुत्थापितविरोधाभासस्य च परिपोषकत्वम्। अयमेव चांशो कविप्रतिभानिर्मितत्त्वादलंकारताबीजम्। वही, पृ. 444; तु. उद्योत, पृ. 557.'

175. दे., र.गं., पृ. 444, 45; तु. अ.मणि. भाग 2, पृ. 353.

176. वही, पृ. 447-48.

177. वही, गु.म.प्र. तथा अलं.च., पृ. 113-14.

178. वही, नं.य., पृ. 196; अ.कौ., पृ. 373; अ.प्र. 107; अ.मु. 43.

179. वही, अलंकार मणिहार भाग 2, पृ. 340-436.

180. संसर्गोऽननुरूपस्य विषमं प्रोच्यते बुधैः —सा.सा., 8/235.

छज्जूराम—विषमः स यदेकत्र विरूपद्वयवर्णनम्—सा.बि. 5/26.

181. र.गं., पृ. 444.

182. उल्लासोऽन्य महिमा चेद्दोषो ह्यन्यत्र वर्ण्यते। —चन्द्रा. 5/101.

183. एकस्य गुणदोषाभ्यामुल्लासोऽन्यस्य तौ यदि। —कु. कारिका, 133 तथा वृत्ति।

184. अत्र प्रथमचतुर्थयोरुल्लासोऽन्वर्थः। मध्यमयोश्छत्रिन्यायेन लाक्षणिकः। कु., पृ. 154.

185. अन्यदीयगुणदोषप्रयुक्तमन्यस्य गुणदोषयोराधानमुल्लासः। र.गं., पृ. 501; तु. अ.मं. कारिका, 182-84; सा.सा. 8/271-74; काव्यविलास, 2/52; अ. मणिहार, तृ.भा., पृ. 166-185.

186. काव्यलिंगेन गतार्थोऽयम्। नालंकारान्तरत्वभूमिमधिरोहति इत्येके लौकिकार्थमयत्वादनंकार एव इत्यपरे। र.गं. पृ. 508; अ.म.तृ.भा., पृ. 185; उद्योत, पृ. 554.

187. कस्यचिद् गुणेन कस्यचिद् दोषवर्णनं, कस्यचिद् दोषेण कस्यचिद् गुणवर्णनं अपि विषममेव। एतेनात्रोल्लासोऽतिरिक्त इत्यपास्तम्। —उद्योत, पृ. 558.

188. इष्यमाणविरुद्धार्थ संप्राप्तिस्तु विषादनम्। कु. कारिका, 132.

189. अभीष्टार्थ विरुद्धलाभो विषादनम्। —र.गं., पृ. 506; तु. अ.मं. कारिका 101 तथा अलं. मणि., तृ. भाग, पृ. 164.

190. दे. वही।

191. न चात्रैकस्यान्यापवादकत्वं युक्तम्। द्वयोरपि सावकाशत्वात्। भिन्नविषयत्वाच्च। र.गं., पृ. 507.

192. इष्टमाणविरुद्धार्थप्राप्तिरपि विषममेव। एतेनेदृशस्थले विषादनामालंकार इत्यपास्तम्। —उद्योत, पृ. 558; अ.कौ., पृ. 377-38.

193. अवज्ञावर्ण्यते यत्र गुणदोषाक्षमं यदि। चन्द्रा. 5/107.

194. तद्विपर्ययोऽवज्ञा। र.गं., पृ. 508.

195. ताभ्यां तौ यदि न स्यातामवज्ञालंकृतिस्तु सा। कु. कारिका, 133; तु. अ.मं. कारिका, 103; सा.सा. 8/273-4; अ.म.तृ.भा., पृ. 186; का.वि. 2/54.

196. र.गं., पृ. 509.

197. अवज्ञालंकारान्तरमित्यपास्तम्। कारणे सति कार्यानुत्पत्ति रूप विशेषोक्त्यैव गतार्थोऽयम्। उद्योत, पृ. 558.

198. वही।

199. स्वविपरीतफलनिष्पत्तये प्रयत्नो विचित्रम्। अ.स. सूत्र-47 तथा वृत्ति।

200. विफलः प्रयत्नो विचित्रम्। अ.र. सूत्र 62 तथा दे., वही, विवेचन।

201. दे., अ.म. 8/58; चन्द्रा. 5/82; एका. 8/39; प्र.रु., पृ. 306; कु. कारिका, 94; अ.मं. कारिका, 66.

202. इष्टसिद्ध्यर्थमिष्टैषिणा क्रियमाणमिष्टविपरीताचरणं विषमम्। —र.गं., पृ. 452.

203. दे., सा.सा. 8/237; अ.म. भा. 3, पृ. 469; का.वि. 2/43.

204. वहीं, पृ. 453.

205. अ.स., पृ. 164.
206. इष्टसिद्ध्यर्थमिष्टैषिणा क्रियमाणमिष्टविपरीतयत्नाचरणमपि विषममेव। उद्योत, पृ. 558; तु. अ.कौ., पृ. 374.
207. अविलक्षणाद्विलक्षणकार्योत्पत्तिश्चाचिन्त्यम्। —अ.र., सूत्र-58.
208. दे., वही, पृ. 102.
209. वही, पृ. 104.
210. सह तुल्यतया मीयते इति समम्। बा.बो., पृ. 717; तु. दुर्गाप्रसाद द्विवेदी, टिप्पण, सा.द., पृ. 554.
211. समं योग्यतया योगो यदि संभावितः क्वचित्। का.प्र. 10/125 तथा वृत्ति।
212. तद्विपर्ययः समम्। अ.स. सूत्र-46. यद्यपि विषमस्य भेदद्वयमुक्तं, तथापि तच्छब्देन संभवादन्त्यो भेदः परामृश्यते। पूर्वभेदद्वयविपर्ययस्य अनलंकारत्वात्। अन्त्यभेद-विपर्ययस्तु चारुत्वात्समाख्योऽलंकारः। वही, वृत्ति।
213. कारणादनुरूपकार्योत्पत्तिर्हि लोकप्रसिद्धा। नहि तस्याउपनिबन्धश्चारुतां आवहति। वि., पृ. 132; तु. सरूपकार्यस्यार्थस्योत्पत्तौ नहि विच्छित्तिः। सं. पृ. 162.
214. तद्विपर्ययः समम्। अ.र. सूत्र-61. तच्छब्देन त्रयाणां विषमभेदानां परामर्शः। कविना विच्छित्तिविशेषोपनिबन्धं कार्यकारणयोरानुरूप्यं अनुरूपसंयोगः, सामग्रीसाकल्यं च समम्। वही।
215. अनुरूपकार्योत्पत्तौ विच्छित्तिविशेषवशेन सौन्दर्यातिशयदर्शनात् कारणानुरूपत्वे कार्यस्य न किंचिच्चारुत्वमिति न वाच्यम्। वही, पृ. 108.
216. दे., अ.म. 8/57.
217. योग्यतया योगः समम्। काव्यानु. 6/27 तथा वृत्ति।
218. अ.क्र.वि., पृ. 258.
219. औचित्येनोत्कृष्टापकृष्टयोर्योगः समम्। काव्यानु., पृ. 40.
220. सममौचित्यतोऽनेकवस्तुसम्बन्धवर्णनम्। चन्द्रा. 5/81.
221. अस्य प्रथमभिदायाः समम् इति कविभिर्विपर्यये कथितम्। एका., पृ. 289-90.
222. सा समालंकृतिर्योग वस्तुनोरनुरूपयोः। प्र.रु., पृ. 308; समं स्यादनुरूपस्य श्लाघा योग्यस्य वस्तुनः सा.द. 10/71, तु.अ.कौ. 8/302.
223. समं स्याद्वर्णनं यत्र द्वयोरप्यनुरूपयोः।
सारूप्यमपि कार्यस्य कारणेन समं विदुः।।
विनाऽनिष्टं च तत्सिद्धिर्यमर्थं कर्तुमुद्यतः।। कु. कारिका, 91-93.
224. दे., वही, पृ. 118-19.
225. वही, अ.मं. कारिका, 64-65 तथा पृ. 137-38.
226. अनुरूप संसर्गः समम्। र.गं., पृ. 449.
227. एवं चानुरूपसंसर्गत्वेन सामान्यलक्षणेन सर्वे भेदाः संगृहीताः भवन्ति। वही, तु. सरसामोद, पृ. 489.

228. यत्तु कुवलयानन्दकृता—उच्चैर्गजैरटनमर्थयमान एव ·········· 'इत्युदाहृत्य ·········· समालंकारो न निवार्यते' इत्युक्तम्। तत्कथम्? र.गं., पृ. 451.
229. अत्रेदं चिन्त्यम्। दे., वही, गु.म.प्र.
230. यत्तु ·········· अनुरूपसंघटनात्मक एव समालंकारा:। ·········· इत्यलंकार सर्वस्वकृतोक्तम्। विवेचितं च विमर्शिनीकृता—कारणादनुरूपकार्योत्पत्तिर्हि लोकप्रसिद्धा। नहि तस्या उपनिबन्धश्चारुतामावहति इति तदुभयमसत्। ·········· तस्मात्सममपि त्रिविधमेव। वही, पृ. 452; तु. अ.म.भा. 3, पृ. 468.
231. दे., अ.कौ., पृ. 372; अ.मु. 42; अ.प्र. 106.
232. तृतीयविषमालंकारप्रतिभट: सर्वैरूपेक्षित:। न.य., पृ. 196-97.
233. दे., अ.म. भा. 2, पृ. 437-468.
234. वही, अ.चि. 4/215, सा.वि. 5/26.
235. का.प्र., पृ. 717-19.
236. दे., अ.स., पृ. 162-63; अ.म., पृ. 299-300; काव्यानु., पृ. 392; काव्यानु. पृ. 40.
237. वही, र.गं., पृ. 451-52.
238. विषमपर्यन्तं विरोधगर्भालंकारा: निरूपिता:। विषमवैसादृश्यात् सममुक्तम्। अ.चि., पृ. 81.
239. उद्धृत, सा.द., पृ. 554.
240. अहो विशालं भूपाल भुवनत्रितयोदरम्।
माति मातुमशक्योऽपि यशोराशिर्यदत्रते।। —काव्यादर्श, 2/217.
241. यत्रान्योन्यविरुद्धं विरुद्धबलवत् क्रियाप्रसिद्धं वा।
वस्तुद्वयमेकस्माज्जयत इति तद्भवेदधिकम्।।
यत्राधारे सुमहत्याधेयमवस्थितं तनीयोऽपि।
अतिरिच्येत कथंचित्तदधिकमपरं परिज्ञेयम्।। —काव्यालंकार, 9/26-28.
242. दे., स.कं., पृ. 342.
243. महतोर्यन्महीयांसावाश्रिताश्रययो: क्रमात्।
आश्रयाश्रयिणौ स्यातां तनुत्वेऽप्यधिकं तु तत्।। —का.प्र. 10/128 तथा वृत्ति।
244. दे., प्रदीपप्रभा, पृ. 378; सं.प्र. तथा सा.चू., पृ. 387; उद्योत, पृ. 559; काव्यादर्शसंकेत, पृ. 326; बा.बो., पृ. 723.
245. यत्राधाराधेययोरन्यतरस्य न्यूनत्वाधिक्ये कविकल्पिते तत्रैवायमलंकार:।उद्योत, वही।
246. आश्रयाश्रयिणोरनानुरूप्यमधिकम्। अ.स. सूत्र-48.
247. विरोधप्रस्तावादिह निर्देश। अनानुरूप्यस्य विरोधोत्थापकत्वात्। वही, पृ. 164-65.
248. स.बं., पृ. 151.
249. अधिकालंकारो न वाच्य:। अत्राप्यननुरूपसंघटनस्य विद्यमानत्वात् विषमालंकारान्तर्भावोपपत्ते:, अन्यथा गुणगुणिनोरनानुरूप्यं विगुणं इत्यादि अलंकारान्तरलक्षणप्रणयन प्रसंग:।। —अ.र., पृ. 107.

250. आधाराधेययोर्यत्र संसर्गः स्याद्विरूपयोः।
संस्फुटो विषमो वाच्यं अधिकं नाधिकं ततः।। —अ.र., पृ. 107.
251. इत्थम् .... आधाराधेययोः .... । इति न वाच्यम्। वि., पृ. 134-5.
252. दे., अ.म. 8/57.
253. वही, काव्यानु., पृ. 377.
254. आधारादाधेयस्या (धेयादाधारस्य वा) धिक्येऽधिकम्। काव्यानु., पृ. 45.
255. अधिकं बोध्यमाधारादाधेयाधिक्य वर्णनम्। चन्द्रा. 5/83.
256. अधिकमिदं गदितं तद् यत्राननुरूपताश्रयाश्रयिणोः। एकावली, पृ. 291.
257. आधाराधेययोरानुरूप्याभावोऽधिको मतः। प्र.रु., पृ. 304. आश्रयाश्रयिणो-रेकस्याधिक्येऽधिकमुच्यते। सा.द. 10/72, अधिकं पृथुलाधारादाधेयाधिक्यवर्णनम्। पृथ्वाधेयाद्यदाधाराधिक्यं तदपि तन्मतम्। कु. कारिका, 95-96; तु. अ.कौ. 8/304; अ.मं. कारिका, 67-68; आधाराधेययोरन्यतरस्य अतिविस्तृतत्त्वसिद्धिफलकम् इतरस्य अतिन्यूनत्व कल्पनमधिकम्। र.गं., पृ. 453; इसी प्रकार अन्य लक्षण भी हैं। दे., नं.य., पृ. 194; का.वि. 2/43; अ.कौ., पृ. 379; अ.प्र., 92; अ.मु. 44; अ.चि. 2/243; सा.सा. 8/238; अ. मणि. भा. 2, पृ. 472-76; अ.मं. कारिका, 195.
258. काव्यालंकार, 9/29.
259. अल्पं तु सूक्ष्मादाधेयाद्यदाधारस्य सूक्ष्मता।
मणिमालोर्मिका तेऽद्य करे जपवटीयते।। —कु. कारिका, 97.
260. अयमलंकारो दीक्षितोपज्ञं, प्राचीनैरलक्षितत्त्वात्। अ. मणि. भाग 2, पृ. 477.
261. वही, अ.मं. कारिका, 69; सा.सा. 8/239; अ. मणि. भाग 2, पृ. 476-78.
262. अत्र महत्त्वशब्देन (महत्परिमाणमतिशयश्च) तेन यत्र सूक्ष्मत्वातिशयवत आधारादाधेया द्वा तदन्यतरस्यातिसूक्ष्मत्वं वर्ण्यते तत्राप्ययम्। .... एतेनेदृशे विषयेऽल्पं नाम पृथगलंकार इत्यपास्तम्। उद्योत, पृ. 559; तु. अ.कौ., पृ. 380.
263. अध्न्यादयश्च। उ., 4/112.
264. अन्योऽसदृशेतरयोः, इति हैमः।।
265. यत्र परस्परमेकः कारकभावोऽभिधेययोः क्रियया।
संजायेत स्फारिततत्त्व विशेषस्तदन्योऽन्यम्।।काव्यालं. 7/91 तथा वही, दे. नमिसाधु।
266. परस्परमुपकार्योपकारकादिभावोऽन्योऽन्यम्। शृं.प्र., पृ. 399, तु. स.कं., 3/29.
267. क्रियया तु परस्परम्। वस्तुनोर्जननेऽन्योन्यम्। का.प्र. 10/120-21 तथा वृत्ति।
268. दे., प्रदीप, पृ. 372.
269. दे., उद्योत, पृ. 546-47.
270. परस्परक्रियाजननेऽन्योन्यम्। अ.स. सूत्र-49.
271. इहापि विरोधप्रस्तावएव निर्देशकारणम्। परस्पर जननस्य विरुद्धत्वात्। —अ.स., पृ. 465-66, तथा वही तु. संजीवनी, एकावली, पृ. 292.
272. रूपधर्मयोः परस्पर निबन्धनमन्योऽन्यम्। अ.र. सूत्र-56.

273. न स्वरूपनिबन्धनमन्योन्यजननं विरुद्धत्वादित्यसमीचीनम्, आमुखेन सर्वत्र विरुद्धत्वात्, पर्यवसाने च तत्समाधानात्। —वही, पृ. 98.
274. कु.सं., 1/42.
275. '.......... परस्परजननमित्यव्यापकम्।' .... 'कंठस्य तस्याः' अत्र सिद्धरूपो धर्मो न तु साध्यरूपा क्रिया। वही, पृ. 100.
276. क्रिया शब्देनात्र धर्मोलक्ष्यते। —परस्पर जननस्याव्यापकत्वं न वाच्यम्। वि., पृ. 135.
277. अ.म. 8/61.
278. यत्र क्रियया परस्पर कार्यकारित्वं तदन्योन्यम्। काव्यानु., पृ. 42.
279. भवति क्रियोपजननं यद्यन्योन्यं तदान्योऽन्यम्। एकावली, 8/40; तु. प्र.रु., पृ. 306; सा.द. 10/73; अ.कौ. 10/295.
280. अन्योन्यं नाम यत्र स्यादुपकारः परस्परम्। चन्द्रा. 5/84; तु. कु. कारिका 98; अ.मं. कारिका 70.
281. दे., नं.रा.य., पृ. 195.
282. द्वयोरन्योन्येनान्योन्यस्य विशेषाधानमन्योन्यम्। र.गं., पृ. 455; तु. सा.सा. 8/240.
283. दे., अ.कौ., पृ. 360; अ.प्र. 79; अ.मु. 38; सा.सा. (सर्वेश्वर), 2/132; अ. मणि., भाग 2, पृ. 479; अ.चि. 4/210.
284. तत् त्रिधा—अभिधीयमानं, प्रतीयमानं, उभयरूपं च। .... अन्योन्य चूलिका, अन्योन्यभ्रान्तिः अन्योन्यैकता चान्योन्यमेव। शृं.प्र., पृ. 399-400; तु.स.कं., 3/27-28.
285. भेदास्तु सरस्वती कंठाभरणे द्रष्टव्याः। एकावली, पृ. 293.
286. स.कं., पृ. 346 तथा शृं.प्र., पृ. 400.
287. दे., वहीं, स.क., पृ. 347 तथा रामसिंह की टीका।
288. यथोर्ध्वाक्षः पिबत्यम्बु पथिको विरलांगुलिः।
तथा प्रपापालिकापि धारां वितनुते तनुम्॥ —कु., पृ. 122.
289. अत्र प्रपापालिकायाः पथिकेन स्वासक्त्या पानीयदानव्याजेन बहुकालं स्वमुखावलोकनमभिलषन्त्याः .... प्रपापालिकयापि .... स्वमुखावलोकनमभिलषतः पथिकस्य .... उपकारः कृत। —वही, पृ. 122.
290. यत्तु यथोर्ध्वाक्षः .... ।अत्र .... पानीयदानानुवृत्तिसंपादनेनोपकारः कृत' इति कुवलयानन्दकार आह। तावदियं पदरचनैव आयुष्मतो ग्रन्थकर्तुर्व्युत्पत्तिशैथिल्यम् उद्गिरति। .... इत्यनुदाहरणमेव एतदस्यालंकारस्य इति सहृदया विचारयन्तु। —र.गं., पृ. 455-56; विश्वेश्वर ने जगन्नाथ के इस मत का उल्लेख मात्र कर दिया है। —दे., अ.कौ., पृ. 361-62.
291. दे., गुरुमर्मप्रकाश, पृ. 456 तथा अ.चं., पृ. 122-23.
292. नित्यद्रव्यवृत्तयोऽन्त्या विशेषाः। तर्कामृतम्। पृ. 26.
293. विशेषेण शिष्यते विशेष्यते (विनाधारमाधेयं अनेकस्मिन् एकमाधेयं, अशक्यकरणं, दोषगुणाद्यभ्यर्थनं), निबद्धते इति विशेषः।

294. किंचिदवश्याधेयं यस्मिन्नभिधीयते निराधारम्।
तादृगुपलभ्यमानं विज्ञेयोऽसौ विशेष इति।।
यत्रैकमनेकस्मिन्नाधारे वस्तु विद्यमानतया।
युगपदमिधीयतेऽसावत्रान्यः स्याद्विशेष इति।।
यत्रान्यत्कुर्वाणो युगपत्कार्यान्तरं च कुर्वीत।
कर्तुमशक्यं कर्ता विज्ञेयोऽसौ विशेषोऽन्यः।। —काव्यालं., 9/5-9.
295. वस्त्वन्तरेभ्यो विशिष्टधर्माभिधानाद्विशेषसंज्ञा। न.सा., पृ. 123.
296. दे., का.प्र., 10/135-6.
297. सर्वत्र एवं विधे विषयेऽतिशयोक्तिरेव प्राणत्वेनावतिष्ठते। तां विना प्रायेण अलंकारत्वायोगात्। —वही, पृ. 743.
298. दे., प्रदीप, पृ. 386 तथा वही प्रभा, संकेत, पृ. 287; उद्योत, पृ. 571; बा.बो., पृ. 743-44.
299. काव्यालंकार, 9/6 तथा का.प्र., पृ. 743.
300. काव्य चू.म., पृ. 370; गजेन्द्रगडकर, का.प्र. नोट्स, पृ. 450.
301. एवं विधे च सर्वत्र विषयेऽतिशयोक्तिरेव प्राणत्वेनावतिष्ठते। तां विना प्रायेणा-लंकारत्वायोगात्। इति न सामान्यमीलितैकावलीनिदर्शना, विशेषाद्यलंकारोपन्यासः श्रेयान्। का.चू., पृ. 370-71.
302. सैषा अभेदाध्यवसायरूपा अतिशयोक्तिः। सं.प्र. तथा सा.चू., पृ. 405 तथा गजेन्द्रगडकर, वही, पृ. 452-54.
303. प्रभा, पृ. 386.
304. अनाधारमाधेयमेकमनेकगोचरमशक्यवस्त्वन्तरकरणं च।अ.स., 50 तथा वही वृत्ति।
305. विशेषाश्चात्र त्रयो न पुनरेकविधः। लक्षणस्यभिन्नत्वात्। वि.प्र. 135-36.
306. असंभविनः संभवित्वेन निबन्धो विशेष इति सामान्य लक्षणम्। स.बं., पृ. 153.
307. अनाधारमाधेयमेकमनेकगोचरं संभावितादधिकस्य विरुद्धस्य वा सम्पत्तिश्च विशेषः। अ.र. सूत्र 63 तथा वृत्ति।
308. अ.म. 8/62.
309. विशेषः ख्यातमाधारं विनाप्याधेयवर्णनम्। चन्द्रा., 585; तु. काव्यानु., पृ. 42.
310. दे., एका. 8/41; प्र.रु., पृ. 302; सा.द. 10/73; अ.कौ. 8/312; कु. कारिका, 99-101; अ.मं.का. 71-73; नं.य., पृ. 193.
311. प्रसिद्धमाश्रयं विना आधेयं वर्ण्यमानमेको विशेषप्रकारः। यच्चैकमाधेयं परिमित यत्किंचिदाधारगतमपि युगपदनेकाधारगततया वर्ण्यते सोऽपरो विशेष प्रकारः। र.गं., पृ. 456.
312. दे., वही, पृ. 457.
313. तस्मादशक्यवस्त्वन्तरकरणं विशेषालंकारस्यैव प्रभेद इति प्राचामाशयः। .... रूपकालंकारस्यायं प्रभेदः इति कथं विज्ञायते। नहि अस्य किंचित् सामान्य

लक्षणमस्ति। .... पृथगलंकारतोक्तिरेव रमणीया। —वही, पृ. 457-58.

314. दे., अ.कौ., पृ. 399.

315. प्रथमतृतीयभेदौ विभावनायामेवान्तर्भावमर्हतः। वही, पृ. 401-2.

316. दे., अ.मणि. भाग-2, पृ. 480-86; सा.वि., 5-27; का.वि., 2/44.

317. प्रसंगादन्यार्थः प्रसंगः। अ.र. सूत्र-87 तथा वृत्ति।

318. फलान्तरस्य निष्पत्तिश्चिकीर्षा विरहेऽपि या।
स विशेषः, चिकीर्षायां प्रसंगस्तु ततः पृथक्।। —वही, पृ. 150.

319. '.......... एवं प्रसंगाख्यमलंकारत्वं न वाच्यम्। —वि., पृ. 136.

320. 'एकस्मिन् क्रियमाणे तज्जातीयस्य प्रसंगतः सिद्धिरित्यनुषंगः इत्यनुषंगालंकारोऽपि न पृथग्वाच्यः। वही, पृ. 137.

321. नानाफलप्रयुक्तः प्रयत्नस्तन्त्रम्। अ.र. सूत्र-86 तथा वृत्ति।

322. दोषस्याभ्यर्थनानुज्ञा तत्रैव गुणदर्शनात्। कु.का., 137.

323. दे., र.गं., पृ. 510, अ. मणि. भाग 3, पृ. 191; अ.मं., 104.

324. वही, उद्योत, पृ. 571-72.

325. दोषविशेषानुबन्धाद् गुणत्वेन प्रसिद्धस्यापि द्वेषस्तिरस्कारः। र.गं., पृ. 510.

326. अ.म., भाग-3, पृ. 194.

327. वही, पृ. 510.

328. दोषगुणयोरन्यथात्वं व्यत्यासः। —अ.र. सूत्र-66.

329. लेशः स्याद्दोषगुणदोषत्वकल्पना। कु. 138.

330. दे., वही, उद्योत।

331. सूच्यार्थसूचनं मुद्रा प्रकृतार्थपरैः पदैः। कु.क., 139; तु. अ.मं., 16; अ. मणि. भाग-3, पृ. 197-210.

332. साभिप्रायवचनविनिवेशोमुद्रा। —शृं.प्र., पृ. 376; तु.स.कं. 2/40-41.

333. मुद्रायास्त्वलंकारत्वमेव न। प्रकृतोपस्कारकत्वाभावात्। उद्योत, पृ. 572.

334. क्रमिकं प्रकृतार्थानां न्यासं रत्नावली विदुः। कु. 140.

335. दे., अ.मं., 107; अ. मणि. भाग-3, पृ. 211-44.

336. यत्तु .... रत्नावलीं विदुः। इति तन्न। रूपकेणैवात्र वर्ण्यस्योपस्कारो न तु क्रमकृतोऽपीति तस्यालंकारत्वाभावात्। —उद्योत।

337. 'हनस्तोऽचिण्णलोः' पा. 7/3/32 से हन् के नकार को तकार तथा 'हो हन्तेर्ञ्णिन्नेषु' 7/5/34 ह को घ और वृद्धि होने पर व्याघात बनता है।

338. व्याहन्यते अन्याभिमतं कार्यकारणभावोऽनेन। अ.कौ., पृ. 406 अथवा विशेषेण आहन्यते व्याहन्यते विनश्यते निष्पादितं वस्तु अस्मिन्निति।

339. का.प्र., पृ. 788; प्रदीप, पृ. 388; सं.प्र. तथा सा.चू., पृ. 408-9; संकेत, पृ. 288; बा.बो., पृ. 789; अ.स., पृ. 167; अ.म., पृ. 305; एका., पृ. 295.

340. अ.म., पृ. 305-6; तु. अ.स., पृ. 168.

341. उभयविधेऽप्यस्मिन् व्याघाते पूर्वकर्तुरभीष्टव्याहननं तुल्यम्। र.गं., पृ. 460.
342. पुरः स्फुरन् विरोधः प्रातिस्विकरूपेण तत्तत्कार्यहेतुना विमर्शनात् निवर्तत इति विरोधमूलत्वम्। —र.गं., पृ. 459.
343. गजेन्द्रगडकर, का.प्र. नोट्स, पृ. 464.
344. नहि अस्योक्तप्रकारव्यतिरेकनिर्मुक्तविषयोऽस्ति येन स्वान्तन्त्र्यमभ्युपगच्छेम। —र.गं., पृ. 460.
345. अ.स., पृ. 168.
346. अन्यैरप्रतिहतमपिकारणमुत्पादनं न कार्यस्य।
यस्मिन्नभिधीयेत व्याघातः स इति।। का. 9/52.
347. सत्यपि सामर्थ्येऽनुत्पादितस्वकार्योव्याहतश्चहेतुरहेतुः। शृं.प्र., पृ. 396; स.कं. 3/18.
348. अत्र अभिधीयमानः प्रतीतो वा व्याघातस्ततोऽयं शक्तेर्हानिहेतुना व्याहतो नाम हेतु भेदः। स.कं., पृ. 333.
349. यद्यथा साधितं केनाप्यपरेण तदन्यथा।
तथैव यद्विधीयते स व्याघातः इतिस्मृतः।। का.प्र. 10/10/131-32 तथा दे., प्रदीप, पृ. 388.
350. यथासाधितस्य तथैवान्येनान्यथाकरणं व्याघातः। अ.स. सूत्र-51. .... व्यतिरेक निमित्तत्वेनात्रोक्तः। वही, वृत्ति। अनेनास्य व्यतिरेकं विनोत्थापनमेव न स्यात्, वि., पृ. 138-39.
351. सौकर्येण कार्यविरुद्धक्रिया च। वही, सूत्र 52.
352. दे., स.बं., पृ. 156.
353. वही, अ.स. तथा सं., पृ. 168; स.बं., पृ. 157; एका., पृ. 296.
354. उत्पत्तिविनाशयोरेकोपायत्वे व्याघातः। अ.र., सूत्र 64 तथा वृत्ति।
355. सौकर्येण कार्यविरुद्धक्रिया च इति भेदान्तरं व्याघातस्य न वाच्यम्। अ.र., पृ. 114.
356. दे., वि., पृ. 138-39.
357. अ.म. 8/60.
358. काव्यानु., पृ. 44 तथा चन्द्रा., 5/86; का.वि., 2/45.
359. एकावली, 8/42-43; सा.द., 10/74-75.
360. प्र.रु., पृ. 334.
361. अ.कौ., पृ. 8/315.
362. स्याद्व्याघातोऽन्यथाकरि तथाऽकारि क्रियेत चेत्।
सौकर्येण निबद्धापि क्रिया कार्य विरोधिनी। कु., 102-3; अ.मं., 74-76.
363. नं.य., पृ. 216.
364. यत्र ह्येकेन कर्त्रा येन कारणेन कार्यं किंचिन्निष्पादितं निष्पिपादयिषितं वा तदन्येन कर्त्रा तेनैव कारणेन तद्विरुद्धकार्यस्य निष्पादनेन निष्पिपादयिषया वा व्याहन्यते स व्याघातः। र.गं., पृ. 459.

365. अ.कौ., पृ. 406; अ.प्र. 109.
366. सा.सा., 8/245; अ.मणि. भाग-3, पृ. 486-90.
367. यत्साधनीकृतं वस्तु केनचिदपरेण तु।
तद्विरुद्धसाधनतां नीयतेऽत्रापि तं विदुः।। अ.मं., का. 75.
368. इसे मम्मट, रुय्यक, शोभाकर, नरेन्द्रप्रभ, हेमचन्द्र, दीक्षित, जगन्नाथ, आदि उद्धृत करते हैं।
369. अतएव शोभाकर का तर्क उपयुक्त है। दे., अ.र., पृ. 114.
370. र.गं., पृ. 459; उद्योत, पृ. 575; गजेन्द्रगडकर, का.प्र. नोट्स, पृ. 464.
371. अ.स., पृ. 167; वि.प्र., 138-39; र.गं., पृ. 460.
372. न ह्यस्योक्तप्रकारव्यतिरेकनिर्मुक्त विषयोऽस्ति येन स्वातन्त्र्यमभ्युपगच्छेम। वही, पृ. 460.
373. दे., अ.कौ., पृ. 408.
374. प्रतिबन्धकादेर्विधानासामर्थ्यमशक्यम्। अ.र., सूत्र-65 तथा वृत्ति।
375. प्राप्तस्य प्रतिबन्धः प्रत्यूह। अ.र., सूत्र-73.
376. दे., र.गं., पृ. 461.

षष्ठ अध्याय

शृंखलामूलक अलंकार

कारणमाला

शृंखला में एक के बाद एक कड़ी जुड़ी रहती है। लौकिक शृंखला के साम्य पर काव्य में कारणमाला, एकावली और सार अलंकारों के मूल में शृंखला की कल्पना की गयी है। लोक-निर्मित शृंखला में लौह या स्वर्ण किसी भी धातु का प्रयोग किया जा सकता है। काव्य में तो अर्थतत्त्व ही प्रधान है। अतएव पूर्व-पूर्व का उत्तर-उत्तर या उत्तर-उत्तर का पूर्व-पूर्व में पंक्ति रूप से निबद्ध अर्थों का सम्बन्ध शृंखला है।[1] वह कार्य-कारण, विशेषण-विशेष्य, आदि नाना रूपों में हो सकती है। कारणों की पंक्ति को कारणमाला कहते हैं—कारणानां माला पंक्तिः।' कारणमाला अलंकार केवल कारणों की माला नहीं है, अपितु उसमें पूर्वापर सम्बन्ध भी विवक्षित होता है। वह सम्बन्ध दो प्रकार से हो सकता है, पूर्व-पूर्व कार्य हो उत्तर-उत्तर कारण या पूर्व-पूर्व कारण हो उत्तर-उत्तर कार्य। यही इस अलंकार का स्वरूप है। ऋग्वेद की निम्न ऋचा को कारणमाला का सुन्दर उदाहरण कह सकते हैं :

यज्ञैरथर्वा प्रथवः पथस्तते ततः सूर्यो व्रतपावेन आजनि।
आगा आजदुशना काव्यः स चायमस्य जातममृतं यजामहे।।

—ऋ. 1/83/5

कारणमाला का सुन्दर प्रयोग होने के साथ-साथ यहां 'काव्य' शब्द का प्रयोग भी पाया जाता है। इससे काव्य की उद्भावना का संकेत मिलता है। राजशेखर ने उशना को प्रथम कवि कहा है। संभवतः इसी ऋचा के आधार पर उन्होंने काव्यपुरुष की कल्पना की है।[2]

भरत का 'माला' लक्षण कारणमाला के समीप है।[3] इस अलंकार के भी प्रथम उद्भावक आचार्य हैं, रुद्रट। उन्होंने इसको वास्तवमूल माना है। उनके अनुसार जहां पूर्व-पूर्व अर्थ उत्तरोत्तर कारण बनता जाये, वहां कारणमाला होती है। भोज कारणमाला को अहेतु से पृथक् नहीं मानते। उनका अभिमत है कि हेतुसंतान रूप कारणमाला अहेतु से भिन्न नहीं है, क्योंकि उनमें पृथक्-पृथक् सामर्थ्य का अभाव

है।[4] मम्मट ने रुद्रट के लक्षण को ही रखा है—उत्तर-उत्तर के प्रति पूर्व-पूर्व की कारणता होने पर कारणमाला होती है।[5] रुय्यक ने इसकी शृंखलामूलकता बताई, तथा यह कहा कि इसमें कार्य-कारण क्रम ही चारुत्व का हेतु है। लक्षण में कोई वैलक्षण्य नहीं है।[6] इस विषय में सबसे अधिक प्रगतिशील विचारक हैं, शोभाकर। वह कारणमाला, एकावली और मालादीपक को पृथक् अलंकार न मानकर शृंखला नामक अलंकार के तीन भेद मानते हैं। उत्तर-उत्तर पूर्व-पूर्व के प्रति अथवा उसके विपरीत निबन्धन शृंखला अलंकार है।[7] इसके उन्होंने तीन भेद किये हैं, पूर्व-पूर्व के प्रति उत्तरोत्तर हेतुता, उत्तरोत्तर के प्रति पूर्व-पूर्व की हेतुता तथा पूर्व-पूर्व के प्रति उत्तर की विशेषण रूप में स्थापना, या अपोहन। प्रथम में मालादीपक, द्वितीय में कारणमाला और तृतीय में रुय्यक आदि एकावली मानते हैं। शोभाकर के अनुसार महाविषय शृंखला में स्वल्प विषय ये तीनों ही अन्तर्भूत होने से पृथक् अलंकार पदवी को नहीं प्राप्त कर सकते।[8] जयरथ और जगन्नाथ ने शोभाकर के इस मत का खंडन किया है। उनका अभिमत है कि इस आधार पर तो रूपक आदि उपमामूलक अलंकारों को तथा विरोधमूलक असंगति आदि अलंकारों को उपमा और विरोध का भेद मानना चाहिये, पृथक् नहीं।[9] वस्तुतः शोभाकर का मत अधिक उपादेय है। इसके बाद नरेन्द्रप्रभसूरि से लेकर हेमचन्द्र, वाग्भट द्वितीय, जयदेव, विद्याधर, विद्यानाथ, विश्वनाथ, कर्णपूर, आदि मम्मट, रुय्यक से कुछ अधिक नहीं कह सके।[10]

वाग्भट प्रथम ने इस अलंकार का उल्लेख नहीं किया है। अप्पयदीक्षित का अपने पूर्वाचार्यों से वैशिष्ट्य यह रहा कि वे पूर्व-पूर्व के प्रति उत्तरोत्तर की कारणता में भी कारणमाला मानते हैं।[11] भट्ट देवशंकर तो दीक्षित के और नरसिंह विद्यानाथ के अनुयायी हैं ही।[12] जगन्नाथ प्रथमतः शृंखला का लक्षण करते हैं, जो पहले दिया जा चुका है। तदनन्तर शृंखला को ही अलंकार माननेवाले शोभाकर के मत का खंडन करते हैं। उनका तर्क है कि जिस प्रकार रूपक आदि अलंकारों में अवस्थित अभेदांश या समानधर्म उनका अनुप्राणक होता है, स्वतंत्र अलंकार नहीं, उसी प्रकार शृंखला भी कारणमाला प्रभृति अलंकारों की अनुप्राणिका है, अलंकार नहीं।[13] जगन्नाथ अपने लक्षण में दीक्षित के दोनों लक्षणों को समेट लेते हैं—पूर्वोक्त शृंखला जब पूर्व-पूर्व का उत्तर-उत्तर या उत्तर-उत्तर का पूर्व-पूर्व के साथ कार्य-कारण भाव को प्राप्त करती है, तो कारणमाला अलंकार होता है।[14] विश्वेश्वर का लक्षण स्पष्ट है—पूर्व-पूर्व कार्य्र का उत्तरोत्तर हेतु-निबन्धन कारणमाला अलंकार है।[15] इसी प्रकार अच्युतराय, ब्रह्मतन्त्र, आदि के लक्षणों में अपने पूर्वाचार्यों से कोई वैशिष्ट्य नहीं है।[16]

विवेचन के उपरान्त यह स्पष्ट हो जाता है कि कारणमाला का जो स्वरूप रुद्रट को अभिमत था, कालान्तर में भी वही मान्य रहा। थोड़ा-सा अन्तर आया अप्पयदीक्षित के द्वारा, जिन्होंने दो प्रकार से कारणमाला की व्याख्या की। उसका अनुकरण किया जगन्नाथ ने। वस्तुतः देखा जाये तो यह कोई महत्त्वपूर्ण परिवर्तन नहीं रहा। भोजराज यद्यपि कारणमाला का निषेध करते हैं, तथापि उसके दो भेद मानते हैं : अभिधीयमान और प्रतीयमान।[17] इस प्रकार रुद्रट से लेकर, कारणमाला का, अन्त तक वही स्वरूप स्थिर रहा जो रुद्रट ने स्वीकार किया। यही नहीं अन्य लोगों का उदाहरण रुद्रट के उदाहरण का अनुवाद मात्र है :

विनयेन भवति गुणवान् गुणवति लोकोऽनुरज्यते सकलः।
अभिगम्यतेऽनुरक्तः ससहायो युज्यते लक्ष्म्या।।[18]

'विनय से व्यक्ति गुणवान् होता है, गुणी में लोग अनुराग रखते हैं, अनुरक्त के पास सभी जाते हैं, और ससहाय लक्ष्मी से युक्त होता है।'

यहां गुणवत्ता आदि उत्तर-उत्तर वस्तु के प्रति विनय आदि कारण का पूर्व-पूर्व रूप में निबन्धन किया गया है। अतएव यह कारण माला का उदाहरण है।

प्राचीन आलंकारिक 'हेतु' नामक अलंकार को स्वीकार करते हैं। कारणमाला के परिसर में ही मम्मट और हेमचन्द्र ने उसका सौन्दर्याभाव के कारण खंडन किया है।[19] इस विषय पर काव्यलिंग में विचार किया जायेगा।

एकावली

एक पंक्ति या शृंखलाबद्ध पदार्थ को एकावली कहते हैं—एका चासौ आवली इत्योकावली।[20] सत्ताइस मोतियों की माला का नाम एकावली है, जिसे एकसरा और एकयष्टिका भी कहा जाता है। जिस प्रकार एकावली में एक गुलिका के बाद एक गुंथी रहती है, उसी प्रकार एकावली अलंकार में पूर्व-पूर्व वस्तु के प्रति उत्तरोत्तर वस्तु का विशेषण या विशेष्य रूप में निबन्धन किया जाता है। अतएव एकावली से साम्य के कारण लक्षणा से इसकी अलंकारता मानी जाती है। गजेन्द्रगडकर अलंकार का एकावली अभिधान महत्त्वपूर्ण नहीं मानते,[21] क्योंकि एकयष्टि, हार या एकसरा से एकावली अलंकार का कोई साम्य नहीं है। एकावली शब्द की व्याख्या के लिये हमें इस शब्द की व्युत्पत्ति पर जाना होगा। एकावली में दो पद हैं : एका और आवली। गत्यर्थक इण् धातु से कन् (इणभीकापाशल्यतिकर्चिभ्यः कन्, उ. 3/43) प्रत्यय तथा स्त्रीत्व में टाप् प्रत्यय करने पर 'एका' शब्द निष्पन्न होता है।[22]

एक शब्द, मुख्य, अन्य और केवल का वाचक है।[23] आङ् उपसर्गपूर्वक संचरण या संवरण अर्थवाली 'वल्' धातु से इन् (सर्वद्यातुभ्यः इन्, उ. 4/118) प्रत्यय तथा स्त्रीत्व में ड़ीष् करने पर आवली शब्द बनता है।[24] जो चतुर्दिक् से घिरी हो, या घेरे के रूप में जिसका चतुर्दिक् संसार हो, उसे आवली कहते हैं—आ समन्तात् वलति संवृणोति, संचरति वेति। इस प्रकार आवली का शाब्दिक अर्थ होता है, वीथी, पंक्ति, श्रेणी, श्रृंखला, आदि।[25] अब हमें एकावली का अर्थ करना होगा। प्रधान या मुख्य रूप से जहां पूर्व-पूर्व वस्तु के प्रति उत्तरोत्तर वस्तु विशेषण या विशेष्य रूप में पंक्तिबद्ध निबन्धित हो उसे एकावली कहते हैं—'एका केवला मुख्या प्रधाना वा आवली पूर्वं पूर्वं प्रति उत्तरोत्तरस्य विशेषण-विशेष्यभावेन पंक्तिः इत्येकावली' या यह भी अर्थ कर सकते हैं, कि जिस अलंकार में प्रधान रूप से विशेषणों और विशेष्यों का ही संचार हो, वह एकावली है। अतएव गजेन्द्रगडकर का उक्त कथन भ्रान्तिपूर्ण है।

एकावली के उद्‌भावक आचार्य रुद्रट हैं। प्राचीन आलंकारिक संभवतः इसे परिकर से गतार्थ करते थे। यथाप्राप्त अर्थपरम्परा जहां विधि और निषेधपूर्वक पूर्व-पूर्व के प्रति उत्तर-उत्तर विशेषण रूप में न्यस्त हो, रुद्रट वहां एकावली मानते हैं।[26] उन्होंने इस अलंकार को वास्तवमूल स्वीकार किया है। परिकर प्रकरण में बताया जा चुका है कि भोजराज एकावली को परिकर से अभिन्न मानते हैं।[27] मम्मट ने रुद्रट के लक्षण को ही स्पष्ट करने का प्रयास किया है।[28] गोविन्द ठक्कर के शब्दों में वह इस प्रकार है :

> **'पूर्वं पूर्वं वस्तु उत्तरस्य वस्तुनो यत्र विशेषणतया बाहुल्येन**
> **विधिर्यत्र वा तथा निषेधः सा द्विधैकावली।'**[29]

प्रदीपकार का कथन है कि कुछ विद्वान् मम्मट की कारिका का अर्थ करते हैं कि 'जो वस्तु पूर्वकाल में विशेषण रूप में स्थित थी उत्तरकाल में उसका विशेष्य रूप में स्थापन या निषेध एकावली है', वह मम्मट के अभिप्राय से विरुद्ध है।[30] रुय्यक ने मम्मट से व्यतिरिक्त कोई बात नहीं कही।[31] उन्हीं का लक्षण और उदाहरण दोनों, रुय्यक अपनाते हैं। शोभाकर की दृष्टि में तो यह श्रृंखला का एक भेद है ही। नरेन्द्रप्रभसूरि मम्मट के अनुयायी हैं।[32] हेमचन्द्र इसको अतिशयोक्ति (अयोगे-योगः) से गतार्थ करते हैं।[33] वाग्भट प्रथम के अनुसार पूर्व-पूर्व अर्थ से उत्तरोत्तर वैशिष्ट्यनिष्ठ वस्तुओं (अर्थों) का संविधान एकावली है।[34] वाग्भट द्वितीय का लक्षण मम्मट से व्यतिरिक्त नहीं है।[35] प्रकारान्तर से जयदेव भी यही बात कहते

हैं, ग्रहण-त्याग रीति से अर्थों की श्रेणी एकावली है।[36] विद्याधर, विद्यानाथ तथा विश्वनाथ, कर्णपूर, आदि में अपने पूर्वाचार्यों से कोई वैशिष्ट्य नहीं है।[37]

अप्पयदीक्षित लक्षण तो पूर्णतः जयदेव का रखते हैं,[38] पर वृत्ति में उन्होंने स्पष्ट किया है कि पूर्व-पूर्व वस्तु के प्रति उत्तरोत्तर का या उत्तर-उत्तर वस्तु के प्रति पूर्व-पूर्व वस्तु का विशेषण रूप में स्थापन और निषेध एकावली है।[39] इससे स्पष्ट है कि उन्होंने अपने पूर्ववर्ती आचार्यों से अधिक एक नवीन बात कही, पूर्व-पूर्व के प्रति उत्तरोत्तर वस्तु का विशेषण रूप में निबन्धन। देवशंकर दीक्षित के अनुयायी हैं ही।[40] नरसिंह रुय्यक आदि के अनुगामी हैं।[41] जगन्नाथ का अभिमत है कि शृंखला ही संसर्ग के विशेष्य-विशेषण भाव रूप में निबन्धित होकर एकावली बन जाती है।[42] अच्युतराय तथा अलंकार मुक्तावली में विश्वेश्वर जगन्नाथ जैसा लक्षण करते हैं।[43] विश्वेश्वर के अन्य दो ग्रन्थों के लक्षण मम्मट के समान हैं।[44] अन्य आचार्यों के लक्षण भी पूर्ववत् हैं।[45]

रुद्रट ने एकावली का दो भेद किया था, पूर्व-पूर्व वस्तु का उत्तर-उत्तर वस्तु के विशेषण रूप में स्थापन और निषेध होने पर। इन्हीं दो (विधि-निषेध) भेदों को मम्मट, रुय्यक, नरेन्द्रप्रभ, जयदेव, विद्याधर, विद्यानाथ, कर्णपूर, आदि सभी स्वीकार करते हैं। अप्पयदीक्षित के द्विधा लक्षण को कहा जा चुका है। जगन्नाथ की विशेषता यह है कि वह एकावली का तीन भेद करते हैं, प्रथमतः वह दो भेद मानते हैं : (1) पूर्व-पूर्व पदार्थ उत्तर-उत्तर पदार्थ का विशेष्य हो, और (2) पूर्व-पूर्व पदार्थ उत्तर-उत्तर का विशेषण हो। प्रथम के दो अवान्तर भेद हैं, विशेषभूत उत्तरोत्तर पदार्थ कहीं स्थापक होता है और कहीं अपोहक।[46] स्थापक उस विशेषण को कहा जाता है जो अपने सम्बन्ध के द्वारा विशेष्यगत असाधारण धर्म का नियमन करता है, और जो अपने अभाव के द्वारा विशेष्यगत असाधारण धर्म के अभाव-ज्ञान को उत्पन्न करता है, वह अपोहक कहा जाता है। आचार्य विश्वेश्वर ने जगन्नाथ के इस विभाजन का खंडन करके मम्मटोक्त रीति की स्थापना की है।[47] वस्तुतः जगन्नाथ का उक्त विभाग कुवलयानन्द पर आधृत है :

'उत्तरोत्तरस्य पूर्वंपूर्वं प्रति विशेषणविशेष्यतया वा गुम्फने शृंखला एकावलीत्युच्यते। इयमेव गृहीतमुक्तरीत्यार्थश्रेणिरुच्यते।'[48]

ब्रह्मतन्त्रपरकाल स्वामी दीक्षित तथा जगन्नाथ की भेद-व्यवस्था का समादर करते हैं।[49]

विवेचन के उपरान्त स्पष्ट प्रतीत होता है कि एकावली का वही स्वरूप अन्त

तक मान्य रहा, जो रुद्रट को अभिमत था। उसमें थोड़ा-सा परिवर्तन अप्पयदीक्षित के समय में आया। पूर्ववर्ती आलंकारिक उत्तर-उत्तर वस्तु के प्रति पूर्व-पूर्व के विशेषण रूप में स्थिति-अपोह को एकावली मानते हैं, दीक्षित ने विशेष्य रूप में भी उसको स्वीकार कर लिया। उसका अनुगमन जगन्नाथ और ब्रह्मतन्त्र स्वामी ने किया और कोई वैशिष्ट्य नहीं है। जगन्नाथ का अभिमत है कि द्वितीय भेद जिसमें पूर्व-पूर्व विशेषण के द्वारा उत्तरोत्तर विशिष्ट बताया जाता है, उसमें यदि पूर्व-पूर्व के द्वारा क्रियमाण उपकार एक रूप हो जाये तो प्राचीनों की दृष्टि में वही मालादीपक बन जाता है।[50] मालादीपक की पृथक् अलंकारता का दीपक प्रकरण में खंडन किया जा चुका है।[51] वहां यह बताया गया है कि मालादीपक एकावली से व्यतिरिक्त नहीं है। अतः पुनः उसकी चर्चा व्यर्थ है। एकावली का एक उदाहरण :

'पुराणि यस्यां सवरांगनानि वरांगना रूपपुरस्कृतांग्यः।
रूपं समुन्मीलितसद्विलासमस्त्रं विलासाः कुसुमायुधस्य।।'

यहां नगरों की कामिनियां, उनका रूप, रूप का विलास और विलास का कुसुमायुध को विशेषण रूप में स्थापित किया गया है। अतएव यह विशेषण स्थापक रूप एकावली का उदाहरण है। 'न तज्जलं' इत्यादि में वह अपोह रूप है।

सार

सार शब्द बल, स्थिर, न्याय, नीर, धन, वर, आदि अर्थों का वाचक है।[52] गत्यर्थक सृ धातु से भाव अर्थ में घञ् (सृस्थिरे, पा. 3/3/17) प्रत्यय करने पर निष्पन्न सार शब्द का अर्थ यहां उत्तरोत्तर उत्कर्ष या अपकर्ष की प्राप्ति है—उत्तरोत्तरं उत्कर्षस्य, अपकर्षस्य वा सरणं सारः। सार अलंकार वस्तुओं के उत्तरोत्तर उत्कर्ष-निबन्धन में होता है (जगन्नाथ अपकर्ष में भी सार मानते हैं)। अतएव अलंकार का 'सार' नाम उपयुक्त है। वस्तुओं में परस्पर उत्तरोत्तर उत्कर्ष दिखाते हुए किसी एक वस्तु का परम उत्कर्ष व्यक्त करना ही यहां कवि का विवक्षित होता है। कवि की इसी वृत्ति को लेकर इस अलंकार की उद्भावना हुई है। यह उत्कर्ष श्रृंखला की भांति एक के बाद एक न्यस्त रहता है। अतएव रुय्यक आदि आलंकारिक 'सार' को भी श्रृंखलामूलक अलंकार मानते हैं।

कठोपनिषद् का निम्न कथन सार का अच्छा निदर्शन है :

इन्द्रियेभ्यः परा ह्यर्था अर्थेभ्यश्च परं मनः।
मनसस्तु परा बुद्धिर्बुद्धेरात्मा महान्परः।।

महतः परमव्यक्तः अव्यक्तात्पुरुषः परः।
पुरुषान्न परं किंचित्सा काष्ठा सा परा गतिः।।[53] —कठो. 1/3/10-11

सार के प्रथम उद्भावक आचार्य रुद्रट हैं। उनकी दृष्टि में यह वास्तवमूल है। जो-जो समुदाय हैं, उनके एक-एक देश को जहां चरम सीमा तक अत्यन्त गुणवान् निश्चित किया जाता है, वहां रुद्रट को सार अलंकार अभीष्ट है।[54] रुद्रट की टीका में नमिसाधु ने स्पष्ट लिखा है कि अक्रम उत्कर्ष दिखाना सार न होकर साराभास होगा। वस्तुतः जहां अर्थों का शृंखला कटक के समान निर्धारण होगा वहीं सार होगा अन्यथा नहीं।[55]

'सरस्वती कंठाभरण' में भोजराज पदार्थों के सार को उत्तर अलंकार मानते हैं, किन्तु 'शृंगार प्रकाश' में वह अतत्त्व निरासपूर्वक तत्त्व-ग्रहण को सार अलंकार कहते हैं।[56] रुद्रट के अस्पष्ट लक्षण को मम्मट ने और भी स्पष्ट बनाया है, किन्तु स्वरूप में कोई अन्तर नहीं है—वस्तुओं का उत्तरोत्तर अवधिपर्यन्त (चरम सीमा तक) उत्कर्ष सार है।[57] मम्मट के लक्षण में 'परावधि' का अर्थ गोविन्द ठाकुर गद्य-पद्य का अन्तिम भाग करते हैं;[58] पर वह अनुपयुक्त है, क्योंकि श्लोकार्ध समाप्ति पर्यन्त भी परस्पर उत्तरोत्तर उत्कर्ष होने पर सार संभव है।[59] मम्मट के लक्षण को विद्याचक्रवर्ती आदि ने स्पष्ट करने का प्रयास किया है : उत्तरोत्तर धारावाहिक रूप से निबद्ध पर्यन्त में परमोत्कर्ष प्रतीति सार है।[60] रुय्यक ने रुद्रट और मम्मट के लक्षण को सूक्ष्म और पूर्णतः स्पष्ट कर दिया है : पूर्व-पूर्व की अपेक्षा उत्तरोत्तर उत्कर्ष सार अलंकार है।[61] रुय्यक ने इसे भी शृंखलामूलक माना है। रुय्यक को इसकी प्रेरणा संभवतः नमिसाधु से मिली होगी। शोभाकर ने एक या अनेक वस्तुओं के उत्तरोत्तर रूप और धर्म के आधिक्य में 'वर्धमानक' अलंकार माना है।[62] उनके अनुसार 'सार' अलंकार में केवल धर्माधिक्य विवक्षित होता है। अतएव वह स्वल्प विषय होने के कारण महाविषय वर्धमानक में अन्तर्भूत हो जाता है।[63]

नरेन्द्रप्रभसूरि पूर्ववत् रुय्यक जैसा लक्षण करते हैं।[64] हेमचन्द्र ने सार को परिसंख्या से गतार्थ किया है।[65] जिसका खंडन उन्हीं के समकालीन माणिक्यचन्द्र कर देते हैं।[66] वाग्भट प्रथम के अनुसार निर्धारित तथ्य से उत्तरोत्तर यथाशक्ति उत्कर्ष विधान सार है।[67] वाग्भट द्वितीय का लक्षण भी रुद्रट के समान है।[68] जयदेव, विद्याधर, विद्यानाथ, विश्वनाथ, कर्णपूर, अप्पयदीक्षित, नरसिंह, आदि के लक्षण भी पूर्ववत् हैं।[69] देवशंकर पुरोहित श्लोकबद्ध पदार्थों के उत्तरोत्तर उत्कर्ष को सार कहते हैं।[70] वस्तुतः श्लोकबद्ध कथन व्यर्थ है, क्योंकि सार की स्थिति गद्य में भी हो सकती है। जगन्नाथ का अभिमत है कि संसर्ग के उत्कष्ट-अपकृष्ट भाव रूप

होने पर शृंखला ही सार कही जाती है।[71] विश्वेश्वर आदि के लक्षण में भी पूर्वाचार्यों से कोई अधिक वैशिष्ट्य नहीं है।[72]

भेद

रुद्रट ने सार का केवल एक उदाहरण प्रस्तुत किया है :

राज्ये सारं वसुधा वसुधायां पुरं पुरे सौधम्।
सौधे तल्पं तल्पे वरांगनानंगसर्वस्वम्।।[73] —रुद्रट

यहां राज्य में पृथिवी, पृथिवी में पुर, पुर में प्रासाद, प्रासाद में शैया, और उस पर अनंग सर्वस्व रूप कामिनी का उत्कर्ष दिखाया गया है। वसुधा आदि पदार्थों को परस्पर उत्कृष्ट बताते हुए अन्त में कामिनी को सर्वोत्कृष्ट बताया गया है। अतएव यहां सार अलंकार है। यह गुणोत्कर्ष रूप सार का उदाहरण है। ध्यान देने योग्य है कि रुद्रट के इसी उदाहरण का प्रयोग मम्मट, रुय्यक, विश्वनाथ, आदि करते हैं। रुद्रट की भांति मम्मट, रुय्यक, नरेन्द्रप्रभसूरि, वाग्भट (दोनों), विश्वनाथ, विद्यानाथ, आदि कोई आलंकारिक सार का भेद नहीं करता। जयरथ ने शोभाकर के वर्धमानक अलंकार का खंडन करने के लिये सार का चार भेद किया है : एक विषय का उत्तरोत्तर उत्कर्ष और अनेक विषय का, यह प्रथमतः दो भेद हैं। पुनः इनका उत्कर्ष कहीं स्वरूपगत होता है, कहीं धर्मगत। इस प्रकार उन्होंने सार के चतुर्धा विभाग किये हैं।[74]

उदारसार सार से अतिरिक्त नहीं

जयदेव ने सार के अतिरिक्त भिन्न गुण के अभिन्न रूप में स्थित होने पर उदारसार अलंकार माना है।[75] वस्तुतः इसमें भी धर्मगत उत्कर्ष ही विवक्षित रहता है, अतएव यह सार से ही गतार्थ है। इसीलिये दीक्षित ने सार के तीन भेद माने हैं, श्लाध्य गुणोत्कर्ष, अश्लाध्य गुणोत्कर्ष तथा उभय रूप।[76] देवशंकर दीक्षित का अनुकरण करते हैं। जगन्नाथ जयरथ की भांति सार के चार भेद करते हैं। लक्षण विवेचन के समय बताया गया है कि जगन्नाथ वस्तुओं के उत्कृष्ट और अपकृष्ट दोनों स्थितियों में सार मानते हैं। पुनः इन भेदों को वह एकविषय तथा अनेकविषय गतत्त्वेन द्विधा विभक्त करते हैं। एक ही विषय का परस्पर उत्कर्ष या अपकर्ष का उत्तरोत्तर निबन्धन अशक्त है अतएव यहां अवस्था इत्यादि का भेद आवश्यक है।[77] एक विषय का उदाहरण :

'जम्बीरश्रियमतिलङ्घ्य लीलयैव व्यानम्रीकृतकमनीयहेमकुम्भौ।
नीलाम्भोरुहनयनेऽधुना कुचौ ते स्पर्धेते खलु कनकाचलेन सार्धम्।।'[78]

यहां कामिनी के कुचयुग्म अवस्थाभेद से पहले जम्बीर (नींबू) की शोभा को तिरस्कृत करते हैं, पुनः हेमकुम्भ को नीचा दिखाते हैं और अब युवावस्था में सुवर्ण-गिरि से स्पर्धा कर रहे हैं। यहां एक ही वस्तु का उत्तरोत्तर उत्कर्ष दिखाया गया है। अतएव यह एक विषयक उत्कर्ष रूपसार का उदाहरण है। जयरथ प्रोक्त चार भेदों को ब्रह्मतन्त्र श्रद्धा की दृष्टि से देखते हैं।[79] विश्वेश्वर ने कोई भेद नहीं किया है।

विवेचन से स्पष्ट है कि दीक्षित-पूर्व आचार्य सार का भेद नहीं करते, केवल भोजराज धर्म-धर्मि भेद से दो भेद मानते हैं। जयरथ चार भेद करते हैं, दीक्षित तीन। जगन्नाथ इन सबसे आगे जाकर उत्तरोत्तर अपकर्ष में भी सार मान बैठते हैं। शोभाकर के वर्धमानक का खंडन करने के लिये जयरथ, जगन्नाथ, आदि स्वरूप और धर्म दोनों के उत्कर्ष को सार का विषय स्वीकार कर लेते हैं। अतएव वस्तुओं का रूप धर्मगत उत्तरोत्तर उत्कर्ष निबन्धन सार अलंकार है।

वर्धमानक

इस अलंकार का शोभाकर कथित लक्षण दिया जा चुका है। विचार आवश्यक है। जयरथ और जगन्नाथ ने एक विषय के उत्तरोत्तर उत्कर्ष में सार स्वीकार किया है। एक विषय में शृंखला सुन्दर नहीं बन पाती, अतएव सार भी सुन्दर नहीं होता। वास्तविकता यह है कि शृंखला में विषय का स्वाभाविक भेद अपेक्षित है। अवस्थाकृत भेद में उसका अभाव है। इसीलिये अवस्थाकृत भेद को लेकर शोभाकर ने स्वरूप और धर्म के आधिक्य में 'वर्धमानक' अलंकार की स्थिति को उपयुक्त माना। अतः जिस प्रकार कारणमाला आदि मात्र शृंखला के विषय हैं, सार भी उसी प्रकार है, कहना कठिन है। सार को मात्रशृखला का विषय मानने पर तो अन्य अलंकार वर्धमानक की सत्ता स्वीकारनी ही पड़ेगी। अतएव 'गुण-स्वरूप से पूर्व-पूर्व की अपेक्षा उत्तरोत्तर उत्कर्ष सार है' सार का लक्षण करना पड़ेगा। वह कहीं शृंखला से अनुप्राणित होगा, कहीं स्वतंत्र और इस प्रकार जैसा कि जयरथ मानते हैं, सार की एक विषयता और अनेक विषयता भी सिद्ध हो जाती है। तात्पर्य यह कि एकविषयक सार स्वतंत्र होगा और अनेकविषयक शृंखला से अनुप्राणित। शोभाकर का यह कथन कि वर्धमानक महाविषय और सार स्वल्पविषय है, अतएव सार का वर्धमानक में अन्तर्भाव हो जायेगा, यद्यपि उपयुक्त है, तथापि ग्राह्य नहीं। जब एक अलंकार पहले से वर्तमान है, तब उसी के स्वरूप में सुधार कर उसकी सत्ता को

मान्यता देना अच्छा है, न कि एक नये अलंकार की उद्भावना। अतएव उपर्युक्त रीति से वर्धमानक को सार में अन्तर्भूत किया जा सकता है।[80] जगन्नाथ ने इसी परिसर में शृंखला को अलंकार मानने वाले शोभाकर के मत का खंडन किया है, क्योंकि उस प्रकार तो सादृश्य, विरोध आदि को अलंकार मानकर उपमा आदि को उसका भेद स्वीकारना पड़ेगा।[81]

अवरोह का अन्तर्भाव

शोभाकर ने रूपधर्म के उत्तरोत्तर अपकर्ष में एक नवीन अलंकार 'अवरोह' की उद्भावना की है।[82] वस्तुतः इसका भी अन्तर्भाव जगन्नाथ के अपकर्ष रूप सार में सरलता से हो सकता है। अवरोह में भी प्रकारान्तर से उत्कर्ष ही विवक्षित होता है :

'तपनाच्छशी शशिनो ज्वलनः ज्वलनाद्दीपो लघुकः।
ततोऽपि त्वं खद्योत तथापि रे हन्त विस्फुरसि।।'[83]

यहां शशि आदि अनेक पदार्थों का स्वरूपलाघव होने से अवरोह अलंकार है। यद्यपि खद्योत का यहां सब से अधिक स्वरूप लाघव है, किन्तु 'हन्त तथापि विस्फुरसि' कथन से उसका उत्कर्ष ही सूचित होता है। अतएव अवरोह को भी सार में अन्तर्भूत किया जा सकता है। यदि यह तर्क मान्य न हो तो उत्तरोत्तर अपकर्षनिबन्धन सार में तो यह अन्तर्भूत ही है।

अतिशय अतिरिक्त अलंकार नहीं

क्रमशः संभावना या असंभावनापूर्वक उत्तरोत्तर उत्कर्ष होने पर शोभाकर 'अतिशय' अलंकार मानते हैं।[84] यह भी 'एक विषय सार' से गतार्थ है :

सुजनो न कुप्यत्येवाथ कुप्यति विप्रियं न चिन्तयति।
अथ चिन्तयति न जल्पति अथ जल्पति लज्जितो भवति।।[85]

शोभाकर के अनुसार यहां कोपादि का असंभावनात्मक अतिशय होने से अतिशय अलंकार है। वस्तुतः यहां भी सज्जन के स्वभाव का उत्तरोत्तर उत्कर्ष वर्णित है। वह एक विषय (सज्जन) गत होने से एकविषय सार का विषय है। अतएव अतिशय को सार से व्यतिरिक्त नहीं माना जा सकता।

संदर्भ

1. पंक्तिरूपेण निबद्धानामर्थानां पूर्वपूर्वस्योत्तरोत्तरस्मिन्, उत्तरोत्तरस्य वा पूर्वपूर्वस्मिन् संसृष्टं शृंखला। —र.गं., पृ. 461.
2. दे., का.मी., अध्याय-2.
3. वही, ना.शा. 16/29 (अनुबन्ध अध्याय)।
4. कारणमाला सेयं यत्र यथापूर्वमेति कारणताम्।
अर्थानां पूर्वार्थाद्भवतीदं सर्वमेवेति।। —काव्यालं. 7/84.
5. यस्तु कारणमालेति हेतुसंतान उच्यते।
पृथक् पृथगसामर्थ्यात् सोऽप्यहेतोर्न भिद्यते।। —स.कं., 3/19.
6. यथोत्तरं चेत्पूर्वस्य पूर्वस्यार्थस्य हेतुता। तदा कारणमाला स्यात्। का.प्र. 10/120.
7. पूर्वपूर्वस्योत्तरोत्तरहेतुत्वे कारणमाला। अ.स. सूत्र-53 तथा वृत्ति।
उत्तरोत्तरस्य पूर्वपूर्वानुबन्धित्वं विपर्ययो वा शृंखला। अ.र. सूत्र-96.
8. कारणमाला, एकावली, मालादीपकमितित्रयः शृंखलाबन्धेनान्यैरलंकारा लक्षितास्तेषु च शृंखलात्वपरिहारेण प्रत्येकं न विच्छित्तिविशेषोऽस्ति येनालंकारभेदः स्यात्। वही, पृ. 165-66.
9. दे., वि., पृ. 140 तथा र.गं., पृ. 466.
10. अ.म. 8/63, यथोत्तरं पूर्वपूर्वस्य हेतुत्वे कारणमाला। काव्यानु. 706/30. गुम्फः कारणमाला स्याद्यथाप्राक्प्रान्तकारणैः। चन्द्रा. 5/87; तु. एका. 8/45; प्र.रु., पृ. 338; सा.द., 10/76; अ.कौ. 8/294; काव्यानु., पृ. 41; अ.चि. 4/225.
11. उत्तरोत्तर कारणभूतपूर्वपूर्वैः, पूर्वपूर्वकारणभूतोत्तरोत्तरैर्वा वस्तुभिः कृतो गुम्फः कारणमाला। कु., पृ. 125.
12. अ.मं. कारिका 77 तथा नं.य., पृ. 219.
13. दे., र.गं., पृ. 461.
14. सैव शृंखला आनुगुण्यस्य कार्यकारणभावरूपत्वे कारणमाला। वही।
15. कारणमाला पूर्वे-पूर्वे कार्ये यथोत्तरं हेतौ। अ.कौ., पृ. 360; तु. अ.प्र., 178; अ.मु. 38.
16. सा.सा. 8/247; अ. मणि. भाग-2, पृ. 491; सा.वि. 5/21.
17. एकोऽभिधीयमानेषु हेतुत्वेषु भवेत्तयोः।
प्रतीयमानेष्वपरः कारणत्वेषु जायते।। —स.कं. 3/20.
18. काव्यालं., 7/85; तु. स.कं., पृ. 333; का.प्र., पृ. 706; अ.स., पृ. 169; सा.द., पृ. 557; एकावली, पृ. 297.
19. दे., का.प्र., पृ. 706-7; प्र., पृ. 372; संकेत, पृ. 273; सं.प्र. और सा.चू., पृ. 373 तथा काव्यानुशासन, पृ. 397.
20. एकावल्येकयष्टिका, सैव नक्षत्रमाला स्यात् सप्तविंशतिमौक्तिकैः। अ.कौ., 2/106. एकाचासावावली चेति कर्मधारयः। एकयष्टिका, एकलतिका, एकसरा चेत्

एकावलीत्युच्यते। तथा च तत्सादृश्यादलंकारे लक्षणा। बा.बो., पृ. 730.

21. का.प्र. नोट्स, पृ. 435.
22. अमरकोश, सुधा, पृ. 399.
23. एके मुख्यान्यकेवलाः। अ.कौ. 3/16 तथा मेदिनी भी।
24. अ.कौ.सु., पृ. 128.
25. वीथ्यालिरावलिः पंक्तिः श्रेणी।। अ.कौ., 2/4.
26. एकावलीतिसेयं यत्रार्थपरम्परा यथालाभम्।
आधीयते यथोत्तरविशेषणा स्थित्यपोहाभ्याम्।। —काव्यालं., 7/109.
27. दे., परिकर प्रकरण तथा स.कं., 4/76.
28. स्थाप्यतेऽपोह्यते वापि यथापूर्वं परस्परम्।
विशेषणतया यत्र वस्तु सैकावली द्विधा।। —का.प्र., 10/131.
29. प्रदीप, पृ. 381; तु. सं.प्र., पृ. 392.
30. वही।
31. यथापूर्वं परस्य विशेषणतया स्थापनापोहने एकावली, अ.स. सूत्र-54 तथा संजीवनी।
32. दे., अ.म. 8/64.
33. वही, काव्यानु., पृ. 370.
34. पूर्वपूर्वार्थवैशिष्ट्यनिष्ठानामुत्तरोत्तरम्।
अर्थानां या विरचना बुधैरेकावली मता।। —वाग्भटा. 4/135.
35. गृहीतमुक्तरीत्यर्थश्रेणिरेकावली मता। —चन्द्रा. 5/88.
36. दे. काव्यानु., पृ. 41.
37. वही, एका. 8/46; प्र.रु., पृ. 338; सा.द. 10/77; अ.कौ. 8/307.
38. वही, कु. कारिका, 105.
39. उत्तरोत्तरस्य पूर्वपूर्वविशेषणभावः पूर्वपूर्वस्योत्तरोत्तरविशेषणभावो वा गृहीतमुक्त रीतिः। कु., पृ. 126; तु. अ.मं., पृ. 148.
40. अ.मं., कारिका, 78.
41. दे., नं.य., पृ. 219.
42. सैव शृंखला संसर्गस्य विशेष्यविशेषणभावरूपत्वे एकावली। र.गं., पृ. 463.
43. सा.सा. 8/249 तथा अ.मु. 47 तथा वृत्ति।
44. अ.कौ., पृ. 384 तथा दे., अलंकारप्रदीप का एकावली लक्षण।
45. अ. मणि. भाग-2, पृ. 409, सा.बि. 5.
46. सा च पूर्वपूर्वस्योत्तरोत्तरं प्रति विशेष्यत्वे विशेषणत्वे चेति द्विधा। तत्राद्ये उत्तरोत्तर-विशेषणस्य स्थापकत्वापोहकत्वाभ्यां द्वैविध्यम्। —र.गं., पृ. 463.
47. दे., अ.कौ., पृ. 385.
48. अ. मणि. भाग-2, पृ. 496.
49. दे., वही, पृ. 496-99.

50. अस्मिंश्चैकावल्या द्वितीये भेदे पूर्वपूर्वैः परस्परस्योपकारः क्रियमाणः यद्येकरूपः स्यात्तदायमेव मालादीपक शब्देन व्यवह्रियते प्राचीनैः। र.गं., पृ. 464; तु. अ. मणि. भाग-2, पृ. 498.
51. दे., दीपक प्रकरण।
52. सारो, बले, स्थिरांशे च न्याय्ये क्लीबे वरे त्रिषु। —अ.को., 3/171 तथा वही, मेदिनी, दे., सु., पृ. 426.
53. जगन्नाथ, विश्वेश्वर तथा छज्जूराम ने इसमें सार अलंकार माना है। दे., र.गं., पृ. 465; अ.कौ., पृ. 366; सा.बि., पृ. 225.
54. यत्र यथा समुदायाद्यथैकदेशं क्रमेण गुणवदिति।
निर्धार्यते परावधि निरतिशयं तद्भवेत्सारम्।। —काव्यालंकार, 7/96.
55. दे., टीका, न.सा., पृ. 95.
56. पदार्थानां तु यः सारस्तदुत्तरमिहोच्यते। स.कं., 3/23.
फल्गुनिरासेन अफल्गुनिर्धारणं सारः। शृं.प्र., पृ. 393.
57. उत्तरोत्तरमुत्कर्षो भवेत्सारः परावधिः। —का.प्र., 10/123 तथा वृत्ति।
58. दे., प्रदीप, पृ. 374-75.
59. रामचरणतर्कवागीश, सा.द. की टीका, पृ. 559.
60. उत्तरोत्तरं धारावाहिकतया पर्यन्तनिवेशितप्रतीतिविश्रान्त्यास्पदं प्रकर्षः सारः। सं.प्र., पृ. 379; तु. काव्यादर्श संकेत, पृ. 322.
61. उत्तरोत्तरमुत्कर्षः सारः। अ.स. सूत्र-56 तथा वृत्ति।
62. रूपधर्माभ्यामाधिक्यं वर्धमानकम्। अ.र. सूत्र-93.
63. अस्मिंश्च वर्धमाने सारोऽन्तर्भावमेति न पुनरिदम्।
अन्तर्भूतं सारे परिमितविषये महाविषयम्।। —वही, पृ. 163.
64. दे., अ. महो. 8/63.
65. सारालंकारः कैश्चिदुक्तः स चान्यापोहमन्तरेण न चमत्कारीति परिसंख्यै वयुक्तोऽलंकारः। —विवेक, पृ. 395.
66. अन्यापोहकृतं चारुत्वं इत्ययं परिसंख्यैव इत्येके। तदसत्। संकेत, पृ. 276.
67. वाग्भटा., 4/125.
68. समुदायात् उत्कृष्टोत्कृष्टनिर्धारणं सारः। —काव्यानु., पृ. 43.
69. दे., चन्द्रा. 5/90; एका. 8/48; प्र.रु., पृ. 339; सा.द. 10/78; अ.कौ. 8/299; कु. कारिका, 108; नं.य., पृ. 220.
70. दे., अ.मं. कारिका, 80.
71. सैव संसर्गस्य उत्कृष्टापकृष्ट भावरूपत्वे सारः। र.गं., पृ. 465; तु. सा.सा., 8/251.
72. दे., अ.कौ., पृ. 365; अ. मणि. भाग-3, पृ. 1; सा.वि., पृ. 224.
73. वही, काव्यालंकार, 7/97; का.प्र., पृ. 714; अ.स., पृ. 171; सा.द., पृ. 559; अ.म., पृ. 306.

74. इत्यस्य चातुर्विध्यम्। वि., पृ. 142; तु. अ.मणि. भाग-3, पू. 1. भोजराज ने सार को धर्म, धर्मि भाव से द्विधा माना है। रुद्रटोक्त उदाहरण में वह धर्मगत सार मानते हैं। शृं.प्र., पृ. 393-94.
75. उदारसारश्चेद्भातिभिन्नोऽभिन्नतया गुणः। चन्द्रा. 5/91.
76. दे., कु., पृ. 127-28.
77. वही, र.गं., पृ. 465.
78. वही।
79. इमं चालंकारमेकानेक विषयत्वेन द्विविधमामनन्ति। .... तत्रापि उत्तरोत्तरमुत्कर्षः स्वरूपेण धर्मेण वा भवतीत्यस्य चातुर्विध्यमिति विमर्शिनीकारः। अ.मणि. भाग-3, पृ. 1.
80. दे., वि., पृ. 142-43; उद्योत, पृ. 551; र.गं., पृ. 465-66; अ. मणि. भाग-3, पृ. 5.
81. वही, र.गं., वही।
82. विपर्ययोऽवरोहः। अ.र., सूत्र-94.
रूपधर्माभ्यामित्येव। —वही, वृत्ति।
83. अ.र., पृ. 164.
84. संभावनयाऽन्यथा वातिशयोऽतिशयः। —अ.र., सूत्र-95.
85. वही, पृ. 165.

सप्तम अध्याय

तर्कन्यायमूलक अलंकार

काव्यलिंग

किसी हेतु (कारण) से किसी अर्थ (कार्य) की प्रतीति को तर्कन्याय कहते हैं।[1] काव्यलिंग आदि अलंकारों में कारण से कार्य-प्रतीति ही कवि विवक्षा का विषय होती है। अतएव इन अलंकारों को तर्कन्यायमूल कहा गया है। लिंग शब्द अनुमान, न्याय, हेतु, समर्थक, युक्ति, आदि अर्थों का वाचक है।[2] चित्रीकरण अर्थ में पठित लिगि धातु से भाव अर्थ में घञ् प्रत्यय (हलश्च, 3/3/121) करने पर निष्पन्न लिंग शब्द उक्त अर्थों का अभिधायक है—लिंग्यते अनेन इति लिंगम्, यद्वा लिंगयति सूचयति साधयति इति लिंगम्, लीनमर्थं गमयतीति वेति। जिस वस्तु को सिद्ध करने की इच्छा की जाती है, उसके साधक का नाम हेतु है।[3] अतएव काव्यलिंग का अर्थ हुआ काव्याभिमत लिंग—काव्याभिमतं काव्यस्य वा लिंगम्।[4] पदार्थ, वाक्यार्थ रूप हेतु से कार्य की सिद्धि काव्यलिंग का काम है। अतएव अलंकार का नाम अन्वर्थक है। न्याय-शास्त्र प्रसिद्ध लिंग से पृथक् करने के लिये यहां काव्य शब्द का उपादान हुआ है। नैयायिक के लिंग में सौन्दर्य का अभाव है। इन्दुराज के शब्दों में इस प्रकार कहा जा सकता है : तार्किक का हेतु लोक प्रसिद्ध वस्तुओं से सम्बद्ध होता है, उसमें पक्षधर्मता, अन्वयव्यतिरेक, आदि का अनुसरण आवश्यक होता है। अतएव वह वैरस्य का उपपादक है। काव्यहेतु अतिशय के कारण सहृदयहृदय का संवादी सरस पदार्थ का वर्णन है। इस प्रकार न्यायशास्त्र के लिंग की भांति नीरस न होकर काव्यलिंग सरस पदार्थनिष्ठ होता है।[5] उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि लिंग का अपर अभिधान हेतु भी है। अतएव कुछ आलंकारिक इस अलंकार को हेतु नाम प्रदान करते हैं।

'अक्षैर्मा दीव्याः कृषिमित् कृषस्व'[6] ऋग्वेद की इस ऋचा में तथा ऋ. 1/164/20 में काव्यलिंग अलंकार है। भरत ने हेतु नामक लक्षण की परिभाषा इस प्रकार की है—प्रयोजन-वश इष्ट अर्थ का साधक, संक्षिप्त, मनोहारी वाक्य हेतु कहा जाता है।[7] भरत का यह काव्य-लक्षण हेतु या काव्यलिंग के अत्यन्त समीप है। वक्रोक्ति या सौन्दर्य का अभाव होने से भामह हेतु को अलंकार नहीं मानते।[8] भामह का विरोध

करते हुए दंडी हेतु को वाणी का उत्तम भूषण मानकर उसका सविस्तार विवेचन करते हैं।[9] अलंकार को काव्यलिंग अभिधान प्रदान का श्रेय उद्भट को है। उनका लक्षण पूर्णतः न्यायशास्त्र पर आधृत है, शब्द प्रतिपादित एक वस्तु जहां अन्य वस्तु के स्मरण या अनुभव का हेतु बन जाती है, वहां काव्यलिंग अलंकार होता है।[10] हेतुरूप व्यापार को स्मृति तथा अनुभव रूप में तार्किक द्विधा मानता है। उद्भट ने उसे ही रख दिया है। अतएव यह लक्षण साहित्यिक कम तार्किक अधिक है। रुय्यक आदि के अनुसार यह स्मरण अलंकार है। वामन ने हेतु या काव्यलिंग किसी का उल्लेख नहीं किया है। रुद्रट ने वास्तवमूल अलंकारों में हेतु का उल्लेख किया है—कार्य-कारण का अभेद हेतु है।[11] वस्तुतः रुद्रट के इस हेतु में कोई चारुत्व नहीं है। इसीलिये मम्मट ने इसका खंडन किया है।[12] कुन्तक भी भामह का अनुसरण करते हैं।[13] भोजराज कार्य के कारण या प्रवृत्तिनिवृत्तिनिबन्धन को हेतु मानते हैं।[14] काव्यलिंग को सर्वप्रथम स्पष्ट स्वरूप प्रदान किया मम्मट ने। उनके अनुसार वाक्यार्थ या पदार्थ रूप हेतु का अभिधान काव्यलिंग अलंकार है।[15] मम्मट के इस लक्षण को रुय्यक, नरेन्द्रप्रभसूरि, विद्याधर, विद्यानाथ, विश्वनाथ, नरसिंह, विश्वेश्वर, आदि आलंकारिकों ने स्वीकार किया है।[16] शोभाकर का अभिमत है कि दूसरे से अनवगत वस्तु का प्रतिपादक गमक रूप लिंग हेतु अलंकार है। उनका कथन है कि लिंग से जहां स्वयमेव कार्य की प्रतीति होती है, वहां अनुमान होता है और लिंग से परार्थानुमान रूप पर प्रत्यायन काव्यलिंग का अपर पर्याय हेतु नामक अलंकार है।[17] हेमचन्द्र मम्मट की रीति से हेतु का निराकरण करते हुए काव्यलिंग का भी निराकरण कर देते हैं।[18] किसी अर्थ का निष्पादन करने वाले कर्ता की योग्यता-युक्ति का प्रकाशक हेतु है, ऐसा वाग्भट प्रथम का अभिमत है।[19] वाग्भट द्वितीय रुद्रट का अनुसरण करते हैं।[20] जयदेव नूतन अर्थ के समर्थक शब्दार्थ (पदार्थ-वाक्यार्थ रूप) को काव्यलिंग मानते हैं।[21] अप्पयदीक्षित के अनुसार समर्थनीय अर्थ का समर्थक काव्य लिंग है।[22] देवशंकर दीक्षित का अनुसरण करते हैं।[23] अप्पयदीक्षित ने जयदेवप्रोक्त श्लेष गुण को भी काव्यलिंग का विषय माना है। उन्होंने परिकर से काव्यलिंग का भेद बताते हुए कहा है कि पदार्थ और वाक्यार्थ के माहात्म्य से प्रतीयमान अर्थ परिकर में वाच्य के उपस्कारक होते हैं, किन्तु काव्यलिंग में पदार्थ-वाक्यार्थ ही हेतुता को प्राप्त हो जाते हैं।[24] जगन्नाथ के अनुसार अनुमितिकरण तथा सामान्यविशेषभाव से शून्य प्रकृतार्थ के उपपादक रूप में विवक्षित अर्थ काव्यलिंग कहा जाता है। अनुमितिकरण तथा सामान्यविशेष भाव का अभाव इसे अनुमान और अर्थान्तरन्यास से पृथक् करता है। अच्युतराय तथा ब्रह्मतन्त्र के लक्षण भी जगन्नाथ के समान हैं।[25]

भेद

दंडी हेतु अलंकार के प्रथमतः दो भेद करते हैं—कारक और ज्ञापक। कारक हेतु चतुर्धा होता है—क्रियोत्पादन, क्रियानिवृत्ति, विकार्य और प्राप्यहेतु। ज्ञापक के व्यंजक, शब्दोपात्त, प्रागभाव, प्रध्वंसाभाव, अन्योन्याभाव, अत्यन्ताभाव तथा चित्रहेतु के वह उदाहरण प्रस्तुत करते हैं। पुनः चित्रहेतु दूर कार्य, सहज, कार्यानन्तरज, अयुक्त, युक्त तथा युक्तायुक्त कार्य भेद से अनन्त प्रकार का हो सकता है।[26] उद्भट और रुद्रट एक-एक उदाहरण देते हैं, भेद का उल्लेख नहीं करते। भोजराज दंडी के आधार पर 'सरस्वती कंठाभरण' में हेतु के पहले चार भेद करते हैं, कारक, ज्ञापक, अभाव तथा चित्रहेतु। कारक हेतु, प्रवृत्ति, निवृत्ति प्रयुक्ति रूप से त्रिधा होकर प्रत्येक के क्रियाविष्ट, क्रियानाविष्ट भेद से दो-दो भेद होकर छः प्रकार का होता है। ज्ञापक हेतु क्रिया, अनाविष्ट द्वितीया, तृतीया, चतुर्थी और सप्तमी विभक्तियों में होता है। भोज के ये भेद व्याकरण-सूत्रों पर आधारित हैं।[27] अभाव-हेतु प्रागभाव आदि भेद से चार प्रकार का होता है। चित्रहेतु के लिये भोज ने दंडी की कारिका को ही ले लिया है। उनका अभिमत है कि इन हेतुओं का काव्य में गौण रूप से प्रयोग करना चाहिये। 'शृंगार प्रकाश' का विभाजन इससे कुछ भिन्न है। हेतु छः हैं—प्रवर्तक, निवर्तक, प्रयोजक, ज्ञापक, अभाव और चित्र-हेतु।[28] सर्वप्रथम मम्मट ने ही काव्यलिंग के तीन भेद किये। वह प्रथमतः द्विधा होता है—पदार्थहेतुक और वाक्यार्थहेतुक। पदार्थहेतु काव्यलिंग, एकपदार्थ तथा अनेक-पदार्थगत होने से दो प्रकार का होता है। इस प्रकार मम्मट के अनुसार काव्यलिंग के तीन भेद होते हैं। रुय्यक वाक्यार्थ हेतु को भी एक-अनेक गतमानकर काव्यलिंग के चार भेद करते हैं। उनका कथन है कि जहां वाक्यार्थरीति से हेतु का उपादान हो, वहां हेतुरूप में ही निबन्धन होना चाहिये, उपनिबद्ध वाक्यार्थ को हेतु नहीं बनाना चाहिये। तात्पर्य यह कि हेतु-निबन्धन शाब्द होना चाहिये, आर्थ नहीं, अन्यथा अर्थान्तरन्यास से इसका भेद नहीं रह जायेगा।[29]

शोभाकर, वाक्यार्थ, पदार्थ रूप से, हेतु के पहले दो भेद करते हैं। पुनः वह पदार्थहेतु को आर्थ और वाक्यार्थ हेतु को शाब्द आर्थ द्विधा विभक्त कर हेतु के तीन भेद स्वीकारते हैं। शोभाकर रुय्यक द्वारा काव्यलिंग और अनुमान के विवेचित भेद की आलोचना भी करते हैं।[30] नरेन्द्रप्रभसूरि की भेद-व्यवस्था रुय्यक के समान है। जयदेव तो एक उदाहरण के लिये प्रसिद्ध हैं। विद्याधर और विद्यानाथ ने पदार्थ, वाक्यार्थगत दो भेद ही माने हैं। विश्वनाथ मम्मट का अनुसरण करते हैं। विद्याधर रुय्यक के अनुसार काव्यलिंग और अर्थान्तरन्यास का विभाग करते हैं, समर्थक

वाक्यार्थ के प्रति काव्यलिंग में समर्थ्य वाक्यार्थ की सापेक्षता रहती है, किन्तु अर्थान्तरन्यास में वह निरपेक्ष होता है। अनुमान में ज्ञाप्य-ज्ञापक भाव होता है, यहां नहीं।[31] विश्वनाथ हेतु को त्रिधा मानते हैं—ज्ञापक, निष्पादक और समर्थक। ज्ञापक अनुमान का विषय है, निष्पादक काव्यलिंग और समर्थक अर्थान्तरन्यास का। उनकी दृष्टि से यही तीनों का भेद है।[32] बाद में किसी ने इसे स्वीकार नहीं किया। अप्पयदीक्षित, पदार्थ-वाक्यार्थ हेतुरूप द्विधा विभाजन तो स्वीकारते ही हैं। उनका यह भी कथन है कि कहीं वाक्यार्थ और पदार्थ परस्पर सापेक्ष होकर हेतु बन जाते हैं, कहीं समर्थनीय वाक्यार्थ रूप अर्थ के समर्थनार्थ पदार्थ हेतु बन जाता है, कहीं-कहीं परस्पर विरुद्ध दो समर्थनीय अर्थों के लिये क्रम से दोनों का समर्थक हेतु के रूप में विधान पाया जाता है और कहीं विरुद्ध दोनों के लिये एक का ही समर्थक रूप में उपादान होता है।[33] जगन्नाथ प्राचीनों के काव्यलिंगभेद-पदार्थ, वाक्यार्थ हेतु को एक नये ढंग से रखने का प्रयास करते हैं। उनके अनुसार प्रथमतः यह दो प्रकार के होते हैं : (1) सुबन्तार्थ रूप, (2) तिङ्तार्थ रूप। प्रथम के दो भेद हो जाते हैं, अन्य शब्द के अर्थ से विशेषित और शुद्ध एक सुबन्तार्थ रूप। इनमें भी प्रथम के दो भेद होते हैं, साक्षात् या परम्परया वाक्यार्थविशेषित तथा केवल सुबन्तार्थ विशेषित। इसी प्रकार तिङ्न्तार्थ रूप काव्यलिंग के भी दो भेद हो जाते हैं, साक्षात् या परम्परा से अन्य वाक्यार्थविशेषित और केवल सुबन्तार्थविशेषित इस प्रकार वह काव्यलिंग के पांच भेद मानते हैं। उनका अभिमत है कि तिङ्न्तार्थ रूप काव्यलिंग शुद्ध नहीं हो सकता।[34] जगन्नाथ ने चतुरतापूर्वक प्राचीनों के भेदों को प्रकारान्तर से रखा है, कोई वैशिष्ट्य नहीं है।[35]

अनुमान और काव्यलिंग का भेद-विवेचन जगन्नाथ ने विस्तारपूर्वक किया है। उनका कथन है कि जिसके द्वारा कवि पाठक को अनुमितिबोध कराने के लिये काव्य का निर्माण करता है, वह हेतु अनुमान का विषय है, काव्यलिंग में कवि पाठक को अनुमिति बोध कराना नहीं चाहता (शोभाकर के शब्दों में परप्रत्यायन अभीष्ट नहीं होता)। कविनिबद्ध किसी अन्य प्रमाता में रहने वाली अनुमिति अनुमान अलंकार की प्रयोजिका है और श्रोता या पाठक में रहने वाली महावाक्यार्थ के निर्णय में सहायक अनुमिति काव्यलिंग का। जगन्नाथ ने दीक्षित के काव्यलिंग लक्षण को अर्थान्तरन्यास में अतिव्याप्त माना है। उन्होंने रुय्यक के अनेक पदार्थ और अनेक वाक्यार्थ हेतु काव्यलिंग के उदाहरण 'मृग्यश्चदर्भाकुरनिर्व्यपेक्षाः' तथा 'यत्त्वन्नेत्र समानकांतिसलिले'[36] को गलत बताया है, क्योंकि उनकी दृष्टि से यहां अनुमान अलंकार संभव है।[37] वस्तुतः रुय्यक के इस उदाहरण का समर्थन दीक्षित करते

हैं, इसीलिये जगन्नाथ ने इसकी आलोचना कर डाली है, अन्यथा उक्त दोनों उदाहरण उपयुक्त हैं।[38] विश्वेश्वर ने वाक्यार्थ, पदार्थ हेतु दो भेद स्वीकार किये हैं। उन्होंने जगन्नाथ के लक्षण और उदाहरण को परस्पर विरुद्ध बताया है तथा सर्वस्वकार के उक्त उदाहरण का औचित्य भी सिद्ध किया है।[39] रुय्यक के उपर्युक्त 'मृग्यश्च' और 'यत्वन्नेत्र समानकान्ति' अनेक पदार्थ तथा अनेक वाक्यार्थ हेतु के उदाहरण हैं। एक पदार्थ हेतु काव्यलिंग का उदाहरण :

त्वद्वाजिराजिनिर्धूतधूलीपटलपंकिलाम्।
न धत्ते शिरसा गंगां भूरिभारभिया हरः।। —सा.द., पृ. 544

प्रकृत राजा के अश्वसमूहों से उत्थितधूलि पटल से पंकिल गंगा को शिव के द्वारा शिर पर न धारण करने में एक पद 'भूरिभारभिया' कारण है। अतएव यह एक पदार्थ हेतु का उदाहरण है।

काव्यलिंग (हेतु) अलंकार नहीं

शोभाकर के अनुसार परार्थानुमान की काव्यलिंग है। उनकी दृष्टि से अनुमान और काव्यलिंग दोनों अलंकार अनुमान के दो भेद स्वार्थानुमान और परार्थानुमान हैं। अतएव केवल प्राचीनों के द्वारा विवेचित होने के कारण इसका विवेचन किया गया है।[40] शोभाकर के इसी कथन का जयरथ ने विस्तार किया है। उनका कथन है कि हेतु के पदार्थ और वाक्यार्थरूप निबन्धन में कोई विच्छित्ति विशेष नहीं है। कविप्रतिभानिवर्तित विच्छित्ति विशेष ही अलंकार है। उसका यहां अभाव है। अतएव इस प्रकार का कथन वस्तुमात्र है, अलंकार नहीं। यदि कोई कहे कि व्यंग्य से संश्लिष्ट वाच्यार्थ जहां वाच्यार्थ के प्रति हेतुत्वरूप में निबन्धित होता है, वहां यह अलंकार होता है, तो यह तर्क अनुपयुक्त है। ऐसे स्थल में व्यंग्यकृत चमत्कार ही अतिशायी होता है, वाक्यार्थ या पदार्थरूप हेतु नहीं। साध्य-प्रतीति के लिये हेतु का उपनिबन्धन वैचित्र्यवर्द्धक होता है, ऐसा मानकर यदि काव्यलिंग को अलंकार मानें तो वह भी व्यर्थ है, क्योंकि साधन से साध्य प्रतीति अनुभान का विषय है। इस प्रकार हेतु का वाक्यार्थ पदार्थ रूप निबन्धन वास्तव स्वरूप है। अतएव काव्यलिंग का अनुमान में अन्तर्भाव ही उपयुक्त है, उसकी पृथक् अलंकारता अयुक्त है।[41] यही कारण है कि भामह, कुन्तक, मम्मट, आदि ने हेतु का खंडन किया था। आश्चर्य की बात तो यह है कि हेतु का खंडन करने वाले मम्मट काव्यलिंग को कैसे अलंकार मान लिये? निर्हेतु रूप दोष का अभाव भी काव्यलिंग को गतार्थ

कर लेता है। अस्तु। काव्यलिंग का पृथक् रूप से विवेचन अयुक्त है। इस बात को शोभाकर, जयरथ, जगन्नाथ, ब्रह्मतन्त्र, आदि स्वीकारते हैं।[42]

अर्थान्तरन्यास

नि उपसर्गपूर्वक क्षेपणार्थक असु धातु से भाव अर्थ में घञ् प्रत्यय करने पर निष्पन्न न्यास शब्द का निक्षेप या निबन्धन अर्थ होता है—न्यस्यते इति न्यासः। उपयाञ्चा अर्थ में पठित् अर्थ धातु से पचाद्यच् (3/1/134) करने पर निष्पन्न अर्थ शब्द वर्णनीय रूप में अभिमत प्रस्तुत अर्थ का अभिधायक है—अर्थ्यते वर्णनीयत्वेन इष्यते इत्यर्थः, अर्थात् प्रस्तुतम्।[43] उससे अन्य या अप्रकृत अर्थ को अर्थान्तर कहा जाता है। इस प्रकार अर्थान्तर का अर्थ होता है, अप्रस्तुत या प्रस्तुतसमर्थक रूप में विधान—अन्योऽर्थो अर्थान्तरम् अर्थात् अप्रस्तुतम्, तस्य प्रस्तुतसमर्थकत्वेन न्यासः इत्यर्थान्तरन्यासः।[44] प्रायः लोक में भी देखा जाता है कि अपने कथन की पुष्टि के लिये लोग अन्य उक्तियों का सहारा लेते हैं। अर्थान्तरन्यास अलंकार में कवि या सहृदय की यही मनोवृत्ति काम करती है। अतएव अलंकार का यह अभिधान इसकी सार्थकता को अभिव्यक्त करता है। अर्थान्तरन्यास संस्कृत साहित्य में बहुप्रतिष्ठित तथा कवि-निकाय का अत्यन्त प्रिय अलंकार है। छोटे से ग्रन्थ 'मेघदूत' में कालिदास ने सत्ताईस से अधिक अर्थान्तरन्यास का प्रयोग किया है। इसी प्रकार उनके अन्य ग्रन्थों में इसका बाहुल्य है। अतएव उनके विषय में जब यह कहा जाता है कि 'उपमा कालिदासस्य' तो अनायास ही अर्थान्तरन्यास पर ध्यान चला जाता है और इसे भी उपमा की कोटि में रख देना पड़ता है। यद्यपि विद्यानाथ आदि आलंकारिक इसे तर्कन्यायमूलक मानते हैं, तथापि इसकी उपमामूलकता को कोई व्याघात नहीं पहुंचता। दो अर्थों का समर्थ्य-समर्थक भाव साधर्म्य या वैधर्म्य के बिना असंभव है, वैसी स्थिति में उनका उपमेय-उपमान के रूप में पर्यवसान अवश्यभावी है। पर यह उपमानोपमेय भाव वाच्य न होकर गम्य होता है। गम्यौपम्यमूल भी अर्थान्तरन्यास में समर्थन की प्रक्रिया तर्काश्रित है। अतएव इसका तर्कन्यायमूलक अलंकारों में विवेचन किया जा रहा है।

भरत का 'शोभा' नामक काव्यलक्षण अर्थान्तरन्यास के समीप है।[45] भामह ने इसका सर्वप्रथम विवेचन प्रस्तुत किया। उनके अनुसार उक्त (प्रकृत) अर्थ से अन्य अर्थ का उपन्यास अर्थान्तरन्यास है, वह पूर्व अर्थ (प्रकृत) का अनुगत (समर्थक) होता है।[46] उनका यह भी कथन है कि उक्त अर्थ की सिद्धि के लिये 'हि' शब्द से हेत्वर्थ को स्पष्ट कर देने पर अर्थान्तरन्यास पूर्णतः अभिव्यक्त हो जाता

है।[47] भामह ने लक्षण में सामान्य-विशेष आदि का उल्लेख नहीं किया है। किसी वस्तु को प्रस्तुत कर उसकी सिद्धि में समर्थ अन्य के न्यास को दंडी अर्थान्तरन्यास मानते हैं।[48] दंडी का लक्षण भामह से स्पष्ट अवश्य है, किन्तु नव्यलक्षण के समान नहीं है। सर्वप्रथम उद्भट ने समर्थ्य-समर्थक भाव के आधार पर अर्थान्तरन्यास का निरूपण करते हुए, अप्रस्तुतप्रशंसा और दृष्टान्त से उसे पृथक् किया। उनका कथन है कि पहले समर्थक अर्थ का बाद में समर्थ्य का या इससे विपरीत (पहले समर्थ्य का बाद में समर्थक का) 'हि' शब्द द्वारा कथन अर्थान्तरन्यास है।[49] उनके टीकाकारों ने स्पष्ट रूप से लिख दिया कि समर्थ्य-समर्थक भाव अर्थान्तरन्यास है।[50] उद्भट के आधार पर इन्दुराज ने कहा है कि अप्रस्तुतप्रशंसा में समर्थ्य-समर्थक भाव रहने पर भी प्रकृत अर्थ वाच्य नहीं होता, जबकि यहां दोनों अर्थ उपस्थित रहते हैं। दृष्टान्त में समर्थन न होकर केवल बिम्बप्रतिबिम्बभाव होता है।[51] वामन ने राजानक तिलक के समान लक्षण किया है।[52] सर्वप्रथम रुद्रट ने लक्षण में सामान्यविशेषभाव का समावेश किया है। जहां सामान्य अथवा विशेषधर्म वाले धर्मी का अभिधान कर, उसकी पुष्टि के लिये तत्समान धर्मवाले विशेष या सामान्य अर्थ को उपन्यस्त किया जाये, रुद्रट वहां अर्थान्तरन्यास मानते हैं।[53] उन्होंने इसे औपम्यवर्ग में रखा है।

उद्भट के 'समर्थक' शब्द को कुन्तक 'समर्पक' कहकर मुख्य और तात्पर्य साम्य में अर्थान्तरन्यास स्वीकार करते हैं।[54] उनकी दृष्टि में प्रथम अर्थ मुख्य, समर्प्य (भामह दंडी के अनुसार साध्य, उद्भट के अनुसार समर्थ्य और रुद्रट के अनुसार धर्मी या उपमेय) तो दूसरा समर्पक (अन्यों की दृष्टि में साधक, समर्थक, सधर्मी या उपमान) होता है। भोज ने परिभाषा तो दंडी की ले रखी है, पर दो विशेषतायें उनमें है। उन्होंने यह स्पष्ट किया है कि प्रकृत अर्थ का अर्थान्तर द्वारा समर्थन साधर्म्य और वैधर्म्य प्रक्रिया से होता है तथा समर्थ्य-समर्थक वाक्यों का पहले या बाद में विधान हो, कोई नियम नहीं है।[55] रुद्रट के लक्षण को मम्मट ने और स्पष्ट कर दिया है—सामान्य और विशेष का आपस में समर्थ्य-समर्थक भाव अर्थान्तरन्यास है।[56] बाद में प्रमुख आचार्य जयदेव, कर्णपूर, अप्पयदीक्षित, देवशंकर, विद्यानाथ, नरसिंह, जगन्नाथ, विश्वेश्वर ने मम्मट के लक्षण का अनुगमन किया है।[57] रुय्यक न केवल सामान्य-विशेष्य के समर्थ्य-समर्थक भाव में अर्थान्तरन्यास मानते हैं, अपितु वह कार्य-कारण भाव में भी मानते हैं।[58] शोभाकर तथा हेमचन्द्र केवल सामान्य के द्वारा विशेष समर्थन में अर्थान्तरन्यास स्वीकार करते हैं।[59] वाग्भट प्रथम, सर्वेश्वर, आदि भामह, दंडी का अनुगमन करते हैं,[60] पर अजितसेन रुय्यक के अनुसारी हैं।[61] विद्याधर तथा विद्यानाथ भी मम्मट के पथ का सहारा लेते हैं,[62] पर विश्वनाथ रुय्यक का।[63]

अर्थान्तरन्यास में निबन्धित द्वितीय अर्थ की प्रथम अर्थ से संगति नहीं बैठती। अतएव प्रथम अर्थ का द्वितीय अर्थ प्रायः समर्थक होता है। प्रकृत-अप्रकृत दो वस्तुओं का समर्थ्य-समर्थक भाव बिना साधर्म्य या वैधर्म्य के होना कठिन है। इसलिये यहां दोनों अर्थों का पर्यवसान उपमानोपमेव भाव में होता है, पर यह उपमानोपमेय भाव स्पष्ट या वाच्य न होकर गम्य होता है। यही कारण है कि रुय्यक इसे गम्यौपम्य मूल मानते हैं। समर्थ्य-समर्थक भाव पर आश्रित अर्थान्तरन्यास में भी काव्यलिंग और अनुमान की भांति तर्काश्रित पद्धति का सहारा लिया जाता है। इसीलिये विद्याधर आदि आलंकारिक इसे भी तर्कन्यायमूल मानते हैं।

भेदोपभेद

भामह ने 'हि' शब्द के प्रयोग और अप्रयोग में अर्थान्तरन्यास का दो उदाहरण दिया है। प्रतीत होता है कि भामह 'हि' शब्द के प्रयोग में शाब्द और अप्रयोग में इसे आर्थ मानते हैं। वैसे भी भामह के प्रथम उदाहरण में विशेष का सामान्य से और द्वितीय में सामान्य का विशेष से समर्थन किया गया है।[64] दंडी ने इसके आठ भेद किये हैं—विश्वव्यापी, विशेषस्थ, श्लेषाविद्ध, विरोधवान्, अयुक्तकारी, मुक्तात्मा, युक्तायुक्त और विपर्यय।[65] उद्‌भट ने चार भेदों का उल्लेख किया है। समर्थक या समर्थ्य वाक्य के प्रथम उपात्त होने पर दो भेद तथा 'हि' शब्द के प्रयोग-अप्रयोग होने से चार भेद उन्हें मान्य हैं।[66] राजानक तिलक इन चार भेदों को साधर्म्य-वैधर्म्य के आधार पर आठ तक पहुंचा देते हैं।[67] रुद्रट साधर्म्य और वैधर्म्य के आधार पर सामान्य से विशेष और विशेष से सामान्य समर्थन होने के कारण इसके चार भेद मानते हैं।[68] भोजराज के अनुसार प्रस्तुत वस्तु का अन्य वस्तु से समर्थन साधर्म्य-वैधर्म्य के आधार पर होने से अर्थान्तरन्यास के दो भेद होते हैं। साधक का प्रथम और साध्य का पश्चात् कथन होने से विपर्यय नामक तीसरा भेद भी उन्हें मान्य है। उपमा के स्वरूप से भिन्न दो सामान्य अर्थों के निर्देश में रुद्रट उभयन्यास नामक अलंकार मानते हैं।[69] भोज की दृष्टि से उभयन्यास प्रत्यनीकन्यास तथा प्रतीकन्यास अर्थान्तरन्यास से व्यतिरिक्त नहीं हैं।[70] मम्मट ने रुद्रटप्रोक्त चार भेदों को स्वीकार किया है।

रुय्यक ने साधर्म्य, वैधर्म्य के आधार पर कार्य से कारण तथा कारण से कार्य के समर्थन में रुद्रट, मम्मट से चार भेद अधिक मानकर अर्थान्तरन्यास के आठ भेद स्वीकार किये हैं। 'हि' शब्द के प्रयोग, अप्रयोग, समर्थ्य या समर्थक वाक्य के पूर्व प्रयोग में, जैसा कि उद्‌भट मानते हैं, रुय्यक की दृष्टि से कोई वैचित्र्य नहीं है।[71]

उनका अभिमत है कि समर्थ्य-समर्थक भाव में कारण या कार्य रूप पदार्थ अथवा वाक्यार्थ कहीं परस्पर सापेक्ष होता है, कहीं निरपेक्ष (तटस्थ)। हेतु के सापेक्ष और हेतु रूप में ही उपन्यस्त होने पर काव्यलिंग अलंकार होगा और निरपेक्ष वाक्यार्थ के हेतु हो जाने पर अर्थान्तरन्यास।[72] रुय्यक का समर्थन करते हुए विद्याचक्रवर्ती ने कहा है कि काव्यलिंग में समर्थन शब्दोपात्त होता है, अर्थान्तरन्यास में आर्थ।[73] विमर्शिनीकार जयरथ कार्य-कारणभाव को काव्यलिंग का ही विषय मानते हैं। उनके अनुसार सामान्य-विशेषभाव के आधार पर दो भेद ही स्वीकार्य हैं।[74] शोभाकर कार्य-कारण के उपादान में हेतु (काव्यलिंग) और विशेष से सामान्य-प्रतीति में उदाहरण अलंकार मानते हैं। अतएव साधर्म्य-वैधर्म्य के आधार पर सामान्य से विशेष का समर्थन होने पर वह दो भेद मानते हैं। 'हि' शब्द के प्रयोग में यह शाब्द, अप्रयोग में आर्थ भेद से चार प्रकार के हो जाते हैं।[75] हेमचन्द्र तथा वाग्भट द्वितीय शोभाकर के प्रथम दो भेद मानते हैं। वाग्भट प्रथम श्लेषानुप्राणित केवल एक उदाहरण प्रस्तुत करते हैं। विद्याधर और विद्यानाथ भी रुय्यक के अंतिम चार भेदों को स्वीकार न कर सके। विद्यानाथ कार्य-कारण-भाव में कार्य से कारण-समर्थन को अर्थान्तरन्यास मानते हैं किन्तु काव्यलिंग को कारण से कार्य-समर्थन का विषय मानते हैं।[76] विश्वनाथ और अजितसेन रुय्यक का अनुगमन करते हैं। कर्णपूर तो मम्मट के अनुगामी हैं। अप्पयदीक्षित ने साधर्म्य-वैधर्म्य का उल्लेख न करके सामान्य से विशेष और विशेष से सामान्य समर्थन में अर्थान्तरन्यास स्वीकार किया है। समर्थ्य वाक्य को वह सदा प्रस्तुत मानते हैं, समर्थक को अप्रस्तुत। उन्होंने रुय्यक के इस विचार का खंडन किया है कि समर्थन सापेक्ष अर्थ के समर्थन में काव्यलिंग होता है और निरपेक्ष के समर्थन में अर्थान्तरन्यास। सोदाहरण उन्होंने समझाया है कि अर्थान्तरन्यास में भी समर्थ्य वाक्य समर्थन सापेक्ष होता है। प्रायः सामान्य से विशेष समर्थन में समर्थन की सापेक्षता नहीं होती, किन्तु विशेष से सामान्य-समर्थन में तो सामान्य, विशेष के समर्थन की अपेक्षा रखता है। काव्यलिंग में भी समर्थ्य वाक्य सर्वत्र समर्थन सापेक्ष हो, ऐसा नहीं मिलता। इसलिये उभयत्र व्यभिचार है। अतएव दीक्षित के अनुसार समर्थ्य-समर्थक के सामान्य-विशेष-भाव में अर्थान्तरन्यास और उससे भिन्न अर्थात् कार्यकारणभाव में काव्यलिंग मानना चाहिये।[77] देवशंकर दीक्षित का अनुगमन करते हैं, नरसिंह विद्यानाथ का। जगन्नाथ ने मम्मटोक्त चार भेदों को स्वीकार किया है। उनका यह भी अभिमत है कि अर्थान्तरन्यास में प्रकृत से प्रकृत का भी समर्थन संभव है। कहीं-कहीं अप्रकृत से प्रकृत का समर्थन भी पाया जाता है, पर अन्ततः अप्रकृत का प्रकृत में पर्यवसान हो जाता है। समर्थ्य

वाक्य का पहले उपन्यास हो, जगन्नाथ इसके विरुद्ध हैं। जयरथ का अनुसरण करते हुए जगन्नाथ भी कार्य से कारण और कारण से कार्य-समर्थन को लिंग का विषय मानकर सर्वस्वकार के इन भेदों का खंडन करते हैं। शोभाकर के अनुसार वह भी समर्थ्य-समर्थक भाव को शाब्द-आर्थ मानते हैं।[78] विमर्शिनीकार विशेष से सामान्य-समर्थन होने पर सामान्य वाक्य के समर्थन सापेक्ष होने पर ही अर्थान्तरन्यास मानते हैं। जगन्नाथ इसके भी विरोधी हैं। विश्वेश्वर मम्मट के अनुयायी हैं।

प्राचीन आचार्य एक वस्तु का दूसरी से समर्थन होने पर अर्थान्तरन्यास मानते हैं। मम्मट तथा अधिकांश आलोचक, सामान्य से विशेष और विशेष से सामान्य के समर्थन में इसे मानते हैं, जबकि रुय्यक कार्य-कारण-भाव का भी समावेश करने के पक्षपाती हैं। शोभाकर, जयरथ, हेमचन्द्र, वाग्भट द्वितीय केवल सामान्य से विशेष समर्थन को अर्थान्तरन्यास कहते हैं। अस्तु, प्रस्तुत सामान्य का अप्रस्तुत विशेष से और प्रस्तुत विशेष का अप्रस्तुत सामान्य से समर्थन अर्थान्तरन्यास अलंकार है। उदाहरण मूल ग्रन्थों और काव्यों में बहुतेरे प्राप्य है।

उदाहरण अलंकार का अन्तर्भाव

सर्वप्रथम शोभाकर ने इस अलंकार की उद्भावना की है। प्रतीति विशदीकरण के लिये इवादि के द्वारा जहां सामान्य रूप से अभिहित अर्थों में एक को निदर्शन रूप में उपन्यस्त किया जाये वहां उदाहरण अलंकार होता है।[79] विमर्शिनीकार इसके समर्थक हैं।[80] शोभाकर और जयरथ के बाद इसका विवेचन केवल जगन्नाथ और अच्युतराय करते हैं। उनके अनुसार सामान्य से निरूपित अर्थ का, सुख प्रतिपत्ति के लिये, उसके एकदेश का निरूपण कर उनका अभिधीयमान अवयवावयविभाव उदाहरण अलंकार है।[81] जगन्नाथ का अभिमत है कि प्राचीन आलंकारिक इसे उपमा से ही गतार्थ करते हैं, पृथक् अलंकार नहीं मानते। उन्होंने अर्थान्तरन्यास से इसका वैलक्षण्य प्रतिपादित करने के लिये कहा है कि सामान्य अर्थ के समर्थक विशेष वाक्य की दो स्थिति है, अनुवाद्य अंश में विशेष हो और विधेयांश सामान्य गत हो तथा अनुवाद्य और विधेयांश दोनों में ही विशेष हो। प्रथम में उदाहरण अलंकार होता है, द्वितीय में अर्थान्तरन्यास।[82] वस्तुतः उदाहरण की पृथक् अलंकारता असिद्ध है। जगन्नाथ स्वयं मानते हैं कि प्राचीन आचार्य इसे उपमा से गतार्थ करते थे। विश्वेश्वर भी उदाहरण को उपमा से व्यतिरिक्त नहीं मानते। वस्तुतः उदाहरण का अर्थान्तरन्यास में अन्तर्भाव शक्य है। शोभाकर केवल इसीलिये सामान्य से विशेष मात्र के समर्थन में अर्थान्तरन्यास मानते हैं कि एक नवीन अलंकार

उदाहरण की सृष्टि की जा सके। एक अर्थ के बोध के लिये यदि पहले से ही साधन उपात्त हो तो, नवीन की खोज अनावश्यक है, विशेषकर जब उसमें प्रथम से विलक्षणता न हो।

तृप्तियोगः परेणापि न महिम्ना महात्मनाम्।
पूर्णश्चन्द्रोदयाकांक्षी दृष्टान्तोऽत्र महार्णवः।। —माघ, 2/31

शोभाकर यहां 'दृष्टान्त' का इवादि अर्थ लेकर उदाहरण अलंकार मानते हैं। इसी प्रकार 'समूलघातमघ्नन्तः' (माघ. 2/33) में भी वह उदाहरण मानते हैं। मल्लिनाथ दोनों ही स्थल पर उपमा मानते हैं।[83] वस्तुतः प्रथम उदाहरण में पूर्वार्द्ध सामान्य वाक्य का विशेष वाक्य उत्तरार्द्ध से समर्थन किया गया है। इसी प्रकार द्वितीय उदाहरण भी है। अतएव उदाहरण अलंकार को अर्थान्तरन्यास से पृथक् नहीं मानना चाहिये। जगन्नाथ विकस्वर अलंकार के खंडन में कहते हैं कि जो बात विकस्वर से होती है, वही उदाहरण से। अतएव विकस्वर अलंकार अनावश्यक है।[84] यही बात उनके उदाहरण अलंकार के विषय में भी लागू होती है। नागेश ने भी उदाहरण को अर्थान्तरन्यास से गतार्थ किया है।[85]

विकस्वर का अन्तर्भाव

जयदेव, अप्पयदीक्षित, देवशंकर, आदि आलंकारिक जहां विशेष के समर्थन के लिये सामान्य का उपन्यास किया गया हो, पर अपरितोष होने के कारण पुनः समर्थन के लिये विशेष का उपमान या अर्थान्तरन्यास रीति से विन्यास किया जाये, वहां विकस्वर अलंकार मानते हैं।[86] विकस्वर के उपमा शैली में होने पर उपमा का तथा अर्थान्तरन्यास की शैली में होने पर अर्थान्तरन्यास का विषय समझना चाहिये। वस्तुतः विकस्वर में दो अर्थान्तरन्यासों या उपमा-अर्थान्तरन्यास की संसृष्टि पायी जाती है। अतः उसे पृथक् अलंकार नहीं माना जा सकता। और यदि विकस्वर को अलंकार मानेंगे तो उपमा के भेदों को भी अनुग्राह्य-अनुग्राहक मानकर पृथक् अलंकार स्वीकार करना होगा।[87]

अनन्तरत्नप्रभवस्य यस्य हिमं न सौभाग्यविलोपि जातम्।
एकोहि दोषो गुणसंनिपाते निमज्जतीन्दोः किरणेष्विवांकः।। कु.सं., 1/3

शोभाकर तथा जगन्नाथ यहां उदाहरण अलंकार मानते हैं, अप्पयदीक्षित उपमानरीति से विकस्वर। यहां भी श्लोक के पूर्वार्द्ध विशेष कथन का उत्तरार्द्ध सामान्य कथन

से समर्थन किया गया है। अतएव यहां भी अर्थान्तरन्यास अलंकार है। 'किरणेष्विवांकः' पद के संयोजन मात्र से न उदाहरण हो सकता है, न विकस्वर, प्रत्युत उसके बिना तो यहां अर्थान्तरन्यास चमत्कृत ही नहीं होता। अस्तु, विकस्वर की पृथक् अलंकारता अमान्य है। नागेश और विश्वेश्वर ने इसका भी खंडन किया है।[88]

अनुमान

न्यायशास्त्र में अनुमान को एक प्रमाण माना गया है। वहां अनुमान का लक्षण किया जाता है, अनुमितिकरणं अनुमानम्। वस्तुतः पक्ष आदि साधनों के द्वारा साध्य की अनुमिति अनुमान का विषय है। जिससे कार्य, साध्य या लिंगी की अनुमिति की जाती है, उसे कारण, साधन या लिंग कहा जाता है। पक्षधर्म, अन्वय तथा व्यतिरेक से होने वाला त्रिरूप हेतु ही साधन है। इसी को पक्षसत्त्व, सपक्षसत्त्व और विपक्षव्यावृत्तत्व कहते हैं। जिसमें साध्य की अनुमिति करनी होती है, तत्स्थ हेतु को पक्षसत्त्व कहा गया है। उदाहरण के लिये, 'पर्वतो वह्निमान् धूमात्' में पर्वत में वह्नि की सत्ता सिद्ध करनी है। यहां पर्वत पक्ष है, तत्स्थ धूम (हेतु) पक्षधर्म कहा जायेगा। निश्चित साध्यवान् में हेतु की वृत्तिता सपक्षत्त्व है, जैसे—महानस में स्थित धूम्र। निश्चित साध्याभाववान् में हेतु की अवृत्तिता विपक्षव्यावृत्तत्व कही जाती है, जैसे महाह्रद आदि में अनवस्थित धूम्र। इस प्रकार इन तीन वृत्तियों में अवस्थित हेतु ही साधन है। नैयायिक साधन से साध्य की अनुमिति करता है। अतएव न्यायशास्त्रप्रसिद्ध अनुमान शब्द, 'अनु' उपसर्गपूर्वक 'मा' धातु से करण अर्थ में ल्युट् प्रत्यय करने पर निष्पन्न होता है। वह अनुमिति करण का अभिधायी है—अनुमीयते अनेन, अनुमितिकरणं वा अनुमानम्।[89] 'पर्वतो वह्निमान् धूमात्' इस प्रकार की उक्ति में कोई चमत्कार नहीं है। अतएव काव्यशास्त्र में कवि-प्रतिभाजन्यकल्पित अनुमिति को अनुमान अलंकार कहा जाता है। इसीलिये यहां 'अनुमान' शब्द भाव अर्थ में ल्युट् करने पर बनता है।[90] 'अनुमितिरेव अनुमानम्' ही यहां मान्य है। जगन्नाथ दोनों के समर्थक हैं।[91] अस्तु, साध्य-साधन का सौन्दर्य-पूर्णकथन अनुमान अलंकार है। दार्शनिक सिद्धान्तों पर आधृत प्रत्यक्ष, अनुमान, आदि अलंकार काव्य में वैचित्र्य विशेष की सिद्धि नहीं करते। यही कारण है कि प्राचीनों ने इसका उल्लेख नहीं किया। प्रत्येक उक्ति को, चाहे उसमें सौन्दर्य हो, या न हो, अलंकार मान लेने की प्रवृत्ति ने रुद्रट को अनुमान की उद्भावना के लिये विवश कर दिया, फिर तो दार्शनिक प्रमाणों को अलंकार मान लेने की एक आंधी सी आ गयी और जयदेव तथा दीक्षित तक प्रत्यक्ष, अनुमान, शब्द, उपमान,

अर्थापत्ति, आगम, आदि प्रमाणों को अलंकार की कोटि में माना जाने लगा। वस्तुतः आलंकारिकों की यह प्रवृत्ति, उनकी सौन्दर्यप्रियता को कम, शास्त्रप्रियता और बहुज्ञता को अधिक अभिव्यक्त करती है।

भरत-प्रोक्त-प्राप्ति नामक लक्षण अनुमान के किंचित् समीप है।[92] काव्यालंकार के पांचवे परिच्छेद में भामह ने प्रमाणों को असाधारण विषयक तथा त्रिरूप लिंग से लिंगी के ज्ञान को अनुमान कहा है,[93] पर यह उनकी दृष्टि में अलंकार नहीं है। दंडी, उद्भट और वामन इस अलंकार पर मौन हैं। अपने पूर्वाचार्यों के मतों का संकलन और नूतनता की उद्भावना ही जिनका व्यक्तित्त्व है, रुद्रट इस पर मौन न रह सके। उन्होंने इसे वास्तवमूल माना है। रुद्रट अनुमान के दो लक्षण करते हैं। प्रथम अनुमान वहां होता है, जहां परोक्ष साध्य को पहले रखकर उसके बाद साधक को रखा जाये अथवा इसके विपरीत पहले साधक का उपन्यास हो, बाद में साध्य का।[94] द्वितीय अनुमान तब होता है, जब अत्यन्त बलवान् कारण को देखकर अनुत्पन्न भी कार्यभूत या भावी रूप में पूर्ववत् (साध्य-साधन का पूर्वापर कथन) कहा जाये।[95] भोजराज ने न्याय-प्रणाली का अनुसरण करते हुए लिंग से लिंगी के ज्ञान को अनुमान माना है।[96] उनके टीकाकार ने अनुमान की करण और भाव दोनों अर्थों में निष्पत्ति मानी है।[97] मम्मट कार्य-कारण पौर्वापर्य विकल्प कथन रूप रुद्रट के अनुमान में सौन्दर्य नहीं पाते।[98] मम्मट ने भोज के लक्षण को ही सरल और काव्य-प्रणाली में प्रस्तुत किया है। वह साध्य-साधन कथन को अनुमान मानते हैं।[99] उन्होंने वृत्ति में स्पष्ट किया है कि पक्षधर्म, अन्वय और व्यतिरेक त्रिरूप हेतु ही यहां साधन है तथा धर्मी में नित्य सम्बन्ध से रहने वाला व्यापकधर्म साध्य।[100] रुय्यक का लक्षण और विवेचन दोनों मम्मट के समान है।[101] उन्होंने सविस्तार अनुमान, काव्यलिंग और अर्थान्तरन्यास का भेद बतलाया है। कारण और कार्य की वह दो स्थिति मानते हैं, प्रत्याय्य-प्रत्यायक भाव और समर्थ्य-समर्थक भाव। अप्रतीत वस्तु के प्रत्यायन में प्रत्याय्य-प्रत्यायक भाव होता है, प्रतीत के प्रत्यायन में समर्थ्य-समर्थक भाव। प्रथम अनुमान का विषय है। समर्थ्य-समर्थक वाक्यार्थ के सापेक्ष होने पर काव्यलिंग तथा निरपेक्ष होने पर अर्थान्तरन्यास होता है।[102] इस विषय पर काव्यलिंग और अर्थान्तरन्यास में विचार किया जा चुका है। समुद्रबन्ध रुय्यक के विरोधी हैं। उनके अनुसार प्रत्यायक (कारण) की साधनता दो प्रकार की होती है, आर्थ और शाब्द। प्रथम में काव्यलिंग होता है, द्वितीय में अनुमान।[103] तात्पर्य यह कि काव्यलिंग में साधन की कारणता व्यंग्य होती है, अनुमान में शब्द प्रतिपाद्य। शोभाकर का लक्षण तो रुय्यक के ही समान है, पर विवेचन भिन्न है।

उनका कथन है कि जहां अप्रतीत साध्य रूप अर्थ शाब्द या आर्थ रूप साधन से स्वयं प्रतीत हो, वहां अनुमान अलंकार होता है।[104] वस्तुतः शोभाकर अनुमान के दो भेद—स्वार्थानुमान और परार्थानुमान—को क्रमशः अनुमान और हेतु (काव्यलिंग) का विषय मानते हैं।

परवर्ती सभी आचार्य, नरेन्द्रप्रभसूरि, हेमचन्द्र, वाग्भट (दोनों), जयदेव, विद्याधर, विद्यानाथ, विश्वनाथ, कर्णपूर, अमृतानन्दयोगी, नरसिंह, विश्वेश्वर, आदि मम्मट, रुय्यक के समान लक्षण करते हैं।[105] कोई साधन से साध्य-कथन को अनुमान कहता है, तो कोई कारण से कार्य को तो कोई व्याप्य-व्यापक भाव को। जगन्नाथ नैय्यायिक रीति से अनुमितिकरण को अनुमान मानते हैं।[106] उनका कथन है कि उक्तलक्षण अनुमान का सामान्य स्वरूप है। कवि-प्रतिभा के संयोग से चमत्कृत होकर यही काव्यालंकार बन जाता है। सर्वेश्वर के अनुसार जिस लिंग से परोक्ष वस्तु की पुष्टार्थ और रसवत् प्रतीति होती है, उसे अनुमान कहते हैं।[107] विश्वेश्वर व्याप्य से व्यापक ज्ञान को अनुमान मानते हैं।[108] रुद्रट को छोड़ दिया जाये तो उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि सभी आलंकारिकों के लक्षण प्रायः समान हैं। अतएव साधन, कारण, लिंग, व्याप्य या हेतु से साध्य, कार्य, लिंगी, व्यापक या हेतुमान् का कथन अनुमान अलंकार है।

भेदोपभेद

रुद्रट ने प्रथम अनुमान के दो उदाहरण प्रस्तुत किये हैं—साध्य पुरस्सर साधक कथन और साधक पुरस्सर साध्य कथन के। द्वितीय के वह चार भेद मानते हैं, अभूतकार्य या भूत तथा भावी रूप में कथन होने से दो भेद, इनके भी पूर्ववत् साध्य-साधन पुरस्सर होने से चार भेद हो जाते हैं।[109] भोजराज प्रथमतः इसके तीन भेद करते हैं : पूर्ववत्, शेषवत् और सामान्यतोदृष्ट। ये भी प्रत्येक करण और भाव ल्युडन्त दो-दो भेद से छः प्रकार के हो जाते हैं। कारण को देखकर कार्य के अनुमान में पूर्ववत्, कार्य को देखकर कारण के अनुमान में शेषवत् तथा कार्य-कारण के बिना सामान्यतः अनुमिति (अविनाभाव में) में सामान्यतोदृष्ट अनुमान होता है।[110] मम्मट ने एक ही उदाहरण 'यत्रैता लहरीचलाचलदृशो व्यापारयन्तिभ्रुवं' इत्यादि को प्रस्तुत किया है, जिसमें रुय्यक शुद्ध अनुमान मानते हैं। रुय्यक ने एक और उदाहरण रूपकगर्भअनुमान का दिया है।[111] यद्यपि रुय्यक की भांति शोभाकर भी शुद्ध और मिश्र भेद स्वीकारते हैं, किन्तु अतिशयोक्ति आदि की मूलकता में उन्हें सौन्दर्य की उतनी प्रतीति नहीं होती वह अनुमान को शाब्द तथा आर्थ दो प्रकार का मानते हैं।[112]

नरेन्द्रप्रभसूरि भोज और रुय्यक दोनों के भेदों का विवेचन करते हैं।[113] हेमचन्द्र भाव-अभाव रूप द्विधा साध्यार्थ-प्रतीति मानते हैं। अर्थापत्ति और सूक्ष्म अलंकार को वह अनुमान से गतार्थ कर लेते हैं।[114] वाग्भट प्रथम कालत्रय सम्बन्धी तीन उदाहरण प्रस्तुत करते हैं। वाग्भट द्वितीय और जयदेव एक-एक उदाहरण देते हैं। यद्यपि विद्यानाथ शुद्ध अनुमान का उदाहरण नहीं देते, तथापि विद्याधर, विश्वनाथ और विद्यानाथ तीनों रुय्यक की भांति इसे रूपकानुप्राणित स्वीकारते हैं। कर्णपूर तो मम्मट के अनुगामी हैं। अप्पयदीक्षित अनुमान का लक्षण नहीं करते, केवल चार उदाहरण रखते हैं : प्रथम दो रूपक और अतिशयोक्ति संकीर्ण हैं, अन्तिम दो शुद्ध अनुमान के।[115] देवशंकर तो उन्हीं के अनुयायी हैं। नरसिंह इसे तर्क और अनुमान के आधार पर दो प्रकार मानते हैं।[116] जगन्नाथ ने भी शुद्ध और मिश्र भेदों का उदाहरण दिया है। इसके अतिरिक्त वह अनुमान को वाच्य, लक्ष्य, प्रतीयमान तथा ध्वन्यमान चार प्रकार का मानते हैं। 'मन्ये' इत्यादि वाचक पद के प्रयोग में वाच्य, लक्षक पद 'वक्ति' 'कथयति' इत्यादि के प्रयोग में लक्ष्य, दोनों के अनुपादान में प्रतीयमान और साध्य के भी अनुपात्त रहने पर मात्र उपात्तलिंग से साध्य की व्यंग्यता में अनुमान ध्वनि होता है।[117] विश्वेश्वर व्याप्ति को पारमार्थिकी और कविकल्पिता दो प्रकार का मानते हैं।[118] जगन्नाथ का लक्षण करण अर्थ में ल्युट् होने पर निष्पन्न अनुमान का द्योतक है, पर उनके ध्वन्यमान आदि भेद भावार्थ के अभिधायक हैं। इसीलिये जगन्नाथ ने अन्त में भावार्थ में ल्युट् भी माना है।[119] विश्वेश्वर इस प्रकार के परस्पर विरुद्ध कथन के आलोचक हैं।[120]

यथा रन्ध्रंव्योम्नश्चलजलदधूमो स्थगयति।
स्फुलिंगानां रूपं दधति च यथा कीटमणयः।।
यथाविद्युज्ज्वालोल्लसनपरिपिंगाश्चककुभ—
स्तथा मन्ये लग्नः पथिकतरुषण्डे स्मरदवः।।[121]

'जिस प्रकार मंडराते जलदधुओं से आकाश का रन्ध्र पूर्ण हो गया है, जिस प्रकार जुगनूं चिनगारियां बन गये हैं, और जिस प्रकार विद्युत् ज्वाला से दिशायें पिंगल हो गयी हैं, उससे तो यही लगता है कि पथिक रूपी वृक्ष-खंड में स्मर-दावाग्नि लग गयी है।' यहां धुआं, चिनगारी और दिशा का पिंगल वर्ण, साध्य स्मर-दावाग्नि के त्रिरूप (पक्षधर्मी, अन्वय, व्यतिरेक) हेतु है, जिनसे स्मर-दावाग्नि की प्रतीति हो रही है। अतएव यहां अनुमान अलंकार है। जलद, जुगनूं, ज्वाला, पथिक तथा स्मर में क्रमशः धूम्र, चिनगारी, पिंगलत्व, वृक्ष तथा दावाग्नि का आरोप होने से यह

रूपकानुप्राणित अनुमान का उदाहरण है। अन्य उदाहरण मूल-ग्रन्थों में देखे जा सकते हैं।

अर्थापत्ति का अनुमान में अन्तर्भाव

सर्वप्रथम भोजराज ने अर्थालंकारों में अर्थापत्ति का विवेचन किया है। उनके अनुसार जहां प्रत्यक्ष आदि से प्रतीत अर्थ, उस प्रकार न होकर अनुपपत्तिपूर्वक अर्थान्तर की प्रतीति कराता है, वहां अर्थापत्ति होता है। उन्होंने इसके छः भेद किये हैं, एकशः प्रत्यक्षपूर्विका, अनेकशः प्रत्यक्षपूर्विका, एकशः अनुमानपूर्विका, अनेकशः अनुमानादिपूर्विका, एकशः अभावपूर्विका तथा अनेकशः अर्थापत्त्यादिपूर्विका।[122] भोज के बाद रुय्यक ने इसे वाक्यन्यायमूलक अलंकारों में परिगणित कर उसका विवेचन किया है। उनके अनुसार दंडापूपिका न्याय से अर्थान्तर की आपत्ति अर्थालंकार है। दंडापूपिका की वह अनेक व्याख्या करते हैं। चूहे के द्वारा दंड भक्षण कर लेने से उसके साथ बंधे हुए अपूप भक्षण की जिस प्रकार अर्थतः सिद्धि हो जाती है, उसी प्रकार किसी अर्थ की निष्पत्ति में समानन्याय सामर्थ्य से अन्य अर्थ की प्रतीति होने को अर्थापत्ति कहते हैं[123]—अर्थात् अर्थान्तरस्य आपत्तिः इत्यर्थापत्तिः। बाद में इस अलंकार का शोभाकर जयदेव, विद्याधर, विद्यानाथ, विश्वनाथ, अप्पयदीक्षित, देवशंकर, नरसिंह, जगन्नाथ, अच्युतराय, ब्रह्मतंत्र, आदि विवेचन करते हैं। रुय्यक ने केवल दो भेद माने हैं :[124] प्राकरणिक अर्थ से अन्य अप्राकरणिक अर्थ की प्रतीति और अप्राकरणिक से प्राकरणिक की प्रतीति। शोभाकर अर्थापत्ति के चौबीस भेद करते हैं, प्रकृत से अप्रकृत, अप्रकृत से प्रकृत, प्रकृत से प्रकृत तथा अप्रकृत से अप्रकृत अर्थ का अवगम होने से प्रथमतः चार भेद होते हैं। अर्थान्तर की समानता, न्यूनता या अधिकता होने से प्रत्येक के तीन भेद होकर बारह भेद हो जाते हैं। ये भी संभव अर्थ में असंभव और असंभव में संभव की प्रतीति होने पर होते हैं। इस प्रकार कुल चौबीस प्रकार की अर्थापत्ति होती है। इनके भी शाब्द, आर्थ भेद से अनेक भेद हो सकते हैं।[125] विद्याधर आदि रुय्यक का अनुसरण करते हैं। दीक्षित-भेद का उल्लेख नहीं करते। शोभाकर के उपर्युक्त चौबीस भेदों को जगन्नाथ भी स्वीकार करते हैं।[126]

रुय्यक आदि ने अनुमान से इसकी पृथकता सिद्ध करने का प्रयास किया है। रुय्यक का कथन है कि अर्थापत्ति में तुल्यन्याय का सहारा लिया जाता है, तुल्यन्याय में सम्बन्ध अनियत होता है और सम्बन्ध न होने से अनुमान प्रतीति असंभव है।[127] शोभाकर और जगन्नाथ के तर्क कुछ और ही हैं। उनका कथन

है कि इसे मीमांसकों की अर्थापत्ति नहीं कह सकते क्योंकि यहां अर्थ की अनुपपत्ति नहीं होती। व्याप्ति-पक्षधर्मता के अभाव में इसे अनुमान भी नहीं मान सकते। इसी प्रकार इसे अतिशयोक्ति भी नहीं कह सकते क्योंकि यद्यर्थातिशयोक्ति में अन्ततः दोनों अर्थों की विपरीत अर्थ में विश्रान्ति होती है।[128] इसी परिसर में जगन्नाथ रुय्यक और दीक्षित के लक्षण 'कैमुत्येनार्थसंसिद्धिरर्थापत्तिरिष्यते' की आलोचना भी करते हैं।[129] इस प्रकार अर्थापत्ति के विषय में प्रायः तीन विचारधाराएं प्रचलित हैं। प्रथम कोटि में भोज के लक्षण को रखा जा सकता है, जिनकी अर्थापत्ति मीमांसकों के प्रमाण को अभिव्यक्त करती है। दूसरे लोग हैं, जो दण्डापूपिका न्याय से अर्थान्तर के बोध में अर्थापत्ति मानते हैं, रुय्यक, शोभाकर, विद्याधर, जगन्नाथ, आदि। तीसरे वे हैं, जो कैमुतिक न्याय से अर्थापत्ति मानते हैं, दीक्षित और उनके अनुयायी। ध्यातव्य है कि जगन्नाथ दीक्षित मत के आलोचक हैं तो वैद्यनाथ जगन्नाथ के।[130] इस प्रकार अलंकार के स्वरूप पर आलंकारिक एकमत नहीं है।

अर्थापत्ति का आगमन मीमांसा से हुआ है। अतएव उससे इसे पृथक् बताना ही जगन्नाथ की भारी भूल है। जगन्नाथ के उदाहरण में वैद्यनाथ-यद्यर्थातिशयोक्ति को अतिव्याप्त मानते हैं।[131] वस्तुतः अर्थापत्ति कहीं यद्यर्थातिशयोक्ति रूप होती है, कहीं अनुमान रूप।

चंडीशकोदंडमथापभंगं सत्यप्रभावाज्जनकात्मजायाः।
जगाम रामस्तदसन्निधानात् खेदं यदाखंडलकार्मुकेऽपि।।[132]

शोभाकर यहां दण्डापूपिका न्याय से अनुमान अलंकार मानते हैं,[133] और आगे चलकर दंडापूपिका न्याय में ही अर्थापत्ति। यह परस्पर विरुद्ध कथन क्यों? आलंकारिक को कोई युक्तियुक्त मार्ग नहीं है।

जितश्चेन्मृगशावाक्ष्या सकलोऽपि सुधाकरः।
का शक्तिर्जलजस्य स्याद्विकलस्य शिलीमुखैः।। अ.र., पृ. 140

शोभाकर सुधाकर के विजित हो जाने पर जलज की विजय अर्थात् से मानकर अर्थापत्ति स्वीकार करते हैं। स्पष्ट है कि यहां यद्यर्थातिशयोक्ति का चमत्कार है। रुय्यक के 'उदाहरण' पशुपतिरपितान्यहानिकृच्छ्रादगमयत्' इत्यादि में अनुमान का सौन्दर्य देखा जा सकता है। इसीलिये हेमचन्द्र ने इस उदाहरण—

निर्णेतुं शक्यमस्तीति मध्यं तव नितम्बिनी।
अन्यथानुपपत्त्यैव पयोधरभरस्थितिः।।

को उद्धृत कर अर्थापत्ति को अनुमान से गतार्थ किया है।[134] नागेश और विश्वेश्वर ने भी अर्थापत्ति को अनुमान से व्यतिरिक्त नहीं बताया।[135]

आपत्ति अलंकार नहीं

थोड़ा-थोड़ा कार्य करने से जो अनिष्ट की प्राप्ति हो जाती है, शोभाकर वहां आपत्ति नामक अलंकार मानते हैं।[136] वस्तुतः इस प्रकार के कथन वस्तुमात्र हैं अलंकार नहीं :

गृहमध्यनिखातेन धनेन धनिनो यदि।
भवामः किं न तेनैव धनेन धनिनो वयम्।। अ.र., पृ. 138

'अनुपयोगी धन से यदि कृपण भी धनी हो जाते हैं तो हम भी उससे धनी हो जायेंगे', इत्यादि कथन में कोई सौन्दर्य नहीं है। यहां शोभाकर आपत्ति अलंकार मानते हैं, व्यर्थ है।

व्याप्ति का खंडन

शोभाकर ने व्याप्ति नामक अलंकार का विवेचन किया है। समग्र पक्ष का अवलम्बन होने पर भी किसी अर्थ का संभव या असंभव निबन्धन व्याप्ति अलंकार है।[137] व्याप्ति त्रिरूप लिंग में से एक साधन है। अतएव व्याप्ति अलंकार को अनुमान में अन्तर्भूत करना उपयुक्त होगा।

वर्जनीयो मतिमता दुर्जनः सख्यवैरयोः।
श्वाभवत्यपकाराय कलन्नपि दशन्नपि।। अ.र., पृ. 132

यहां दोनों पक्षों का उपघात संभव होने से शोभाकर व्याप्ति मानते हैं। वस्तुतः यहां पूर्वकथन का उत्तर कथन से समर्थन होने से अर्थान्तरन्यास है। इसी प्रकार व्याप्ति के अन्य उदाहरणों में अनुमान आदि का सौन्दर्य पाया जाता है। अतएव उसे पृथक् अलंकार मानना अयुक्त है।

प्रत्यक्ष, उपमान, अभाव और आगम (आप्तवचन) का खंडन

भोजराज ने उपर्युक्त चार अलंकारों का विवेचन किया है। ऐन्द्रिय, मानस और स्वानुभूतिजन्य ज्ञान को प्रत्यक्ष अलंकार कहा जाता है।[138] इन तीनों के दो-दो भेद हैं। इन्द्रिय ज्ञान, युगपत् और एकदेशी होता है, मानस ज्ञान सुखार्थ विषयक और अनुभूतार्थ विषयक तथा स्वानुभूतिजन्य ज्ञान मिथ्या अमिथ्या होता है।

महापुरुष या आगम-सिद्ध कथन को 'आगम' अलंकार कहा गया है,[139] वह भी उत्तम, मध्यम और जघन्य रूप से त्रिधा होता है। इन तीनों के भी दो-दो भेद हैं, उत्तम विधि-निषेध रूप होता है, मध्यम निर्दिष्टवक्तृक और अनिर्दिष्ट वक्तृक तथा जघन्य, काम्य और निषिद्ध। सदृश वस्तु से सदृश ज्ञान उपमान कहा जाता है।[140] यह अनुभूत और अननुभूत भेद से दो प्रकार का है। भोज का कथन है कि इसी से आलेख्य, अभिनय, मद्रा, बिम्बा, आदि भी गतार्थ है। पदार्थों की असत्ता अभाव है।[141] इसके भी छः भेद हैं, प्रागभाव, प्रध्वंसाभाव, इतरेतराभाव, अत्यन्ताभाव, सामर्थ्याभाव और अभावाभाव। इनका संकर भी हो सकता है। इनमें से प्रत्यक्ष तथा उपमान का दीक्षित ने बिना किसी लक्षण के सोदाहरण विवेचन किया है। यद्यपि भोजप्रोक्त प्रत्यक्षादि अलंकारों में सौन्दर्य है, किन्तु वह दर्शनशास्त्र का विषय है।

क्रान्तकान्तवदनप्रतिबिम्बे मग्नबालसहकारसुगन्धौ।
स्वादुनि प्रणदितालिनि शीले निर्ववार मधुनीन्द्रियवर्गः।[142]

यहां मदिरा में नेत्रादि इन्द्रियों का प्रत्यक्ष होने से भोजराज प्रत्यक्ष अलंकार मानते हैं। वस्तुतः यहां अर्थकृत् कोई चारुत्व नहीं है। शब्दालंकार का सौन्दर्य अवश्य है। 'निवार्यतामालि किमप्ययं बटुपुनर्विवक्षुः'[143] आदि कुमारसंभव के श्लोक में भोजराज आगम अलंकार मानते हैं। जिसमें अर्थान्तरन्यास का ही सौन्दर्य है। 'उपमान' उपका अलंकार का एक तत्त्व है। वैसे भी यह शास्त्रीय प्रमाण है। उपमाकृत सौन्दर्य होने पर इसे उपमा में अन्तर्भूत किया जा सकता है, अन्यथा तर्काश्रित होने के कारण अलंकार नहीं माना जायेगा। अभाव में व्यंग्य विनोक्ति का चमत्कार द्रष्टव्य है। अभाव के उदाहरण—

धृतिरस्तमिता गतिश्च्युता विगतं गेयमृतुर्निरुत्सवः।
गतमाभरणप्रयोजनं परिशून्यं शयनीयमद्य मे।।[144] —र.वं, 8/66

में विनोक्ति का ही सौन्दर्य है। अतएव उपर्युक्त चार अलंकारों का पृथक् विवेचन अनावश्यक है।[145] इसी प्रकार दीक्षीतोक्त शब्द, श्रुति, स्मृति, संभव, ऐतिह्य और अनुपलब्धि[146] की पृथक् अलंकारता अमान्य है। ये शास्त्र के विषय हो सकते हैं, काव्य के नहीं।

संदर्भ

1. केनचिद्धेतुना कस्यचिदर्थस्य प्रतीतिस्तर्कन्यायः। स.बं., पृ. 160.
2. गोवर्द्धन—न्यायोऽनुमानं हेतुश्च लिंगं युक्तिः समर्थकः। मेदिनी— लिंग चिह्नोऽनुमाने च।
3. सिषाद्ययिषितार्थस्य हेतुर्भवति साधकः। अ.पु., 344/29.
4. का.प्र., नागेश्वरी, पृ. 268; बा.बो., पृ. 677; टिप्पण, सा.द., पृ. 543; सा.बि., 5/31 की वृत्ति।
5. त्रार्किक प्रसिद्धाहेतवो वैरस्यमावहन्ति, न तथा काव्य हेतुः। .... अतः काव्यलिंग इति काव्यग्रहणमुपात्तम्। ल.वृ., पृ. 75. काव्यलिंगं सरसपदार्थ निष्ठमेव भवति, न तु नीरसवस्तुमात्रनिष्ठशास्त्रलिंगवदिति। वही, पृ. 78.
6. सा.बि., 5/31 की वृत्ति में उद्धृत।
7. दे., ना.शा., 16/10.
8. हेतुश्च सूक्ष्मो लेशश्च नालंकारतया मतः। काव्यालंकार, 2/86.
9. हेतुश्च सूक्ष्मलेशौ च वाचामुत्तमभूषणम्। काव्यादर्श, 2/233.
10. का.सा.सं., 6/14; दे., ल.वृ., पृ. 75 तथा विवृत्ति, पृ. 51.
11. हेतुमता सह हेतोरभिधानमभेदतो हेतुः। काव्यालंकार, 7/82.
12. हेतुमता सह हेतोरभिधानमभेदतो हेतुः इति हेत्वलंकारो न लक्षितः। आयुर्घृतमित्यादि रूपो न भूषणतां कदाचिदर्हति वैचित्र्यभावात्। का.प्र., पृ. 706.
13. दे., वजी., पृ. 220-21.
14. क्रियायाः कारणं हेतुः। स.कं. 3/12, प्रवृत्ति निवृत्योर्निबन्धनं हेतुः। स.कं., पृ. 396.
15. काव्यलिंगं हेतोर्वाक्यपदार्थता। —का.प्र., 10/14.
16. हेतोर्वाक्यपदार्थत्वे काव्यलिंगम्। अ.स.सूत्र-57, नरेन्द्रप्रभ का लक्षण इससे कुछ भिन्न सा है, दे., अ.म. 8/66-67; दे., एका. 8/49, हेतोर्वाक्यपदार्थत्वे काव्यलिंगमुदाहृतम्। प्र.रु., पृ. 323; तु.सा.द., 10/62; अ.कौ. (कर्णपूर) 8/282; नं.य., पृ. 210; अ.चि. 4/270; भावदेव, का.सा.सं. 6/28; अ.कौ., पृ. 337; अ.प्र. 47, अ.मु. भी।
17. परप्रत्यायकं लिंगं हेतुः। अ.र. सूत्र-79, काव्यलिंगपर्यायोहेत्वलंकारः, वही, वृत्ति।
18. कारणमात्रं तु न वैचित्र्यपात्रमिति न हेत्वलंकारान्तरम्। अ.चू., पृ. 397 इति हेतुर्नालंकारः। तन्निराकरणेन तद्रूपं काव्यलिंगमपि निराकृतमेव। वही, विवेक।
19. दे., वाग्भटा. 4/104.
20. कार्यकारणयोरभेदो हेतुः। काव्यानु., पृ. 43.
21. स्यात् काव्यलिंगं वागर्थो नूतनार्थसमर्थकः। चन्द्रा. 5/38.
22. समर्थनीयस्यार्थस्य काव्यलिंगं समर्थनम्। कु. कारिका, 121.
23. दे., अ.मं.का., 93; तु. सा.बि., 5/31.
24. दे., कुवलयानन्द, पृ. 139-40 तथा तु. अ.र., पृ. 137.

25. अनुमितिकरणेन सामान्यविशेषभावाभ्यां चानालिंगितः प्रकृतार्थोपपादकत्वेन विवक्षितोऽर्थः काव्यलिंगम्। —र.गं., पृ. 466 तथा वृत्ति। तु. सा.सा. 8/262; अ. मणि. भाग-3, पृ. 75.
26. दे., काव्यादर्श, 2/233-53.
27. रामसिंह, स.कं. की 3/14 की टीका, पृ. 324.
28. दे., स.कं. 2/12-17 तथा शृं.प्र., पृ. 396. अग्निपुराणकार भी हेतु को कारक ज्ञापक भेद से द्विधा मानते हैं। दे., अ.पु. 344/30, अमृतानन्दयोगी भी यही मानते हैं। दे., अ.सं., 5/32-33.
29. दे., अ.स., पृ. 171-72.
30. इति पदार्थस्य आर्थमेव हेतुत्वम्। वाक्यार्थस्य तु शाब्दमार्थं वेति त्रयो भेदाः। अ.र., पृ. 136.
31. दे., एकावली, पृ. 200.
32. हेतुस्त्रिधा भवति—ज्ञापको, निष्पादकः समर्थकश्चेति। तत्र ज्ञापकोऽनुमानस्य विषयः, निष्पादकः काव्यलिंगस्य, समर्थकोऽर्थान्तरन्यासस्य। सा.द., पृ. 544-45.
33. दे., कु., पृ. 137-38.
34. दे., र.गं., पृ. 466-67.
35. इदं सर्वमपि प्राचीनालंकारिककल्पितपदार्थवाक्यार्थरूपभेदस्यैव प्रकारान्तरेण कथनं व्युत्पत्तिवैचित्र्यप्रदर्शनाय। अ. मणि. भाग-3, पृ. 112.
36. अ.स., पृ. 171-72 तथा कु., पृ. 140.
37. दे., र.गं., पृ. 468-70.
38. गु.म.प्र., पृ. 470-71.
39. अ.कौ., पृ. 377-40.
40. यद्यप्यनुमानस्यैव स्वार्थ परार्थ रूपत्वेन द्वैविध्यं तथापि प्रतिपादित रूपेण प्राच्यैः पृथक् लक्षितः।। —अ.र., पृ. 135-36.
41. '......... एवं हेतोर्वाक्यपदार्थतयोपनिबद्धस्य वास्तवत्वादस्यपृथगलंकारत्वं न युक्तम्। उक्तवक्ष्यमाणनीत्या अनुमान एवान्तर्भावोपपत्तेः। —वि., पृ. 144-66.
42. दे., वही, वि. तथा र.गं., पृ. 470; अ. मणि. भाग-3, पृ. 112. विश्वेश्वर का मत है कि लौकिक होने पर भी काव्यलिंग का हेतु कविप्रतिभाजन्य होने से अलंकार होने योग्य है, अन्यथा सभी अलंकारों को अमान्य ठहराना पड़ेगा। अ.कौ., पृ. 340-41. परन्तु यह तर्कसंगत नहीं है।
43. दे., एका., पृ. 266.
44. गजेन्द्रगडकर, का.प्र. नोट्स, पृ. 350.
45. दे., ना.शा., 16/7.
46. उपन्यासनमर्थस्य यदर्थस्योदितादृते।
ज्ञेयः सोऽर्थान्तरन्यासः पूर्वार्थानुगतो यथा।। —काव्यालं., 2/71.

47. वही, 2/73.
48. ज्ञेयः सोऽर्थान्तरन्यासो वस्तु प्रस्तुत्य किंचन।
तत्साधनसमर्थस्य न्यासो योऽन्यस्य वस्तुनः।। —काव्यादर्श, 2/169.
49. दे., का.सा.सं., 2/6-7.
50. अनुपपद्यमानतया संभाव्यमानस्यार्थस्य समर्थनार्थमर्थान्तरस्यैव यन्न्यसनं सोऽर्थान्तरन्यासः। वि., पृ. 23; दे., ल.वृ., पृ. 32.
51. दे., ल.वृ., पृ. 34-35.
52. उक्तसिद्ध्यै वस्तुनोऽर्थान्तरस्यैव यन्न्यसनमर्थान्तरन्यासः। का.सू.वृ., 4/3/21.
53. धर्मिणमर्थविशेषं सामान्यं वाभिधाय तत्सिद्ध्यै।
यत्र सधर्मिकमितरं न्यस्येत्सोऽर्थान्तरन्यासः। काव्यालं. 8/79.
54. वाक्यार्थन्तरविन्यासो मुख्यतात्पर्यसाम्यतः।
ज्ञेयः सोऽर्थान्तरन्यासो यः समर्पकतयाहितः।। —व.जी., पृ. 213.
55. दे., स.कं. 4/69-40; शृं.प्र., पृ. 421; तु. अ.पु. 344-23; अ.सं. 5/25-6.
56. सामान्यं वा विशेषो वा तदन्येन समर्थ्यते।
यत्तु सोऽर्थान्तरन्यासः साधर्म्येणेतरेण वा।। का.प्र. 10/109.
57. दे. चन्द्रा. 5/68, अ.म. 8/37, अ.कौ. 8/274, कु.का. 122, अ.मं. 94, सामान्येन विशेषस्य विशेषेण सामान्यस्य वा यत्समर्थनं तदर्थान्तरन्यासः। र.गं., पृ. 471; सा.सा. 8/264; अ.कौ., पृ. 318; अ.प्र. 37; अ.मु. 28; सा.बि. 5/20; अ. मणि. भाग-3, पृ. 113.
58. सामान्यविशेषकार्यकारणभावाभ्यां निर्दिष्टप्रकृतसमर्थनमर्थान्तरन्यासः। अ.स. 35.
59. विशेषस्यान्येन समर्थनमर्थान्तरन्यासः। अ.र. 76. विशेषस्य सामान्येन साधर्म्यवैधर्म्याभ्यां समर्थनमर्थान्तरन्यासः। काव्यानु. 6/19; तु. वाग्भट द्वितीय काव्यानु., पृ. 38.
60. वाग्भटा. 4/91; सा.सा. 2/124-24; अ.चं. 44.
61. दे., अ.चि., 4/274.
62. वही, एका. 8/28, प्र.रु, पृ. 324, नं.य., पृ. 210-211.
63. वही, सा.द. 10/31.
64. वही, काव्यालंकार, 2/72/74.
65. काव्यादर्श, 2/168.
66. का.सा.सं., 2/6-7.
67. न परं साधर्म्येण समर्थनं यावद् वैधर्म्येणापि। विवृत्ति, पृ. 25.
68. दे. काव्यालंकार, 8/79-84.
69. वही, 8/85 तथा वाग्भट द्वितीय, काव्यानु., पृ. 44.
70. स त्रिधा—साधर्म्येण, वैधर्म्येण, विपर्ययेण च। उभयन्यासः, प्रत्यनीकन्यासः, प्रतीकन्यासोऽपि चार्थान्तरन्यास एव। —शृं.प्र., पृ. 421-22; स.कं. 4/71.
71. तस्माद् भेदाष्टकमेवेहोट्टंकितम्। अ.स., पृ. 139.

72. दे., वही, पृ. 174.
73. अर्थान्तरन्यासे हि अर्थात् प्रकृतसमर्थनम्, इह तु शब्दत इति विभागः। सं., पृ. 171.
74. कार्यकारणभावाश्रयस्य भेदद्वयस्य काव्यलिंगत्वं इति सामान्यविशेषभावाश्रयमेव भेदद्वयमाश्रयणीयम्। —वि., पृ. 109-10.
75. दे., अ.र., पृ. 130.
76. दे., कार्यकारणभावेऽपि कारणात् कार्यसमर्थनं काव्यलिंगेऽन्तर्भूतमिति तन्नोक्तम्। —प्र.रु., पृ. 325.
77. '.......... तस्मादुभयतो व्यभिचारात् समर्थनापेक्षसमर्थने काव्यलिंगं तन्निरपेक्ष-समर्थनेऽर्थान्तरन्यास इति न विभागः, किन्तु समर्थ्यसमर्थकयोः सामान्य-विशेषसम्बन्धेऽर्थान्तरन्यासः। तदितरसम्बन्धे काव्यलिंगम्। कु., पृ. 141-43; तु. अ.मं., पृ. 170-72.
78. अस्मिन्नलंकारे समर्थ्यसमर्थकभाव आर्थः शाब्दश्चालंकारता प्रयोजकः। .... यत्तु कारणेन कार्यस्य कार्येण वा कारणस्य समर्थनम् इत्यपि भेदद्वयं ....। सर्वस्वकारो न्यरूपयत्, तन्न। तस्य काव्यलिंगविषयत्वात्। .... यदपि विमर्शिनीकार आह .... तदपि न। —र.गं., पृ. 472-74; उद्योत, पृ. 516.
79. सामान्योद्दिष्टानामेकस्य निदर्शनमुदाहरणम्। अ.र. सूत्र-12 तथा वृत्ति। पुरुषोत्तम शर्मा चतुर्वेदी का कथन है कि जयरथ इसके उद्भावक हैं, जो नितान्त भ्रमपूर्ण है। दे., अ.क्र.वि., पृ. 126.
80. दे., वि., पृ. 109-10.
81. सामान्येन निरूपितस्यार्थस्य सुखप्रतिपत्तये तदेकदेशं निरूप्य तयोरवयवावयविभाव उच्यमान उदाहरणम्। र.गं., पृ. 213; तु. सा.सा., 8/85.
82. दे., र.गं., पृ. 472-73.
83. सवकषा, माघ 2/31-33 पर।
84. दे., र.गं., पृ. 474-75.
85. ऐतेनोदाहरणालंकारोऽतिरिक्त इत्यपास्तम्। उद्योत, पृ. 516.
86. यस्मिन् विशेषसामान्यविशेषाः स विकस्वरः। चन्द्रा. 5/69; तु. कु. कारिका-124; अ.मु.का.-95; अ. मणि. भाग-3, पृ. 138.
87. एवं चार्थान्तरन्यासस्य तस्य चार्थान्तरन्यास प्रभेदयोश्च संसृष्ट्यैवोदाहरणानां त्वदुक्तानां गतार्थत्वे नवीनालंकारस्वीकारानौचित्यात्। र.गं., पृ. 474-75; तु. अ. मणि. भाग 3, पृ. 139.
88. दे., उद्योत, पृ. 516, अ.कौ., पृ. 320-21.
89. अनु पश्चान्मीयते अनेन। —शृं.प्र., पृ. 407.
90. अत्रानुमानमित्यत्रभावे ल्युट्। उद्योत, पृ. 539. पा. सूत्र 3/3/115. अस्य च कविप्रतिभोल्लिखितत्वेन चमत्कारित्वे काव्यालंकारता। —र.गं., पृ. 475; तु. अ.स., पृ. 173; सं.प्र. तथा सा.चू., पृ. 364-65; बा.बो., पृ. 697; अ. मणि. भाग-4, पृ. 14.

91. ल्युटश्च करण इव भावेऽपि। र.गं., पृ. 476.
करणाधिकरणयोश्च' पा. 3/3/117.
92. दे., ना.शा., 16/32.
93. त्रिरूपाल्लिंगतो ज्ञानमनुमानंच केचन। —काव्यालंकार, 5/11.
94. वस्तु परोक्षं यस्मिन् साध्यमुपन्यस्य साधकं तस्य।
पुनरन्यदुपन्यस्येद्विपरीतं चैतदनुमानम्। —काव्या. 7/56.
95. यत्र बलीयः कारणमालोक्याभूतमेव भूतमिति।
भावीति वा तथान्यत् कथ्येत तदन्यदनुमानम्।। —7/59.
96. लिंगाद्यल्लिंगिनो ज्ञानमनुमानं तदुच्यते। स.कं. 3/47; तु. शृं.प्र., पृ. 407.
97. अनुमानशब्दो हि भावल्युडन्तः करणे ल्युडन्तो वा।स.कं. 3/48 पर रामसिंह की टीका।
98. साध्यसाधनयोः पौर्वापर्य विकल्पे न किंचिद्वैचित्र्यमिति न तथा दर्शितम्। का.प्र., पृ. 698; दे., संकेत, पृ. 271; सं.प्र. तथा सा.चू., पृ. 365-7.
99. अनुमानं तदुक्तं यत्साध्यसाधनयोर्वचः। का.प्र., 10/117.
100. पक्षधर्मान्वयव्यतिरेकित्वेन त्रिरूपो हेतुः साधनम्। धर्मिणि अयोगव्यवच्छेदो व्यापकस्य साध्यत्वम्। का.प्र., पृ. 696; दे., प्र .प्रभा, पृ. 368; सु.सा., पृ. 647; सं., पृ. 270; सं.प्र. तथा सा.चू., पृ. 365; उद्योत, पृ. 539; बा.बो., पृ. 697.
101. साध्यसाधननिर्देशोऽनुमानम्। अ.स. सूत्र 8 तथा वृत्ति।
102. दे., अ.स. तथा सं., पृ. 173-74.
103. तत्र प्रत्यायकस्य साधनत्वमर्थलभ्यं शब्दप्रतिपन्नं चेति द्वयीगतिः। आद्ये प्रकारे काव्यलिंगं, द्वितीये त्वनुमानम्। स.बं., पृ. 160-61.
104. साधनात्साध्यप्रतीतिरनुमानम् —अ.र. सूत्र 78 तथा वृत्ति।
105. अनुमानं तु साध्यस्य साधनोक्तिर्मनोहरा —अ.म. 8/67. हेतोः साध्यावगमोऽनुमानम्। काव्यानु. 6/23, तु. वाग्भटा. 4/137, हेतोरर्थप्रतिपत्तिरनुमानम्। काव्यानु., पृ. 40; अनुमानं च कार्यादिः कारणाद्यवधारणम् —चन्द्रा., 5/36; एका., पृ. 302; प्र.रु., पृ. 322; अनुमानं तु विच्छित्या ज्ञानं साध्यस्य साधनात्। सा.द. 10/63; अ.कौ. 8/290; अ.स. 5/58; नं.य., पृ. 209; व्याप्येन व्यापकं ज्ञानमनुमानम्, अ.प्र. 54; अ.मु. 35; अ.कौ., पृ. 352; अ.मं.का. 156; सा.कौ. 10/32; अ. मणि. भाग-4, पृ. 14.
106. अनुमितिकरणं अनुमानम्। —र.गं., पृ. 475 तथा वृत्ति।
107. सा.सा. 2/133.
108. दे., अ.प्र. 54; अ.मु. 352.
109. दे., न.सा., पृ. 87.
110. स.कं., 3/47-48 तथा पृ. 382-5.
111. 'यथारन्ध्रं व्योम्नः (इत्यादौ) रूपकमूलत्वेनालंकारान्तरगर्भीकारेण विच्छित्त्याश्रयणात्तार्कानुमानवैलक्षण्यम्। क्वचित्तु शुद्धमपि भवति। यथा—यत्रैतालहरीचलाचलदृशो।' —अ.स., पृ. 173.

112. दे., अ.र., पृ. 134-35.
113. वही, अ.म., पृ. 310-11.
114. वही, काव्यानु. तथा विवेक, पृ. 390-91.
115. कु., पृ. 187-88.
116. इयं तर्करूपेणानुमानरूपेण च द्विविधा। नं.य., पृ. 209.
117. दे., र.गं., पृ. 476 तथा उद्योत, पृ. 539.
118. व्याप्तिश्च पारमार्थिकी कविकल्पिता च —अ.कौ., पृ. 352.
119. र.गं., वही।
120. दे., अ.कौ., पृ. 353-54.
121. अ.स., पृ. 173; सा.चू., पृ. 366; अ.म., पृ. 310.
122. प्रत्यक्षाद्यधिगतोऽर्थस्तथानुपपद्यमानोऽर्थान्तरंगमयतीत्यर्थापत्तिः। शृं.प्र., पृ. 408; तु. स.कं. 3/52-53.
123. दंडापूपिकयार्थान्तरापतनमर्थापत्तिः। अ.स. सूत्र-63 तथा वृत्ति। तु. अ.म. 8/72. दंडापूपिकया पतनमर्थापत्तिः —अ.र. सूत्र-8 तथा वृत्ति, अर्थापत्तिः स्वयं सिद्ध्येत्पदार्थान्तरवर्णनम्। चन्द्रा. 5/37; एका. 8/55; प्र.रु., पृ. 355; सा.द. 10/83; कुवलयानन्द काव्यार्थापत्ति कारिका, 120; अ.मं. का. 92; केनचिदर्थेन तुल्यन्यायत्वादर्थान्तरस्यापत्तिः अर्थापत्तिः। र.गं., पृ. 485; सा.सा. 8/261; अ. मणि. भाग-3, पृ. 58.
124. इयं च द्विधा —अ.स., पृ. 182.
125. इति चतुर्विंशतिः। अत्रापि शाब्दत्वार्थत्वादिभेदाद्बहवो भेदाः। अ.र., पृ. 139.
126. '.......... ततो भावत्वाभावावत्वाभ्यां चतुर्विंशतिभेदाः।' —र.गं., पृ. 485.
127. दे., अ.स., पृ. 182; एका., पृ. 309-10; प्र.रु., पृ. 326; सा.द., पृ. 565.
128. वही, अ.र., पृ. 141-42; र.गं., पृ. 486-87.
129. र.गं., पृ. 487.
130. दे., अ.चं., 136.
131. त्वदुक्तार्थापत्त्युदाहरणे संभावनालंकारो योऽन्यैः यद्यर्थोक्तौ च कल्पनम्, इति यद्यर्थातिशयोक्तित्वेनोक्तः (स्यात्)। अ.चं., पृ. 136.
132. अ.र., पृ. 134.
133. रामस्येन्द्रधनुषि तादृशकार्यानुपपत्त्या दण्डापूपिकयानुमीयते। वही।
134. यथा केनचिदर्थापत्तिलक्षणोऽलंकारः पृथग्लक्षितस्तथा न लक्षणीयः अर्थापत्तिलक्षणत्वादनुमानस्य। —विवेक, पृ. 391.
135. इत्यर्थापत्तिस्त्वनुमानमेव। उद्योत, पृ. 540.
136. अनिष्टापादनमापत्तिः। अ.र. सूत्र 80 तथा वृत्ति।
137. सर्वथा संभवोऽसंभवो वा व्याप्तिः। अ.र. सूत्र 77.

138. प्रत्यक्षमक्षजं ज्ञानं मानसं चाभिधीयते।
स्वानुभूतिभवं चैवमुपचारेण कथ्यते।। स.कं. 3/46; तु. शृं.प्र., पृ. 409.

139. आप्तवचनमागमः। शृं.प्र., पृ. 409; तु. स.कं., 3/49.

140. सदृशात्सदृशप्रतिपत्तिरूपमानम्। शृं.प्र., पृ. 405; तु.स.कं. 3/50-51.

141. पदार्थानामविद्यमानता अभावः। शृं.प्र., पृ. 408; तु. स.कं. 3/54.

142. स.कं., पृ. 380; शृं.प्र., पृ. 409.

143. कु.सं. 5/83; उद्धृत स.कं., पृ. 386; शृं.प्र., पृ. 409.

144. शृं.प्र., पृ. 409; स.कं., पृ. 395.

145. संभवप्रत्यक्षागमोपमानार्थापत्त्यभावलक्षणाश्चार्थालंकाराः ये भोजराजेन प्रतिपादिताः ते केचिदुक्तेष्वेवान्तर्भवन्ति, केचिच्च कंचनापि चमत्कारं नावहन्ति, केचिच्च काव्यशरीरस्वभावाएव। —विवेक, पृ. 405.

146. दे., कु., पृ. 189-93; दे. सा.सा. 8/298-306. प्रमाणों का अलंकार रूप में विवेचन, भोज, दीक्षित, अच्युतराय तथा ब्रह्मतन्त्र परकाल स्वामी करते हैं। ब्रह्मतंत्र परकाल ने प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, शब्द, अर्थापत्ति, अनुपलब्धि, संभव तथा ऐतिह्य प्रमाणालंकार का विवेचन किया है। वह शब्द प्रमाण के श्रुति, स्मृति, पुराण, व्याकरण, न्याय, पूर्वमीमांसा, छन्द, ज्योतिष, आचार, आत्मतुष्टि तथा श्रुतिलिंगादि भेद करते हैं। विस्तृत अध्ययन के लिये देखें, अ.म. भाग-4, पृ. 12-83.

अष्टम अध्याय

वाक्यन्यायमूलक अलंकार

यथासंख्य

वाक्यन्याय मीमांसा न्याय को कहा जाता है।[1] जिस प्रकार मीमांसाशास्त्र में 'स्वर्गकामो यजेत्' 'न कलंजं भक्षयेत्' आदि विधि-निषेध वाक्यों की प्रधानता है, उसी प्रकार यथासंख्य, परिसंख्या, समुच्चय, आदि अलंकारों में वाक्यकृत सौन्दर्य की प्रधानता पायी जाती है। यही कारण है कि इन अलंकारों को वाक्यन्याय विच्छित्ति पर आधृत माना गया है। 'यथासंख्य' शब्द में पदार्थानतिवृत्तिरूप यथार्थ में अव्ययीभाव समास किया गया है।[2] इस प्रकार यथासंख्य का अर्थ होता है, संख्या का अतिक्रमण न करते हुए पदार्थों का विन्यास—संख्यामनतिक्रम्य प्रवर्तते इति यथासंख्यम्। प्रथम का प्रथम और द्वितीय का द्वितीय के साथ क्रम से सम्बन्ध निबन्धन ही यहां अनतिक्रमण का अर्थ है। अतएव 'यथासंख्य' शब्द यौगिक है, उसका यौगिकार्थ ही अलंकार का लक्षण भी है।[3] इस अलंकार में वस्तुओं का क्रम से निबन्धन ही चारुता का कारण है। इसीलिये कुछ आलंकारिक इसे 'क्रम' अभिधान प्रदान करते हैं। यह क्रम क्रिया-कारक आदि के विशेषण-विशेष्य भाव में परिलक्षित होता है। रामायण का निम्न श्लोक यथासंख्य का सुन्दर उदाहरण है :

वहन्ति वर्षन्ति नदन्ति भान्ति ध्यायन्ति नृत्यन्ति समाश्वसन्ति।
नद्यो घना मत्तगजा वनान्ताः प्रियाविहीनाः शिखिनः प्लवंगमाः।[4]

भामह के पूर्ववर्ती मेधावी से लेकर नव्य आलंकारिकों तक प्रायः सभी को यथासंख्य की सत्ता स्वीकार है।[5] सर्वप्रथम विवेचन भामह के ग्रन्थ में ही मिलता है। भामह और उद्भट के लक्षण एक समान हैं। उनके अनुसार असमानधर्मवाले अनेक अर्थों का क्रम से अनुनिर्देश यथासंख्य अलंकार है।[6] इन्दुराज का विचार है कि साधर्म्य में उपमानोपमेय भाव के कारण विच्छित्ति का अतिशय पाया जाता है, किन्तु यहां साधर्म्य के बिना भी शोभा का निर्माण होता है। इसीलिये इसकी अलंकारता है।[7] एक-एक पदार्थ की एक-एक पदार्थ में संसर्ग स्थापना को अनुनिर्देश कहा जाता है।[8] दंडी ने 'असधर्म' विशेषण का परित्याग करते हुए भामह के लक्षण को ग्रहण

कर लिया है। वह इसके तीन नामों का निर्देश करते हैं—यथासंख्य, संख्यात और क्रम।[9] वामन ने उपमेय-उपमान के क्रमिक सम्बन्ध को क्रम माना है।[10] लक्षण में उपमेय-उपमान का ग्रहण अयुक्त है। रुद्रट इसे वास्तवमूल मानते हैं। उनके अनुसार जहां विविध अर्थ पहले जिस क्रम से निर्दिष्ट हों, उनसे सम्बद्ध अन्य अर्थों का पुनः उसी क्रम से (विशेष्य के विशेषण रूप में)[11] कथन यथासंख्य है। वह मानते हैं कि अनेक निर्दिष्ट अर्थों (विशेष्यों) में दो या तीन विशेषण अधिक सौन्दर्यावह होता है, पर दो अर्थों के निर्देश में अनेक विशेषणों का भी उपन्यास संभव है।[12] शब्द, अर्थ और उभय के क्रमिक कथन को भोजराज क्रम अलंकार मानते हैं।[13] मम्मट पदार्थों के क्रमिक सम्बन्ध को यथासंख्य मानते हैं।[14] वस्तुतः यथासंख्य यौगिकार्थ है। इसलिये उसका जो लक्षण भामह ने बनाया, उसी को दंडी, उद्भट, आदि ने तो स्वीकार किया ही, शब्दों के कुछ हेर-फेर के साथ परवर्ती अन्य सभी आलंकारिकों ने भी मान लिया।[15] अस्तु, परवर्ती रुय्यक आदि आचार्यों के लक्षण में कोई नया वैशिष्ट्य नहीं है। रुय्यक ने इसे वाक्यन्यायमूल अलंकारों की श्रेणी में प्रथम स्थान दिया है। प्रक्रम-दोष का अभाव ही यथासंख्य है। अतएव सौन्दर्यविहीन होने के कारण शोभाकर के अनुसार यह अलंकार ही नहीं हो सकता।[16] इस आधार पर उन्होंने यथासंख्य का खंडन करके 'क्रम' अलंकार की स्थापना की है, पर उनका क्रम दंडी आदि के क्रम से विलक्षण है। किसी अर्थ का आवश्यकता से अधिक स्थान ग्रहण करना आरोह कहा जाता है, उससे विपरीत अवरोह। शोभाकर आरोह-अवरोह के क्रम निबन्धन को क्रम अलंकार मानते हैं।[17] यथासंख्य की अलंकारता का निरास करने के लिये उन्होंने क्रम को अवश्य ही नयी परिभाषा प्रदान की, पर वह सफल न हो सके। वामन के अनुसार अर्थों का आरोहावरोहादि क्रम 'समाधि' गुण है।[18] गुण को अलंकार नहीं माना जा सकता। दूसरी बात यह है कि शोभाकर का लक्षण उनके लक्ष्य में ठीक बैठता नहीं है :

नन्वाश्रयस्थितिरियं तव कालकूट केनोत्तरोत्तरविशिष्टपदोपदिष्टा।
प्रागर्णवस्य हृदये वृषलक्ष्मणोऽथ कंठेऽधुना वससि वाचि पुनः खलानाम्।।[19]

यहां कालकूट उत्तरोत्तर समुद्र हृदय, शिवकंठ तथा दुर्जन-वाणी रूप अधिक स्थान प्राप्त कर रहा है। अतएव शोभाकर के अनुसार यहां क्रम अलंकार है। शोभाकर तथ्य को घसीट रहे हैं। वह स्वयं मानते हैं कि एक वस्तु का अनेकत्र या अनेक का एकत्र निबन्धन पर्याय अलंकार है।[20] स्पष्टतः यहां एक कालकूट समुद्र हृदय आदि अनेकत्र अवस्थित बताया गया है। अतएव यहां पर्याय अलंकार है, क्रम

नहीं। मम्मट आदि भी यही मानते हैं।[21] अस्तु शोभाकर का क्रम पर्याय से गतार्थ है। शोभाकर के आधार पर ही जयरथ, हेमचन्द्र तथा जगन्नाथ यथासंख्य को 'भग्नप्रक्रम' दोषाभाव मानकर, अलंकार नहीं मानते।[22] आचार्यों की इस प्रवृत्ति को विश्वेश्वर ठीक नहीं समझते।[23]

यथासंख्य का भेद विवेचन बहुत कम लोगों ने किया है। सर्वप्रथम भोज क्रम अलंकार के छः भेद करते हैं। शब्द परिपाटी के दो भेद होते हैं, पद और वाक्य। अर्थ और उभय परिपाटी भी क्रमशः देश-काल और शब्द प्रधान-अर्थप्रधान भेद से दो-दो प्रकार की होती है। मम्मट कोई भेद नहीं करते। रुय्यक इसे शाब्द और आर्थ भेद से दो प्रकार का मानते हैं। असमस्त पदों का असमस्त पदों से अर्थकृत सम्बन्ध शाब्द होता है। यहां क्रम सम्बन्ध स्पष्ट होता है। समस्त पदों में जहां एक समुदाय का दूसरे समुदाय के साथ शाब्द सम्बन्ध होने से समुदाय के अवयव में विद्यमान क्रम-सम्बन्ध का ज्ञान-अर्थानुसंधान से होता है, वहां यथासंख्य आर्थ होता है।[24] शोभाकर रुय्यक की इस भेद व्यवस्था के भी आलोचक हैं।[25] नरेन्द्रप्रभसूरि पद और वाक्य भेद से शाब्द को द्विधा मानकर तीन भेदों का विवेचन करते हैं।[26] जगन्नाथ उक्त दोनों भेदों के उदाहरण प्रस्तुत करते हैं।

ऊपर के विवेचन से स्पष्ट है कि शोभाकर को छोड़कर अन्य सभी आचार्यों के लक्षण समान हैं। वामन, भोजराज, शोभाकर, अमृतानन्दयोगी इस अलंकार को 'क्रम' नाम से अभिहित करते हैं। पूर्वनिर्दिष्ट अर्थों का पश्चात् निर्दिष्ट अर्थों के साथ क्रम सम्बन्ध यथासंख्य अलंकार है।

यौवनोद्गमनितान्तशंकिताः शीलशौर्यबलकान्तिलोभिताः।
संकुचन्ति विकसन्ति राघवे जानकीनयननीरजश्रियः।।[27]

यहां पूर्व निर्दिष्ट अर्थ-पद्य के पूर्वार्द्ध दोनों विशेषणों का—पश्चात् निर्दिष्ट 'संकुंचन्ति' और 'विकसन्ति' से क्रमिक सम्बन्ध होने के कारण यथासंख्य अलंकार है। विशेषण और विशेष्य का समास न होने से अन्वय शाब्द है।

यथासंख्य अलंकार नहीं

पूर्वनिर्दिष्ट अर्थों का पश्चात् निर्दिष्ट अर्थों से क्रमशः सम्बन्ध न होने पर 'अपक्रम' या 'भग्नप्रक्रम' दोष माना जाता है।[28] अपक्रम दोष का निराकरण ही यथासंख्य अलंकार है। कवि प्रतिभोद्भूत विच्छित्ति अलंकार है। दोषाभाव में उसका अभाव पाया जाता है। दोषाभाव को तो अलंकार नहीं कहा जा सकता? काणत्व दोष का अभाव विभूषण नहीं कहा जाता। अतएव यथासंख्य (क्रम) को अलंकार

नहीं मानना चाहिये ।[29] जयरथ के अनुसार वक्रोक्ति जीवितकार ने यथासंख्य का सविस्तार खंडन किया है। डॉ. कृष्णमूर्ति द्वारा संपादित वक्रोक्तिजीवित के 3163 में इसे देखा जा सकता है। भामह के उदाहरण पर उनका कथन है :

भणितिवैचित्र्यविरहान्न काचिदत्र कान्तिर्विद्यते।। —व.जी., पृ. 220

पर्याय

'परि' उपसर्गपूर्वक गत्यर्थक 'इण्' धातु से भाव अर्थ में घञ् प्रत्यय (परावनुपात्यय —इणः, पा. 3/3/38) करने पर निष्पन्न 'पर्याय' शब्द क्रम अर्थ का बोधक है ।[30] एक आधेय का अनेक आधारों में तथा एक आधार में अनेक आधेयों का क्रम से होना या किया जाना पर्याय अलंकार है। रुय्यक आदि के अनुसार 'क्रम' का आश्रय होने से इसकी अन्वर्थकता है ।[31] वस्तुतः पर्याय योगार्थमात्र नहीं है, क्योंकि पर्याय का योगार्थ पर्याय अलंकार से अन्यत्र भी घटित हो सकता है। पाणिनि के अनुसार परि उपसर्गपूर्वक इण् धातु से अनुपात्यय द्योत्य रहने पर ही घञ् प्रत्यय होता है। इस प्रकार पर्याय का अर्थ होगा, क्रम प्राप्त का अनतिक्रमण। जयरथ और जगन्नाथ के अनुसार आधाराधेयभाव से व्यतिरिक्त स्थल में भी क्रम का अनतिक्रमण हो सकता है। अतएव पर्याय यहां यौगिक नहीं है, बल्कि पर्याय के उक्त दो लक्षणों में से एक का होना ही इसका सामान्य लक्षण है ।[32] विशेष अलंकार के द्वितीय भेद में भी अनेक आधारों में एक आधेय का युगपत् सम्बन्ध दिखाया जाता है, पर वहां क्रम का अभाव होता है, इसी प्रकार समुच्चय अलंकार में भी गुण-क्रिया का एक साथ निबन्धन होता है, पर वहां भी क्रम नहीं पाया जाता। यही इन अलंकारों में वैलक्षण्य है ।[33] यहां भी वाक्यकृत सौन्दर्य ही अलंकारता का मूल है। विद्यानाथ इसका निरूपण लोकन्यायमूल अलंकारों में करते हैं।

भामह, दंडी, उद्भट और वामन इस अलंकार पर मौन हैं। पर्याय का सर्वप्रथम विवेचन करते हैं, रुद्रट। उन्होंने इसे वास्तवमूल मानकर दो लक्षण प्रस्तुत किया है। विवक्षित वस्तु के प्रतिपादन में समर्थ जो वस्तु, उसके (विवक्षित वस्तु के) असमान होती है या उसका कारण-कार्य नहीं होती, उसका कथन प्रथम पर्याय है। नमिसाधु के अनुसार लक्षण में 'असदृशम्' और 'अजनकमजन्यं' पद का ग्रहण समासोक्ति-अन्योक्ति तथा सूक्ष्म अलंकार से इसे पृथक् करता है ।[34] सुखादि स्वरूप एक वस्तु जहां अनेक आधारों में अथवा अनेक वस्तु एक आधार में हो, या की जाये, वहां द्वितीय पर्याय होता है ।[35] भोज मिष, उक्ति प्रकार और अवसर को पर्याय

मानते हैं।[36] जिसका विवेचन पर्यायोक्त प्रकरण में किया जा चुका है। भोज का पर्याय दोनों (पर्याय और पर्यायोक्त) अलंकारों को अभिव्यक्त करता है। मम्मट ने रुद्रट के द्वितीय पर्याय का विवेचन किया है। वस्तुतः रुद्रट के बाद उनके प्रथम पर्याय को किसी ने मान्यता नहीं दी। द्वितीय को मम्मट ने ग्रहण कर लिया और वही पूरे काव्यशास्त्र में मान्य रहा। मम्मट ने इसके दो लक्षण किये हैं। एक वस्तु अनेक आधारों में क्रम से अवस्थित हो या अवस्थित की जाये तो प्रथम पर्याय होता है।[37] मम्मट ने वृत्ति में 'भवति' और 'क्रियते' पद का उपादान किया है, जिसकी व्याख्या में प्रदीपकार ने कहा है कि जहां प्रयोजक या कारण का निर्देश न हो वहां वस्तु का होना (भवति) पाया जाता है और जहां उसका निर्देश हो वहां करना (क्रियते) समझना चाहिये।[38] जहां अनेक वस्तु क्रम से एक (आधार) में हो या की जाये वहां द्वितीय पर्याय होता है।[39] जैसा कि जयरथ ने संकेत किया है पर्याय का योगिकार्थ न होने के कारण, संभवतः मम्मट को दो लक्षण बनाने पड़े।[40] प्रदीप आदि टीकाओं में यह व्यक्त किया गया है कि लक्षण में क्रम का ग्रहणविशेष, समुच्चय, परिवृत्ति से इसे पृथक् करता है।[41] रुय्यक का लक्षण भी रुद्रट, मम्मट से भिन्न नहीं है। रुय्यक ने क्रम का आश्रय किये जाने के कारण उसे अन्वर्थक माना है।[42] उनके टीकाकार समुद्रबन्ध एक वस्तु का अनेक से क्रमिक सम्बन्ध पर्याय का सामान्य लक्षण मानते हैं,[43] पर जयरथ की दृष्टि में पर्याय का सामान्य लक्षण होना कठिन है।[44] रुय्यक भी विशेष और समुच्चय से इसे पृथक् करने का प्रयास करते हैं।[45] क्रम से एक वस्तु का अनेकत्र या अन्यथा निबन्धन पर्याय है,[46] यह शोभाकर का अभिमत है। एक वस्तु का अनेक में तथा अनेक वस्तु का एक में युगपत् होना क्रमशः विशेष और समुच्चय है, पर इनमें क्रम का अभाव पाया जाता है, इसलिये शोभाकर इन्हें पर्याय से पृथक् मानते हैं।[47] नरेन्द्रप्रभसूरि का लक्षण भी रुद्रट, मम्मट के समान है।[48] हेमचन्द्र एक वस्तु की अनेकत्र और अनेक की एकत्र अवस्थिति को पर्याय तथा सम से सम, उत्कृष्ट से निकृष्ट और निकृष्ट से उत्कृष्ट वस्तु के व्यतिहार को विनिमय मानकर दोनों को परिवृत्ति के अन्तर्गत रख देते हैं।[49]

वाग्भट प्रथम ने पर्याय का उल्लेख नहीं किया है। वाग्भट द्वितीय तथा जयदेव, एक वस्तु के अनेकत्र होने मात्र को पर्याय स्वीकार करते हैं।[50] विद्याधर, विश्वनाथ, कर्णपूर, अप्पयदीक्षित, देवशंकर, नरसिंह, जगन्नाथ, विश्वेश्वर, आदि के लक्षण भी रुद्रट, मम्मट और रुय्यक के सदृश हैं।[51] वस्तुतः रुद्रट का द्वितीय पर्याय ही आदि से अन्त तक आलंकारिकों को मान्य रहा है। जयदेव, वाग्भट द्वितीय

उसमें कुछ अंश का परित्याग कर देते हैं, अन्यथा, लक्षण में मम्मट के बाद कोई परिवर्तन नहीं आया। विशेष, समुच्चय और परिवृत्ति से इसका जो भेद रुय्यक ने दिखाया, वही जगन्नाथ तक को मान्य रहा। कह सकते हैं कि मम्मट के बाद पर्याय के स्वरूप में कोई परिवर्तन नहीं किया गया।

पर्याय के भेद

रुद्रट के प्रथम पर्याय के दो भेद हैं : विवक्षित वस्तु के प्रतिपादन में समर्थ वस्तु के असमान वस्तु कथन में तथा कार्याभाव और कारणाभाव कथन में। द्वितीय पर्याय के चार भेद हैं, (1) एक वस्तु अनेक आधारों में क्रम से अवस्थित हो, (2) या अवस्थित की जाये, (3) एक आधार में अनेक वस्तु हो, या (4) की जाये। यद्यपि रुद्रट ने दो ही उदाहरण दिया है, पर यह चतुर्धा विभाजन उनके टीकाकार नमिसाधु के आधार पर किया गया है।[52] मम्मट ने इन्हीं भेदों का विवेचन किया है। रुय्यक इन्हीं भेदों को शब्दावली के परिवर्तन के साथ स्वीकार करते हैं, (1) अनेक असंहत (असंघात) रूप आधार, (2) अनेक संघात रूप आधार, (3) अनेक असंघात रूप आधेय, और (4) अनेक संघात रूप आधेय।[53] शोभाकर अनेक आधार पर आधेय रूप दो भेदों को आधार आधेय के परस्पर वैलक्षण्य तथा अवैलक्षण्य के आधार पर चार भेद मानते हैं।[54] जयदेव, तो एक उदाहरण देते ही हैं, वाग्भट द्वितीय भी उन्हीं के अनुयायी हैं। विद्याधर तथा विद्यानाथ, जैसा कि उनके लक्षण से स्पष्ट है, एक का अनेकत्र और अनेक का एकत्र, वर्णन होने पर दो भेद का विवेचन करते हैं।[55] विश्वनाथ और कर्णपूर मम्मट के अनुगामी हैं।[56] अप्पयदीक्षित ने पर्याय को शुद्ध और मिश्र भेद से प्रथमतः द्विधा मानकर शुद्ध के शाब्द-आर्थ और मिश्र के विकास-संकोच दो-दो भेद करके चार प्रकार के माने हैं। द्वितीय पर्याय का वह केवल एक उदाहरण देते हैं।[57] संभवतः उपर्युक्त चार भेद इसमें भी उन्हें मान्य हैं। देवशंकर दीक्षित का, नरसिंह विद्यानाथ का अनुसरण क्ररते हैं। जगन्नाथ ने भेद का कोई स्पष्ट निरूपण नहीं किया है। चार उदाहरण प्रस्तुत करते हुए वह शाब्द, आर्थ तथा आरोह-अवरोह की परस्पर विलक्षणता का संकेत अवश्य करते हैं।[58] जगन्नाथ दीक्षित के विकास पर्याय के उदाहरण 'बिम्बोष्ठ एव रागस्ते'[59] इत्यादि को जिसे मम्मट आदि एक का क्रम से अनेकत्र अवस्थान किये जाने का उदाहरण मानते हैं, अनावश्यक दूषित सिद्ध करते हैं।[60] जगन्नाथ की दीक्षित के प्रति इतनी ईर्ष्या है, कि मम्मट के उदाहरण को जिसे दीक्षित प्रयोग में लाते हैं, उसका दीक्षित के नाम से ही खंडन करते हैं, मम्मट के नाम से नहीं। यही

कारण है, नागेश आदि जगन्नाथ के इस कुतर्क का खंडन करते हैं।[61]

एक बात ध्यान देने योग्य है कि जहां आधार, आधेय, उनके सम्बन्ध और क्रम में कवि-कल्पना का योग होगा, वही पर्याय अलंकार माना जायेगा, सर्वांश में लोकसिद्धता रहने पर नहीं।

मौनं मयूरीषु, नदीषु कार्श्यं विपाण्डुरत्वं च बलाहकेषु।
शरद्यभीष्टागमनिर्वृताभिर्न्यासीकृतानीव वियोगिनीभिः।।[62]

'शरत्काल में अभीष्ट आगम (समागम) से प्रसन्न वियोगिनी स्त्रियों में मानो मौन को मयूरियों में, कृशता को नदियों में और पाण्डुरता को मेघों में न्यास कर दिया है। मौन, कार्श्य और पाण्डुरत्व पहले वियोगिनियों में अवस्थित था, बाद में मयूरियों आदि में न्यास कर दिया गया। अतएव यह एक वस्तु का अनेक आधारों में निबन्धित किये गये पर्याय का उदाहरण है। वियोगिनी के मौनत्व आदि में तथा मयूरी आदि के मौनत्व आदि में भेद है, पर दोनों का एकत्व में अध्यवसान हो गया है। अतएव इसे कविकल्पित माना जायेगा। इसी प्रकार का 'श्रोणीबन्धस्त्यजति तनुतां सेवते मध्यभागः' आदि उदाहरण काव्यप्रकाश के किन्हीं संस्करणों में मिलती है,[63] किन्हीं में नहीं,[64] यद्यपि दीक्षित और जगन्नाथ भी इसे काव्यप्रकाशकार के नाम से उद्धृत करते हैं।[65]

'यत्रैव मुग्धेति, कृशोदरीति, प्रियेति, कान्तेति महोत्सवोऽभूत्।
तत्रैव दैवाद्वदने मदीये पत्नीति भार्येति गिरश्चरन्ति।।[66]

रुय्यक के अनुसार यह एक आधारगत अनेक आधेयसंघात का रूपपर्याय का उदाहरण है। आधार मुख एक है। पाणिग्रहण के पूर्व नायिका नायक की प्रेमिका थी तो नायिका के लिये मुग्धा आदि शब्दों के प्रयोग होते थे। दैव-वश उसी नायक से परिणय हो जाने से उसी नायक के मुख में 'भार्या' आदि शब्द प्रयुक्त होने लगे हैं। यहां मुग्धा आदि वर्ग तथा पत्नी आदि वर्ग एक ही आधार मुख में व्यवहृत हो रहा है। अतएव यहां अनेक आधेय संघात रूप पर्याय है। मम्मट आदि की दृष्टि से इसमें अनेक आधेय का एक आधार में किया गया कथन रूप पर्याय होगा। ध्यातव्य है कि शोभाकर, आरोह-अवरोह में क्रम अलंकार मानते हैं।[67] जिसका जगन्नाथ भी संभवतः समर्थन करते प्रतीत होते हैं,[68] उसका अन्तर्भाव जयरथ ने पर्याय में ही किया है।[69] इस विषय पर यथासंख्य प्रकरण में विचार किया जा चुका है।

परिवृत्ति

'परि' उपसर्गपूर्वक वर्तनार्थक वृत् (वृतु) धातु से भाव स्त्रीत्व में क्तिन् प्रत्यय करने पर परिवृत्ति शब्द की निष्पत्ति होती है, जिसका अर्थ है, परिवर्तन या विनिमय-परिवर्तनं विनिभयकरणं परिवृत्तिरित्यन्वर्थेयं संज्ञा ।[70] किसी स्वकीय वस्तु को प्रदान कर उसके बदले किसी अन्य वस्तु के ग्रहण (आदान) को विनिमय कहा जाता है ।[71] इस प्रकार वस्तुओं या पदार्थों का परस्पर विनिमय ही परिवृत्ति अलंकार है। कविप्रतिभोद्भूत सौन्दर्यपूर्ण रीति से ही निबद्ध विनिमय यहां अलंकार माना जाता है, न कि वास्तव, क्योंकि वास्तव विनिमय में कोई चारुता नहीं है ।[72] रुय्यक पर्याप्त और परिवृत्ति को वाक्यविच्छित्ति पर आधृत मानते हैं, पर विद्यानाथ लोकन्यायमूल पर। यद्यपि इन अलंकारों में लोक-कथन की विच्छित्ति पाई जाती है, किन्तु वाक्य-विच्छित्ति का अभाव भी नहीं रहता। दूसरी बात यह है कि यथासंख्य—जो वाक्यन्यायमूल अलंकारों का प्रथम अलंकार है, में क्रम की जो विच्छित्ति विहित है, वह इन दो अलंकारों में भी किसी न किसी रूप में विद्यमान है। संभवतः इन्हीं दो आधारों पर रुय्यक ने इन दो अलंकारों को वाक्यविच्छित्ति के अन्तर्गत रखा है। रुय्यक के आग्रहवश मैं भी इन्हें इस कोटि में रखना उपयुक्त समझता हूँ। एक वस्तु के त्याग और अन्य के ग्रहण से एक वस्तु का अनेकत्र और अनेक वस्तु का एकत्र रूप क्रमिक अवस्थान यद्यपि यहां भी पाया जाता है, तथापि इसे पर्याय नहीं कह सकते, क्योंकि पर्याय में विनिमय का अभाव होता है ।[73]

परिवृत्ति के उद्भावक हैं, आचार्य भामह। उनके अनुसार अन्य वस्तु के अपोह (त्याग) से किसी विशिष्ट वस्तु का उपादान परिवृत्ति अलंकार है ।[74] दंडी ने परिवृत्ति का कोई लक्षण नहीं किया है। उनका उदाहरण रुद्रट आदि से मेल खाता है ।[75] उद्भट की कारिका लक्षण और भेद दोनों को स्पष्ट करती है। सम, न्यून तथा विशिष्ट वस्तु से किसी अन्य वस्तु के 'अर्थानर्थस्वभाव' रूप परिवर्तन को वह परिवृत्ति मानते हैं ।[76] इन्दुराज तथा राजानक तिलक ने 'अर्थानर्थस्वभाव' की स्पष्ट व्याख्या प्रस्तुत की है। हीन वस्तु से अधिक वस्तु का परिवर्तन अर्थ स्वभाव कहा जाता है और सम का सम से अर्थाभाव या अनर्थ स्वभाव। इसी प्रकार अधिक गुणवाली वस्तु से हीन गुण वाली वस्तु का परिवर्तन अधर्मानृतन्याय से अनर्थस्वभाव माना जाता है ।[77] परिवृत्ति का सामान्य लक्षण किया है इन्दुराज ने, किसी वस्तु का वस्त्वन्तर से परिवर्तन परिवृत्ति है ।[78] वामन सम, विषम अर्थ से अर्थ-परिवर्तन को परिवृत्ति कहते हैं ।[79] रुद्रट ने इसे वास्तवमूल माना है। जहां दो वस्तुओं में परस्पर आदान-प्रदान एक साथ किया जाये, अथवा दान-आदान के न होने पर भी प्रसिद्धिवश उनका

उपचार दिखाया जाये, रुद्रट वहां परिवृत्ति मानते हैं।[80] कुन्तक के अनुसार एक वस्तु का निवर्तन दूसरे का स्थापन रूप परिवृत्ति अलंकार नहीं हो सकती, क्योंकि ऐसे में दोनों का प्राधान्य होता है। दो वस्तुओं के प्राधान्य में अलंकारता नहीं होती। रूपान्तर के निरोध में यदि साम्य होगा तो उसे उपमा ही मानना संगत है, परिवृत्ति नहीं।[81] वस्तुतः 'वक्रोक्तिजीवित' का डॉ. डे संपादित यह भाग अस्पष्ट है। अतएव कुन्तक के विचारों को ठीक-ठीक जानने के लिये डॉ. कृष्णमूर्ति का संस्करण देखना चाहिए। भोजराज वस्तुओं के परस्पर व्यत्यय या विनिमय को परिवृत्ति मानते हैं।[82] टीकाकार के अनुसार वस्तुस्थिति का विपर्यास कथन परिवृत्ति का स्पष्ट लक्षण है।[83] सम-असम वस्तुओं के विनिमय को मम्मट परिवृत्ति मानते हैं।[84] गजेन्द्रगडकर के अनुसार मम्मट के लक्ष्य से पता चलता है कि वह दंडी और रुद्रट की परम्परा के पोषक हैं, आगे चलकर जगन्नाथ भी इसी मार्ग का अवलम्बन करते हैं।[85]

विनिमय में साधारणतः दो व्यक्तियों की आवश्यकता होती है। एक व्यक्ति अपनी किसी वस्तु को दूसरे को देकर उसके बदले में उससे कोई वस्तु ग्रहण करता है। इस दृष्टि से मम्मट का लक्षण उपयुक्त है। मात्र किसी वस्तु का त्याग और ग्रहण परिवृत्ति का व्यापक लक्षण है। इस लक्षण में भामह, उद्भट और भोजराज को लिया जा सकता है। इसी परम्परा के अनुयायी हैं, रुय्यक जिनके अनुसार सम, अधिक और न्यून वस्तुओं का सम, न्यून, अधिक वस्तुओं से विनिमय परिवृत्ति है। किसी वस्तु का परित्याग किसी का उपादान विनिमय है, यह उनका विश्लेषण है।[86] शोभाकर विनिमय को परिवृत्ति मानते हैं। उनका कथन है कि अन्यत्र (लोक में) दानपूर्वक आदान ही विनियम माना जाता है, पर यहां त्यागपूर्वक तथा कृति से प्रतिकृति का ग्रहण भी विनिमय माना जाता है।[87] नरेन्द्रप्रभ रुय्यक के अनुगामी हैं।[88] पर्याय प्रकरण में बताया जा चुका है कि हेमचन्द्र पर्याय और विनिमय दोनों को परिवृत्ति मानकर पर्याय का अन्तर्भाव इसी में कर लेते हैं।[89] वाग्भट प्रथम तथा द्वितीय और जयदेव के लक्षण मम्मट के समान हैं।[90] विद्याधर और विद्यानाथ रुय्यक के समान लक्षण और विवेचन करते हैं, पर विश्वनाथ मम्मट का अनुसरण करते प्रतीत होते हैं।[91] कर्णपूर, अप्पयदीक्षित, देवशंकर मम्मट के समान ही लक्षण, विवेचन करते हैं।[92] जगन्नाथ के अनुसार दूसरे की किसी वस्तु के ग्रहणपूर्वक अपनी किसी वस्तु का उसे समर्पण परिवृत्ति है।[93] उनका अभिमत है कि यहां दानादान व्यवहार कविकल्पित ही ग्राह्य है, वास्तविक नहीं। दूसरी बात यह है कि यहां विनिमय का तात्पर्य अपनी किसी वस्तु का समर्पण मात्र है न कि परित्याग, जैसा कि रुय्यक मानते हैं।[94] जिस किसी वस्तु के त्याग से जिस किसी के आदान को

विनिमय मानने वाले रुय्यक के विरोधी जगन्नाथ मम्मट का ही समर्थन करते जान पड़ते हैं।[95] विश्वेश्वर मम्मट तथा रुय्यक दोनों के विचारों का समादर करते हैं।[96] अच्युतराय तथा अन्य लोग भी विनिमय को परिवृत्ति कहते हैं।[97]

ऊपर के विवेचन से स्पष्ट है कि परिवृत्ति के विषय में आलंकारिकों के दो विचार हैं। अपनी कोई वस्तु किसी दूसरे को देकर उससे किसी अन्य वस्तु का स्वीकार विनिमय या परिवृत्ति है, यह प्रथम विचारधारा है। विनिमय के लिये आवश्यक नहीं कि दो व्यक्तियों में ही आदान-प्रदान हो, प्रत्युत व्यत्यय या परिवर्तन मात्र ही परिवृत्ति है, यह द्वितीय मत है। लक्ष्य-लक्षण विवेचन से प्रतीत होते हैं कि दंडी, रुद्रट और मम्मट प्रथम विचार के पोषक हैं। 'विनिमयः अत्र किंचित्त्यक्त्वा कस्यचिदादानम्' रुय्यक के इस विचार के विरोधी जगन्नाथ भी प्रतीत होता है प्रथम मत के अनुयायी हैं। इसी कोटि में दोनों वाग्भटों, जयदेव, दीक्षित तथा देवशंकर को लिया जा सकता है। भामह, उद्‌भट, वामन, भोज, रुय्यक, विद्याधर तथा विद्यानाथ को द्वितीय विचारधारा का पोषक माना जा सकता है। विश्वेश्वर उभयमतावलम्बी हैं। स्वरूप के समान परिवृत्ति के भेद पर भी आलंकारिक विभिन्न मत रखते हैं।

परिवृत्ति के भेद

भामह ने अर्थान्तरन्यासवती परिवृत्ति का एक उदाहरण प्रस्तुत किया है, जिसमें समपरिवृत्ति है।[98] दंडी के उदाहरण में हीनवस्तुप्रदानपूर्वक उत्तमवस्तु का ग्रहण किया गया है।[99] सर्वप्रथम उद्‌भट ने परिवृत्ति के तीन भेद किये, सम, न्यून और विशिष्ट। समान का समान वस्तु से विनिमय प्रथम परिवृत्ति है। उत्कृष्ट वस्तु देकर निकृष्ट का ग्रहण द्वितीय उससे विपरीत तृतीय परिवृत्ति है। उद्‌भट के टीकाकारों ने उसका समर्थन किया है।[100] वामन सम और विषम का उदाहरण प्रस्तुत करते हैं। रुद्रट का उदाहरण सदसत् परिवृत्ति का है।[101] कुन्तक के ग्रन्थ से, यद्यपि स्पष्ट नहीं है तथापि प्रतीत होता है कि विषयान्तर तथा धर्मान्तर परिवर्तन दो भेद उन्हें मान्य थे।[102] भोजराज ने मुख्या-अमुख्या भेद से, व्यत्ययवती, विनिमयवती तथा उभयात्मक त्रिधा परिवृत्ति को छः प्रकार के माने हैं।[103] उद्‌भट के आधार पर मम्मट ने त्रिधा विभाग प्रस्तुत किया है, सम से सम, न्यून से अधिक और अधिक से न्यून वस्तु का विनिमय। इन भेदों को रुय्यक, शोभाकर, नरेन्द्रप्रभ, विद्याधर, हेमचन्द्र, विद्यानाथ, विश्वनाथ, कर्णपूर; नरसिंह तथा विश्वेश्वर प्रभृति स्वीकार करते हैं। जयरथ शुद्धसामान्य रूप और बिम्बप्रतिबिम्बभाव का उदाहरण भी देते

हैं (वि., पृ. 152-53)। उपर्युक्त तीन भेदों के अतिरिक्त शोभाकर छः भेद और मानते हैं : कृतप्रतिकृति का। कृतप्रतिकृति का अर्थ है, उपकार या अपकार के प्रति प्रत्युपकार या प्रत्ययकार। वह प्रथमतः दो प्रकार का है, दोष-प्राप्ति में दोष तथा गुण-प्राप्ति में गुण-विनिमय होने पर। इन दोनों के भी पूर्ववत् तीन-तीन भेद होते हैं।[104] वाग्भट प्रथम दो उदाहरण प्रस्तुत करते हैं। वाग्भट द्वितीय और जयदेव एक-एक। दीक्षित तथा जयदेव, न्यून अधिक भेद के दो-दो उदाहरण देते हैं। जगन्नाथ परिवृत्ति को चार प्रकार का मानते हैं। प्रथमतः दो भेद हैं, सम और विषम। सम परिवृत्ति भी दो प्रकार की है, उत्तम वस्तु देकर उत्तम का ग्रहण तथा निकृष्ट वस्तु देकर निकृष्ट का ग्रहण। इसी प्रकार विषम परिवृत्ति भी दो प्रकार की है, उत्तम वस्तु देकर न्यून का ग्रहण, न्यून वस्तु देकर उत्तम का ग्रहण।[105] विचारपूर्वक देखा जाये तो शोभाकर को छोड़कर प्रायः सभी आलंकारिक उद्भट कृत भेदों का ग्रहण-त्याग करते हैं। कुछ उदाहरण :

किमित्यपास्याभरणानि यौवने घृतं त्वया वार्धकशोभिवल्कलम्।
वद प्रदोषे स्फुटचन्द्रतारका विभावरी यद्यरुणाय कल्पते।।[106]
तस्यहि प्रवयसो जटायुषः स्वर्गिणः किमिव शोच्यतेऽधुना।
येन जर्जरकलेवरव्ययात्क्रीतमिन्दुकिरणोज्ज्वलं यशः।।[107]
यथा यथा मदस्य हरणं करोत्यलिर्मातवर्वारणेन्द्रस्य।
एतस्य सोऽपि तथा तथा कर्णाघातं समर्पयति।।[108]

प्रथम में उत्कृष्ट वस्तु यौवन को देकर न्यून-गुण वल्कल का ग्रहण है, द्वितीय में न्यूनगुण जर्जर कलेवर देकर उत्कृष्ट गुण इन्दुकिरणोज्ज्वल यश की प्राप्ति है। अतएव प्रथम दो उदाहरणों में न्यून और अधिक प्राप्ति रूप परिवृत्ति है। तृतीय में मद का अपहरण करने वाले भ्रमर का हाथी कर्णाघात से प्रत्यपकार कर रहा है। अतएव शोभाकर की दृष्टि से वह कृतप्रतिकृति का उदाहरण है।

परिसंख्या

महर्षि पाणिनि ने परि का वर्जन अर्थ में प्रयोग किया है।[109] वाणी को व्यक्त करने अर्थ में पठित 'सम्' उपसर्गपूर्वक 'चक्षिङ्' धातु से ख्याञ् आदेश (चक्षिङ् ख्याञ्-2/2/54) भाव अर्थ में अङ् प्रत्यय (आतश्चोपसर्गे, 3/3/106) तथा स्त्रीत्व में टाप्[110] करने पर संख्या शब्द की निष्पत्ति होती है।[111] जिसका अर्थ है, बुद्धि या विचारणा। गीता में भी संख्या का बुद्धि अर्थ में प्रयोग किया गया है। इस प्रकार

परिसंख्या शब्द का अर्थ हुआ : वर्जनबुद्धि।[112] संख्या का एक और अर्थ है, वर्ण्य रूप में गणना। अतएव निषेधपूर्वक किसी वस्तु का वर्ण्य रूप में संख्यान (गणना) भी परिसंख्या कही जाती है।[113] किसी वस्तु का एकत्र निषेध कर अन्यत्र स्थापन या निषेधपूर्वक वर्णनीय रूप में संख्या परिसंख्या अलंकार है। इस प्रकार परिसंख्या के उपर्युक्त दोनों अर्थ उपयुक्त हैं। परिसंख्या अलंकार के मूल में निहित है, मीमांसा शास्त्र-विहित-परिसंख्या विधि'। अतएव उसका शास्त्रीय विवेचन आवश्यक है।

मीमांसकों के अनुसार विधि का अर्थ है, आदेश या निषेध। यह तीन प्रकार की मानी गयी है : (1) अपूर्व विधि, (2) नियम विधि, और (3) परिसंख्या विधि। इन्हें क्रमशः विधि, नियम तथा परिसंख्या भी कहा जाता है। अन्य प्रमाणों से अप्राप्त के प्रापक को अपूर्व विधि कहते हैं।[114] स्वर्ग-प्राप्ति के लिये किसी साधन के अनुपलब्ध होने पर 'यजेत् स्वर्गकामः' वाक्य उसका विधान करता है। अतएव इसे अपूर्व विधि कहते हैं—अपूर्वस्य पूर्वमज्ञातस्य विधिः। यदि कार्य-सम्पादन दो प्रकार से संभव हो, तो एक का अवरोध कर दूसरे की प्राप्ति का विधान किये जाने पर नियम विधि होती है। वस्तुतः दो पक्षों में जब गलत पक्ष को स्वीकार करने की समस्या उठ खड़ी होती है, तो नियम विधि का प्रयोग किया जाता है।[115] ब्रीही विदलन अवघात और नख दो प्रकार से संभव है, पर 'ब्रीहीनवहन्ति' यह विधान करता है कि याग में ब्रीहि विदलन अवघात से ही होना चाहिये, नख से नहीं। इसी प्रकार याग समभूमि में किया जाये या विषम भूमि में, इस परिस्थिति में 'समेदेशे यजेत्' विषमभूमि में याग-विधान का निषेध कर समदेश में विधान करता है। इसे नियम विधि कहेंगे। दो पक्षों की युगपत् प्राप्ति होने पर एक ही निवृत्ति (तथा दूसरे के स्वीकार) विधान में परिसंख्या विधि होती है।[116] भूखा व्यक्ति पांच नखवाले पांच प्राणी (खरगोश, साही, गैंडा, गोह, कूर्म) या पंचनखेतर किसी भी प्राणी का मांस खा सकता है। ऐसी स्थिति में 'पंचपंचनखा भक्षाः' पंचनखेतर पशुओं के मांस का निषेध कर पंचनख पांच के ही मांस का विधान करता है। इसका यह तात्पर्य नहीं कि पांचनख, पांच पशुओं का मांस खाया ही जाये, अपितु आवश्यकता पड़ने पर इनका भक्षण करना चाहिये, यही भाव है। अस्तु, इसे परिसंख्या-विधि कहते हैं। कह सकते हैं कि अपूर्वविधि उन विधानों की विधायिका है, जो पहले नहीं थे, या अन्य प्रमाणों से अप्राप्त थे। परस्पर विरुद्ध दो या अधिक की प्राप्ति में नियम विधि एक का विधान करती है और स्वीकरणीय प्राप्त दो पक्षों में एक का निषेध कर अन्य का विधान परिसंख्या विधि का काम है।[117] परिसंख्या अलंकार के मूल में यही परिसंख्या विधि विद्यमान है। इतर व्यावृत्ति रूप परिसंख्या विधि मात्र यहां

अलंकार नहीं है, अपितु कविप्रतिभाकल्पित परिसंख्या को अलंकार माना जाता है।[118] ऊपर के विवेचन से स्पष्ट है कि नियम और परिसंख्या दोनों विधियों में निषेध की प्राधानता होती है। प्रश्न उठ सकता है कि जब दोनों में निषेधतत्त्व प्राप्य हैं, तो एक के आधार पर एक को अलंकार मानना दूसरे को नहीं कहां तक संगत है? वस्तुतः वैयाकरण नियम और परिसंख्या में भेद नहीं करता। इसी प्रकार अलंकारशास्त्र में भी परिसंख्या नियम को भी गतार्थ कर लेती है, उसका पृथक् विवेचन अनावश्यक है।[119]

भामह, दंडी, उद्भट और वामन ने इस अलंकार का उल्लेख नहीं किया है। परिसंख्या को अलंकार की संख्या में लाने का श्रेय रुद्रट को है। उन्होंने इसे वास्तवमूल माना है। उनके अनुसार जब पृष्ट या अपृष्ट गुण आदि (गुण, क्रिया, जाति) का कहीं वर्णन किया जाता है, और कहीं (अन्यत्र) उसका अभाव प्रतीत होता है, तो परिसंख्या होती है।[120] भोजराज इसका उल्लेख नहीं करते। मम्मट ने रुद्रट के लक्षण को स्पष्ट करने का प्रयास किया है। जहां पृष्ट या अपृष्ट कोई बात उसी प्रकार की अन्य वस्तु के निषेध में पर्यवसित होती है, मम्मट वहां परिसंख्या मानते हैं। मम्मट की कारिका अत्यन्त क्लिष्ट हो गई है। अतएव उन्होंने वृत्ति का सहारा लिया है, 'अन्य प्रमाण से ज्ञात वस्तु भी जब शब्द से प्रतिपादित होकर, अन्य प्रयोजन न होने से अपने सदृश वस्तु के निषेध में परिणत हो जाती है, तब परिसंख्या होती है।[121] स्पष्ट है कि मम्मट के उद्देश्य की सिद्धि नहीं हुई, लक्षण गूढ़ का गूढ़ ही बना रहा। प्रदीपकार आदि ने इसे स्पष्ट करने का प्रयास किया है।[122] परिसंख्या को सर्वप्रथम स्पष्ट किया रुय्यक ने। उन्होंने ही इसे वाक्यन्यायमूल अलंकारों में अवस्थापित भी किया। एक वस्तु की अनेकत्र प्राप्ति होने पर उसका एकत्र नियमन (अन्यत्र निषेध) परिसंख्या है, यह रुय्यक का मत है।[123] जयरथ ने सविस्तार परिसंख्या तथा अन्य विधियों का विवेचन किया है।[124] रुय्यक ने यह भी कहा है कि यहां परिसंख्या तथा नियम में मीमांसकों का लक्षण लागू नहीं होता है, अतएव यह परिसंख्या अलंकार पक्षतः प्राप्त-नियम को भी अपने अन्तर्गत कर लेता है। उनका यह भी अभिमत है, कि 'चित्रकर्मसु वर्णसंकरो, यतिषु दण्डग्रहपानि' जैसे श्लेष संपृक्त प्रयोग परिसंख्या में चारुता को और भी बढ़ा देते हैं।[125] शोभाकर ने भी लक्षण रुय्यक के समान किया है, 'अन्य निषेध के लिये प्राप्त अर्थ का अर्थान्तर में नियमन परिसंख्या है।'[126] ध्यातव्य है कि शोभाकर, विधि, नियम और परिसंख्या तीनों को पृथक्-पृथक् अलंकार मानते हैं। अतएव नियम भी परिसंख्या से गतार्थ है, वह रुय्यक के इस मत के विरोधी हैं। उनका कथन है कि अन्य अर्थ के निषेध

में पर्यवसित अप्राप्तांश प्राप्ति का विधान नियम है और अर्थान्तर निषेधमात्रपरक सर्वथा प्राप्त अर्थ का विधान परिसंख्या। अतः इन्हें एक कैसे मान सकते है?[127] नरेन्द्रप्रभसूरि रुय्यक का अनुसरण करते हैं।[128]

हेमचन्द्र के अनुसार पृष्ट या अपृष्ट अन्य अपोहपरक उक्ति परिसंख्या है।[129] वाग्भट प्रथम का लक्षण रुद्रट के समान है।[130] वाग्भट द्वितीय हेमचन्द्र के अनुगामी हैं।[131] किसी वस्तु का एक स्थान पर निषेध कर उसका अन्यत्र नियमन परिसंख्या है, जयदेव मानते हैं।[132] विद्याधर और विद्यानाथ रुय्यक का अनुवाद मात्र प्रस्तुत करते हैं, पर विश्वनाथ और कर्णपूर मम्मट-लक्षण से प्रभावित हैं।[133] अप्पयदीक्षित ने जयदेव की कारिका को उद्धृत कर दिया है, देवशंकर तो उनके अनुयायी हैं।[134] नरसिंह विद्यानाथ का अनुगमन करते हैं।[135] जगन्नाथ का अभिमत है कि किसी विशेष वैचित्र्य को सूचित करने के लिये सामान्यतः प्राप्त अर्थ का निषेध परिसंख्या है।[136] रुय्यक का अनुसरण करते हुए उन्होंने भी यह व्यक्त किया कि वैयाकरण परिसंख्या को भी नियम कहते हैं। अतएव यह परिसंख्या नियम को भी अपने में समाहित करती है। इसके बाद उन्होंने विधित्रय का विवेचन प्रस्तुत किया है। अन्य परवर्ती आलंकारिक भी मम्मट रुय्यक के समान परिसंख्या का स्वरूप स्वीकार करते हैं।[137] आलंकारिकों के विविध लक्षणों से यह व्यक्त होता है कि मीमांसाशास्त्र की परिसंख्या विधि को ही कवि-कल्पना से मंडित कर काव्यशास्त्री अलंकार मान लेता है।

परिसंख्या के भेद

रुद्रट ने प्रश्नपूर्विका, अप्रश्नपूर्विका दो भेद मानकर तदनुसार दो उदाहरण भी प्रस्तुत किये हैं।[138] रुद्रट द्वारा प्रस्तुत दो भेद तो मम्मट को भी मान्य हैं, किन्तु वह दो भेद और मानते हैं, निषेध के वाच्य और गम्य होने पर शाब्द और आर्थ।[139] रुय्यक न केवल मम्मट के चारों भेदों को स्वीकार करते हैं, अपितु वह मम्मट के चारों उदाहरण भी ग्रहण करते हैं। मम्मट कृत परिसंख्या के चारों भेदों को नरेन्द्रप्रभ, हेमचन्द्र, विद्याधर, विद्यानाथ, विश्वनाथ, कर्णपूर, नरसिंह तथा विश्वेश्वर भी स्वीकार करते हैं। निषिध्यमान वस्तु के शाब्द, आर्थ होने से शोभाकर केवल दो भेद मानते हैं। उनका कथन है कि प्रश्नपूर्वक भेदद्वय अज्ञात का ज्ञापन रूप होने से नियम का विषय है, परिसंख्या का नहीं।[140] मम्मट के समान चार भेद मानने वाले हेमचन्द्र का वैशिष्ट्य यह है कि वह 'उत्तर' और 'सार' अलंकारों को परिसंख्या से गतार्थ मानते हैं।[141] वाग्भट प्रथम तथा द्वितीय एक-एक उदाहरण मात्र प्रस्तुत

करते हैं, भेद का विवेचन नहीं। जयदेव एक उदाहरण के लिये विख्यात हैं। अप्पयदीक्षित शाब्द और आर्थ का दो उदाहरण उपस्थित करते हैं। जगन्नाथ भी वही चार भेद मानते हैं। उनकी दृष्टि से यह प्रथमतः द्विधा होती है, शुद्धा और प्रश्नपूर्विका। ये दो भेद भी शाब्दी-आर्थी भेद से चार प्रकार के हो जाते हैं :

'इयं च तावद् द्विविधा — शुद्धा प्रश्नपूर्विका च।
द्विविधापि शाब्दी आर्थी चेति चतुर्विधा।'[142]

समग्र आलंकारिकों के विवेचन से स्पष्ट है कि परिसंख्या के स्वरूप और भेद जो रुद्रट ने निर्धारित किये थे, परवर्ती आलंकारिक उसमें कोई विशेष अन्तर न ला सके। रुद्रट के ही लक्षण का परिमार्जन किया गया। मम्मटोक्त दो (शाब्दी-आर्थी) भेद और उद्भूत हुए, अन्य दो भेद तो रुद्रट के ही हैं। जगन्नाथ ने कुछ मतों का उल्लेख करते हुए कहा है कि कुछ लोगों का मत है कि जहां निषेध प्रतीति आर्थ हो, वहां परिसंख्या अलंकार होगा अन्यथा नहीं। इसलिये इसके दो भेद ही संभव हैं। अन्य लोग मानते हैं कि निषेध की अर्थतः प्रतीति होने पर भी तब तक परिसंख्या नहीं मानी जायेगी, जब तक वह निषेध-प्रतीति कविकल्पित न हो।[143]

'कौटिल्यं कचनिचये करचरणाधरदलेषु रागस्ते।
काठिन्यं कुचयुगले तरलत्वं नयनयोर्वसति।'[144]

'सुन्दरि! तुम्हारे केश-कलाप में ही कुटिलता है (न कि हृदय में), कर, चरण और अधरोष्ठ में ही राग (रक्तिमा) है (न कि पर-पुरुष में), कुच युगल में ही कठोरता है (न कि हृदय में), नेत्रों में ही तरलता (चपलता) बसती है (न कि मन में, अविचारकारिता)।

यहां बिना किसी प्रश्न के कौटिल्य आदि का केश-कलाप आदि में वर्णन किया गया है तथा हृदय आदि में उसका निषेध शाब्द न होकर आर्थ है (प्रतीयमान है)। अतएव यह अप्रश्नपूर्विका आर्थी परिसंख्या का उदाहरण है। ध्यान देने योग्य है कि श्लेष संपर्क से इसमें सौन्दर्य और भी बढ़ गया है। यहां कौटिल्य आदि के दो-दो अर्थ हैं, जिनका निषेध्य अर्थ के साथ क्रमशः कपट, अनुराग, निर्दयता तथा अविचारकारिता अर्थ है। अन्य उदाहरण मूल ग्रन्थों में प्राप्य हैं।

विधि और नियम का परिसंख्या में अन्तर्भाव

प्रारंभ में ही विधि का त्रिविध स्वरूप बताया गया है। रुय्यक आदि

आलंकारिक तृतीय परिसंख्या विधि को ही मानते हैं तथा नियम को उसी से गतार्थ कर लेते हैं, परन्तु शोभाकर का अभिमत है कि यदि विधि के तीन भेदों में से एक को अलंकार माना जाता है, तो अन्य दो से ही दुराव क्यों? अतएव उन्होंने परिसंख्या के अतिरिक्त विधि और नियम दो अलंकार और माने हैं। उनके अनुसार हेतु और फल की असंभाव्यता में किसी एक का प्रेषण विधि अलंकार है[145] :

'पृथ्वि स्थिरा भव भुजंगम धारयैनां त्वं कूर्मराज तदिदं द्वितयं दिधीथाः।
दिक्कुंजराः कुरुत तत् त्रितये दिधीर्षां देवः करोति हरकार्मुकमाततज्यम्।।'
—वही, पृ. 142.

यहां हरकार्मुक आरोपहेतुक अर्थावसित पृथिवी आदि का चलन असंभावित ही है, वह स्थैर्य आदि में प्रेषणहेतु के रूप में विवक्षित है। अतएव यह असंभावित हेतु-प्रेषण विधि का उदाहरण है। इसी प्रकार शोभाकर ने विधि के अन्य प्रयोग प्रदर्शित किये हैं।

अज्ञात अर्थ का ज्ञापन विधि है। यदि उसका पर्यवसान विधि में ही होता है तो विधि होता है और किसी ज्ञात अर्थ का अनियमपूर्वक क्रियमाण विधान अर्थान्तर के निषेध में परिणत हो जाता है तो नियम होता है। इस प्रकार शोभाकर के अनुसार अन्य निषेधार्थ विधि को नियम कहते हैं।[146] निषिध्यमान अर्थ के शब्दोपात्त और अर्थलभ्य होने से यह नियम दो प्रकार के होते हैं।

'किं भूषणं सुदृढमत्र यशो न रत्नं किं कार्यमार्यचरितं सुकृतं न दोषः।
किं चक्षुरप्रतिहतं धिषणा न नेत्रं जानाति कस्त्वदपरः सदसद्विवेकम्।।[147]

भूषण आदि से अज्ञात कीर्ति आदि की सुदृढ़ता यहां नियम से ज्ञापित होकर अन्य (रत्नादि) के निषेध में पर्यवसित हो रही है। निषेध्य अर्थ भी उपात्त है। अतः शोभाकर के अनुसार यह शाब्द नियम अलंकार का उदाहरण है। ध्यान देने योग्य है कि मम्मट, रुय्यक, आदि आलंकारिक उपर्युक्त पद्य को प्रश्नपूर्विका वाच्यपरिसंख्या का उदाहरण मानते हैं। अस्तु, स्पष्ट है कि अन्य आलंकारिकों की व्यापक परिसंख्या में शोभाकर का 'नियम' अलंकार अन्तर्भूत है। रुय्यक, जयरथ, जगन्नाथ स्पष्ट कहते हैं कि नियम परिसंख्या से गतार्थ है।[148] इस पर कहा जा सकता है कि भले ही नियम परिसंख्या से गतार्थ हो जाये, पर विधि की अलंकारता तो संभव है? वस्तुतः परिसंख्या आदि एक ही तत्त्व के तीन भेद हैं। नियमतः तो उचित यही है कि यदि परिसंख्या को अलंकार मानते हैं, तो इन्हें भी माना जाये। वस्तुतः लक्षण व्यापक

होना चाहिये। अतएव जिस प्रकार नियम को परिसंख्या मानकर आचार्यगण उसका अन्तर्भाव कर लेते हैं, उसी प्रकार विधि को भी परिसंख्या के व्यापक क्षेत्र में समाहित किया जा सकता है। उचित तो यह प्रतीत होता है कि विधि को एक अलंकार मान लिया जाये और इन तीनों को उसका भेद। अस्तु, विधि और नियम को पृथक् अलंकार मानना अयुक्त है। 'नियम' के स्थान पर अन्य आलंकारिक उत्तर अलंकार मानते हैं, यह शोभाकर को भी मान्य है।[149] इसलिये भी इनका पृथक् विवेचन अयुक्त है।

समुच्चय

सम्, उत् उपसर्गपूर्वक चयनार्थक चिञ् धातु से भाव अर्थ में अच् प्रत्यय (एरच्, पा. 3/3/56) होने पर समुच्चय शब्द की निष्पत्ति होती है। योग या समाहार को समुच्चय कहते हैं।[150] समुच्चय अलंकार में अनेक कारणों या गुण-क्रियाओं का समाहार पाया जाता है—सम्यगुच्चिनोति (एकस्य साधके अन्यान्यपि साधकानि, युगपत् गुणक्रिये वा) आगृह्णाति इति समुच्चयः। पर यहां इनका समाहार मात्र अलंकार नहीं है, उसमें कवि-कल्पना का योग आवश्यक है। अस्तु, कार्य-साधक एक कारण के रहते हुए भी जहां अन्य कारणों का 'खलेकपोतन्याय'[151] से आगमन हो अथवा गुणों या क्रियाओं का युगपत् निबन्धन हो, वहां समुच्चय अलंकार होता है। आलंकारिक समुच्चय को भी वाक्यन्यायमूल अलंकारों में रखने के पक्षपाती हैं। परिसंख्या के बाद रुय्यक ने अर्थापत्ति और विकल्प दो अलंकारों को भी इस वर्ग में रखा है, उनका अन्तर्भाव अनुमान और सन्देह में दिखाया जा चुका है।

भामह, दंडी, उद्भट और वामन इस अलंकार को नहीं मानते। दंडी ने उपमा-भेद समुच्चयोपमा का उल्लेख अवश्य किया है, पर वह समुच्चय अलंकार से व्यतिरिक्त है।[152] इस अलंकार के उद्भावक प्रथम आलंकारिक रुद्रट हैं। उन्होंने समुच्चय को वास्तव तथा औपम्य दो वर्गों में रखा है। वास्तव समुच्चय की वह त्रिधा व्याख्या प्रस्तुत करते हैं—जहां एक ही आधार में द्रव्य, गुण, क्रिया, जातिरूप अनेक वस्तु अत्यन्त सुखावह या दुःखावह हो, अथवा सदसत् वस्तुओं का त्रिधा योग हो अथवा एक ही देश-काल में गुण या क्रिया का भिन्न आधारों में उपनिबन्धन हो वहां समुच्चय अलंकार होता है।[153] जहां एक समान धर्मवाले द्रव्यादिरूप अनेक अर्थों में इवादिशून्य होने पर भी उपमानोपमेय भाव हो, वहां औपम्य समुच्चय होता है।[154] एकत्र द्रव्य, गुण, क्रियादि में अनेक द्रव्य, गुण, क्रिया, आदि के निवेश को भोजराज समुच्चय मानते हैं।[155] रुद्रट के औपम्य समुच्चय का परित्याग करते हुए,

मम्मट ने उनके वास्तव समुच्चय का परिमार्जित स्वरूप उपस्थित किया। वह समुच्चय के दो लक्षण करते हैं : प्रस्तुत कार्य की सिद्धि के लिये एक साधक के होते हुए भी अन्य साधक का तत्करत्व होने पर प्रथम समुच्चय होता है और अनेक गुण या क्रियाओं का एक साथ निबन्धन होने पर द्वितीय।[156] मम्मट के पश्चात् आलंकारिकों ने प्रायः उन्हीं के लक्षण को घुमाफिराकर प्रस्तुत किया है। रुय्यक ने मम्मट के प्रथम लक्षण को द्वितीय और द्वितीय लक्षण को प्रथम स्थान दिया है। उनका लक्षण मम्मट के लक्षण से सरल अवश्य है, पर कोई विशेषता नहीं है।[157] शोभाकर भी रुय्यक के क्रम का अनुसरण करते हैं, पर अलंकार स्वरूप कुछ भिन्न है, वह धर्म के युगपत् अन्य (कारण) के तत्करत्व निबन्धन को समुच्चय मानते हैं।[158] नरेन्द्रप्रभसूरि मम्मट के अनुगामी हैं।[159] हेमचन्द्र तथा वाग्भट द्वितीय के अनुसार हेतु में हेत्वन्तर, कार्य में कार्यान्तर तथा गुणक्रिया का युगपत् अभिधान समुच्चय है।[160] अत्युत्कृष्ट और उपकृष्ट वस्तुओं के एकत्र निबन्धन में वाग्भट (द्वितीय) को समुच्चय अभीष्ट है।[161] जयदेव एक पदार्थ से सम्बद्ध अनेक पदार्थों के युगपत् गुम्फन को समुच्चय कहते हैं।[162] विद्याधर, विद्यानाथ, अप्पयदीक्षित, देवशंकर तथा नरसिंह रुय्यक-क्रम का परिपालन करते हैं, तो विश्वनाथ और कर्णपूर मम्मट का, पर कोई वैशिष्ट्य नहीं है।[163] जगन्नाथ ने बहुत छोटा-सा एक लक्षण बनाया है—'युगपत्पदार्थानामन्वयः समुच्चयः'।[164] पदार्थों का युगपत् सम्बन्ध समुच्चय अलंकार है। 'युगपत्' की व्याख्या में जगन्नाथ का कथन है कि 'युगपत्' का ग्रहण क्रम-निवारण के लिये किया गया है, न कि काल-बोध के लिये। अतएव समय के कुछ व्यवधान से भी यदि अनेक पदार्थों का एक साथ अन्वय हो तो समुच्चय होने में कोई कठिनाई नहीं है। अच्युतराय, विश्वेश्वर, आदि भी इसमें कोई नवीन बात न ला सके।[165] विवेचन से स्पष्ट है कि शब्दावली परिवर्तन मात्र के अतिरिक्त कोई आलंकारिक मम्मट से अधिक तथ्य सामने न ला सका।

समुच्चय के भेद

प्रथम समुच्चय के रुद्रट अनेक उत्कृष्ट वस्तुओं का संयोग, गुण, क्रिया और द्रव्य का एकत्र निबन्धन रूप चार उदाहरण प्रस्तुत करते हैं। द्वितीय के वह तीन भेद मानते हैं : दो सुन्दर वस्तुओं का संयोग, दो असुन्दर वस्तुओं का संयोग तथा सुन्दर-असुन्दर वस्तुओं का संयोग। तृतीय समुच्चय भी गुण और क्रिया-निबन्धन भेद से दो प्रकार का होता है। इस प्रकार वास्तव समुच्चय के रुय्यक आठ प्रकार मानते हैं।[166] किन्तु औपम्य-समुच्चय का वह कोई भेद नहीं करते, केवल एक

उदाहरण उपस्थित करते हैं। द्रव्य, गुण, क्रियादिरूप समुच्चय को भोजराज द्विपदाश्रय, बहुपदाश्रय, उभयाश्रय, अनुभयाश्रय तथा शुद्ध-मिश्र भेद से अनेक प्रकार का मानते हैं।[167] शृंगारप्रकाश का उनका विभाजन कुछ भिन्न है। वह समुच्चयोक्ति को चार प्रकार का कहते हैं, एकद्योतका, अनेकद्योतका, एकानेक-द्योतका तथा अद्योतका।[168] मम्मट ने रुद्रट के प्रथम, द्वितीय समुच्चय को 'तत्करत्व' रूप एक समुच्चय माना है। प्रथम समुच्चय का उदाहरण उपस्थापित कर वह कहते हैं कि इसी को कुछ लोग (रुद्रट) सदसद्योग रूप से त्रिधा मानकर पृथक् विवेचन करते हैं, वह अयुक्त है।[169] इसके बाद वह रुद्रटप्रोक्त सदसद्योग के तीन उदाहरण भी देते हैं। गुणक्रिया समुच्चय के वह तीन भेद करते हैं : दो गुण, दो क्रियाओं और गुण-क्रिया के युगपत् निबन्धन में गुणौ च क्रिये च, गुणक्रिये च युगपद् भवतः स त्रिरूप समुच्चयः। प्र., पृ. 265. गुणक्रिया समुच्चय को जैसा कि रुद्रट व्यधिकरण में ही मानते हैं, उसके तथा समानअधिकरण में माननेवाले दोनों ही मतों के प्रदीपकार विरोधी हैं, क्योंकि यह उभयत्र प्राप्त होता है।[170] रुय्यक ने भी मम्मट की भांति गुणक्रिया यौगपद्य के तीन भेद स्वीकार किये हैं और 'तत्करत्व' के सद्योग, असद्योग तथा सदसद्योग तीन भेद। तत्करत्व यद्यपि समाधि अलंकार में भी पाया जाता है, पर समाधि में एक कारण कार्य का पूर्णतया साधक होता है, अन्य कारण तो केवल 'काकतालीयन्याय' से आ पड़ते हैं, किन्तु समुच्चय में सभी कारण 'खले कपोत-न्याय' से एक साथ अपतित होते हैं। तात्पर्य यह कि समाधि में अन्य कारण का आगमन यादृच्छिक है और समुच्चय में कारणों का आगमन अहमहमिकया होता है।[171] शोभाकर समुच्चय के गुण, क्रिया, धर्म तथा 'तत्करत्व' रूप से चार प्रकार मानते हैं। सद्योग, असद्योग और सदसद्योग को वह समुच्चय का विषय न मानकर संकर का विषय मानते हैं। उनका कथन है कि सद्योग और असद्योग दोनों सम अलंकार से संकीर्ण हैं, और सदसद्योग विषमगर्भ है। संकीर्ण को अलंकार मानने से अन्य संकीर्ण अलंकारों को भी स्वतंत्र मानना पड़ेगा। अतएव ये तीन भेद समुच्चय के नहीं माने जा सकते।[172] नरेन्द्रप्रभ रुय्यकप्रोक्त भेदों के अतिरिक्त एकाधिकरणक, एकपदस्थ, उत्तरपदस्थ, आदि का भी उल्लेख करते हैं, जो भोज के पदों पर आधारित है।[173] जैसा कि हेमचन्द्र के लक्षण से ही स्पष्ट है, वह कार्य के साधक एक हेतु के रहने पर अन्य हेतु की आपत्ति में, कार्य में कार्यान्तर के अभिधान में तथा गुण क्रिया निबन्धन में समुच्चय मानते हैं। विवेक में 'तत्करत्व' का वह भी तीन भेद करके मम्मटरीति से उसका अपृथक्त्व प्रतिपादित करते हैं। गुणक्रिया का त्रिधा विभाजन भी पूर्ववत् है। उनकी विशेषता यह है कि वह समाधि

को भी 'तत्करत्व' समुच्चय से गतार्थ कर लेते हैं।[174] वाग्भट (प्रथम) मम्मट के प्रथम समुच्चय के प्रथम दो भेद मानते हैं यह उनके लक्षण से प्रकट है। वाग्भट द्वितीय तो लक्षण में हेमचन्द्र का अनुगमन करते हैं, पर भेद-विवेचन को वह छोड़ देते हैं। जयदेव तो एक उदाहरण के लिये प्रस्तुत रहते हैं।

विद्याधर, गुणक्रिया यौगपद्य के केवल दो भेद गुण और क्रिया के युगपत् निबन्धन में मानते हैं, तत्करत्व में भी वह सदसद्योग तृतीय भेद का परित्याग कर देते हैं। 'तत्करत्व' वाले भेद में विद्यानाथ कोई उपभेद नहीं करते। विश्वनाथ, कर्णपूर और विश्वेश्वर मम्मट, रुय्यक के अनुगामी हैं, तो नरसिंह विद्यानाथ के। जगन्नाथ ने मम्मटोक्त भेदों को प्रकारान्तर से उपस्थित किया है। प्रथमतः समुच्चय दो प्रकार का होता है, भिन्नधर्मी और एकधर्मी। द्वितीय के दो अवान्तर भेद होते हैं, कार्यकारणभाव से अतिरिक्त सम्बन्ध द्वारा एकधर्मी में अन्वय होने पर और कार्यकारणभाव से एकधर्मी में अन्वय होने पर। इस प्रकार समुच्चय के तीन भेदों में प्रथम दो में गुणों, क्रियाओं और गुणक्रियाओं का तथा अन्तिम में रमणीय, अरमणीय और रमणीयारमणीय पदार्थों का अन्वय होता है।[175] स्पष्ट है कि लक्षण की भांति भेदोपभेदों में भी आचार्यगण, रुद्रट और मम्मट से आगे नहीं जा सके। अस्तु। प्रस्तुत कार्य-सिद्धि में सहायक एक कारण के होने पर भी अन्य कारणों का एक साथ आगमन प्रथम समुच्चय है और अनेक गुणक्रिया का एक साथ निबन्धन द्वितीय समुच्चय। इन दोनों के तीन-तीन भेद होते हैं। प्रथम में दो (या अधिक भी) सुन्दर कारणों का योग हो सकता है, असुन्दर का हो सकता है और सुन्दर-असुन्दर का हो सकता है। द्वितीय में दो गुणों, दो क्रियाओं या गुणक्रियाओं का युगपत् अभिधान संभव है।

शशीदिवसधूसरो गलितयौवना कामिनी
सरोविगतवारिजं मुखमनक्षरं स्वीकृतेः।।
प्रभुर्धनपरायणः सततदुर्गतः सज्जनो
नृपांगणगतः खलो मनसि सप्तशल्यानि मे।।

यहां मनोव्यथा रूप प्रस्तुत कार्य में चन्द्र का दिवस में धूसरित होना तो है ही, कामिनी का यौवन-गलन, सर का कमलशून्यत्व, स्वीकृति की मौनता, सत्तावान् का धनी होना, सज्जन की सतत दरिद्रता तथा राजांगणगत दुष्ट आदि कारण भी उपस्थित हैं। शशी के सुन्दरत्व तथा धूसरत्व रूप असुन्दरत्व के योग से इसे सदसद्योग समुच्चय माना जाता है। इसी प्रकार कामिनी का योग होने से सुन्दरत्व और गलित यौवना

होने से असुन्दरत्व तथा अन्य उदाहरणों में यही प्रक्रिया मानकर लोग इसे सदसद्योग समुच्चय का उदाहरण स्वीकार करते हैं। परन्तु कुछ लोगों का मत है कि यहां शशी आदि सुन्दर और खल असुन्दर का योग होने से सदसद्योग है।[176]

उपर्युक्त उदाहरण में चन्द्र आदि सुन्दर और दुष्ट असुन्दर वस्तु का एक साथ अभिधान होने से 'सहचर भिन्नत्व' रूप वाक्य दोष ही हो सकता है, अलंकार नहीं, क्योंकि दोष तो अलंकार माना नहीं जाता? इस प्रकार की शंका अनेक आचार्यों ने उठाई है।[177] वस्तुतः उपर्युक्त शंका निराधार नहीं है, तथापि यहां अलंकारत्व का अभाव भी नहीं कह सकते। अलंकार कवि-विवक्षाधीन हैं और यहां कवि की विवक्षा अलंकारपरक है। अतएव सदसद् में 'संश्चासावसंश्च' इस प्रकार का कर्मधारय समास करके उपर्युक्त स्थल में अलंकार माना जा सकता है।[178] प्रभा, उद्योत, आदि टीकाओं में ऐसे स्थलों पर सम-विषम अलंकार की संकीर्णता की संभावना कर निराकरण प्रस्तुत किया गया है। इसी प्रकार जगन्नाथ ने भी शोभाकर के इस मत का प्रत्याख्यान किया है कि सद्योग विषमालंकार से संकीर्ण होने के कारण इस अलंकार का भेद नहीं हो सकता। जगन्नाथ ने सविस्तार यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि समुच्चय के ऐसे सभी उदाहरणों में कवि का विवक्षित सदसद् वस्तुओं का सम्बन्ध दिखाना होता है, अतएव सम-विषम की विषमता उपस्थित ही नहीं होती। संकीर्णता का कथन निर्मूल है। अतएव शोभाकर का उपर्युक्त मत भी अयुक्त है।[179] समुच्चय के अन्य उदाहरण मूलग्रन्थों में देखने चाहिये।

समाधि

'सम्' 'आ' उपसर्गपूर्वक धारण और पोषण अर्थ में पठित 'धा' (डुधाञ्) धातु से करण अर्थ में[180] 'कि' प्रत्यय होने पर समाधि शब्द निष्पन्न होता है।[181] प्रारब्ध कार्य जहां साधनान्तर से उपकृत होने के कारण सुकर हो जाता है, उसे समाधि कहते हैं—(आरब्धं कार्यं साधनान्तरोपकृतेन कर्त्रा अक्लेशेन यत्) समाधीयते सम्यक् सुकरत्वेन आधीयते क्रियते इति समाधिः।[182] अन्य कारण का जहां सुखपूर्वक आधान या उत्पादन हो उसे भी समाधि कहते हैं—सम्यक् आधिः आधानं (कारणान्तरस्य) उत्पादनं इति समाधिः, यद्वा सम्यक् आधीयते (कारणान्तरं) अनेन।[183] संवित्, आगूरण, प्रतिज्ञान, नियम, आश्रव, संश्रव, अंगीकार, अभ्युपगम, प्रतिश्रव, ध्यान, आदि भी समाधि के अर्थ हैं।[184] इनमें से (कारणान्तर का) अभ्युपगम प्रकृत अलंकार के लिये उपयुक्त है। किसी कारण से आरब्ध कार्य जहां दूसरे कारणों के संयोग से सुकर हो जाता है, वहां समाधि अलंकार होता है।

अतएव समाधि शब्द अन्वर्थक है। कारणान्तर का संयोग समुच्चय अलंकार में भी पाया जाता है, पर समुच्चय में अन्य कारणों का स्पर्धा से एक साथ आगमन होता है, जबकि समाधि में अन्य कारण का संयोग आकस्मिक है। इसीलिये आलंकारिकों का अभिमत है कि समुच्चय में अन्य कारणों की समापत्ति 'खले कपोतन्याय' से होती है और समाधि में 'काकतालीयन्याय' से। इस प्रकार समुच्चय में सभी कारणों का समान महत्त्व होता है, पर समाधि में कारणान्तर सहायक या अप्रधान कारण होता है। इसी आधार पर इन दोनों को पृथक् अलंकार माना गया है।

सर्वप्रथम दंडी ने 'समाहित' नाम से इस अलंकार का विवेचन किया है। किसी के द्वारा आरभमाण कार्य की सिद्धि के लिये दैव-वश (अन्य) कारण की समापत्ति को दंडी समाहित मानते हैं।[185] परवर्ती आलंकारिक न केवल दंडी के लक्षण का उपयोग करते हैं, प्रत्युत् उन्हीं का उदाहरण भी ग्रहण करते हैं। अतएव पुरुषोत्तम शर्मा का कथन है कि समाधि के उद्भावक भोज हैं तथा वर्तमान समाधि के प्रवर्तक[186] मम्मट, भ्रान्तिपूर्ण है। उद्भट का 'समाहित' रसवदादि अलंकारों के अन्तर्गत आता है। वामन के अनुसार जिस वस्तु का सादृश्य ग्रहण किया जाये, उसी की समापत्ति समाहित है।[187] वामन का लक्षण बाद में किसी को मान्य नहीं हुआ। भोजराज की समाधि अन्य लोगों की समाधि से विलक्षण है। अन्य धर्मों के अन्यत्र आरोप को वह समाधि मानते हैं। उनकी दृष्टि से 'मीलित' भी समाधि का विषय है।[188] दंडी के लक्षण को स्पष्ट किया, मम्मट ने। उनके मत से जहां आरब्ध कार्य को कर्ता अन्य साधन की सहायता से सुखपूर्वक समाप्त या निष्पन्न कर लेता है, वहां समाधि अलंकार होता है। वामन झलकीकर का कथन है कि 'उपकृतेन' पद से यह सूचित होता है कि जहां एक कारण प्रधान और अन्य अप्रधान होते हैं, वहीं यह अलंकार होता है, दोनों के प्राधान्य में तो समुच्चय हो जाता है। इसलिये 'काकतालीयन्याय' के कारणान्तर का योग समाधि है 'खले कपोतन्याय' से समान कारणान्तर के योग में समुच्चय होता है।[189]

रुय्यक ने भी मम्मट के लक्षण को सूत्रबद्ध कर दिया है।[190] वह इसे वाक्यन्यायमूलक अलंकारों में मानते हैं। शोभाकर के अनुसार कार्योत्पत्ति में प्रवृत्त स्थित कारण का आगन्तुक कारणान्तर से या आगन्तुक कारण का स्थित कारणान्तर से कार्य या अर्थ का उपवृंहण (उपोद्बलन) समाधि अलंकार है।[191] उनके अनुसार 'कारणान्तर' के संयोग से कार्य-सौकर्य रुय्यक आदि का समाधि लक्षण अव्यापक है।[192] शोभाकर के इस आक्षेप को जयरथ उनकी अज्ञता का सूचक मानते हैं।[193] नरेन्द्रप्रभसूरि मम्मट के समान लक्षण करते हैं।[194] हेमचन्द्र इसे समुच्चय से

व्यतिरिक्त नहीं मानते।[195] वाग्भट प्रथम का लक्षण दंडी से प्रभावित है, कार्य-साधक एक कारण के प्रारंभ होते ही भाग्यवश अन्य कारण का घटित होना समाहित है।[196] पुरुषोत्तम शर्मा अज्ञातावश कहते हैं कि वाग्भट इस अलंकार का उल्लेख नहीं करते।[197] वाग्भट द्वितीय का लक्षण भी पूर्ववत् है, वह इसे समीहित कहते हैं।[198] जयदेव, विद्याधर, विद्यानाथ, कर्णपूर, अप्पयदीक्षित, देवशंकर, नरसिंह, विश्वेश्वर प्रभृति समग्र आलंकारिक वर्ग पूर्ववत् मम्मट, रुय्यक के समान समाधि-स्वरूप का विवेचन करते हैं, अन्तर केवल इतना है कि कुछ लोग लक्षण में 'काकतालीयन्याय' पद का भी प्रयोग कर देते हैं।[199] ऐसे में विद्यानाथ तथा उनके अनुयायी नरसिंह कवि को लिया जा सकता है। अप्पयदीक्षित समुच्चय समाधि का भेद पूर्ववत् दो न्यायों के आधार पर करते हैं।[200] जगन्नाथ भी कोई विशेषता न ला सके। एक कारण से उत्पन्न होने वाले कार्य में अन्य आकस्मिक कारण के आ जाने से कार्य-सौकर्य को वह समाधि स्वीकार करते हैं।[201]

वामन, भोजराज और शोभाकर को छोड़ दिया जाये तो उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि दण्डी से लेकर जगन्नाथ, विश्वेश्वर तथा अन्य परवर्ती आलंकारिकों ने दंडी के लक्षण को ही स्वीकार किया है। इस अलंकार के समाहित, समीहित और समाधि तीन नाम मिलते हैं, संभवतः इससे कुछ लोगों को भ्रान्ति हो सकती है, पर इनके स्वरूप में कोई अन्तर नहीं है। समाधि का भेद भोजराज को छोड़कर और किसी ने नहीं किया। भोज इसके दो भेद करते हैं : निरुद्भेद और सोद्भेद।[202] जगन्नाथ भी दो भेदों का संकेत करते हैं, कार्य की अनायास सिद्धि और सांगसिद्धि।[203]

मानमस्या निराकर्तुं पादयोर्मे पतिष्यतः।
उपकाराय दिष्ट्येदमुदीर्णं घनगर्जितम्।।

'मैं प्रियतमा का मान दूर करने के लिये उसके पैरों पर गिरा ही था कि भाग्यवश मेरे उपकार के लिये बादलों की यह गड़गड़ाहट शुरू हो गयी।' यहां मान अपसारण रूप कार्य का कारण है मानिनी के पैरों पर गिरना। उसकी अनायास सिद्धि में दूसरा कारण बादलों की गड़गड़ाहट—सहायक हो रहा है (जिससे मानिनी नायिका भयभीत होकर स्वयं नायक से लिपट जाती है)। अतएव यहां समाधि अलंकार है। समाधि के इस उदाहरण को दंडी प्रस्तुत करते हैं, जिसका उपयोग मम्मट, रुय्यक, शोभाकर, नरेन्द्रप्रभसूरि, विश्वनाथ, हेमचन्द्र, दीक्षित प्रभृति आचार्य करते हैं।[204] इससे स्पष्ट है कि लक्षण की भांति लक्ष्य के लिये भी परवर्ती आलंकारिक समाधि

(समाहित-समीहित) के उद्भावक आचार्य दंडी के अत्यन्त ऋणी हैं। वामन और भोजराज के लक्षण रूपक को ही अधिक व्यक्त करते हैं, समाधि को नहीं। भोज मीलित के दो भेद—धर्मों तथा धर्म-धर्मियों के अन्य वस्तु में अध्यास—करके उसे समाधि से गतार्थ करते हैं।[205] वस्तुतः समाधि को जैसा कि हेमचन्द्र मानते हैं, समुच्चय से व्यतिरिक्त नहीं मानना चाहिये। समुच्चय का एक भेद और मानकर इसकी पृथक् अलंकारता से बचा जा सकता है।

प्रत्यादेश का अन्तर्भाव

हेत्वन्तर से स्थित अर्थ की अन्यथापत्ति में शोभाकर एक पृथक् प्रत्यादेश अलंकार मानते हैं। स्थिति प्रवृत्ति-निवृत्ति, प्रवृत्ति के प्रवर्तन तथा निवृत्ति के निवर्तन भेद से चार प्रकार की होती है। इस प्रकार किसी निमित्त से स्थित या स्थापित, निवृत्त या निवर्तित वस्तु की निवृत्ति और प्रवृत्ति को प्रत्यादेश अलंकार कहते हैं।[206]

अंगानि प्रतनुकानि किमपि गुरुकरोति मधुमदविलासः।
हृदयानि पुनर्लघूकरोति मानगुरुकाण्यपि प्रियाणाम्।। अ.र., पृ. 129

शोभाकर के अनुसार प्रवृत्त अंग लघुत्व और मानगुरुत्व कार्य की यहां मधुमद विलास से गुरुत्व और लघुत्व प्राप्ति द्वारा निवृत्ति बताई गयी है। अतएव प्रत्यादेश अलंकार है। वस्तुतः प्रत्यादेश भी 'गुणक्रियायौगपद्यसमुच्चय' से गतार्थ है। यहां गुरुत्व और लघुत्व का युगपत् निबन्धन होने से गुण समुच्चय है। इसी तरह शोभाकर के अन्य उदाहरणों में भी समुच्चय का सौन्दर्य पाया जाता है। अतएव प्रत्यादेश को पृथक् अलंकार नहीं मान सकते।

अनुकृति का निराकरण

किसी निमित्त से किसी वस्तु में किसी रूप के उदित होने पर निमित्तान्तर के द्वारा अन्य वस्तु का भी ताद्रूप्य होने पर अनुकृति अलंकार होता है।[207] यह शोभाकर की उद्भावना है।

एकं दन्तच्छदस्य स्फुरति जववशादर्धमन्यत्प्रकोपात्।
एकः पाणिः प्रणन्तुं शिरसिकृतपदः क्षेप्तुमन्यस्तथैव।।
एकं ध्यानान्निमीलत्यपरमविषहं वीक्षितुं चक्षुरित्थं।
तुल्यानिच्छापि वामा तनुरवतु स वो यस्य सन्ध्याविधाने।।

अर्धनारीश्वर का वर्णन है। शोभाकर के अनुसार एकत्र (दक्षिणार्ध भाग में) अधर स्फुरण, शिर पर पाणिस्थापन, तथानेत्र निमीलन सन्ध्यावन्दन के कारण हो रहा है

और अन्यत्र (वामांग में) ईर्ष्या के कारण (क्योंकि भगवान् शिव संध्या, सपत्नी की वन्दना कर रहे हैं)। इस प्रकार निमित्त भेद से यहां अधर (वाम और दक्षिण) की समानता होने के कारण अनुकृति अलंकार है। वस्तुतः ऐसे स्थल भावध्वनि के हैं, अलंकार के नहीं। यहां शिव-पार्वती विषयक कवि-रति ही शोभावह है और यदि अलंकार ही मानना है तो यहां पर्याय माना जा सकता है। एक कार्य का (स्फुरण आदि रूप) अनेकत्र (वामार्ध-दक्षिणार्ध में) अवस्थान होने से पर्याय की सहज उपस्थिति हो जाती है। अतएव अनुकृति को पृथक् अलंकार मानने की आवश्यकता नहीं है।

प्रहर्षण

बिना प्रयत्न के ही वांछित से अधिक अर्थ की प्राप्ति में जयदेव प्रहर्षण नामक एक अलंकार मानते हैं।[208] बाद में इस अलंकार का विवेचन, अप्पयदीक्षित, देवशंकर, जगन्नाथ, अच्युतराय तथा ब्रह्मतन्त्र स्वामी भी करते हैं। अप्पय इसके तीन भेद करते हैं, बिना यत्न के उत्कंठितार्थ सिद्धि, वांछित से अधिक अर्थ की प्राप्ति तथा वस्तुविशेष की प्राप्ति के लिये प्रयुक्त उपाय के यत्न से साक्षात् फल की प्राप्ति।[209] जगन्नाथ इन तीनों भेदों को एक ही सूत्र में आबद्ध कर देते हैं।[210] इन्हीं को अच्युतराय तथा ब्रह्मतन्त्र स्वामी भी मानते हैं।[211] जगन्नाथ अप्पयदीक्षित के आलोचक भी हैं।[212]

केलीमन्दिरमागतस्य शनकैरालीरपास्येंगितै।
सुप्तायाः सरुषः सरोहरुहदृशः संजीवनं कुर्वतः।
जानन्त्याप्यनभिज्ञयेव कपटव्यामीलिताक्ष्या सखि।
श्रान्तासीत्याभिधाय वक्षसि तया पाणिर्ममाधीयत।।

—र.गं, 504

वयस्य के साथ नायक का वार्तालाप है। 'इशारे से सखियों को हटाकर मैं धीरे-धीरे क्रीड़ागृह में जाकर सोई हुई रुष्ट कमल नयना को व्यजन करने लगा। जानते हुए भी उसने अनजानी के समान, कपट से आंखे मूंदे हुए ही 'सखि तुम थक गयी हो' ऐसा कहकर मेरे हाथ को अपने वक्षःस्थल पर रख लिया।' जगन्नाथ के अनुसार नायक, नायिका का रोषनिवारण करना चाहता था, उससे भी अधिक अर्थ की प्राप्ति उसे हो गई, क्योंकि नायिका ने वक्ष पर उसका हाथ रख लिया। अतएव यहां प्रहर्षण अलंकार है। उदाहरण और लक्षण दोनों से स्पष्ट है कि प्रहर्षण समाधि से व्यतिरिक्त

नहीं है। समाधि में 'कारणान्तर योग' अन्य अर्थों का उपलक्षण है। अतएव वांछितार्थ का अकस्मात् लाभ, यत्न से अधिक फल प्राप्ति आदि अनेक प्रकार के कथन भी समाधि में समाहित हो सकते हैं। नागेश और विश्वेश्वर ने इसी आधार पर इस अलंकार का निराकरण किया है।[213] कुछ लोग इसे विभावना से भी गतार्थ करते हैं।[214] नागेश द्वितीय पूर्वरूप[215] को भी समाधि से गतार्थ करते हैं,[216] पर यहां तद्गुण का योग अधिक उपयुक्त है।

संदर्भ

1. वाक्यन्यायो मीमांसान्यायः —स.बं., पृ. 165.
2. अव्ययंविभक्तिसमीप ...., आदि पा. सूत्र, 2/1/6.
   पदार्थानतिवृत्तिरूपे यथार्थेऽव्ययीभावः। —र.गं., पृ. 476-77.
3. दे., वही।
4. किष्किन्धाकाण्ड, 27/27.
5. संख्यानमिति मेधावी। काव्यालंकार, 2/88.
6. भूयसामुपदिष्टानामर्थानामसधर्मणाम्।
   क्रमशो योऽनुनिर्देशो यथासंख्यं तदुच्यते।। वही, 2/89 तथा का.सा.सं. 3/2.
7. दे., ल.वृ., पृ. 43; तु. विवृत्ति, पृ. 30.
8. अनुनिर्देशो नामैकैकस्मिन् पदार्थे एकैकसंसर्गख्यापनम्। स.ब., पृ. 166.
9. उद्दिष्टानां पदार्थानामनुदेशो यथाक्रमम्।
   यथासंख्यमिति प्रोक्तं संख्यातं क्रम इत्यपि।। —काव्यादर्श, 2/271.
10. उपमेयोपमानानां क्रमसम्बन्धः क्रमः। का.सू. वृ. 4/3/17.
11. दे., वही, नमिसाधु, पृ. 182.
12. निर्दिश्यन्ते यस्मिन्नर्था विविधा यथैव परिपाट्या।
    पुनरपि तत्प्रतिबद्धास्तयैव तत्स्याद्यथासंख्यम्।। —काव्यालं., 7/34 तथा दे., 35 भी।
13. शब्दार्थोभयानां परिपाटिः क्रमः। शृं.प्र., पृ. 424; तु. स.कं., 4/81.
14. यथासंख्यं क्रमेणैव क्रमिकाणां समन्वयः। का.प्र. 10/108.
15. उद्दिष्टानामर्थाना क्रमेणानुनिर्देशो यथासंख्यम्। अ.स. सूत्र 79; तु. अ.मं. 8/68; एका. 8/50; प्र.रु., पृ. 325; वाग्भट. 4/114; काव्यानु. (वाग्भट-2), पृ. 41; चन्द्रा. 5/92; अ.कौ. 8/273; यथासंख्यं क्रमेणैव क्रमिकाणां समन्वयः। कु.का., 109; अ.मं.का. 81; नं.य., पृ. 211; उपदेश क्रमेणार्थानां सम्बन्धो यथासंख्यम्। र.गं., पृ. 476; सा.सा. 8/253; अ.प्र. 27; अ.कौ., पृ. 317; अ.सं. 5/35; सा.बि. 5/27.
16. यथासंख्यमितितस्य चारुत्व विरहेण विच्छित्ति विशेषाभावान्नालंकारता। अ.र., पृ. 161-62.

17. आरोहावरोहादिः क्रमः। अ.र. सूत्र 92 तथा वृत्ति।
18. दे., का. सू.वृ., 3/1/18.
19. अ.र., पृ. 159.
20. क्रमेणैकमनेकत्रान्यथा वा पर्यायः। वही, सूत्र 91.
21. दे., का.प्र. (प्र. प्रभा); पृ. 366-67.
22. वही, वि., पृ. 149-50; काव्यानुशासन, पृ. 402; र.गं., पृ. 478.
23. वही, अ.कौ., पृ. 318.
24. वही, अ.स., पृ. 175.
25. वही, अ.र., पृ. 161.
26. तत्र शाब्दः सम्बन्धः पदगतो वाक्यगतश्चेति द्विधा। अ.म., पृ. 311.
27. र.गं., पृ. 477.
28. क्रमपरिहाराद्यपक्रमः। काव्यानु., पृ. 28.
29. न चास्यालंकारत्वं युक्तम्। दोषाभावमात्ररूपत्वात्। न चात्र कश्चिद्विशेष येनालंकारत्वं स्यात्। वि., पृ. 149-50, भग्नप्रक्रमतादोषाभावमात्रं यथासंख्यं दोषाभिधानेनैव गतार्थम्। काव्यानु. पृ. 402, ... अतोऽप्रक्रमत्वदोषाभाव एव यथासंख्यम्। र.गं., पृ. 478.
30. पर्यायोऽवसरे क्रमे। मेदिनी कोश, दे., अ.को.सु., पृ. 261.
31. क्रमाश्रयणात्पर्याय इत्यन्वर्थाभिधानम्। अ.स., पृ. 177; एका., पृ. 305; काव्यादर्श सं., पृ. 313; बा.बो., पृ. 692.
32. एतदन्यान्यत्वं च सामान्यलक्षणम्। न तु योगार्थमात्रम्। र.गं., पृ. 479. अतश्च द्वौ पर्यायौ न पुनरेक एव सामान्यलक्षणायोगात्। वि., पृ. 151.
33. दे., अ.स., पृ. 176-77; र.गं., पृ. 479.
34. वस्तुविवक्षितवस्तुप्रतिपादनशक्तमसदृशं तस्य।
यदजनकमजन्यं वा तत्कथनं यत्स पर्यायः।। —काव्यालं. 7/42 तथा वहीं न.सा.
35. यत्रैकमनेकस्मिन्ननेकमेकत्र वा क्रमेण स्यात्।
वस्तुसुखादिप्रकृतिः क्रियेत वान्यः स पर्यायः।। वही, 7/44.
36. दे., शृं.प्र., पृ. 424 तथा स.कं. 82; दे., पर्यायोक्त विवेचन।
37. एकं क्रमेणानेकस्मिन् पर्यायः। का.प्र. 10/117.
एकं क्रमेणानेकस्मिन् भवति क्रियते वा। वही वृत्ति।
38. प्रयोजकानिर्देशतन्निर्देशौ भवतिकरोत्यर्थौ। प्रदीप, पृ. 366; तु. सु.सा., पृ. 644.
39. अन्यस्ततोऽन्यथा। वही।
40. सामान्यलक्षणायोगात्। अतएव काव्यप्रकाशकृता पृथगेतौ लक्षितौ। वि., पृ. 151.
41. दे., प्र., पृ. 366-68; सा.चू. एवं सं.प्र., पृ. 360; काव्यादर्श, सं. पृ. 313.
42. एकमनेकस्मिन्ननेकमेकस्मिन् वा क्रमेण पर्यायः। अ.स. सूत्र 60 तथा वृत्ति।
43. एकस्य क्रमवाननेक सम्बन्धः पर्यायसामान्यलक्षणम्। स.बं., पृ. 168.

44. दे., वि. पृ. 151.
45. अ.स., पृ. 176-77.
46. क्रमेणैकममनेकत्रान्यथा वा पर्यायः। अ.र. सूत्र-91 तथा वही, वृत्ति भी।
47. दे., अ.र., पृ. 157; सा.द., पृ. 561; प्र.रु., पृ. 344; र.गं., पृ. 479.
48. दे., अ.म., 8/59.
49. एकस्यानेकत्रानेकस्य वैकत्र क्रमेण वृत्तिः पर्यायः। समेन समस्योत्कृष्टेन निकृष्टस्य निकृष्टेनोत्कृष्टस्य वा व्यतिहारो विनिमयः। तावेतौ परिवृत्तिः काव्यानु. वृत्ति, पृ. 389, विशेष विवेचन देखिये, वही, विवेक।
50. पर्यायश्चेदनेकत्र स्यादेकस्य समन्वयः। चन्द्रा. 5-39; तु. काव्यानु., पृ. 44.
51. एकस्मिन् यदनेकं क्रमादनेकत्र वा भवत्येकम्।
तमलंकारनिरूपणनिपुणाः पर्यायमब्रुवन्।। —एका. 8/51; तु.सा.द. 10/79-80, प्र.रु., पृ. 334; अ.कौ., 8/289, पर्यायोदिपर्यायिणैकस्यानेकसंश्रयः। एकस्मिन्यद्यनेकं वा पर्यायः सोऽपि संमतः। कु.का. 110-11; अ.मं. 8/289; अ.चि. 4/314; नं.य., पृ. 216, 17; क्रमेणानेकाधिकरणकमेकमाधेयमेकः पर्यायः। क्रमेणानेकाधेयकमेकम-धिकरणमपरः। र.गं., पृ. 478; सा.सा. 8/254; एकमनेकमनेकैकस्मिन् क्रमतोऽस्तिस पर्यायः। अ.कौ., पृ. 349; तु. अ.मु.। सा.बि. 5/25; अ.मं. का. 153.
52. स्यादिति कर्तृनिर्देशात्कर्मण्यप्राप्तं पर्यायत्वमाह—क्रियेतेवेति। तदेवं चतुर्विधः पर्यायः। काव्या. 7/44 पर नमिसाधु।
53. तत्रानेकोऽसंघातरूपः संघातरूपश्चेतिद्विविधः। तच्च द्वैविध्यमाधाराधेयगतमिति चत्वारोऽस्य भेदाः। अ.स., पृ. 177.
54. द्विभेदस्याधाराणां आधेयानां परस्परं वैलक्षण्यमवैलक्षण्यं वेति द्वैधे चत्वारो भेदाः। अ.र., पृ. 157.
55. क्रमेणैकमनेकस्मिन्नाधारेपर्यवस्यति।
एकस्मिन्नथवानेकं पर्यायालंकृतिर्मता।। प्र. रु., पृ. 334; तु. एकावली का लक्षण।
56. क्वचिदेकमनेकस्मिन्ननेकं चैकगं क्रमात्।
भवति क्रियते वा चेत्तदा पर्याय इष्यते।। सा.द., 10/79-80.
57. दे., कु., पृ. 129-30.
58. वही, र.गं., पृ. 479-80.
59. बिम्बोष्ठ एव रागस्ते तन्वि पूर्वमदृश्यत्।
अधुनाहृदयेऽप्येष मृगशावाक्षि लक्ष्यते।। का.प्र., पृ. 693; कु., पृ. 129.
60. यत्तु कुवलयानन्दकृता 'बिम्बोष्ठ एव' इति विकासपर्यायो निजगदे, तच्चिन्त्यम्। 'अधुना पुलिनं तत्र यत्र स्रोतः पुराभवत्' इति कुवलयानन्दगतमुदाहरणं .... अनुदाहार्यमेव। वही, पृ. 480-81.
61. दे., गु.म.प्र., पृ. 480 तथा सा.बि., पृ. 5/25 की वृत्ति।
62. अ.कौ., पृ. 350; विश्वेश्वर इस उदाहरण को आर्थ पर्याय में प्रयुक्त करते हैं।

63. का.प्र. त्रिवेन्द्रम सीरीज तथा सं.प्र., उद्योत, निदर्शना टीका वाले ग्रन्थों में।
64. प्रदीप, प्रभा, आदि संस्करणों में नहीं है।
65. दे., कु., पृ. 129 तथा र.गं, पृ. 481.
66. अ.स., पृ. 178.
67. दे., अ.र. सूत्र-92.
68. .... एवमादौ शुद्धक्रमालंकारोऽतिरिक्त इत्यप्याहुः। र.गं., पृ. 481.
69. अतश्चास्यैव क्रमार्थाभिधायित्वात् क्रमोऽपि पृथगलंकारतया न लक्षणीयः। .... न चात्र तावत्कश्चिदतिशयः उपलभ्यते। .... यदत्र वैलक्षण्यमवगम्यते तद्भेदत्वे निमित्तम्। .... तस्मादस्य पर्याय एवान्तर्भावात् पृथग्लक्षणप्रणयनं नवनवालंकारहेवाकप्रदर्शनमात्रमेव। —वि., पृ. 151; दे., अ.कौ., पृ. 351-52.
70. परिवर्तनं विनिमयकरणं परिवृत्तिरित्यन्वर्थेयं संज्ञा। बा.बो., पृ. 674.
71. विनिमयो हि केनचिद्वस्तुना दत्तेन कस्यचिदादानम्। प्रदीप, पृ. 359; तु. अ.स., पृ. 178; स.बं., पृ. 169.
72. एषु दानादानव्यवहारः कविकल्पित न तु वास्तवः। यत्र वास्तवस्त्रनालंकारः। र.गं., पृ. 482; तु. उद्योत, पृ. 525; बा.बो., पृ. 675.
73. दे., अ.स., पृ. 177; अ.र., पृ. 157.
74. विशिष्टस्य यदादानमन्यापोहेन वस्तुनः।
अर्थान्तरन्यासवती परिवृत्तिरसौ यथा।। —भामह, काव्यालंकार, 3/41.
75. शस्त्रप्रहारं ददता भुजेन तवभूभुजाम्।
चिरार्जितं हृतं तेषां यशः कुमुदपाण्डुरम्।। —काव्यादर्श, 2/354.
76. समन्यूनविशिष्टैस्तु कस्यचित् परिवर्तनम्।
अर्थानर्थस्वभावं यत् परिवृत्तिरभाणि सा।। —का.सा., सं., 5/31.
77. दे., ल. वृ., पृ. 69 तथा विवृत्ति, पृ. 48.
78. कस्यचिद्वस्तुनो वस्त्वन्तरेण परिवर्तनं परिवृत्तिः। ल.वृ., पृ. 69.
79. समविसदृशाभ्यां परिवर्तनं परिवृत्तिः।—का.सू.वृ. 4/3/16 तथा वृत्ति।
80. युगपद्दानादाने अन्योन्यं वस्तुनोः क्रियेते यत्।
क्वचिदुपचर्येते वा प्रसिद्धितः सेति परिवृत्तिः।। काव्यालं., 7/77.
81. तदेवं परिवृत्तेरलंकारणत्वमयुक्तम्। रूपान्तरानिरोधेषु पुनः साम्यसद्भावे भवत्युपमितिरेषा। व.जी., पृ. 203.
82. गुणद्रव्याणां व्यत्ययविनिमयो परिवृत्तिः। शृं.प्र., पृ. 400; तु. स.कं. 3/29.
83. वस्तुस्थिति विपर्यासवचनं परिवृत्तिरिति स्फुटमेव लक्षणम्। जगद्धर, टीका, सं.कं., पृ. 349.
84. परिवृत्तिर्विनिमयो योऽर्थानां स्यात्समासमैः का.प्र. 10/113.
85. गजेन्द्रगडकर, का.प्र. नोट्स, पृ. 368.
86. समन्यूनाधिकानां समाधिक न्यूनैर्विनिमयः परिवृत्तिः। अ.स. सूत्र-61, विनिमयः अत्र

किंचित्यक्त्वा कस्यचिदादानम्। वही, वृत्ति।

87. विनिमयः परिवृत्तिः। अ.र. सूत्र-90, अन्यत्र दानपूर्वमेवादानं विनिमयः। इह तु क्वचित्त्यागपूर्वकमपि, क्वचित्तु कृते प्रतिकृतिरिति उभयरूपो विनिमयः।वही, वृत्ति।
88. दे., अ.म., 8/69.
89. पर्यायविनिमयौ परिवृत्तिः। काव्यानु., 6/22 तथा दे., वही, विवेक।
90. समेनासमेन वा व्यत्ययः परिवृत्तिः। काव्यानु., पृ. 40; तु. वाग्भटा. 4/111; चन्द्रा. 5/84.
91. दे., एका. 8/52 तथा वृत्ति, प्र.रु., पृ. 339 तथा सा.द. 10/81.
92. परिवृत्तिर्विनिमयो न्यूनाभ्यधिकयोर्मिथः। कु.का. 112; तु.अ.कौ., 8/280; अ.मं., का. 84.
93. परकीय यत्किंचिद्वस्त्वादानविशिष्टं परस्मैस्वकीय यत् किंचिद्वस्तु समर्पणं परिवृत्तिः। र.गं., पृ. 481.
94. एवं स्थिते 'विनिमयोऽत्र किंचित्त्यक्त्वा कस्यचिदादानम्' इत्यलंकारसर्वस्वकृता यल्लक्षणं परिवृत्तेः कृतम्, यच्च किमित्यपास्याभरणानि यौवने, इत्युदाहृतम्। तदुभयमप्यसदेव। र.गं., पृ. 482.
95. गजेन्द्रगडकर नोट्स, का.प्र., पृ. 368.
96. किंचिद्दत्वा कस्यचिदुपादानं परिवृत्तिः। अ.प्र. 45, सदृशासदृशैरर्थैरर्थस्य विनिमयस्तु परिवृत्तिः। अ.कौ., पृ. 333; तु. अ.मु. 32.
97. दे., सा.सा. 8/255; अ.चि. 4/223; सा.बि. 5/23.
98. दे., काव्यालंकार, 3/42.
99. इसी प्रकरण में दंडी का उदाहरण।
100. दे., उद्भट का लक्षण तथा ल.वृ., पृ. 69 और विवृत्ति, पृ. 48.
101. काव्यालंकार, 7/78.
102. व.जी., पृ. 204.
103. स.कं., 3/30 तथा वृत्ति शृं.प्र., पृ. 400, में मुख्य तीन भेद ही हैं।
104. दे., अ.र., पृ. 155-56.
105. सा च तावद् द्विविधा—समपरिवृत्तिर्विषमपरिवृत्तिश्चेति।
समपरिवृत्तिरपि द्विविधा—उत्तमैरुत्तमानां न्यूनैर्न्यूनानां चेति।
विषम परिवृत्तिरपि तथा—उत्तमैर्न्यूनानां न्यूनैरुत्तमानां चेति। र.गं., पृ. 481.
106. कु.स. 5/42; अ.स., पृ. 179; अ.म., पृ. 313.
107. स.कं., पृ. 350; अ.स., पृ. 179; अ.र., पृ. 156; काव्यानु., पृ. 390; सा.द., पृ. 812; कुव., पृ. 131.
108. अ.र., पृ. 156.
109. परेर्वर्जने। पा. 8/1/5.
110. अजाद्यतष्टाप् वही।

111. सम्पूर्वात् ख्यातेर्भावेऽङि संख्येतिरूपम्। समुद्रबन्ध., पृ 173.
112. संख्यायतेऽनयेति संख्या। संख्या बुद्धिः, यत्सांख्यैः प्राप्यते स्थानं तद्योगैरपि गम्यते, इति श्रीमद्भगवद्गीता वचनात्। संख्या विचारणा इत्यमरः। तथा, परिशब्दो वर्जनार्थः। संख्या बुद्धिः। तेन वर्जनबुद्धिरित्यन्वर्था संज्ञा। प्रभा, पृ. 370-72; तु. बा.बो., पृ. 703; भोलाशंकर व्यास, कु., पृ. 184; सा.द. टिप्पण, पृ. 562 (नि.); सा.द. लक्ष्मी टीका, पृ. 812; अ.कौ. टिप्पण, पृ. 329; गजेन्द्र., का.प्र. नोट्स, पृ. 402.
113. परिवर्जनेन कुत्रचित्संख्यानं वर्णनीयत्वेन गणनं परिसंख्या। अ.स., पृ. 180; संकेत, पृ. 272; काव्यादर्श सं., पृ. 317; सं.प्र. तथा सा.चू., पृ. 370; रत्नापण, पृ. 326.
114. प्रमाणान्तरेणाप्राप्तस्य प्रापको विधिरपूर्वविधिः। अर्थसंग्रह, पृ. 54; तु. मीमांसा न्यायप्रकाश, पृ. 46.
115. पक्षेऽप्राप्तस्य प्रापको विधिर्नियमविधिः। अर्थसंग्रह, पृ. 54; तु. मी.न्या. प्र., पृ. 44.
116. उभयोश्चयुगपत्प्राप्तौ इतरव्यावृत्तिपरोविधिः परिसंख्या विधिः, वही, पृ. 55 तथा मी.न्या. प्र., पृ. 46.
117. विधिरत्यन्तमप्राप्तौ नियमः पाक्षिके सति।
तथा चान्यत्र च प्राप्तौ परिसंख्येति गीयते।। श्लोकवार्तिक, 1/2/34. दे., विवेचन, वि., पृ. 154-55; अ.र., पृ. 143; र.गं., पृ. 482-83.
118. यत्र कविप्रतिभाकल्पिता इतरव्यावृत्तिस्तत्रैवालंकारता। बा.बो., पृ. 704; अ.कौ., टिप्पण, पृ. 329.
119. नियमोऽप्यस्मिन्दर्शने निरुक्तलक्षणाक्रान्तत्त्वात् परिसंख्यैव। .... वैयाकरणानां मते परिसंख्यापि नियमशब्देनोच्यते। —र.गं., पृ. 482.
120. पृष्टमपृष्टं वा सद्गुणादि यत्कथ्यते क्वचित्तुल्यम्।
अन्यत्र तु तदभावः प्रतीयते सेति परिसंख्या।। काव्यालंकार, 7/79.
121. किंचित्पृष्टमपृष्टं वा कथितं यत् प्रकल्पते।
तादृगन्यव्यपोहाय परिसंख्या तु सास्मृता (मता)।। का.प्र., 10/119 तथा वृत्ति।
122. दे., प्रदीप, पृ. 371.
123. एकस्यानेकत्र प्राप्तावेकत्र नियमनं परिसंख्या। अ.स. सूत्र-62, एकं वस्तु यदानेकत्र युगपत्संभाव्यते तदा तस्यैकत्रासंभाव्ये द्वितीयपरिहारेण नियमनं परिसंख्या। वही, वृत्ति।
124. दे., वि., पृ. 154-55.
125. श्लेषसंपृक्तत्त्वमस्या अत्यन्तचारुत्वनिबन्धनम्। .... अत एवात्र पाक्षिकप्राप्तिरपि स्वीक्रियते। अ.स., पृ. 181.
126. प्राप्तस्य परिसंख्या। अ.र. सूत्र-84, वही, वृत्ति भी।
127. दे., अ.र., पृ. 143 तथा 145-46.
128. वही, अ.म. 8/70.

129. पृष्टेऽपृष्टे वा अन्यापोहपरोक्तिः परिसंख्या। काव्यानु. 6/29.
130. दे., वाग्भटा. 4/141.
131. वही, काव्यानु., पृ. 41.
132. परिसंख्या निषिध्यैकमेकस्मिन् वस्तुयन्त्रणम्। चन्द्रा. 5/95.
133. दे., एकावली, 8/53; प्र.रु., पृ. 326 तथा सा.द., 10/81-82; अ.कौ. 8/293.
134. वही, कु.का. 113; अ.मं. 85; सा.सा. 8/256.
135. वही, नं.य., पृ. 212.
136. सामान्यतः प्राप्तस्यार्थस्य कस्माच्चिद्विशेषाद्व्यावृत्तिः परिसंख्या। र.गं., पृ. 482.
137. दे., अ.कौ., पृ. 358; तु. अ.मु. 37; अ.प्र., अ.चि. 4/84.
138. वही, काव्यालं., 7/79-81.
139. अत्र च कथनं प्रश्नपूर्वकं तदन्यथा च परिदृष्टम्। तथा उभयत्र व्यपोह्यमानस्य प्रतीयमानता वाच्यत्वं चेति चत्वारो भेदाः। का.प्र., पृ. 703.
140. अत्र निषिध्यमानस्य शाब्दत्वमार्थत्वं वेति द्वौ भेदौ। प्रश्नपूर्वकत्वेन भेदद्वयस्य अज्ञातज्ञापनरूपतयानियमविषयता। अ.र., पृ. 146.
141. दे., अ.चू. तथा विवेक, पृ. 395-96.
142. र.गं., पृ. 483.
143. दे., वही, पृ. 484.
144. काव्यालंकार, 7/81; का.प्र., पृ. 705; अ.स., पृ. 180; काव्यानु., पृ. 395; अ.म., पृ. 314.
145. असंभाव्यहेतुफलप्रेषणं विधिः। अ.र. सूत्र 82 तथा वृत्ति।
146. अन्यनिषेधार्थोऽपि विधिर्नियमः। अ.र. सूत्र 83 तथा वृत्ति।
147. का.प्र., पृ. 704; अ.स., पृ. 180; अ.र., पृ. 144.
148. 'यदस्यार्थान्तरनिषेधपर्यवसायित्वं तदेव जीवितभूतत्त्वेनेहालंकारत्वप्रतिष्ठापकम्। तच्चनियमपरिसंख्ययोः समानम्।' .... अतश्चैतद्भेदत्वं एव नियमस्य वाच्यम्। वि., पृ. 154-55; दे., अ.स., पृ. 181; र.गं., पृ. 482.
149. तत्र (प्रश्नपूर्वायां परिसंख्यायाम्) त्वन्यमते उत्तरालंकारो हि युक्तोऽस्मन्मते तु वक्ष्यमाणनीत्या नियम एव। अ.र., पृ. 143.
150. समाहारः समुच्चयः इत्यमरः।
151. जैसे खलिहान में 'मैं ही पहले पहुंचूं' इस भावना से कपोत युगपत् गिरते हैं, उसी प्रकार कारणों का युगपत् आगमन 'खले कपोतन्याय' माना जाता है।
152. काव्यादर्श, 2/21.
153. यत्रैकत्रानेकं वस्तु परं स्यात्सुखावहाद्येव।
ज्ञेयः समुच्चयोऽसौ त्रेधान्यः सदसतोर्योगः।। —काव्यालं., 7/19.
व्यधिकरणे वा यस्मिन् गुणक्रिये चैककालमेकस्मिन्।
उपजायेते देशे समुच्चयः स्यात्तदन्योऽसौ।। —वही, 7/27.

154. सोऽयं समुच्चयः स्याद्यत्रानेकोऽर्थ एकसामान्यः।
अनिवादिर्द्रव्यादिः सत्युपमानोपमेयत्वे।। —वही, 8/103.

155. द्रव्यक्रियागुणादीनां क्रियाद्रव्यगुणादिषु।
निवेशनमनेकेषामेकतः स्यात्समुच्चयः।। स.कं., 4/50 तथा शृं.प्र., पृ. 419.

156. तत्सिद्धिहेतावेकस्मिन्यत्रान्यत्तत्करं भवेत्।
समुच्चयोऽसौ, सत्वन्यो युगपद् या गुणक्रियाः।। —का.प्र., 10/116.

157. गुणक्रियायौगपद्यं समुच्चयः। अ.स. सूत्र 65 तथा एकस्य सिद्धिहेतौ अन्यस्य तत्करत्वं च। वही, सूत्र-66.

158. धर्मयौगपद्यमन्यस्यापि तत्करत्वं च समुच्चयः। अ.र., सूत्र-89.

159. दे., अ.म., 8/73-74.

160. हेतौकार्ये चैकत्र हेतुकार्यान्तरोक्तिर्युगपद्गुणक्रियाश्चसमुच्चयः। काव्यानु. 6/28; तु. काव्यानु., पृ. 41.

161. दे., वाग्भटा. 4/130.

162. भूयसामेकसम्बन्धभाजां गुम्फः समुच्चयः। चन्द्रा. 5/97.

163. दे., एका. 8/58; प्र.रु., पृ. 329-30; सा.द. 10/84-85; अ.कौ. 10/286-87; कु.का. 115-16; अ.मं.का. 87-88; नं.य., पृ. 214-15.

164. र.गं., पृ. 489.

165. दे., सा.सा. 8/258; अ.कौ., पृ. 347; अ.प्र. 52; सा.कौ., 10/31; अ.चि. 4/295; अ.मं., 150.

166. काव्यालं. 7/19-29.

167. दे., स.कं. 4/62-65.

168. सा चतुर्धा—एकद्योतका, अनेकद्योतका, एकानेकद्योतका, अद्योतका च। शृं.प्र., पृ. 419.

169. एष एवोक्तलक्षणः समुच्चयः सद्योगेऽसद्योगे सदसद्योगे च पर्यवस्यति इति यत्केनचित्पृथग्लक्षितस्तदयुक्तम्। प्र., पृ. 364.

170. दे., प्रदीप, पृ. 366; तु. विवेक, पृ. 393.

171. न चायं समाध्यलंकारेऽन्तर्भावमर्हति। तत्र ह्येकस्य कार्यं प्रति पूर्णं साधकत्वम्। अन्यस्तु कार्याय काकतालीयेनापतति तत्र समाधिर्वक्ष्यते। यत्र तु खले कपोतिकया बहूनामवतारस्तत्र समुच्चयः। अ.स., पृ. 187; तु. एका., पृ. 313; स.बं., पृ. 182; सा.चू., पृ. 355, 56; सा.द., पृ. 567; र.गं., पृ. 490.

172. न चास्य सद्योगासद्योगसदसद्योगैर्भेदो गणनीयः। आद्ययोः समसंकीर्णत्वादुत्तरस्य विषमगर्भत्वात्। अ.र., पृ. 155.

173. दे., अ.म., पृ. 316-18.

174. एवं हि समाधिरपि समुच्चय एवान्तर्भवति। विवेक, पृ. 393.

175. दे., र.गं., पृ. 490.

176. दे., प्र., पृ. 365; उद्योत, पृ. 534; अ.स., पृ. 189; सा.चू., पृ. 358; सा.द., पृ. 567; विवेक, पृ. 393.
177. दे., अ.स., पृ. 189; प्रभा, पृ. 365; का.प्र.सं., पृ. 267; सहचरभिन्नोऽर्थो दुष्ट इति रूपः प्रक्रमभङ्गः। सं., पृ. 267; बा.बो., पृ. 688.
178. दे., प्रभा, पृ. 365; बा.बो., पृ. 688; र.गं., पृ. 491.
179. न च रमणीयानां समुच्चये अरमणीयानां च समालंकारेण, रमणीयारमणीयानां च विषमालंकारेण च संकीर्णत्वान्नैते प्रभेदाः युक्ताः समुच्चयस्य। .... इति रत्नाकरोक्तमवास्तम्। —र.गं., पृ. 491-92; तु. उद्योत, पृ. 534.
180. आधीयते समाप्यते, आदधातिः करणे समुपसर्गश्च। सा.चू., पृ. 382.
181. उपसर्गे घोः किः। पा. 3/3/92.
182. बा.बो., पृ. 716.
183. प्र. प्रभा., पृ. 376; सं.प्र., पृ. 382; संकेत, पृ. 277; का.सं., पृ. 324; अ.स.सं., पृ. 190; कु., पृ. 134; सम्यगादधाति कार्ये सौकर्यं सम्पादयति इति व्युत्पत्तेः। अ.मं., पृ. 159.
184. संविदागूः प्रतिज्ञानं नियमाश्रव संश्रयाः।
अंगीकाराभ्युपगमप्रतिश्रव समाधयः।। अ.कौ. 1/5 तथा मेदिनी, विश्व, कोष, सुधा, पृ. 414.
185. किंचिदारभमाणस्य कार्यं दैववशात् पुनः।
तत्साधनसमापत्तिर्या तदाहुः समाहितम्।। काव्यादर्श, 2/296.
186. दे., अ.क्र.वि., पृ. 294.
187. यत्सादृश्यं तत्संपत्तिः समाहितम्। का.सू. वृ. 4/3/29 तथा वृत्ति।
188. अन्यधर्माणामन्यत्रारोपणं समाधिः। मीलितमपि समाधिरेव। शृं.प्र., पृ. 417; तु. स.कं., 4/46.
189. समाधिः सुकरं कार्यं कारणन्तरयोगतः। का.प्र. 10/125 तथा वृत्ति, वही, बा.बो. तथा सा.चू.।
190. कारणान्तरयोगात्कार्यस्य सुकरत्वं समाधिः। अ.स. सूत्र 67 तथा वृत्ति।
191. उपोद्बलनं समाधिः। अ.र. सूत्र-75 तथा वृत्ति।
192. कारणान्तरयोगात् कार्यसौकर्यमित्येवमादावव्यापकं लक्षणम्। वही, पृ. 128.
193. अव्यापकं लक्षणमिति यदन्यैरुक्तं तत्तेषामेतल्लक्षणस्वरूपानवधारणमेव। वि., पृ. 164.
194. दे., अ.म., 8/74.
195. समाधिरपि समुच्चय एवान्तर्भवति। विवेक, पृ. 392-93.
196. दे., वाग्भटालं. 4/109.
197. वही, अ.क्र.वि., पृ. 295.
198. कार्यमारभमाणस्य दैवादुपायसंपत्तिः समीहितम्। काव्यानु. पृ. 42.

199. समाधिः कार्यसौकर्यं कारणन्तरसन्निधेः। चन्द्रा. 5/98; तु. एका. 8/59; प्र.रु., पृ. 331; सा.द. 10/86; कु.का. 118; अ.कौ. 8/301; अ.मं.का. 90; नं.य., पृ. 215; सा.सा. 8/259; अ.कौ., पृ. 369; अ.चि. 4/301; अ. मणि. भाग 2, पृ. 48-49; सा.बि. 5/28; का.सा.सं. (भावदेव सूरि) 6/21; अ. मंजरी का. 182.
200. दे., कु., पृ. 134.
201. एककारणजन्यस्य कार्यस्याकस्मिककारणान्तरसमवधानाहितसौकर्यं समाधिः। र.गं., पृ. 492.
202. निरुद्भेदोऽथ सोद्भेदः स द्विधा परिपठ्यते। स.कं. 4/46.
203. तच्च कार्यस्यानायासेन सिद्ध्या सांगसिद्ध्या च। र.गं., पृ. 492.
204. काव्यादर्श, 2/297; का.प्र., पृ. 376; अ.स., पृ. 190; अ.म., पृ. 318; सा.द., पृ. 568; अ.र., पृ. 128; कु., पृ. 134; अ.चू., पृ. 394.
205. समाधिमेव मन्यन्ते मे (मी) लितं तदपि द्विधा।
धर्माणामेव चाध्यासे धर्मिणां वान्यवस्तुनि।। (स.कं. 4/47)
206. स्थितस्यान्यथापत्तिः प्रत्यादेशः। अ.र. सूत्र 74 तथा वृत्ति।
207. हेत्वन्तरादन्यस्यापि तथात्वमनुकृतिः। अ.र. सूत्र 72 तथा वृत्ति।
208. वांछितादधिकप्राप्तिरयत्नेन प्रहर्षणम्। चन्द्रा. 5/49.
209. उत्कंठितार्थसंसिद्धिर्विना यत्नं प्रहर्षणम्।
वांछितादधिकार्थस्य संसिद्धिश्च प्रहर्षणम्।
यत्नादुपायसिद्ध्यर्थात्साक्षाल्लाभः फलस्य च।। —कु.का. 129-31.
210. साक्षात्तदुद्देश्यकयत्नमन्तरेणापि अभीष्टार्थलाभः प्रहर्षणम्। र.गं., पृ. 504.
इदं च सामान्यलक्षणं त्रिविधप्रहर्षणसाधारणम्। वही।
211. दे., सा.सा. 8/269-70 तथा वही, सरसामोद, अ.मं. का. 100; अ. मणि. भाग-3, पृ. 159-64.
212. यत्तु 'चातकस्त्रिचतुरान्पयः कणान्' इत्युदाहृतं कुवलयानन्दकृता तदसत्। र.गं., पृ. 505; तु. सरसामोद, पृ. 507.
213. अत्र कारणान्तरयोगतः इत्युपलक्षणम्।.......... तेन प्रहर्षणं भिन्नोऽलंकार इत्यपास्तम्। उद्योत, पृ. 554, तु. अ.कौ., पृ. 370-71.
214. अन्ये न प्रहर्षणालंकारोऽभ्युपेयः — प्रयत्नाभावेऽपीष्टार्थसिद्ध्या कारणं विना कार्योत्पत्तिरूपविभावनाया एवं विषयत्वात्। —अ. मणि. भाग-3, पृ. 164.
215. पूर्वावस्थानुवृत्तिश्चेद्विकृते सति वस्तुनि। कु.का., 143.
216. इति विकृतेऽपि वस्तुनि पूर्वावस्थानुवृत्तिः पूर्वरूपमितीत्यप्यपास्तम्। वही, पृ. 554.

नवम अध्याय

लोकन्यायमूलक अलंकार

प्रत्यनीक

लोकन्याय का अर्थ है, लोकप्रसिद्धन्याय अथवा लोकव्यवहार में प्रचलित प्रयोग। यदि शत्रु प्रबल है, उसको नुकसान पहुंचाना असंभव है, तो उसके सम्बन्धियों को ही सताने का प्रयास किया जाता है। इस प्रकार के प्रयोग संसार में बहुलता से पाये जाते हैं। ऐसे प्रयोगों पर आधारित अलंकारों को लोकन्यायमूल माना गया है। पूरणार्थक 'प्रा' अथवा प्रथनार्थक 'प्रथ्' धातु से बाहुलकात् 'डति' प्रत्यय करने पर प्रति शब्द निष्पन्न होता है। प्रति का अर्थ है, प्रतिनिधि।[1] प्राणनार्थक अन् धातु से ईकन् प्रत्यय (अनिहृषिभ्यां किच्च, उ. 4/17) करने पर अनीक शब्द बनता है। अनीक, सेना का बोधक है।[2] इस प्रकार प्रत्यनीक का अर्थ होता है, सैन्यप्रतिनिधि। उसी की समानता से इस अलंकार को भी प्रत्यनीक कहते हैं। जिस प्रकार सेना पर आक्रमण अभीष्ट हो, पर उस पर आक्रमण करने की शक्ति न होने से उसके प्रतिनिधिभूत दूसरे प्रतिपक्ष पर आक्रमण किया जाता है, उसी प्रकार इस अलंकार में जिस प्रतिपक्ष को जीतना है, उसका अधिक उत्कर्ष बताने के लिये, उसके सम्बन्धी अन्य का तिरस्कार किया जाता है। रुय्यक आदि उक्त प्रकार से प्रत्यनीक की अन्वर्थकता मानते हैं।[3] जगन्नाथ के अनुसार प्रति और अनीक के सदृश अर्थ में अव्ययीभाव समास होता है—अनीकेन सदृशं प्रत्यनीकम्। लोक में देखा जाता है कि शत्रु का तिरस्कार करने के लिये सेना का प्रयोग किया जाता है, परन्तु उसमें असमर्थ होने पर उसके किसी सम्बन्धी का तिरस्कार किया जाता है। इस साहित्यिक तिरस्कार का भी सेना की तरह प्रयोग किया जाता है। इसलिये ऐसे तिरस्कार को प्रत्यनीक कहते हैं।[4] इस तरह का तिरस्कार शत्रु की बलवत्ता और अपनी दुर्बलता का सूचक है। अस्तु, प्रत्यनीक अन्वर्थक है। ऋग्वेद में भी प्रत्यनीक प्रतिनिधि अर्थ में पठित है।[5]

सर्वप्रथम रुद्रट ने प्रत्यनीक का विवेचन किया है। वह इसे औपम्य मूल मानते हैं। उनके अनुसार जहां उपमेय को उत्तम बताने के लिये, उसे जीतने की इच्छा से उसके विरोधी रूप में उपमान की कल्पना की जाये, वहां प्रत्यनीक अलंकार होता

है।[6] जैसा कि विरोध प्रकरण में कहा जा चुका है, भोजराज इसे विरोध का एक भेद मात्र मानते हैं।[7] प्रत्यनीक को स्पष्ट स्वरूप प्रदान किया मम्मट ने। प्रतिपक्ष का प्रतिकार करने में असमर्थ व्यक्ति यदि उससे (प्रतिपक्ष से) सम्बद्ध किसी अन्य का तिरस्कार करे तो मम्मट के अनुसार प्रत्यनीक अलंकार होता है। यहां प्रतिपक्षी के सम्बन्धी का तिरस्कार उसी (प्रतिपक्षी के) के उत्कर्ष के लिये विवक्षित है। वृत्ति में उन्होंने इसे और भी स्पष्ट करने का प्रयास किया है। अपना तिरस्कार करने वाले प्रतिपक्षी का साक्षात् अपकार करने में असमर्थ किसी के द्वारा उसी प्रतिपक्षी के उत्कर्ष सम्पादनार्थ जो उसके आश्रित का तिरस्कार किया जाता है, वह सेना के प्रतिनिधि तुल्य होने से प्रत्यनीक कहा जाता है। जैसे सेना के ऊपर आक्रमण करने के समय मूर्खतावश कोई प्रतिनिधिभूत दूसरे पर आक्रमण कर देता है, उसी प्रकार यहां प्रतिपक्षी को जीतने की अपेक्षा उसके सम्बन्धी दूसरे को जीतने का प्रयास किया जाता है।[8] रुय्यक की परिभाषा मम्मट के समान गूढ़ नहीं है, परन्तु प्रतिपादन शैली उन्होंने मम्मट से ग्रहण की है, जिसका अनुसरण नरेन्द्रप्रभसूरि भी करते हैं।[9] शोभाकर इसका विवेचन व्याजस्तुति के पश्चात् करते हैं। इसलिये तथा उनके विवेचन के आधार पर कहा जा सकता है कि वह इसे भी गम्यमान अलकारों की श्रेणी में मानते है। वह प्रतिपक्षी आदि के सम्बन्धी के स्वीकार को प्रत्यनीक कहते हैं।[10] भेद-विवेचन में इसका स्वरूप स्पष्ट होगा। हेमचन्द्र मम्मट के 'प्रत्यनीक' उदाहरण को प्रस्तुत करते हुए सिद्ध करते हैं कि प्रत्यनीक उत्प्रेक्षा (गम्य) से व्यतिरिक्त नहीं है।[11] वाग्भट प्रथम ने इसका उल्लेख नहीं किया है।

वाग्भट द्वितीय, जयदेव, विद्याधर, विद्यानाथ, विश्वनाथ, कर्णपूर, नरसिंह, आदि के लक्षण मम्मट के लक्षण से व्यतिरिक्त नहीं हैं।[12] दीक्षित ने लक्षण तो जयदेव वाला ही मान रखा है, पर वह कैमुतिक न्याय से प्रतिपक्ष पर पराक्रम को भी प्रत्यनीक मानते हैं। देवशंकर तो उनके अनुगामी हैं।[13] जगन्नाथ प्रतिपक्ष से सम्बद्ध वस्तु या व्यक्ति के तिरस्कार को प्रत्यनीक कहते हैं। उनकी विवेचन पद्धति का प्रारंभ में उल्लेख कर दिया गया है।[14] विश्वेश्वर आदि परवर्ती आलंकारिक भी उसी ढर्रे पर चलते रहे हैं।[15] समग्र आलंकारिकों के विचारों का विवेचन करने पर एक बात साफ हो जाती है कि प्रत्यनीक का जो स्वरूप मम्मट ने स्थिर किया, उसी को सबों ने मान लिया, आलोचना, प्रत्यालोचना का कोई अवसर नहीं आया। यह अवश्य है कि रुद्रट इस अलंकार के उद्भावक हैं, पर उपमान-उपमेय की उनकी कल्पना का अलंकार क्षेत्र में समादर न हो सका, होना भी नहीं चाहिये, क्योंकि प्रत्यनीक में औपम्य का चमत्कार न होकर लोकप्रचलित परम्परा का ही सौन्दर्य है। अस्तु,

प्रबल प्रतिपक्षी का तिरस्कार करने में असमर्थ होने पर, उसके उत्कर्ष के लिये उसके किसी सम्बन्धी का तिरस्कार निबन्धन प्रत्यनीक अलंकार है।

भेद-विवेचन

प्रत्यनीक अलंकार का प्रायः लोगों ने भेद नहीं किया है। रुद्रट केवल एक उदाहरण प्रस्तुत करते हैं। मम्मट प्रतिपक्ष-सम्बन्धी के साक्षात् और परम्परया तिरस्कार के दो उदाहरण प्रस्तुत करते हैं। रुय्यक, नरेन्द्रप्रभसूरि, वाग्भट द्वितीय, जयदेव, विद्याधर, विद्यानाथ, विश्वनाथ, कर्णपूर, नरसिंह सभी एक उदाहरण के प्रिय हैं, भेद-विवेचन कोई नहीं करता। शोभाकर प्रत्यनीक के तीन भेद करते हैं : (1) बलवान् प्रतिपक्षी के तिरस्कार करने में अशक्त होने पर उसके निर्बल सम्बन्धी का बाध्य रूप में स्वीकार करके तिरस्कर्ता की निन्दा द्वारा बलवान् की स्तुति प्रतिपादन, (2) प्रतिपक्ष के सम्बन्धी तथा प्रतिपक्ष का बाधक रूप में स्वीकार, और (3) प्रतिपक्ष के सदृश अन्य सम्बन्धी का अभिलषणीय या परिहरणीय रूप में स्वीकार।[16] ध्यान देने योग्य है कि शोभाकर के इन भेदों को स्वीकार नहीं किया गया। जगन्नाथ ने प्रतिपक्ष सम्बन्धी को उपजीव्य, उपजीवक, मित्र, आदि भेद से अनेक प्रकार का माना है। वह उपजीव्य सम्बन्धी और उपजीवक सम्बन्धी के तिरस्कार के उदाहरण उपस्थित करते हैं। विश्वेश्वर मम्मट के अनुगामी हैं।

यस्य किंचिदपकर्तुमक्षमः कायनिग्रहगृहीतविग्रहः।
कान्तवक्त्रसदृशाकृतिं कृती राहुरिन्दुमधुनापि बाधते।।[17]

'सिर काट लेने के कारण वैर मोल लेने वाला राहु उस विष्णु का तो कुछ अपकार कर नहीं सकता, पर उनके सुन्दर मुख के समान आकृति वाले चन्द्रमा को अब भी परेशान करता रहता है।' बलवान् प्रतिपक्षी विष्णु को तो राहु कुछ हानि पहुंचाने में असमर्थ है, अतएव उनके मुख के समान होने से उनसे सम्बन्धित दुर्बल चन्द्रमा को वह तिरस्कृत करता है। चन्द्र का तिरस्कार विष्णु के उत्कर्ष को प्रकट करता है। विष्णु का चन्द्र से साक्षात् सम्बन्ध न होने पर भी वक्त्र के चन्द्र-तुल्य होने से चन्द्रमा का कृष्ण से परम्परया सम्बन्ध विवक्षित है। अतएव मम्मट के अनुसार यह परम्परया प्रतिपक्ष-सम्बन्धी का तिरस्कार रूप प्रत्यनीक है। जगन्नाथ का उपजीव्य वाला भेद साक्षात् सम्बन्ध को अभिव्यक्त करता है, और उपजीवक वाला परम्परया सम्बन्ध को। इसी प्रकार अन्य उदाहरण भी मूल ग्रन्थों में द्रष्टव्य है।

प्रत्यनीक उत्प्रेक्षा से व्यतिरिक्त नहीं

प्रत्यनीक प्रतीयमान हेतूत्प्रेक्षा से गतार्थ हो सकता है। हेतुत्प्रेक्षा की प्रतीयमानता में इवादि का अभाव होने से हेतु निश्चीयमान होता है। अतएव यहां यह सन्देह भी प्रकट नहीं किया जा सकता कि हेतु-उत्प्रेक्षा में हेतु की संभावना मात्र रहती है, निश्चय नहीं। उपर्युक्त उदाहरण में 'मानो भगवान् के साथ वैर होने के कारण राहु उनके मुख सदृश चन्द्रमा को पीड़ित कर रहा है, इस प्रकार की प्रतीति होने से गम्योत्प्रेक्षा स्पष्ट है। इसी प्रकार दीक्षित के इस उदाहरण :

मम रूपकीर्तिमहरद्भुवि यस्तदनु प्रविष्टहृदयेयमिति।
त्वयि मत्सरादिव निरस्तदयः सुतरां क्षिणोति खलु तां मदनः।।[18]

में तो हेत्वंश और उत्प्रेक्षांश दोनों ही शाब्द हैं। प्रतिपक्षी की बलवत्ता और अपनी दुर्बलता की प्रतीति मात्र होने से इसे उत्प्रेक्षा से पृथक् नहीं किया जा सकता। बिना हेतु-उत्प्रेक्षा के प्रत्यनीक होना ही नहीं। इसलिये यह हो सकता है कि हेतुउत्प्रेक्षा के ही दो भेद कर दिये जायें, जिनमें एक में प्रतिपक्ष की बलवत्ता और अपनी दुर्बलता का निबन्धन हो और एक में न हो।[19] अवान्तर दो भेदों में विलक्षणता होने पर उन्हें पृथक् अलंकार तो नहीं, माना जा सकता? अतएव, जैसा कि हेमचन्द्र और जगन्नाथ मानते हैं, प्रत्यनीक को एक पृथक् अलंकार मानने की आवश्यकता नहीं है।[20]

प्रतीप अलंकार का अन्तर्भाव

प्रतीप का अर्थ है उलटा या विपरीत। यह अलंकार उपमा से बिल्कुल विपरीत है, अतएव इसे प्रतीप कहा गया है। उपमा में प्रकृत मुखादि उपमेय होते हैं, अप्रकृत चन्द्रादि उपमान। यहां उसके विपरीत वर्णनीय वस्तु के उत्कर्ष के लिये मुख को ही उपमान और चन्द्र आदि को उपमेय बनाया जाता है। 'यह खिला हुआ कमल इस नायिका के मुख के समान है' इस प्रकार की उक्ति को प्रतीप कहा जाता है। प्रतीप अलंकार में भी प्रसिद्ध उपमानों का तिरस्कार विवक्षित होता है, अतएव रुय्यक आदि आलंकारिक इसे लोकन्यायमूल अलंकारों में परिगणित करते हैं। दंडी की विपर्यासोपमा प्रतीप को अभिव्यक्त करती है।[21] भामह, उद्भट, वामन तथा भोजराज इसका उल्लेख नहीं करते। प्रतीप के भी उद्भावक रुद्रट ही हैं। जहां उपमेय की अत्यधिक प्रशंसा के लिये उपमान की तुलना में विकृत उपमेय उपकृत या निन्दित होता है, रुद्रट के अनुसार वहां प्रतीप अलंकार होता है।[22] मम्मट ने

इसे और भी स्पष्ट किया है। किमर्थता से आक्षिप्त उपमान का तिरस्कार अथवा तिरस्कार के लिये उपमान की उपमेय रूप में कल्पना को वह प्रतीप मानते हैं। यद्यपि रुद्रट ने स्तुति, निन्दा रूप में इसके दो उदाहरण दिये हैं, पर मम्मट चार उदाहरण प्रस्तुत करते हैं। उपर्युक्त दो प्रकार के भेद तो उन्हें मान्य ही हैं। इनके अतिरिक्त उपमान का उपमेय होना और असाधारण गुणों के कारण उपमान न होने वाले की उपमानत्व कल्पना भेद भी संभवतः उन्हें मान्य है।[23] रुय्यक इसे लोकन्यायमूल मानते हैं। लक्षण और विवेचन दोनों मम्मट के समान हैं।[24] शोभाकर अधिक गुणवाले उपमान या अन्य के अनादर को प्रतीप मानते हैं।[25]

नरेन्द्रप्रभसूरि अपने पूर्ववर्ती आचार्यों के अनुगामी हैं।[26] हेमचन्द्र इसे आक्षेप से गतार्थ करते हैं।[27] वाग्भट प्रथम ने उल्लेख नहीं किया है, वाग्भट द्वितीय उपमान से उपमेय की निन्दा, समता अथवा स्तुति को प्रतीप कहते हैं।[28] उपमेय से उपमान की हीनता को जयदेव प्रतीप मानते हैं।[29] विद्याधर, विद्यानाथ, विश्वनाथ, कर्णपूर, नरसिंह, आदि मम्मट रुय्यक का अनुगमन करते हैं।[30] अप्पयदीक्षित इसके पांच भेद करते हैं : (1) उपमान की उपमेय कल्पना, (2) अन्य के उपमेय लाभ से वर्ण्य विषय का अनादर, (3) अवर्ण्य की वर्ण्य रूप में उपमेयत्व कल्पना कर उसका अनादर, (4) उपमान की उपमेय कल्पना में उपमा-अनिष्पत्ति, और (5) उपमान का कैमर्थ्य। दीक्षित ने यह भी स्पष्ट किया है कि 'अनन्वय, उपमेयोपमा और प्रतीप को कुछ लोग पृथक् अलंकार नहीं मानते कुछ लोग आक्षेप रूप पंचम प्रतीप को आक्षेप से गतार्थ करते हैं। इससे प्रतीत होता है कि दीक्षित भी इन्हें उपमा या आक्षेप से पृथक् मानने को उद्यत नहीं हैं।[31] जगन्नाथ ने इन्हीं उपर्युक्त भेदों को प्रकारान्तर किंवा शब्दावली का परिवर्तन कर प्रदर्शित किया है।[32] विश्वेश्वर मम्मट के समान लक्षण करते हुए प्रथमतः दो भेद करते हैं : (1) उपमान की उपमेयता से उपमान की व्यर्थता, तथा (2) उपमान की उपमेय कल्पना। इन्हें भी उपमिति निष्पत्ति और अनिष्पत्ति भेद से वह द्विधा मानकर चार प्रकार का मान लेते हैं।[33]

'अयि एहि तावत्सुन्दरि कर्णं दत्वा शृणुष्व वचनीयम्।
तव मुखेन कृशोदरि चन्द्रः उपमीयते जनेन।' अ.स., पृ. 192

'अयि सुन्दरि! आओ तो कान देकर इस निन्दा को सुन लो। कृशोदरि। लोग तुम्हारे मुख से चन्द्रमा की उपमा देने लगे हैं।' यहां उपमान का अपकर्ष बताने के लिये उपमेय के रूप में उसका निबन्धन किया गया है, अतएव प्रतीप अलंकार है। इसी प्रकार अन्य उदाहरण भी द्रष्टव्य हैं।

वस्तुतः प्रतीप को एक पृथक् अलंकार मानने की आवश्यकता नहीं है। जगन्नाथ ने प्रतीप को पृथक् अलंकार मानने का विरोध किया है। दीक्षितोक्त प्रथम तीन प्रतीप को उपमा से गतार्थ किया जा सकता है :

'त्वल्लोचनसमं पद्मं त्वद्वक्त्रसदृशो विधुः।
अलं गर्वेण ते वक्त्र! कान्त्या चन्द्रोऽपि तादृशः।
कः क्रौर्यदर्पस्ते मृत्यो त्वत्तुल्याः सन्ति हि स्त्रियः।।

प्रतीप के प्रथम तीन भेदों के इन उदाहरणों में उपमा स्पष्ट है। निष्पद्यमान सुन्दर सादृश्य भी उपमा ही है। यह कोई आवश्यक नहीं है कि सादृश्य के लिये प्रसिद्ध वस्तु कमल आदि का ही सहारा लिया जाये। केवल प्रतीप शब्द के माहात्म्य से इसमें होने वाले सादृश्य को उपमा से पृथक् नहीं किया जा सकता। चतुर्थ भेद भी उपमा से बहिर्भूत नहीं हो सकता :

'मुधापवादो मुग्धाक्षि! त्वन्मुखाभं किलाम्बुजम्।'

यदि उपमान तिरस्कार मात्र के आधार पर प्रतीप मानेंगे, तब तो उपस्कार में भी एक भेद मानना पड़ेगा। पंचमभेद को तो स्वयं दीक्षित मानते हैं कि आक्षेप से गतार्थ है।[34] अस्तु, प्रतीप को पृथक् अलंकार मानना अयुक्त है। इसे उपमा, व्यतिरेक और आक्षेप से गतार्थ किया जा सकता है।[35]

मीलित-सामान्य

निमेषण (संकोच) अर्थ में पठित मील् धातु से भाव नपुंसक में क्त प्रत्यय (नपुंसके भावेक्तः पा. 3/13/144) होने पर मीलित शब्द निष्पन्न होता है। एक वस्तु से दूसरी का मिलन, निगूहन या तिरोधान ही मीलित है।[36] मीलित अलंकार में स्वाभाविक अथवा आगन्तुक (औपाधिक) लक्ष्म (चिह्न, कारण) द्वारा एक वस्तु से दूसरी वस्तु का निगूहन या तिरोधान विवक्षित होता है। इसलिये इस अलंकार का मीलित अभिधान अन्वर्थक है।[37] रुय्यक आदि आलंकारिक इसे भी लोकन्यायमूलक मानते हैं। यद्यपि वक्ष्यमाण व्याजोक्ति अलंकार में भी निगूहन प्रक्रिया काम करती है, तथापि वहां निगूहन वस्तु के स्वभाव से नहीं होता, बल्कि प्रयोक्ता उद्भिन्न वस्तु को छिपाने का प्रयास करता है। मीलित में निगूहन वास्तविक होता है, और कोई गुह्य वस्तु उद्भिन्न नहीं होती। गोपन उपह्नुति में भी होता है, पर वहां उपमानोपमेय भाव भी विवक्षित रहता है तथा गोपनकर्ता को गोपनीय वस्तु का ज्ञान रहता है। इसके विपरीत मीलित में न उपमानोपमेय भाव ही रहता है और

न गोप्ता को गोपनीय वस्तु का ज्ञान। यहां तो वस्तु के स्वाभाविक या आगन्तुक लिंग द्वारा एक वस्तु का बलवत् तिरोधान हो जाता है। अपह्नुति में तिरोधान किसी के निषेध द्वारा होता है, मीलित में ऐसी बात नहीं है।

भामह, दंडी, उद्भट तथा वामन मीलित का उल्लेख नहीं करते। इसके प्रथम उद्भावक हैं, रुद्रट। वह इसे वास्तवमूल मानते हैं। उनके अनुसार जहां नित्य या आगन्तुक (स्वाभाविक और कृत्रिम) समान चिह्नवाली अन्य वस्तु से हर्ष, क्रोध, आदि तिरस्कृत किया जाता है, वहां मीलित अलंकार होता है।[38] भोजराज ने रुद्रट के लक्षण को सूक्ष्म और स्पष्ट कर दिया है : किसी वस्तु के द्वारा अन्य वस्तु का तिरस्कार मीलित है।[39] मम्मट ने रुद्रटप्रोक्त लक्षण का परिष्कार मात्र किया है। उनका अभिमत है कि जहां सहज या आगन्तुक चिह्न के द्वारा एक वस्तु से अन्य वस्तु का निगूहन या तिरोधान वर्णित होता है, वहां मीलित अलंकार होता है।[40] गोपाल भट्ट के अनुसार लक्षण में 'निगूह्यते' दीर्घपाठ लेखक का प्रमाद है, अशुद्ध है।[41] रुय्यक ने लक्षण तो भोज के समान किया है, पर वृत्ति में रुद्रट, मम्मट का अनुसरण करते हुए सहज और आगन्तुक पद का प्रयोग कर दिया है। वह सामान्य से मीलित का भेद भी स्थापित करते हैं। उनका कथन है कि सामान्य अलंकार में साधारण-गुण-सम्बन्ध से दो वस्तुओं में भेद भासित नहीं होता जबकि मीलित में उत्कृष्ट गुणवाली वस्तु से निकृष्ट गुणवाली वस्तु का तिरोधान हो जाता है।[42] रुय्यक के सूत्र की व्याख्या में समुद्रबन्ध ने अनेकों समासों का प्रदर्शन करते हुए विभिन्न अर्थों की स्थापना की है।[43] शोभाकर के अनुसार गुण-क्रियादि रूप धर्म की समानता के कारण अर्थ के अर्थान्तर से आच्छादित हो जाने से भेद की अप्रतिपत्ति मीलित अलंकार है। वह मीलित और सामान्य को एक ही अलंकार मानते हैं।[44] नरेन्द्रप्रभ सूरि का लक्षण मम्मट के समान है।[45] हेमचन्द्र मीलित को 'असम्बन्धे सम्बन्धः रूपा' अतिशयोक्ति से गतार्थ कर लेते हैं।[46] वाग्भट प्रथम इसका उल्लेख नहीं करते। वाग्भट द्वितीय रुद्रट के अनुगामी हैं।[47] अत्यन्त सादृश्य के कारण भेद के अपरिलक्षित होने पर मीलित मानने वाले जयदेव, संभवतः इसे सादृश्य-गर्भ ही मानते हैं।[48] विद्याधर, विद्यानाथ, विश्वनाथ, कर्णपूर तथा नरसिंह के लक्षण मम्मट, रुय्यक के समान ही हैं।[49] दीक्षित ने जयदेव के लक्षण में कुछ परिवर्तन कर दिया है।[50]

जगन्नाथ की परिभाषा में तार्किकता का पुट अधिक है—अत्यन्त समानता के कारण स्पष्टतया उपलब्ध किसी वस्तु के लिंगों से भिन्न रूप में प्रतीत होने वाली, किसी अन्य वस्तु के लिंगों द्वारा अपने कारण (अन्य वस्तु) का अनुमान न होना

मीलित अलंकार है।[51] विश्वेश्वर गुण-साम्य के कारण भेदानवभास को मीलित मानते हैं।[52] परवर्ती अन्य आलंकारिकों में उपर्युक्त से कोई अधिक विलक्षणता नहीं है।[53] लक्षण विवेचन स्पष्ट है कि मीलित का जो स्वरूप रुद्रट और भोजराज ने स्थापित किया था, कालान्तर में उसमें कोई विशेष परिवर्तन न हो सका, मात्र शब्दों का हेर-फेर हुआ। अस्तु। समान-गुणवाली दो वस्तुओं में एक के अत्यंत उत्कृष्ट होने से दूसरी का निमीलन या तिरोधान मीलित अलंकार है। वस्तु का तिरोधान स्वाभाविक अथवा कृत्रिम धर्म से दो प्रकार का हो सकता है, यह रुद्रट के लक्षण से ही स्पष्ट है। परवर्ती प्रायः सभी आलंकारिकों ने इन भेदों को स्वीकार कर लिया है। जयदेव तो एक उदाहरण के लिये प्रख्यात हैं। भोजराज पिहित, अपिहित, तद्‌गुण तथा अतद्‌गुण को इसी अलंकार का भेद मात्र मानते हैं।[54] मीलित का उदाहरण आगे प्रदर्शित किया जायेगा।

सामान्य

अवबोधन अथवा ज्ञान अर्थ में पठित मन् (मनु) धातु से भाव अर्थ में घञ् प्रत्यय करने पर मान शब्द की निष्पत्ति होती है।[55] जिसके द्वारा किसी वस्तु का परिज्ञान या अवबोध हो उसे मान कहते हैं। और जो मान के साथ हो वह समान कहा जाता है। या यों भी कह सकते हैं कि जो मान के समान है, 'मानेन सदृशं' वह समान है। समान का भाव ही सामान्य है।[56] सामान्य शब्द, जाति, साधारण या तुल्यार्थ का अभिधायक है। 'मेरे समान कोई दूसरा नहीं है' इस प्रकार का मनन भी मान कहा जाता है। इस मान का अर्थ मान, प्रतिष्ठा, इज्जत, आदि है, पर यहां सामान्य का साधारण अर्थ ही विवक्षित है। प्रस्तुत की अप्रस्तुत के साथ समान गुणों के योग से एकात्मता-निबन्धन होने के कारण आलंकारिक इसकी अन्वर्थकता स्वीकार करते हैं।[57]

दंडी के अतिशयोक्ति जैसे उदाहरण में मम्मट आदि सामान्य अलंकार मानते हैं।[58] इससे प्रतीत होता है कि प्राचीन आचार्य इसे अतिशयोक्ति से गतार्थ करते थे। सामान्य अलंकार से मिलता-जुलता एक साम्य अलंकार रुद्रट को मान्य है। वह इसे औपम्य मूल मानते हैं। रुद्रट साम्य के दो लक्षण प्रस्तुत करते हैं : (1) उपमान और उपमेय में विद्यमान गुण, क्रिया, आदि के कारण उपमान का उपमेय से साम्य होने पर, तथा (2) प्रकारान्तर से उपमान और उपमेय में सर्वात्मना साम्य प्रदर्शित करने के लिये उपमेय के उत्कर्षक किसी विशेष का उपन्यास होने पर साम्य अलंकार होता है।[59] अलंकार को सामान्य अभिधान प्रदान करने का श्रेय मम्मट को है। उनके

अनुसार जहां प्रस्तुत (उपमेय) का अन्य (उपमान) के साथ गुण-साम्य की विवक्षा से ऐक्य योग निबन्धित किया जाये, वहां सामान्य अलंकार होता है। वृत्ति में उन्होंने इसे और भी स्पष्ट किया है। जो वस्तु जैसी नहीं है, उसे उस प्रकार से कहने की इच्छा से जो (प्रस्तुत) अप्रस्तुत अर्थ से संयुक्त होकर अपने गुण का अपरित्याग करते हुए भी उसके साथ एकात्म रूप में निबन्धित किया जाता है, वह समानगुण-निबन्धन के कारण सामान्य कहा जाता है।[60] मम्मट के टीकाकारों ने तद्गुण आदि से इसका भेद-प्रतिपादित किया है। तद्गुण में अपने गुण का परित्याग होता है, यहां वैसी स्थिति नहीं है। मीलित में एक वस्तु की प्रतीति होती है, अन्य का तिरोधान। भ्रान्तिमान् में स्मर्यमाण का आरोप किया जाता है, यहां अनुभूयमान गुणादि का। दो वस्तुओं का तादात्म्य शाब्द न होने से यह रूपक से भी व्यतिरिक्त है। प्रथम अतिशयोक्ति तथा रूपक में उपमेय की उपमान रूप में प्रतीति होती है, पर यहां एकात्म रूप में।[61] रुय्यक ने मम्मट के लक्षण को और भी स्पष्ट करने का प्रयास किया है, प्रस्तुत की अप्रस्तुत के साथ गुण-साम्य के कारण एकात्मता का वर्णन सामान्य है। किसी वस्तु का निषेध कर अन्य की स्थापना न होने से रुय्यक इसे अपह्नुति से भिन्न मानते हैं।[62] शोभाकर सामान्य को मीलित से पृथक् नहीं मानते :

'पृथक् सामान्यमीलितयोर्लक्षणं न कार्यं, भेदाभावात्' अ.र., पृ. 170

नरेन्द्रप्रभसूरि का लक्षण मम्मट के समान है।[63] हेमचन्द्र तो इसे भी अतिशयोक्ति से गतार्थ करते हैं।[64] वाग्भट प्रथम इसका उल्लेख नहीं करते। जयदेव के अनुसार सादृश्य के कारण भेद का दिखाई न पड़ना सामान्य है।[65] वाग्भट द्वितीय भी इसका उल्लेख नहीं करते। विद्याधर, विद्यानाथ, विश्वनाथ, कर्णपूर और नरसिंह के लक्षण पूर्ववत् मम्मट, रुय्यक के समान हैं।[66] विश्वनाथ ने मीलित और सामान्य का भेद दिखाते हुए कहा है कि सामान्य में दोनों के तुल्यगुण होने के कारण भेद-ग्रहण नहीं हो पाता, जबकि मीलित में उत्कृष्टगुणवस्तु से निकृष्टगुणवस्तु का तिरोधान होता है।[67] दीक्षित ने जयदेव के 'भेद एव न लक्ष्यते' के स्थान पर 'विशेषों नोपलक्ष्यते' कर दिया है। देवशंकर तो उन्हीं के अनुगामी हैं।[68] अप्पयदीक्षित ने मीलित और सामान्य का भेद एक नये ढंग से प्रतिपादित किया है। उनका कथन है कि मीलित में एक वस्तु दूसरी से इतनी घुलमिल जाती है कि उनके भिन्न स्वरूप का अवभास ही नहीं होता और सामान्य में वस्तुओं के भिन्न स्वरूप का अवभास होने पर भी उनको एक दूसरे से पृथक् सिद्ध करने वाला व्यावर्तक विशेष परिलक्षित नहीं होता।

मीलित के उदाहरण 'रसो नालक्षि लाक्षायाश्चरणे सहजारुणे' में चरण की स्वाभाविक अरुणिमा से महावर की कृत्रिम अरुणिमा परिलक्षित नहीं हो पाती। अतएव यहां भिन्न स्वरूप का अवभास नहीं होता। सामान्य के उदाहरण 'पद्माकर प्रविष्टानां मुखं नालक्षि सुभ्रुवाम्' में कमल और मुख का पृथक् अवभास तो होता रहता है, पर 'यह कमल है यह मुख' इस प्रकार का विशेष परिलक्षित नहीं होता। अतएव भेद तिरोधान मीलित है तथा भेद के तिरोधान न होने पर भी व्यावर्तक विशेष का अनवभास सामान्य। इसके बाद दीक्षित मम्मट-सम्मत दोनों के भेद का प्रतिपादन करते हैं।[69]

अप्पयदीक्षित के इस विवेचन से स्पष्ट है कि प्राचीन आचार्य मम्मट आदि के मीलित-सामान्य से नव्य आलंकारिक दीक्षित आदि के मीलित-सामान्य में एकरूपता नहीं है। स्वयं दीक्षित यह स्वीकार करते हैं कि 'मल्लिकामाल्यभारिण्यः' आदि में जहां वह मीलित अलंकार मानते हैं, मम्मट आदि की दृष्टि से वहां सामान्य अलंकार होगा और दीक्षित आदि जहां सामान्य अलंकार की सत्ता मानते हैं, मम्मट आदि की दृष्टि से वहां सामान्य से व्यतिरिक्त कोई अन्य अलंकार होगा, अथवा सामान्य का अवान्तर भेद होगा। इसी प्रकार प्राचीनों के अनुसार स्वरूप-तिरोधान होने पर मीलित से व्यतिरिक्त कोई अन्य अलंकार होगा या मीलित का कोई अवान्तर भेद होगा।[70] वस्तुतः मीलित सामान्य के विषय पर आचार्यों में दो पक्ष हैं, जिनका उपन्यास वैद्यनाथ ने इस प्रकार किया है :

> **'स्वरूपतो ज्ञायमाने सादृश्याद्भेदाग्रहणं मीलितमित्यंगीकारे प्रथमः पक्षः। सादृश्याद् भेदाग्रहणमित्येतावन्मात्रमीलितलक्षणांगीकारे द्वितीयः पक्षः।'** —अ.चं., पृ. 165

जगन्नाथ के सामान्य लक्षण में पूर्ववत् तर्कशैली का सहारा लिया गया है, प्रत्यक्ष विषयक वस्तु का भी बलवान् सजातीय पदार्थ-ज्ञान के कारण उससे भिन्न रूप में ज्ञात न होना सामान्य अलंकार है। मीलित में तिरोधीयमान वस्तु प्रत्यक्ष का विषय नहीं होती, जबकि यहां प्रत्यक्ष विषय का अग्रहण होता है। जगन्नाथ के अनुसार इनमें यही भेद है। जगन्नाथ ने दीक्षितप्रोक्त उपर्युक्त मत को उद्धृत करते हुए मम्मट का अनुसरण किया है।[71] विश्वेश्वर के लक्षण मम्मट आदि के समान ही हैं, जबकि अच्युतराय, चिरंजीव, ब्रह्मतन्त्र, आदि के जयदेव, दीक्षित के समान।[72] विवेचन से प्रकट है कि मीलित सामान्य के विषय में आलंकारिकों में दो पक्ष हैं।

यद्यपि भोज ने भी साम्य अलंकार का निरूपण किया है, किन्तु वह रुद्रट

के साम्य से व्यतिरिक्त है। उनके अनुसार जहां उक्ति चातुर्य-वश दोनों (प्रकृता-प्रकृत) का आर्थ औपम्य प्रतीत होता है, वहां साम्य अलंकार होता है, दृष्टान्तोक्ति, प्रपंचोक्ति, प्रतिवस्तूक्ति, आदि उसके अनेक भेद हैं।[73] मम्मट ने ऐक्य प्रतीति के अनुन्नीयमान तथा उन्नीयमान होने से सामान्य के दो भेद स्वीकार किये हैं। रुय्यक मम्मट के प्रथम उदाहरण को उद्धृत कर देते हैं। जयरथ ने साधारण धर्म के आधार पर सामान्य के तीन भेद किये हैं : बिम्बप्रतिबिम्बभाव, अनुगामी और शुद्धसामान्यरूप।[74] विद्यानाथ, विश्वनाथ, आदि भी प्रथम भेद के उदाहरण उपस्थित करते हैं। अप्पयदीक्षित ने दो उदाहरण प्रस्तुत किये हैं। दोनों में भिन्न स्वरूप का अवभास तो है, पर व्यावर्तक विशेष उपलक्षित नहीं होता। जगन्नाथ मात्र एक उदाहरण से काम चला लेते हैं। विश्वेश्वर तो मम्मट के अनुगामी हैं। यही कारण है कि वह दीक्षित और जगन्नाथ प्रतिपादितमीलित-सामान्य की भेद-व्यवस्था का खंडन तो करते ही हैं, जगन्नाथ के सामान्य अलंकार के लक्षण को भी दूषित मानते हैं। इसका विस्तृत विवेचन उनके ग्रन्थ में प्राप्य है।[75]

'यस्मिन् हिमानीनिकरावदाते चन्द्रांशुकैवल्यमिव प्रयाते।
पुच्छाश्रयाभ्यां विकला इवाद्रौ चरन्ति राकासु चिरं चमर्यः।।[76]

'हिमसमूह से धवल तथा मानो चन्द्रकिरणों से एकता प्राप्त जिस हिमालय पर पूनों की रातों में चमरियां पूंछ और आधार रहित सी चिरकाल तक घूमा करती हैं।' प्रबल चन्द्रिका के कारण हिमालय और चमरीपुच्छ की चांदनी से पृथक् रूप में प्रतीति नहीं हो पा रही है, अतएव यहां सामान्य अलंकार है।

मीलित और सामान्य पृथक् अलंकार नहीं

शोभाकर के अनुसार मीलित और सामान्य में कोई भेद नहीं है। अतएव इन्हें पृथक् अलंकार नहीं मानना चाहिये। नाम का उल्लेख न करते हुए जगन्नाथ ने उनके मत को इस प्रकार प्रस्तुत किया है। मीलित, सामान्य और तद्गुण तीनों में भेदाग्रह समान रूप से पाया जाता है। अतएव इन्हें एक ही अलंकार माना जाना चाहिये, तीन नहीं। मीलित में प्रस्तुत तथा अप्रस्तुत वस्तुओं के विभिन्न गुणों में एक-दूसरे का भेद गृहीत नहीं होता। सामान्य में कुछ लोग गुण और गुणी का भेदाग्रह मानते हैं और कुछ जातिमात्र का भी भेदाग्रह स्वीकारते हैं। तद्गुण में भी रक्त (दूसरे के गुण से रंजित होनेवाले) के गुण में रंजक (जिसके गुण से दूसरा रंजित होता है) के गुण का भेद ग्रहण नहीं होता। अतएव क्यों न इन तीनों के स्थान पर

'भेदाग्रह' नामक एक ही अलंकार मान लिया जाये और मीलित आदि तीनों को उसका अवान्तरभेद? अवान्तर भेदों को पृथक् अलंकार नहीं माना जाता अन्यथा, उपमा के लुप्ता आदि भेदों को पृथक् अलंकार मानना पड़ेगा? इसका विरोध करते हुए जगन्नाथ ने कहा है कि उपर्युक्त तर्क के आधार पर तो रूपक आदि की पृथक् अलंकारता असिद्ध हो जायेगी। रूपक, परिणाम, आदि में अभेद तत्त्व पाया जाता है। क्यों न अभेद को ही एक अलंकार मान लिया जाये? और यदि रूपक, परिणाम, आदि को पृथक् अलंकार माना जाता है, तो मीलित आदि को भी पृथक् अलंकार मानने में कोई आपत्ति नहीं है।[77]

वस्तुतः मीलित और सामान्य में कोई विशेष अन्तर नहीं है। जहां सामान्य अलंकार माना जाता है, वहां भेद के अनवगम में दो गति है : स्वरूप की प्रतीति या उसका अभाव। दो पट या घट-पट में जैसे अपने-अपने स्वरूप की प्रतीति होती है, वैसे ही दो वस्तुओं में भेदानवभास होने पर भी अपने-अपने स्वरूप की प्रतीति से भेद प्रतीति संभव है। ऐसे स्थलों में न मीलित ही होगा और न सामान्य। भेदानवभास में जहां अपने स्वरूप की प्रतीति नहीं होती वहां अधिक गुण से निकृष्ट गुण का आच्छादन होता है। अतएव ऐसे स्थान पर अधिक गुण से आच्छादन ही निमित्त है, न कि समानगुणत्व। इस प्रकार भेद की अनवभासता मीलित और सामान्य दोनों में ही समान रूप से पायी जाती है। अतएव इन्हें पृथक् अलंकार न मानकर एक ही अलंकार मानना चाहिये और वह भी जैसा कि शोभाकर का मन्तव्य है, मीलित होना चाहिये, क्योंकि गुण-क्रिया रूप धर्म की समानता के कारण एक वस्तु का वस्त्वन्तर से आच्छादन मीलित का स्वरूप है।[78] दोनों को एक अलंकार मानने का एक और खास कारण है, वह यह है कि आलंकारिक स्वयं इस बात पर एकमत नहीं हैं कि मीलित और सामान्य में भेद क्या है? प्राचीन आचार्य जहां मीलित मानते हैं, नव्य आचार्य वहीं सामान्य के पक्षपाती हैं। अतएव इन्हें एक ही अलंकार मानकर विवाद का उपशमन शक्य है।

विवेक उन्मीलित और विशेष पृथक् अलंकार नहीं

गुणसाम्य के कारण भेद-प्रतीति न होने पर भी किसी प्रकार उसका अवगम विवेक अलंकार है।[79] शोभाकर ने इसका विवेचन किया है। इसी के आधार पर जयदेव ने उन्मीलित अलंकार की उद्भावना की है। उनके अनुसार दो वस्तुओं में अत्यन्त सादृश्य के कारण भेद-प्रतीति न होने पर भी किसी कारण विशेष से भेद-ज्ञान होने पर उन्मीलित अलंकार होता है।[80] स्पष्ट है कि उन्मीलित और विवेक

के स्वरूप में कोई भेद नहीं है। बाद में दीक्षित, देवशंकर तथा ब्रह्मतन्त्र आदि भी इसका विवेचन करते हैं।[81]

'लक्षितान्युदितेचन्द्रे पद्मानि च मुखानि च।'

पद्माकर में प्रविष्ट कामिनियों के मुख और कमल अत्यन्त सादृश्य के कारण पृथक् प्रतीत नहीं हो रहे थे, किन्तु चन्द्रोदय हो जाने के कारण कमल-संकोच से कामिनियों के मुख का पृथक् अवभास होने के कारण यहां उन्मीलित अलंकार है।

सामान्य अलंकार की रीति से जहां दो वस्तुओं में भेद-प्रतीति नहीं होती, किसी कारण विशेष से विशेष (भेद) प्रतीति हो जाने पर विशेष अलंकार होता है।[82] इसके उद्भावक हैं, अप्पयदीक्षित। बाद में दीक्षित के आग्रहवश ब्रह्मतन्त्र परकाल स्वामी ने इसका विवेचन किया है।[83] जयदेव के उपर्युक्त उन्मीलित उदाहरण में दीक्षित विशेष अलंकार मानते हैं। स्पष्ट है कि लक्ष्य की दृष्टि से दोनों अलंकारों में कोई भेद नहीं है।

जगन्नाथ ने इन दोनों को अनुमान से गतार्थ किया है। इसका सविस्तार विवेचन 'रसगंगाधर' में प्राप्य है।[84] यद्यपि नागेश और वैद्यनाथ जगन्नाथ के विरोधी हैं[85], पर जगन्नाथ का मत अधिक ग्राह्य है, क्योंकि उन्मीलित और विशेष अलंकार में भेद और विशेष के प्रत्यक्ष होने पर भी विषय का ज्ञान अनुमिति प्रक्रिया द्वारा संभव है। नागेश ने उद्योत में इनका प्रकारान्तर से प्रत्याख्यान किया है। उनका कथन है कि अत्यन्त साम्य के कारण भिन्न रूप में अगृह्यमाण लिंगों का स्पष्टतया उपलब्ध किसी के लिंगों से अपने कारण का अनुमान मीलित अलंकार है। 'हिमाद्रिं त्वद्यशोमग्नं सुराः शीतेन जानते' उन्मीलित के इस उदाहरण में 'शीतेन जानते' पद से मीलन का दाढ्र्य प्रतिपादित होने के कारण मीलित ही है, अन्य अलंकार नहीं।[86] इसी प्रकार वह विशेष को सामान्य में अन्तर्भूत करते हैं।[87] यद्यपि विश्वेश्वर भी इन दोनों अलंकारों को मीलित सामान्य से गतार्थ करते हैं, पर उनका यह कथन कि इनमें वर्णनीय वस्तु के उत्कर्ष की सामर्थ्य नहीं है, अधिक संगत है।[88] यहां ब्रह्मतन्त्र परकाल स्वामी की यह उक्ति अधिक उपयुक्त है :

'प्रांचस्तु—भेदवैषम्ययोः स्फूर्तौ नालंकारद्वयं कल्प्यं किन्तु उक्तालंकाराभाव-मात्रं, भेदवैजात्यस्फुरणयोः स्वतस्सिद्धतया कविप्रतिभागोचरतामूलक वैचित्र्यविरहात्।' —अ. मणि. भाग-3, पृ. 265

तद्‌गुण

मम्मट, उनके टीकाकार तथा अधिकांश आलंकारिक अप्रकृत वस्तु के गुण का प्रकृत में निबन्धन होने के कारण तद्‌गुण को अन्वर्थक मानते हैं : तस्य अप्रकृतस्य गुणोऽस्ति अस्मिन्निति तद्‌गुणः।[89] रुय्यक के अनुसार परिमित गुणवाली वस्तु के द्वारा उत्कृष्टगुणवस्तु के गुण का स्वीकार होने से इसकी अन्वर्थकता है—तस्योत्कृष्टगुणस्य गुणाः अस्मिन्निति कृत्वा।[90] तद्‌गुण अलंकार में कौन प्रकृत है, कौन अप्रकृत यह तो पूर्णतः वर्णनीय वस्तु के संदर्भ पर निर्भर करता है। अतएव गजेन्द्रगडकर की दृष्टि से मम्मट आदि की व्युत्पत्ति सदोष है।[91] इसलिये रुय्यक की व्युत्पत्ति अधिक ग्राह्य है, क्योंकि तद्‌गुण अलंकार में स्वल्प या परिमित गुणवाली वस्तु अपने समीपवर्ती अत्युत्कृष्ट गुणवाली वस्तु के रूप या गुण को ग्रहण कर लेती है।

भामह, दंडी, उद्‌भट तथा वामन इस अलंकार का उल्लेख नहीं करते। सर्वप्रथम रुद्रट ने इसका विवेचन प्रस्तुत किया है। उन्होंने अतिशयमूलक मानकर इसके दो लक्षण किये हैं : (1) समान गुणवाले अर्थों में—योग होने पर जिनका रूप लक्षित किया जा सके—सम्बन्ध होने पर भेद के लक्षित न होने पर प्रथम तद्‌गुण होता है, और (2) भिन्नगुण वाली वस्तु जहां अत्यन्त उत्कृष्ट गुणवाली वस्तु से संसृष्ट होकर उसके गुण को ग्रहण कर लेती है, वहां द्वितीय तद्‌गुण होता है।[92] ध्यान देने योग्य है कि रुद्रट ने सामान्य अलंकार का विवेचन नहीं किया है, उनका प्रथम तद्‌गुण सामान्य को परिलक्षित करता है तो द्वितीय परवर्ती आलंकारिकों के तद्‌गुण को। अतएव रुद्रट न केवल तद्‌गुण के उद्‌भावक हैं, प्रत्युत सामान्य के भी। भोजराज ने तद्‌गुण, अतद्‌गुण को मीलित का ही भेद माना है।[93] मम्मट ने रुद्रट के द्वितीय तद्‌गुण को मान रखा है। उनके अनुसार जहां अत्युज्ज्वल गुणवाली वस्तु के संसर्ग से परिमितगुणवाली वस्तु अपने स्वरूप का तिरस्कार करके उसके गुण को धारण कर लेती है, वहां तद्‌गुण अलंकार होता है।[94] मम्मट ने अपने लक्षण को वृत्ति में समझाने का प्रयास किया है पर रुय्यक ने लक्षण ही ऐसा निर्मित किया है कि तद्‌गुण का स्वरूप स्पष्ट हो जाता है, अपने गुण को छोड़कर अधिक उत्कृष्ट गुण का स्वीकार तद्‌गुण है। उन्होंने इसे मीलित से पृथक् सिद्ध किया है। मीलित में प्रस्तुत वस्तु की प्रतीति वस्त्वन्तर से आच्छादित रूप में होती है, परन्तु तद्‌गुण में प्रस्तुत का स्वरूप आच्छादित न होकर वस्त्वन्तर के गुण से उपरञ्जित हो उठता है।[95] शोभकर के अनुसार किसी के द्वारा अर्थान्तर के धर्म-गुणादि का स्वीकार तद्‌गुण है। यहां अन्य गुण का स्वीकार स्वगुणपरित्यागपूर्वक होता है। इसके बाद

वह भी रुय्यक रीति से तद्गुण मीलित का भेद स्पष्ट करते हैं।[96] नरेन्द्रप्रभसूरि तो मम्मट, रुय्यक का अनुकरण करते ही हैं।[97]

हेमचन्द्र तथा वाग्भट प्रथम इसका उल्लेख नहीं करते। जयदेव, वाग्भट द्वितीय, विद्याधर, विद्यानाथ, विश्वनाथ, कर्णपूर, दीक्षित, देवशंकर, नरसिंह तथा अन्य परवर्ती आलंकारिक विश्वेश्वर, चिरंजीव, छज्जूराम, आदि के लक्षणों में कोई परिवर्तन नहीं है।[98] जगन्नाथ के अनुसार स्वगुणपरित्यागपूर्वक अपने समीपवर्ती वस्त्वन्तर का गुण ग्रहण तद्गुण अलंकार है।[99] उन्होंने उल्लास से इसका भेद प्रतिपादित करते हुए कहा है कि यद्यपि उल्लास में भी अन्य के गुण से अन्य का गुणाधान होता है, तथापि वहां दूसरे के गुण से प्रयुक्त गुणान्तर का हरिद्रा आदि में लवण-चूर्ण प्रयुक्त शोणिमा की तरह निबन्धन होता है, जबकि तद्गुण में जपाकुसुम के संसर्ग से स्फटिक की लौहित्य की भांति अन्य गुण का अन्यत्र वर्णन किया जाता है।[100]

सूक्ष्म दृष्टि से विचार किया जाये तो यह स्पष्ट प्रतीत होगा कि तद्गुण अलंकार में समय-समय पर स्वरूप परिवर्तन होते रहे हैं। रुद्रटप्रोक्त तद्गुण का क्षेत्र व्यापक था, उसमें सामान्य अलंकार भी अन्तर्भूत था। मम्मट ने सामान्य को उससे पृथक् कर उसकी सीमा संकुचित कर दी, फिर भी मम्मट का तद्गुण, जैसा कि उनके उदाहरण से प्रकट होगा, स्वगुण, अपरगुण तथा पुनः स्वगुण रूप में होकर व्यापक ही था। उसमें से अन्तिम तत्त्व पूर्वरूप-प्राप्ति को बहिष्कृत करके जयदेव ने उसे और संकुचित कर दिया और जयदेव के यहां उसका दायरा स्वगुण-परगुण तक ही सीमित रहा। जयदेव की उद्भावना का बहुत कम आचार्यों ने समादर किया। अतएव तद्गुण का स्वरूप जो मम्मट और रुय्यक ने स्थिर किया, वही अधिकांश आचार्यों को मान्य रहा। अधिकांश आलंकारिक लक्षण में 'स्वगुणत्यागपूर्वक' पद का सन्निवेश करते हैं, पर वहां उसका यह अर्थ नहीं है कि स्वल्पगुणविशिष्टवस्तु अपने गुण का सर्वथा परित्याग कर देती है, अपितु उसका तात्पर्य यही है कि उत्कृष्ट-गुण-विशिष्ट वस्तु इतनी उत्कृष्ट होती है कि निकृष्ट गुणवाले को वह एक तरह से तिरस्कृत-सा कर देती है। यों कह सकते हैं कि स्वल्पगुणवाली वस्तु उत्कृष्ट गुणवाली वस्तु से अभिभूत हो जाती है। ऐसा होने पर भी यह मीलित नहीं कहा जा सकता क्योंकि मीलित में अन्य वस्तु के द्वारा प्रकृत का सर्वथा तिरस्कार हो जाता है, पर यहां गुणमात्र का तिरस्कार होता है और अन्य के गुण से उपरक्त वस्तु का स्वरूपतः प्रतिभास होता रहता है। मीलित में तो प्रकृत वस्तु का स्वरूप ही आच्छादित हो जाता है।[101] सामान्य में दो वस्तुओं के गुणादि में इतना साम्य

होता है कि उनमें स्वयं अभेद-प्रतीति होने लगती है। प्रकृत अपने गुण का परित्याग किये बिना ही अभिन्नतया प्रतिभासित होता है, किन्तु तद्गुण में गुणमात्र का तिरस्कार होता है, धर्मी का पृथक् आभास होता रहता है। भ्रान्तिमान् में स्मर्यमाण वस्तु का आरोप होता है और यहां गृह्यमाण का। इस प्रकार इन अलंकारों की पृथक् अवस्थिति मान्य है।[102]

रुद्रट को छोड़कर किसी आलंकारिक ने तद्गुण का भेद नहीं किया है। एक उदाहरण :

'विभिन्नवर्णा गरुडाग्रजेन सूर्यस्य रथ्या परितः स्फुरन्त्या।
रत्नैः पुनर्यत्र रुचारुचं स्वामानिन्यिरे वंशकरीरनीलैः।।' —माघ, 4/14

सुधासागरकार इसे द्वारका वर्णन का वृत्तान्त बताते हैं। वस्तुतः यह रैवतक पर सूर्योदय का दृश्य है। 'जिस रैवतक पर्वत पर अरुण की लाली से परिवर्तित रंगवाले सूर्य के घोड़े बांसों की कोंपलों के समान हरित मरकत मणियों की चतुर्दिक् फैलती हुई आभा से पुनः अपनी क्रान्ति को प्राप्त कर लेते हैं।' यहां पूरे श्लोक में दो तद्गुण हैं। प्रथमतः सूर्य के घोड़े अरुण की लाली से अपनी स्वाभाविक आभा को छोड़कर लालवर्ण हो जाते हैं, पुनः हरित मरकत मणियों की आभा से रक्तवर्ण का परित्याग कर अपनी स्वाभाविक कान्ति का प्राप्त कर लेते हैं। इस प्रकार यहां पूरे पद्य में तद्गुण है।[103]

प्रतिप्रसव और पूर्वरूप तद्गुण से भिन्न नहीं

निवृत्त अर्थ की पुनः प्राप्ति प्रत्यापत्ति कही जाती है। प्रत्यापत्ति ही प्रतिप्रसव अलंकार है 'प्रत्याप्रत्तिः प्रतिप्रसवः' (अ.र. 85 तथा वृत्ति)। इसके उद्भावक शोभाकर पूर्वोक्त विभिन्न वर्णा को इसका उदाहरण मानते हैं। अतएव इसी के आधार पर स्वगुण का परित्याग और अन्यगुण का ग्रहण होने पर पुनः किसी कारणवश अपने पूर्वरूप की प्राप्ति होने पर जयदेव पूर्वरूप नामक एक पृथक् अलंकार मानते हैं। उन्होंने पूर्वरूप का एक दूसरा लक्षण भी किया है, जहां वस्तु का बदला हुआ रूप पुनः पूर्ववत् हो जाये वहां भी पूर्वरूप होता है।[104] बाद में इसका इसी प्रकार से विवेचन अप्पयदीक्षित, देवशंकर, चिरंजीव, अच्युतराय और ब्रह्मतन्त्र स्वामी ने भी किया है।[105] वस्तुतः पूर्वरूप तद्गुण से व्यतिरिक्त नहीं है। मम्मट-रुय्यक प्रदत्त तद्गुण के पूर्वोक्त 'विभिन्नवर्णा' इत्यादि उदाहरण को दीक्षित पूर्व रूप का उदाहरण मानते हैं। मम्मट आदि की दृष्टि से वहां तद्गुण है, अप्पय

आदि की दृष्टि से हरित वर्ण घोड़े अरुण की लाली से रक्त हो जाते हैं, तो तद्‌गुण हो जाता है, और पुनः मणियों की आभा से अपनी पूर्वकान्ति पा जाते हैं तो पूर्व रूप हो जाता है। वस्तुतः यदि इस तत्त्व को तद्‌गुण से अलग मानना ही हो तो, तद्‌गुण का भेद ही मानना ठीक होगा पृथक् अलंकार नहीं। जयदेव का द्वितीय पूर्वरूप प्रथम से व्यतिरिक्त नहीं है। अस्तु, पूर्वरूप की तद्‌गुण से भिन्न रूप में अवस्थिति अमान्य है।[106] दीक्षित के अनुयायी देवशंकर भी इस तथ्य से अपरिचित नहीं हैं :

'पूर्वरूपममुं केचिदामनन्ति हि तद्‌गुणम्' —अ.मं., पृ. 191

अनुगुण-खण्डन

जयदेव ने अनुगुण नामक एक और अलंकार की उद्‌भावना की है। कोई वस्तु किसी अन्य वस्तु के समीप होने के कारण जब पूर्वगुण से अधिक उत्कर्ष को प्राप्त हो जाती है, तो अनुगुण अलंकार होता है।[107] दीक्षित आदि इसका भी विवेचन प्रस्तुत करते हैं।[108]

'कर्णोत्पलानि दधते कटाक्षैरतिनीलताम्'।

यहां नायिका के नीलकमल तुल्य उत्कृष्ट गुणनेत्रों के संसर्ग से कान में लगे नीलोत्पल और भी नीले होते जा रहे हैं। अतएव जयदेव के अनुसार यह अनुगुण अलंकार का उदाहरण है। ध्यातव्य है कि रुय्यक आदि का तद्‌गुण अलंकार उसी तत्त्व को प्रस्तुत करता है, जिस पर अनुगुण आश्रित है। अन्तर केवल इतना ही है कि तद्‌गुण में स्वल्पगुण अपने गुण का परित्याग सा करते हुए समीपवर्ती उत्कृष्टगुण को ग्रहण कर लेता है और यहां स्वगुण का परित्याग न होकर उसी का और भी उत्कर्ष हो जाता है। इस प्रकार कथन के सूक्ष्म-प्रकारों को लेकर पृथक् अलंकार मानने पर तो अलंकारों की बाढ़-सी आ जायेगी। अतएव अनुगुण को भी तद्‌गुण के भिन्न अलंकार न मानकर उसी के अन्तर्गत रखना उपयुक्त होगा। उद्योतकार आदि का यही अभिमत भी है :

परसन्निधानेन स्वगुणोत्कर्षोऽपि तद्‌गुण विशेष एव, इत्यापि बोध्यम्। .... एतेनात्र अनुगुणनामा पृथगलंकारः इत्यपास्तम्।[109]

—उद्योत, पृ. 574

अतद्‌गुण

अतद्‌गुण अलंकार तद्‌गुण से पूर्णतः विपरीत है। अतद्‌गुण भी अन्वर्थक है, क्योंकि इसमें न्यूनगुण वस्तु उत्कृष्ट गुण वस्तु के गुण को ग्रहण नहीं करती—तस्योत्कृष्टगुणस्यास्मिन् गुणा न सन्ति इति।[110] यद्यपि विद्यानाथ अतद्‌गुण को विरोधमूलक अलंकार मानते हैं और उचित भी है, तथापि रुय्यक-परम्परा का अनुसरण करते हुए यहां इसे लोकन्यायमूल अलंकारों की श्रेणी में रखा गया है।

भामह, दंडी, उद्‌भट, वामन तथा रुद्रट ने इस अलंकार का उल्लेख नहीं किया है। संभवतः ये प्राचीन आचार्य इसे विशेषोक्ति से गतार्थ करते थे। अतद्‌गुण का सर्वप्रथम उल्लेख, मीलित के एकभेद के रूप में, भोजराज करते हैं।[111] इससे प्रतीत होता है कि भोज से पहले इस अलंकार की सत्ता प्रकाश में आ चुकी थी। भोज के बाद मम्मट के काव्यप्रकाश में यह एक स्वतंत्र अलंकार के रूप में अवतरित होते हैं। मम्मट की कारिका और वृत्ति के अनुसार अतद्‌गुण के दो भेद परिलक्षित होते हैं : (1) अत्युत्कृष्ट गुणयोग होने पर भी स्वल्पगुण अप्रकृत प्रकृत के गुण-को ग्रहण नहीं करता, तथा (2) अत्युत्कृष्ट गुण सम्बन्ध होने पर भी स्वल्पगुण प्रकृत अप्रकृत के गुण का अनुहार नहीं करता।[112] तद्‌गुण-अतद्‌गुण में प्रकृत-अप्रकृत का निर्णय करना कठिन होता है, अतएव गजेन्द्रगडकर के अनुसार लक्षण में इनका उपादान सदोष है।[113] अतद्‌गुण के प्रारंभ में ही रुय्यक कहते हैं कि तद्‌गुण के प्रस्ताव से तद्विपर्ययभूत, अतद्‌गुण का भी विवेचन किया गया है। रुय्यक का यह कथन क्या यह सूचित नहीं करता कि वह इसको प्रस्ताव-वश, या मम्मट के आग्रहवश ही स्वीकार करते हैं? उनका विवचेन भी मम्मट के ही समान है। सूत्र तो संक्षिप्त ही है, कारण रहने पर भी उसके (उत्कृष्टगुण प्रकृत अथवा अप्रकृत) गुण का अननुहार अतद्‌गुण है। रुय्यक ने भी इसका विवेचन मम्मट के अनुसार ही किया है। सामान्यतया न्यूनगुण वस्तु द्वारा अधिक उत्कृष्टगुण वस्तु के धर्म को प्रत्यासत्ति के कारण ग्रहण कर लेना चाहिये पर यदि उत्कृष्ट गुणवाली वस्तु के समीप रहने का कारण होते हुए भी न्यूनगुणवाली वस्तु उसका अनुवर्तन नहीं करती तो अतद्‌गुण अलंकार होता है, अथवा अप्रकृत के रूप के अनुहार का कारण रहने पर भी प्रकृत द्वारा उसका अग्रहण अतद्‌गुण है।[114] रुय्यक के टीकाकार जयरथ के अनुसार अलंकारसारकार ने अतद्‌गुण को विशेषोक्ति में अन्तर्भूत कर लिया है।[115]

शोभाकर के अनुसार अतद्‌गुण विशेषोक्ति से अभिन्न है। वह मम्मट, रुय्यक के अतद्‌गुण के उदाहरण 'धवलोऽसि यद्यपि सुन्दर' आदि को उपस्थित करते हुए कहते हैं कि रक्त (अनुरागमय) हृदय में निहितत्त्व रूप कारण के विद्यमान रहने

पर भी नायक में रक्तता (अनुराग) उत्पन्न नहीं हो रही है। अतएव हेतु के होने पर भी कार्याभाव के कारण विशेषोक्ति ही मानना समीचीन है, न कि अतद्गुण। दूसरे के गुण का अननुहार रूप विच्छित्ति मात्र को लेकर पृथक् अलंकार मानने पर तो नाना प्रकार के कार्यों की अनुत्पत्ति रूप अनेक अलंकार मानने पड़ जायेंगे। इसलिये हेतु के रहते जिस किसी भी कार्य की अनुत्पत्ति हो, उसमें विशेषोक्ति का स्वीकार उपयुक्त है :

हेतौ सत्यपि नान्यस्य गुणानुहरणं यदि।
विशेषोक्तिरसाविष्टा न वाच्योऽपि ह्यतद्गुणः।। अ.र., पृ. 169

यही नहीं वह तो उपर्युक्त उदाहरण में विषम अलंकार भी पाते हैं।[116] नरेन्द्रप्रभसूरि का लक्षण रुय्यक के ही समान है।[117] हेमचन्द्र इसे विरोध में अन्तर्भूत करते हैं।[118] वाग्भट प्रथम उल्लेख ही नहीं करते। वाग्भट द्वितीय का कथन है कि उस (प्रकृत-अप्रकृत) से संश्लिष्ट होकर भी जो वस्तु उसके गुण का आश्रय नहीं लेती वह अतद्गुण है। जयदेव का लक्षण भी इसी प्रकार का है।[119]

विद्याधर, विद्यानाथ, विश्वनाथ, कर्णपूर, अप्पय, देवशंकर, मम्मट, रुय्यक का अनुवाद मात्र प्रस्तुत करते हैं।[120] विश्वनाथ का वैशिष्ट्य है अतद्गुण को विशेषोक्ति और विषम से पृथक् सिद्ध करना। उनका मन्तव्य है कि विशेषोक्ति में अन्य गुण का अनुहार नहीं पाया जाता और विषम में कारणगुण के विरुद्ध कार्यगुण की उत्पत्ति पायी जाती है। अतएव वे दोनों इससे भिन्न हैं।[121] अप्पयदीक्षित की विशेषता है, तद्गुण, अतद्गुण को उल्लास और अवज्ञा से भिन्न बताना। उनका अभिमत है कि उल्लास और अवज्ञा में गुण शब्द दोष का प्रतिपक्षी है, जबकि तद्गुण, अतद्गुण में वह रूप, रस, गन्ध, आदि का वाचक है। इसी परिसर में वह यह भी व्यक्त करते हैं कि अवज्ञा तथा अतद्गुण विशेषोक्ति के भेद मात्र हैं क्योंकि विशेषोक्ति का सामान्य लक्षण—कार्याजनिर्विशेषोक्तिः सति पुष्कलकारणे—इनमें पूर्णतः घटित होता है। इस प्रकार यद्यपि ये दोनों अलंकार विशेषोक्ति में अन्तर्भूत हैं, तथापि उल्लास और तद्गुण के विरोधी होने के कारण दीक्षित इनका विवेचन करते हैं।[122]

जगन्नाथ भी अतद्गुण के लक्षण में कोई विशेषता नहीं ला सके। चातुर्यवश वह कह देते हैं कि तद्गुण का विपर्यय ही अतद्गुण है—तद्विपर्ययो अतद्गुणः।[123] जगन्नाथ स्वदत्त अतद्गुण के उदाहरण में गुणाग्रहण शाब्द और स्वगुणत्यागाभाव आर्थ मानते हैं। तात्पर्य यह है कि वह अतद्गुण के शाब्द-आर्थ दो भेद स्वीकार

करते हैं। वह सर्वस्वकार के उक्त दो भेदों को उपस्थित कर उसका आशय समझाते हैं कि सर्वस्वकार के अनुसार अपने से अपकृष्ट वस्तु का गुण-ग्रहण न करना स्वाभाविक है, लोकसिद्ध है। ऐसी स्थिति में यदि अपने से अपकृष्ट गुणाग्रहण का वर्णन हो तो कवि कल्पना का अभाव होने से वह वैचित्र्याधायक नहीं होता। अतएव अपकृष्टता को लेकर तृतीय भेद संभव नहीं है। ध्यातव्य है कि अलंकारसर्वस्व में इस प्रकार का कोई कथन नहीं है। कुछ लोगों के अनुसार उक्त दो भेदों में अवान्तर चमत्कार विशेष का अनुभव नहीं होता, अतएव एक ही भेद मानना चाहिये। अन्त में वह शोभाकर और दीक्षित के अनुसार यह प्रतिपादित करते हैं कि अतद्गुण विशेषोक्ति से ही गतार्थ और विरोध ही इसका प्राण है।[124] विश्वेश्वर तथा परवर्ती आलंकारिक किसी नवीन विशेषता का योग नहीं कर सके। उनके लक्षण प्राचीनों से भिन्न नहीं हैं।[125] विश्वेश्वर अतद्गुण का विशेषोक्ति में अन्तर्भाव होने का खण्डन अवश्य करते हैं,[126] पर वह ग्राह्य नहीं है। प्राचीन आचार्य मम्मट, रुय्यक, आदि प्रकृत-अप्रकृत के गुणाग्रहण रूप से अतद्गुण के दो भेद मानते हैं। जगन्नाथ आदि नव्य आलंकारिक लक्षण में प्रकृत-अप्रकृत का समावेश नहीं करते, वही उपयुक्त भी है। अतएव अतद्गुण का सामान्य लक्षण होगा, अत्युत्कृष्ट गुण वाली वस्तु से संसर्ग होने पर भी किसी के द्वारा उसका गुणाग्रहण अतद्गुण अलंकार है।

धवलोऽसि यद्यपि सुन्दर तथापि त्वया मम रंजितं हृदयम्।
रागभरितेऽपि हृदये सुभग निहितो न रक्तोऽसि।।[127]

'अयि सुन्दर? यद्यपि तुम धवल हो तथापि तुमने मेरे हृदय को रंजित कर दिया है। पर रागमरे (मेरे) हृदय में रहने पर भी सुभग? तुम रक्त (अनुरक्त, लाल) नहीं हो पाये हो।' यहां पूर्वार्द्ध में धवलरूप कारण से रक्तरूप कार्य की उत्पत्ति होने के कारण विषम अलंकार है,[128] कुछ लोगों के अनुसार विरोध है।[129] उत्तरार्द्ध में अत्यन्त उत्कृष्ट रक्तहृदय से नायक का संपर्क है, पर वह रक्त (अनुरक्त) नहीं हो पाता है, अतएव प्रथम अतद्गुण अलंकार है। ध्यातव्य है कि मम्मट, रुय्यक प्रोक्त प्रकृत-अप्रकृत की संगति यहां नहीं बैठती। रागपूर्ण हृदय नायिका भी यहां प्रकृत है और संबोध्य नायक भी। अतएव लक्षण में प्रकृताप्रकृत का उपयोग अनावश्यक है। उपर्युक्त उदाहरण में श्लेषोत्थापित विच्छित्ति भी द्रष्टव्य है। अतएव कह सकते हैं कि अतद्गुण में विषम, विरोध, श्लेष, विशेषोक्ति अनेक तत्त्व पाये जाते हैं। अतएव जैसा कि कुछ आलंकारिक मानते हैं, अतद्गुण को पृथक् अलंकार नहीं मानना चाहिये।

उत्तर

उत्तर शब्द प्रतिवचन, उत्तम, दिशा, आदि अनेक अर्थों का बोधक है।[130] यहां उत्तर का प्रतिवचन अर्थ ही ग्राह्य है। उत्तर वाक्य का प्रयोग होने पर सामान्यतः उसी का बोध होता है। कभी-कभी ऐसा होता है कि हम उत्तर तो देते हैं, किन्तु उसी से प्रश्न की भी कल्पना हो जाया करती है और कभी-कभी प्रश्नों के ऐसे उत्तर दिये जाते हैं, जो प्रायः असंभाव्य होते हैं। उत्तर की इन्हीं विधाओं पर आलंकारिक उत्तर अलंकार की कल्पना करते हैं। इस प्रकार के प्रयोग लोक में बहुधा पाये जाते हैं। यही कारण है कि रुय्यक आदि इसे भी लोकन्याय पर आधारित मानते हैं।

भामह, दंडी, उद्भट तथा वामन उत्तर अलंकार का उल्लेख नहीं करते। इसके प्रथम उद्भावक हैं आचार्य रुद्रट। उन्होंने इसे वास्तव और औपम्य दो वर्गों में रखा है। उनके अनुसार जहां उत्तर वाक्य के श्रवण से पूर्व वाक्य (प्रश्न) या प्रश्न के श्रवण से उत्तर की कल्पना की जाती है, वहां वास्तव उत्तर होता है। उनकी व्याख्या में नमिसाधु ने इसे अनुमान से पृथक् सिद्ध करते हुए कहा है कि अनुमान में सामान्यतः कार्य-कारण भाव का प्रदर्शन होता है और यहां उत्तर वचन के श्रवण से श्रोता पूर्ववचनों का निश्चय कर लेता है।[131] ज्ञात वस्तु (उपमान) से भिन्न वस्तु (उपमेय) के पूछने पर तत्त्वतः समानधर्म वाले प्रसिद्ध कार्य के कारण ज्ञातवस्तु (उपमान) के तुल्यवस्तु का वर्णन होने पर औपम्य उत्तर होता है।[132] नमिसाधु ने औपम्य-उत्तर, वास्तव-उत्तर और परिसंख्या का भेद स्थापित किया है। उनका कथन है कि परिसंख्या में अज्ञात वस्तु पूछी जाती है, नियम-प्रतीति होती है और औपम्य का अभाव पाया जाता है जबकि औपम्य उत्तर में ज्ञात वस्तु से भिन्न वस्तु पूछी जाती है, नियम प्रतीति नहीं होती और औपम्य पाया जाता है और वास्तव उत्तर में न तो नियम की प्रतीति होती है, न औपम्य पाया जाता है, केवल प्रश्न से उत्तर का कथन मात्र होता है।[133] भोज ने प्रश्नोत्तर और उत्तर दो अलंकारों का विवेचन किया है। प्रथम शब्दालंकार है और द्वितीय अर्थालंकार। दिग्धगोष्ठियों में विनोदार्थ पद या वाक्य द्वारा पर्यनुयोग का निर्भेद प्रश्नोत्तर कहा जाता है। उसके छः भेद हैं: अन्तःप्रश्न, बहिर्प्रश्न, बहिरन्तःप्रश्न, जाति प्रश्न, पृष्ठप्रश्न और उत्तर प्रश्न।[134] भोज का उत्तर (अर्थालंकार) सार से व्यतिरिक्त है।[135] तात्पर्य यह है कि भोज के ये दोनों उत्तर अन्य आलंकारिकों के उत्तर से भिन्न हैं।

मम्मट ने रुद्रट के वास्तव उत्तर का विवेचन किया है, औपम्य उत्तर को वह छोड़ देते हैं। उनका उत्तर का प्रथम भेद तो रुद्रट के ही समान है, पर द्वितीय उत्तर में वह रुद्रट की अपेक्षा कुछ अधिक तत्त्व का समावेश करते हैं। वह उत्तर के

श्रवण मात्र से प्रश्न के उन्नयन में प्रथम उत्तर तथा प्रश्न से असंभाव्य असकृत् उत्तर के निबन्धन में द्वितीय उत्तर मानते हैं। रुद्रट के द्वितीय वास्तव उत्तर में एक प्रश्न के अनेक उत्तर निबद्ध हैं। मम्मट और उनके टीकाकारों के अनुसार सकृत्प्रश्न और उत्तर चमत्कारी नहीं होता, इसलिये असकृत् प्रश्नोत्तर का ही निबन्धन उपयुक्त है।[136] मम्मट ने इसे काव्यलिंग और अनुमान से पृथक् सिद्ध किया है, जिसका भाव यह है कि काव्यलिंग में कारण कार्य का जनक होता है, यहां उत्तर प्रश्न का जनक हेतु नहीं है और अनुमान में साध्य-साधक का एक धर्मी में निर्देश होता है। यहां उत्तर का साधन रूप में निर्देश तो होता है, पर प्रश्न का साध्य रूप में नहीं। मम्मट की इस सरिण का रुय्यक आदि भी अनुसरण करते हैं।[137] रुय्यक ने मम्मटीय लक्षण को सूत्राबद्ध करके दोनों भेद स्वीकार किये हैं तथा उन्हीं की रीति से उतर को अनुमान से पृथक् किया है।[138] वह इसे परिसंख्या से पृथक् करते हैं। आर्थ परिसंख्या में वक्ता का तात्पर्य अन्य के व्यपोह में होता है, यहां उसका अभाव है। विश्वनाथ आदि रुय्यक के इस कथन के समर्थक हैं।[139] शोभाकर के अुनसार उत्तर अलंकार नियम से व्यतिरिक्त नहीं है।[140] नरेन्द्रप्रभसूरि तो मम्मट, रुय्यक के अनुगामी हैं।[141] हेमचन्द्र प्रश्न से उत्तर का निश्चय होनें वाले उत्तर को परिसंख्या से गतार्थ करते हैं तथा उत्तर से प्रश्नोन्नयन उत्तर रूप को अनुमान से।[142] वाग्भट प्रथम के यहां यह अलंकार नहीं है। वाग्भट द्वितीय ने इसे उत्तरोत्तर अभिधान प्रदान किया है तथा मम्मट के प्रथम उत्तर को स्वीकार किया है।[143] जयदेव का लक्षण अस्पष्ट है, जिसे गागाभट्ट ने इन शब्दों में स्पष्ट किया है :[144]

प्रश्नेनोत्तरकल्पने उत्तरेण वा प्रश्नकल्पने प्रश्नोत्तरालंकारः।[145]

विद्याधर, विद्यानाथ, विश्वनाथ, कर्णपूर और नरसिंह का उत्तर-विवेचन मम्मट रुय्यक जैसा ही है।[146] अप्पयदीक्षित ने अपने पूर्ववर्ती आचार्यों से भिन्न लक्षण किया है, जहां किसी अभिप्राय से युक्त गूढ़ उत्तर दिया जाये, वहां उत्तर होता है। ध्यातव्य है कि दीक्षित ने यहां शब्दावली मात्र में परिवर्तन कर दिया है, अभिप्राय उनका भी मम्मट आदि के समान है। वह भी उन्नेय प्रश्न, तथा निबद्ध प्रश्न से इसके दो भेद मानते हैं। उन्होंने उत्तर का एक और लक्षण किया है, जहां प्रश्न और उत्तर दोनों अभिन्नतया निबन्धित हो वहां चित्रोत्तर होता है। देवशंकर तो अप्पय के अनुगामी हैं।[147] जगन्नाथ की परिभाषा में तार्किकता का पुट है, प्रश्न-प्रतिबन्धकज्ञानविषयीभूत अर्थ उत्तर अलंकार है। जगन्नाथ ने सविस्तार अपने मन्तव्य का विवेचन किया है।[148] विश्देश्वर मम्मट का अनुसरण करते हैं। उन्होंने

इसके दो पृथक् लक्षण किये हैं तथा सविस्तार काव्यलिंग अनुमान और परिसंख्या से इसे पृथक् सिद्ध किया है।[149] अच्युतराय आदि के लक्षणों में कोई अतिरिक्त बात नहीं है।[150]

समग्र आलंकारिकों के लक्षण विवेचन से स्पष्ट है कि रुद्रट का औपम्य-उत्तर बाद में किसी को मान्य न हो सका। रुद्रट के वास्तव उत्तर के प्रथम भेद उन्नेय प्रश्न को मम्मट आदि प्रायः सभी लोग स्वीकार करते हैं, द्वितीय उत्तर सकृत् प्रश्न का है। मम्मट आदि की दृष्टि से निबद्ध प्रश्न द्वितीय उत्तर में सकृत प्रश्न में उतनी चारुता नहीं है, अतएव ये आलंकारिक असकृत् असंभाव्य प्रश्नोत्तर के निबन्धन में द्वितीय उत्तर स्वीकार करते हैं।[151] पर नागेश ने रुद्रट का समर्थन करते हुए यह स्पष्ट कर दिया है कि सकृत् प्रश्न के उपादान में अनेक उत्तरों के निबन्धन में भी सौन्दर्य की कमी नहीं है।[152] रुय्यक के टीकाकार जयरथ के अनुसार उत्तर के दोनों भेद एक ही अलंकार न होकर दो अलंकार हैं, क्योंकि इसका सामान्य लक्षण असंभव है। उनका अभिमत है कि ग्रन्थकार ने उत्तर के दोनों उदाहरण प्राचीनों के अनुरोध से उपस्थित किये हैं। वस्तुतः इनमें उत्तर अलंकार नहीं है, यही कारण है कि अलंकारसारकार आदि (शोभाकर) इन दोनों अलंकारों का खंडन करते हैं।[153] विद्याधर के अनुसार द्वितीय उत्तर अन्यों के मत में वाकोवाक्य अलंकार है।[154] भोजराज वाकोवाक्य को शब्दालंकार मानते हैं। उक्ति-प्रत्युक्ति ही वाकोवाक्य है। उसके छः भेद हैं : ऋजूक्ति, वक्रोक्ति, वैयात्त्योक्ति, गूढोक्ति, प्रश्नोत्तरोक्ति तथा चित्रोक्ति।[155] इससे एक बात और सिद्ध हो जाती है कि भोज का वाकोवाक्य अलंकार उत्तर से व्यतिरिक्त नहीं है। जैसा कि पहले ही कह चुके हैं, अप्पय उन्नेय-प्रश्न और निबद्ध-प्रश्न दो भेदों के अतिरिक्त चित्रोत्तर नामक तृतीय भेद की उद्भावना करते हैं। जगन्नाथ प्राचीनों की दृष्टि से उन्नीतप्रश्न, और निबद्धप्रश्न दो भेद तो मानते ही हैं, वह इनके, साभिप्राय, निरभिप्राय भेद से आठ भेद कर देते हैं, उन्नीस प्रश्न के चार भेद : (1) प्रश्न साभिप्राय, उत्तर निरभिप्राय; (2) उत्तर साभिप्राय, प्रश्न निरभिप्राय; (3) प्रश्नोत्तर दोनों साभिप्राय; तथा (4) दोनों निरभिप्राय। इसी प्रकार निबद्ध प्रश्न के भी चार भेद होते हैं।[156] आगे जगन्नाथ प्राचीनों के मत 'प्रश्न और उत्तर का कई बार निबद्ध होना उत्तर का जीवन है' को उपस्थित करते हुए विवेचन पुरस्सर यह स्पष्ट करते हैं कि निबद्धप्रश्नउत्तर अलंकार में यदि प्रश्न और उत्तर दोनों अभिप्रायविशेष पूर्ण हों तो उन्हीं के कारण चमत्कार उत्पन्न होने से प्रश्नोत्तर के पुनः पुनः उपादान की अपेक्षा नहीं होती और यदि प्रश्नोत्तर अभिप्राय पूर्ण न हो तो उनका पुनः पुनः उपादान अपेक्षित हो जाता

है क्योंकि साभिप्रायता के अभाव में उनका पुनः पुनः उपरदान ही चमत्कार का कारण बनता है। उन्नेय प्रश्न में यदि सहृदय उत्तर से प्रश्न के आक्षेप मात्र से चमत्कार मानते हैं तो वहां भी प्रश्नोत्तर के सकृदुपादान में अलंकारत्व संभव है। पुनः जगन्नाथ प्रकारान्तर से इसके भेदों का विवेचन करते हैं। प्रश्नोत्तर के पद्यान्तर्गत तथा पद्यबहिर्गत होने से दो भेद और हो सकते हैं। पद्यान्तर्गत प्रश्नोत्तर के पुनः दो भेद हो सकते हैं : (1) प्रश्नोत्तर दोनों एक ही वाक्य में निबद्ध हों; या (2) दोनों भिन्न-भिन्न वाक्यों में निबद्ध हों। पद्यान्तवर्ती तथा पद्यबहिर्वर्ती के और भी भेद संभव हैं, कहीं उत्तर ज्ञान के लिये एक बार शब्दश्रवण होता है, कहीं शब्द की आवृत्ति अपेक्षित होती है और कहीं अनेक प्रश्नों का एक ही पद से उत्तर मिल जाता है। इस प्रकार जगन्नाथ ने उत्तर का सविस्तार विवेचन किया है।[157] विश्वेश्वर मम्मट से अतिरिक्त कुछ नहीं कहते। उन्नीत प्रश्न का उदाहरण :

त्वमिव पथिकः प्रियो मे विटपस्तोमेषु गमयति क्लेशान्।
किमितोऽन्यत्कुशलं मे संप्रति यत्पान्थ जीवामि।।[158]

'हे पथिक। तुम्हारे ही समान मेरा भी प्रिय वृक्षसमूहों में श्रम को मिटा रहा है, इसके अतिरिक्त मेरी कुशल ही क्या है, कि मैं अभी भी जी रही हूँ।' यहाँ उक्त प्रकार से किसी पथिक से कोई पथिक की पत्नी उत्तर दे रही है। उत्तर से प्रतीत होता है कि पथिक ने उससे उसका कुशल पूछा होगा, क्योंकि बिना प्रश्न के कुशल का कथन असंगत है। अतएव यह उन्नेयप्रश्न उत्तर का उदाहरण है :

किमिति कृशासि कृशोदरि किंतव परकीयवृत्तान्तैः।
कथय तथापि मुदे मम कथयिष्यति याहि पान्थ तव जाया।। वही, पृ. 520

'कृशोदरि! तुम दुर्बल क्यों हो? तुम्हें दूसरे के वृत्तान्त से क्या प्रयोजन? फिर भी कहो मुझे हर्ष होगा, 'पथिक जाओ तुम्हारी पत्नी बता देगी।' यहां निबद्ध प्रश्न से उत्तर का कथन हुआ है। अतएव यह निबद्धप्रश्न उत्तर का उदाहरण है। वस्तुतः इस उदाहरण में व्यंग्यकृत चारुत्व अधिक उत्कर्षावह है। 'दुर्बल क्यों हो?' इससे व्यंग्य है कि 'यदि तुम कारण बता दो तो मैं उसका प्रतिकार करूं।' 'दूसरे के वृत्तान्त से तुम्हें क्या प्रयोजन? से व्यंजित होता है कि मैं पतिव्रता हूँ, परपुरुष से अपनी कृशता का हेतु नहीं कह सकती और न तुम उसका प्रतिकार ही कर सकते हो। पातिव्रत्य में कोई सार नहीं है, वह तो मूढ़ों की कल्पना मात्र है तुम्हें अपना इष्ट साधन करना चाहिये यह 'तब भी कहो मुझे हर्ष होगा' से व्यंजित हो रहा है।' 'पथिक

जाओ तेरी पत्नी बता देगी' इस कथन से जो दशा मेरी है वही तुम्हारी पत्नी की भी होगी। उसी की दुर्दशा का प्रतिकार करो। अपने घर को जलता छोड़कर दूसरे का घर नहीं बुझाया जाता और यदि तुम अपनी हानि कर दूसरे का उपकार करना ही चाहते हो तो तुम्हारी पत्नी के साथ भी दूसरे को उपकार करना पड़ेगा। अतएव मेरे ही समान परपुरुष से दूर रहने वाली अपनी पत्नी की वेदना दूर करो' इत्यादि अर्थ व्यंजित हो रहे हैं।[159] इसी प्रकार उन्नेयप्रश्न में भी ध्वनि विषयता ही प्रधान होती है। मम्मट के प्रथम उत्तर के उदाहरण 'वाणिजक हस्तिदन्ताः' इत्यादि में स्वयं ध्वनिकार ध्वनि मानते हैं।[160] अस्तु, उत्तर को अलंकार न मानकर ध्वनि मानना ही उपयुक्त होगा। दीक्षित के प्रथम उत्तर 'यत्राऽसौ वेतसी पान्थ' में ध्वनि स्पष्ट है। स्वयं दीक्षित इस बात को स्वीकार करते हैं, यहां भाव अपने आप प्रकट नहीं होता, प्रत्युत वक्ता, बोद्धा, आदि के विशेष से गम्य है। अतएव ऐसे स्थल पर ध्वन्यमान वस्तु अलंकार न होकर ध्वनि होती है।[161] अतएव उत्तर को ध्वनि में अन्तर्भूत किया जा सकता है।

विनोक्ति

विनोक्ति शब्द का अर्थ है 'विना'[162] शब्दार्थ का कथन या बिना शब्द के प्रयोग से किसी अर्थ का कथन। विनोक्ति या सहोक्ति के लिये यह आवश्यक नहीं है कि मात्र 'विना' और 'सह' शब्द के प्रयोग में इन्हें अलंकार माना जाये। 'विना' और सह के वाचक अन्य शब्दों के प्रयोग में भी ये हो सकते हैं। इसलिये विनोक्ति विना तथा उसके वाचक नञ्, निर्, आदि शब्दों के प्रयोग में भी हो सकती है।[163] विनोक्ति का चारुत्व लोक-कथन के अन्तर्गत आता है, अतएव उसका विवेचन भी इसी अध्याय में उपयुक्त है।

भामह, दंडी, उद्भट, वामन, रुद्रट, भोजराज, हेमचन्द्र, वाग्भट प्रथम तथा वाग्भट द्वितीय आदि आचार्य इस अलंकार पर मौन हैं। संभवतः इसका कारण है विनोक्ति की चारुत्व विहीनता। इसका सर्वप्रथम विवेचन करते हैं मम्मट। उनके अनुसार किसी के विना किसी का अशोभन या शोभन कथन विनोक्ति है।[164] मम्मट न केवल विनोक्ति के उद्भावक आचार्य हैं, अपितु विनोक्ति स्वरूप संरचना के श्रेयोभागी भी हैं। परवर्ती आचार्यों ने उन्हीं के लक्षण का अनुवर्तनमात्र किया है :

विना कंचिदन्यस्य सदसत्त्वाभावो विनोक्तिः। अ.स. सूत्र-30
विना कंचित्सदसत्त्वे विनोक्तिः। अ.र. 41
विनार्थसम्बन्ध्येव विनोक्तिः।[165] र.गं., पृ. 364

ध्यातव्य है कि रुय्यक तथा उनके अनुयायी विद्याधर आदि सभी आचार्य विनोक्ति को औपम्यमूलक, भेदप्रधान अलंकारों के वर्ग में रखते हैं, किन्तु उन्होंने स्पष्ट नहीं किया है कि यहां भेद है क्या? संभवतः 'विना' शब्दजन्य वैलक्षण्य को ही ये आचार्य भेद मानते हैं। वस्तुतः विनोक्ति 'विना' शब्द पर आधृत है, उसकी समग्र चारुता उसी पर टिकी हुई है। इसलिये जगन्नाथ का लक्षण अधिक सुस्पष्ट और सार्थक है।

अलंकार भाष्यकार नित्यसम्बन्धों के असम्बन्ध कथन को विनोक्ति मानते हैं %166

मृणालमन्दानिल चन्दनानामुशीरशेवालकुशेशयानाम्।
वियोगदूरीकृतचेतनाया विनैव शैत्यं भवतिप्रतीतिः।। र.गं., पृ. 366

यहां शैत्य का अविनाभाव होने पर भी विनाभाव-निबन्धन होने से विनोक्ति है।[167] विनोक्ति के शोभन-अशोभन दो भेद प्रायः सभी को मान्य हैं। विना शब्द के अप्रयोग में आचार्यगण आर्थी विनोक्ति भी स्वीकार करते हैं।[168]

वस्तुतः विनोक्ति में अलंकारजन्य विच्छित्ति का अभाव है। रुय्यक आदि इसे औपम्यमूलक अलंकारों की श्रेणी में रखते हैं, परन्तु विनोक़्ति में औपम्य अप्राप्य है, भेद तो है ही नहीं। जयरथ के इस कथन—ग्रन्थकृता चिरन्तनलक्षितत्त्वाल्लक्षिता[169]—से प्रतीत होता है कि विनोक्ति विवचेन में रुय्यक का कोई आग्रह नहीं है। देखा जाये तो विनोक्ति की स्वतंत्र सत्ता भी सन्देह से परे नहीं है। शोभन विनोक्ति के मूल में विषम अलंकार अवस्थित है। यदि किसी वस्तु के विना कोई वस्तु सुन्दर होती है तो स्पष्ट है कि उसकी सन्निधि में वह असुन्दर हो जायेगी। अतएव ऐसे कथन में विरूप संघटना होने से विषम प्रतीयमान रहता है। इसी प्रकार असुन्दर विनोक्ति में 'सम' अलंकार की प्रतीयमानता रहती है।[170] संभवतः इसीलिये जगन्नाथ को कहना पड़ा कि अन्य अलंकार के संसर्ग से ही विनोक्ति की हृद्यता है।[171] तात्पर्य यह है कि इसका स्वयं का कोई सौन्दर्य नहीं है। ऐसी स्थिति में विनोक्ति को एक अलंकार मानना संभव नहीं है। आचार्यों के उदाहरण में औपम्य की प्राप्ति भी नहीं :

विनयेन विना काश्रीः कानिशा शशिना विना।
रहिता सत्कवित्वेन कीदृशी वाग्विदग्धता।। अ.स., पृ. 101

यहां विनय आदि के विना 'श्री' आदि का अशोभनत्व बताया गया है। श्री, निशा और वाक् चातुर्य सभी वर्ण्य, प्रस्तुत हैं। उपमान-उपमेय भाव का प्रश्न ही नहीं उठता। यहां विनोक्ति का प्रथम भेद समुल्लसित हैं। इसी प्रकार द्वितीय विनोक्ति

के उदाहरण में भी देखा जा सकता है। यदि सहोक्ति की भांति यहां भी विवक्षाधीन उपमनोपमेयभाव मानकर विनोक्ति की औपम्यमूलकता स्वीकार भी कर लें तो भी विनोक्ति में अलंकारान्तरजन्य विच्छित्ति ही बलवती प्रतीत होती है :

यथातालं विना रागो यथा मानं विना नृपः।।
यथा दानं विनाहस्ती तथा ज्ञानं विना यतिः।। र.गं., पृ. 365

जगन्नाथ के अनुसार यहां श्लेषमूल उपमानुकूल विनोक्ति है। तात्त्विक दृष्टि से देखा जाये तो यहां उपमा का प्राधान्य मानना पड़ेगा। 'विना' शब्द की चारुता अवश्य है, पर शब्द को ही आधार मानकर तो अलंकार की पृथक् स्थिति स्वीकार्य नहीं है। अन्यथा 'हा' धिक् आदि शब्दों के प्रयोग में भी अलग से अलंकार मानने पड़ेंगे।[172] उपर्युक्त अलंकार भाष्यकार के उदाहरण को तो वास्तव या स्वभावकथन से अतिरिक्त मानना असंभव है। विना शब्द के प्रयोग में आर्थी विनोक्ति में भी अलंकारान्तरविच्छित्ति परिलक्ष्य है :

स्वामी पिशुनविमुक्तः मात्सर्यरहितः कविस्तथालोके।
विषधरशून्योऽपि निधिः प्राप्यते पूर्णपुण्यैः।। अ.र., पृ. 69

शोभाकर के अनुसार यहां विना के वाचक, रहित, शब्द के प्रयोग होने से प्रतिवस्तूपमा-उपकृत, दीपक-परिपुष्ट आर्थी विनोक्ति है।[173] वस्तुतः यहां दीपक विच्छित्ति ही अधिक रमणीय है। दुराग्रहवश रहित-शब्द के संयोग से एक नवीन अलंकार मानने की विवशता स्पष्ट है। अतएव विनोक्ति को पृथक् अलंकार नहीं मानना चाहिये।

संदर्भ

1. प्रतिः प्रतिनिधि प्रतिदानयोः। पा. 1/4/92. प्रतिः प्रतिनिधौ। अ.को, 3/245.
2. अनीकोऽस्त्री रणे सैन्ये इति मेदिनी —अ.कौ.सु., पृ. 290.
3. अनीकस्य सैन्यस्य प्रतिनिधिः प्रत्यनीकमुच्यते तत्तुल्यत्वादिदमपि प्रत्यनीकम्। यथाऽनीकेऽभियोक्तव्ये तत्रासामर्थ्यात्तत्प्रतिनिधिभूतमन्यदभियुज्यते तद्वदिह प्रतिपक्षे विजेये दुर्बलस्य तिरस्करण्। अ.स., पृ. 191; तु. प्र.प्रभा, पृ. 379; सं.प्र., सा. चू., पृ. 388; एका., पृ. 316; टिप्पण, सा.द., पृ. 568; अ.म., पृ. 319; टिप्पण, कु., पृ. 135; बा.बो., पृ. 725; सा.बि., पृ. 221.
4. अनीकेन सदृशं प्रत्यनीकम्। लोके प्रतिपक्षस्य तिरस्कारायानीकं प्रयुज्यते। तदशक्तौ प्रतिपक्षसम्बन्धिनः कस्यचित्तिरस्कारः क्रियते। स चानीकसदृशतया प्रयुज्यमानत्वा-त्प्रत्यनीकमुच्यते। र.गं., पृ. 493; तु. अ. मणि. भाग 3, पृ. 50.

5. तामस्य रीतिं परशोरिव प्रत्यनीकमख्यम् भुजे अस्य वर्पसः। —ऋ. 5/48/4 तथा दे., वही, सायण भाष्य।
6. वक्तुमुपमेयमुत्तममुपमानं तज्जिगीषया यत्र।
तस्य विरोधीत्युक्त्या कल्प्येत प्रत्यनीकं तत्। काव्यालं. 8/92 तथा वही, न.सा.
7. दे. स.कं., 3/24.
8. प्रतिपक्षमशक्तेन प्रतिकर्तुं तिरस्क्रिया।
या तदीयस्य तत् स्तुत्यै प्रत्यनीकं तदुच्यते।। का.प्र. 10/129. न्यक्कृत परमपि विपक्षं साक्षान्निरसितुमशक्तेनापि यत्तमेव प्रतिपक्षमुत्कर्षयितुं तदाश्रितस्य तिरस्करणम् तत् अनीकेन प्रतिनिधितुल्यत्वात् प्रत्यनीकमभिधीयते। वही, वृत्ति। दे.प्र. प्रभा, पृ. 379 तथा सं.प्र., सा.चू., पृ. 388.
9. प्रतिपक्षतिरस्काराशक्तौ तदीयतिरस्कारः प्रत्यनीकम्। अ.स. सूत्र 68 तथा वही, वृत्ति। तु. अ.म. 8/75.
10. प्रतिपक्षादिसम्बन्धिस्वीकारः प्रत्यनीकम्। अ.र. सूत्र-40.
11. प्रत्यनीकं च प्रतीयमानोत्प्रेक्षा प्रकार एव नालंकारान्तरतया वाच्यः। अ.चू. तथा विवेक, पृ. 405.
12. प्रतिपक्षबाधाशक्तौ तदीयतिरस्कारे प्रत्यनीकम्। काव्यानु., पृ. 45; प्रत्यनीकं बलवतः शत्रोः पक्षे पराक्रमः। चन्द्रा. 5/99. बलिनं जेतुमनीशः कोऽपि तदीयं कृशं तिरस्कुरुते। अन्यं कमपि जघन्यो यत्राहुः प्रत्यनीकमिदम्। एका. 8/61; तु. प्र.रु., पृ. 333; सा.द. 10/86/7; अ.कौ. 8/305; नं.य., पृ. 216.
13. दे., कु.का., 119 तथा वृत्ति, अ.मं. का. 91.
14. प्रतिपक्षसम्बन्धिनस्तिरस्कृतिः प्रत्यनीकम्। र.गं., पृ. 493 तथा वही वृत्ति।
15. प्रत्यनीकं तिरस्कारः प्रतिपक्षक्रियस्य चेत्। सा.सा. 8/260. विरोधिपक्षापकारः प्रत्यनीकम्। अ.प्र. 193; अ.मु. 45; अ.कौ., पृ. 380; तु. अ.चि. 4/309; का.वि. 2/51; सा.बि. 5/31; अ. मणि. भाग-3, पृ. 49.
16. दे., अ.र., पृ. 67.
17. का.प्र., पृ. 379; अ.स., पृ. 191.
18. कु., पृ. 135.
19. प्रतिपक्ष और अपनी बलवत्ता, दुर्बलता के आधार पर वैद्यनाथ, नागेश तथा विश्वेश्वर इसकी स्वतंत्रता के हिमायती हैं। दे., अ.चं., पृ. 135; गु. म., पृ. 495; अ.कौ., पृ. 381-83.
20. हेतूत्प्रेक्षयैव गतार्थत्वान्नेदमलंकारान्तरं भवितुमर्हति। र.गं., पृ. 494; तु. अ.म. भा. 3, पृ. 57.
21. दे., काव्यादर्श, 2/17.
22. यत्रानुकम्प्यते सममुपमाने निन्द्यते वापि।
उपमेयमतिस्तोतुं दुरवस्थमिति प्रतीपं तत्।। —काव्यालंकार, 8/76.

23. आक्षेप उपमानस्य प्रतीपमुपमेयता।
तस्यैव यदि वा कल्प्या तिरस्कारनिबन्धना।। का.प्र., 10/133.
24. उपमानस्याक्षेप उपमेयताकल्पनं वा प्रतीपम्। अ.स. सूत्र 69.
25. अधिकगुणस्यानादरः प्रतीपम्। अ.र. सूत्र 24 तथा वृत्ति।
26. दे., अ.म., 8/76.
27. 'अहमेव गुरुः सुदारुणानाम्।' अत्र हालाहलस्योपमानस्याक्षेप इति न प्रतीपमलंकारान्तरम्। अ.चू., पृ. 372.
28. निन्दा समता वोपमानेनोपभेयस्य भंग्या स्तुतिर्वा प्रतीपम्। काव्यानु., पृ. 43.
29. प्रतीपमुपमानस्य हीनत्वमुपमेयतः। चन्द्रा., 5/100.
30. दे., एका. 8/62; प्र.रु. पृ. 322; सा.द., 10/87-88; अ.कौ., नं.य., पृ. 208-9.
31. प्रतीपमुपमानस्योपमेयत्वप्रकल्पनम्। अन्योपमेयलाभेन वर्ण्यस्यानादरश्चतत्। वर्ण्योपमेयलाभेन तथान्यस्याप्यनादरः। वर्ण्येनान्यस्योपमायाः अनिष्पत्तिवचश्च तत्। प्रतीपमुपमानस्यकैमर्थ्यमपि मन्वते। कु.का. 12-16; तु., अ.मं. 5-9.
32. दे., र.गं., पृ. 495.
33. वही, अ.कौ., पृ. 390; सा.सा. 8.88-95; सा.बि., 5/10.
34. केचिदनन्वयोपमेयोपमाप्रतीपानामुपमा विशेषत्वेन तदन्तर्भावं मन्यन्ते। अन्ये तु पंचमं प्रतीपप्रकारमुपमानाक्षेपत्वादाक्षेपालंकारमाहुः। कु., पृ. 14.
35. वस्तुतस्तु आद्यास्त्रयोऽप्युपमायामेवान्तर्गताभेदाः। चतुर्थः केषांचिदाक्षेपः। पंचमस्त्वनुक्तवैधर्म्ये व्यतिरेके।। —र.गं., पृ. 496-7.
36. मीलितमितिनपुंसके भावे क्तः। एवं च मीलनं मीलितमित्यन्वर्थेयं संज्ञा। बा.बो., पृ. 727.
37. सहजेनागन्तुकेन वा लक्ष्मणा यद्वस्तु वस्त्वन्तरं निगूह्यते तदन्वर्थाभिधानं निमीलितम्। अ.स.सं., पृ. 193; तु. का.प्र. तथा बा.बो., पृ. 727; संकेत, पृ. 281; सं.प्र., पृ. 390; काव्यादर्श, संकेत, पृ. 327.
38. तन्मीलितमिति यस्मिन् समानचिह्नेन हर्षकोपादि।
अपरेण तिरस्क्रियते नित्येनागन्तुकेनापि।। —काव्यालंकार, 7/106.
39. वस्त्वन्तरतिरस्कारो वस्तुना मीलितं स्मृतम्। स.कं. 3/41. तु. शृं.प्र., पृ. 401.
40. समेन लक्ष्मणा वस्तु वस्तुना यन्निगूह्यते।
निजेनागन्तुना वापि तन्मीलितमिति स्मृतम्। का.प्र., 10/130 तथा वृत्ति।
41. निगूह्यत इति दीर्घविशिष्टः पाठो लेखक प्रमादजः।। सा.चू., पृ. 390.
42. वस्तुना वस्त्वन्तरनिगूहनं निमीलितम्। अ.स. सूत्र-70 तथा वृत्ति।
43. दे., स.ब., पृ. 189.
44. धर्मसाम्याद्भेदाप्रतीतिर्निमीलितम्। अ.र. सूत्र-98 तथा वृत्ति एवं पृ. 169-70.
45. दे., अ.म., 8/77.
46. एवंविधे च सर्वत्र विषयेऽतिशयोक्तिरेव प्राणत्वेनावतिष्ठते। .... इति न मीलितैकावलीनिदर्शना विशेषाद्यलंकारोपन्यासः श्रेयान्। काव्यानु., पृ. 371.

47. नित्येनागन्तुकेन वापरेण हर्षकोपादि यत्र तिरस्क्रियते तन्मीलितम् —काव्यानु., पृ. 42
48. मीलितं बहुसादृश्याद्भेदवच्चेन्न लक्ष्यते। चन्द्रा. 5/33.
49. दे., एका. 8/63; प्र.रु., पृ. 298; सा.द., 10/89; अ.कौ., 8/306; नं.य., पृ. 189.
50. मीलितं यदि सादृश्याद्भेद एव नलक्ष्यते। कु.का., 146, तु. देवशंकर —अलं.म.का. 112.
51. स्फुटमुपलभ्यमानस्य कस्यचिद्वस्तुनो लिंगैरतिसाम्यादभिन्नत्वेनागृह्यमाणानां वस्त्वन्तरलिंगानां स्वकारणाननुमापकत्वं मीलितम्। र.गं., पृ. 515.
52. गुणसाम्याद्भेदानवभासो मीलितम्। अ.प्र. 86; तु. अ.मु. 46; अ.कौ., पृ. 383.
53. दे., सा.सा. 8/280; का.वि. 2/22; अलं. मणि-भाग 3, पृ. 257.
54. पिहितमपिहितं तद्गुणोऽतद्गुण इतीमान्यपि मीलितान्येव। शृं.प्र., पृ. 401; तु. स.कं., 3/42.
55. मनु अवबोधने घञ्। अमरकोश, पृ. 79.
56. साधारणं तु सामान्यम्। अ.कौ. 3/82, समानस्य भावः सामान्यमिति व्युत्पत्त्या उभयोरेकधर्मवत्ता। अ.कौ., पृ. 394, गुणवचनब्राह्मणादिभ्यः पा. 5/1/124, से ष्यञ् प्रत्यय होता है।
57. समानगुणनिबन्धनात्सामान्यम्। का.प्र., पृ. 739; सं.प्र. एवं सा.चू., पृ. 399; अ.स.सं., पृ. 194; एका., पृ. 320.
58. मल्लिकामाल्यभारिण्यः सर्वांगीणार्द्रचन्द्रनाः।
क्षौमवत्यो न लक्ष्यन्ते ज्योत्स्नायामभिसारिकाः।। काव्यादर्श, 2/213. इसी के समान मम्मट का उदाहरण है, दे., का.प्र., पृ. 739, उक्त श्लोक में दीक्षित मीलित मानते हैं, दे., कु., पृ. 163.
59. दे., काव्यालंकार, 8/105-8 तथा वही, नमिसाधु की टीका।
60. प्रस्तुतस्य यदन्येन गुणसाम्यविवक्षया।
ऐकात्म्यं बध्यते योगात्तत्सामान्यमिति स्मृतम्।। का.प्र., 10/134 तथा वृत्ति।
61. दे., प्रदीपप्रभा, पृ. 384; संकेत, पृ. 285; बा.बो., पृ. 739.
62. प्रस्तुतस्यान्येन गुणसाम्यादैकात्म्यं सामान्यम्। अ.स. सूत्र-71.
63. दे., अ. महो., 8/78.
64. वही, काव्यानु., पृ. 371.
65. सामान्यं यदि सादृश्याद्भेद एव न लक्ष्यते। चन्द्रा. 5/34.
66. सामान्यं गुणसाम्येन यत्र वस्त्वन्तरैकता। प्र.रु., पृ. 299; तु. एका. 8/64; सा.द. 10/90; अ.कौ. 8/311; नं.य., पृ. 189.
67. मीलिते उत्कृष्टगुणेन निकृष्टगुणस्य तिरोधानम्। इह तूभयोस्तुल्यगुणतया भेदाग्रहः। सा.द., पृ. 570.
68. दे., कु.का. 147; तु. अ.मं., का. 112.
69. अतएव भेदतिरोधानान्मीलितं, तदतिरोधानेऽपि साम्येन व्यावर्तकानवभासे सामान्यम्।

कु., पृ. 164; तु. अ. मणि. भाग-3, पृ. 260-61.

70. दे., कु., पृ. 164-65; तु. अ.मं., पृ. 197-98; र.गं., पृ. 516.

71. प्रत्यक्ष विषयस्यापि वस्तुनो बलवत्सजातीयग्रहणकृतं तद्भिन्नत्वेनाग्रहणं सामान्यम्। र.गं., पृ. 516 तथा वही, विवेचन।

72. स्वगुणसजातीय गुणाश्रयैकरूप्यं तु सामान्यम्। अ.कौ., पृ. 393; तु. अ.मु. 49; अ.प्र. 87; अ.चि. 4/180; दे., सा.सा. 8/281; का.वि. 2/26; अ. मणि. भाग-3, पृ. 259.

73. दे., स.कं. 4/34-35 तथा शृं.प्र., पृ. 415-16.

74. वही, वि., पृ. 169.

75. वही, अ.कौ., पृ. 394-98.

76. र.गं., पृ. 516.

77. ननु भेदाग्रह एव मीलितसामान्यतद्गुणसाधारण एकोऽलंकारोऽस्तु। किमलंकारत्रयेण। .... एवं तर्ह्यभेदोऽप्येकोऽलंकारः? र.गं., पृ. 516-17.

78. पृथक् सामान्यमीलितयोर्लक्षणं न कार्यं, भेदाभावात्। .... समानाभिहार-निमित्तस्य स्वरूपावगमस्य संभवादेक एवालंकारो वाच्यः। स च मीलितनामैव, वस्त्वन्तरेणाच्छादनात्। अ.र., पृ. 171.

79. तस्यां कुतश्चिद्विवेको विवेकः। अ.र. सूत्र 99 तथा वृत्ति।

80. हेतोः कुतोऽपि वैशिष्ट्यात् स्फूर्तिरुन्मीलितं मतम्। चन्द्रा. 5/35.

81. कु.का. 148; अ.मं.का. 113; का.वि., 2/22; अ. मणि. भाग-3, पृ. 263.

82. भेदवैशिष्ट्ययोः स्फूर्तावुन्मीलितविशेषकौ।। कु.का., 148.

83. द्वयोर्वैधर्म्यसंस्फूर्तौ तुल्ययोस्स्याद्विशेषकः। अ. मणि. भाग-3, पृ. 264.

84. यत्तु .... उन्मीलितम् .... विशेषकम् .... चेत्यलंकारद्वयं कुवलयानन्द कृदाह तन्न। अनुमानालंकारेणैव गतार्थत्वादनयोरलंकारान्तरत्वायोगात्। र.गं., पृ. 517-18.

85. दे., अ.चं., पृ. 166 तथा गु.म.प्र., पृ 517-18.

86. 'हिमाद्रिं त्वद्यशोमग्नं' इत्यादावपीदमेव। शीतेन जानत इत्यनेन मीलनस्यैव दार्ढ्यं न त्वन्येनेति प्रतीतेः। एतेनात्रोन्मीलितं पृथगलंकार इत्यपास्तम्। उद्योत, पृ. 561.

87. एतेनेदृशे विषये विशेषालंकार पृथगित्यपास्तम्। वही, पृ. 569.

88. एतेन—उन्मीलितविशेषात्मकं दीक्षितालंकारद्वयं प्रत्याख्यातम्। वर्णनीयोत्कर्षाना-धायकत्वेन प्रथमवृत्तिकाभ्यां मीलितसामान्याभ्यामेवान्यथासिद्धेः। अ.कौ., पृ. 394.

89. का.प्र., पृ. 745; तु. प्रदीप, पृ. 387; काव्यादर्श सं., पृ. 334; सा.चू., पृ. 405; एका., पृ. 321; रत्नापण, पृ. 300; अ. मणि. भाग-3, पृ. 244.

90. अ.स., पृ. 195; टिप्पण, सा.द., पृ. 570.

91. का.प्र., नोट्स, पृ. 456-7.

92. यस्मिन्नेकगुणानामर्थानां योगलक्ष्यरूपाणाम्।
संसर्गे नानात्वं न लक्ष्यते तद्गुणः स इति।।

असमानगुणं यस्मिन्नतिबहलगुणेन वस्तुना वस्तु।
संसृष्टं तद्गुणतां धत्तेऽन्यस्तद्गुणः स इति।। काव्यालं. 9/22-24.

93. दे., स.कं, 3/41.

94. स्वमुत्सृज्य गुणं योगादत्युज्ज्वलगुणस्य यत्।
वस्तु तद्गुणतामेति भण्यते स तु तद्गुणः।। का.प्र. 10/137 तथा वृत्ति।

95. स्वगुणत्यागादत्युत्कृष्टगुणस्वीकारस्तद्गुणः। अ.स. सूत्र-72 तथा वृत्ति।

96. अ.र. सूत्र-97 तथा वृत्ति।

97. दे., अ.म. 8/79.

98. तद्गुणः स्वगुत्यागादन्यतः स्वगुणोदयः। चन्द्रा. 5/102, यत्र वस्तु स्वगुणमुत्सृज्यान्यगुणयोगात्तद् गुणतामेति स तद्गुणः काव्यानु. पृ. 45. तद्गुणः स्वगुणत्यागादत्युत्कृष्ट गुणग्रहः। सा.द. 10/90; तु. एका., पृ. 320-21; प्र.रु., पृ. 299; अ.कौ., 8/313; कु.का. 141; अ.मं.का. 108; नं.य., पृ. 190; अ.कौ., पृ. 402; सा.सा. 8/276; का.वि. 2/53; अ. मणि. भाग-3, सा.वि. 5/29.

99. स्वगुणत्यागपूर्वकं स्वसन्निहितवस्त्वन्तरसम्बन्धिगुणग्रहणं तद्गुणः। र.गं., पृ. 513.

100. दे., वही, पृ. 514.

101. वही, प्रदीप, पृ. 387.

102. वही, उद्योत, पृ. 573.

103. अत्र तद्गुणद्वयम्, प्रदीप, पृ. 387.

104. पुनः स्वगुणसम्प्राप्तिः पूर्वरूपमुदाहृतम्।
यद्वस्तुनोऽन्यथारूपं तथा स्यात् पूर्वरूपता।। चन्द्रा. 5/103-4. इदं पूर्वरूप प्रकारद्वयमपि जयदेवोपज्ञम्। अ. मणि. भाग-3, पृ. 252.

105. दे., कु.का. 142-43; अ.मं. का. 109; का.वि. 2/52; सा.सा. 8/277; अ. मणि. भाग-3, पृ. 245.

106. अत्र द्वितीयं तद्गुणं पूर्वरूपमिति व्यवहरन्ति केचित्। उद्योत, पृ. 573-5.

107. प्राक्सिद्धस्वगुणोत्कर्षोऽनुगुणः परसंनिधेः। चन्द्रा. 5/106.

108. दे., कु.का. 145; अ.मं.का. 111; का.वि., 2/54; सा.सा. 8/279; अ. मणि. भाग-3, पृ. 256.

109. दे., अ.कौ., पृ. 406.

110. तस्योत्कृष्टगुणस्यास्मिन् गुणा न सन्तीति। तस्याप्रकृतस्य गुणा न अस्मिन्सतीति वा। अ.स., पृ. 196; तु. काव्यादर्श, तु. काव्यादर्श सं., पृ. 334; प्र.रु., पृ. 300; अ.म., पृ. 322; तस्याप्राकरणिकस्य गुणो नास्त्यस्मिन्नित्यतद्गुणः। एका., पृ. 322; तु. सा.चू., पृ. 407; संकेत, पृ. 287; बा.बो., पृ. 747.

111. दे., स.कं., 3/41.

112. तद्रूपाननुहारश्चेदस्य तत्स्यादतद्गुणः। का.प्र. 10/131 तथा वृत्ति। दे. प्र.प्र., पृ. 387-88, सं.प्र. तथा सा.चू., पृ. 406-7.

113. दे., का.प्र. नोट्स, पृ. 462.
114. सति हेतौ तद्रूपाननुहारोऽतद्गुणः। अ.स. सूत्र-73 तथा वृत्ति।
115. अलंकारसारकृता विशेषोक्त्यन्तर्भाव एवोक्तः। ग्रन्थकृता तु प्राच्यानुरोधाल्लक्षितः। वि., पृ. 171-72.
116. इत्यतद्गुणालंकारो न वाच्यः। —विशेषोक्तावन्तर्भावात्। .... 'धवलोऽसि' इत्यादौ पूर्वार्धविरूपकार्योपत्तिर्विषमालंकार एव, न तद्गुणः। अ.र., पृ. 169.
117. दे., अ.म. 8/79.
118. वही, अ.चू., पृ. 377.
119. तत्संश्लिष्टमपि वस्तु यद्गुणं नाश्रयति सोऽतद्गुणः। काव्यानु., पृ. 45; तु. चन्द्रा. 5/105.
120. सति हेतौ तद्रूपाननुहारोऽतद्गुणः कथितः। एका. 8/65; तु. प्र.रु., पृ. 300; सा.द. 10/91; अ.कौ. 8/314; कु.का. 144; अ.मं.का. 110.
121. दे., सा.द., पृ. 571-72.
122. अवज्ञालंकृतिरतद्गुणश्च विशेषोक्तिविशेषाएव .... तत्सामान्यलक्षणाक्रान्तत्त्वात्। कु., पृ. 162; तु. अ.मं., पृ. 193.
123. र.गं., पृ. 513.
124. दे., र.गं., पृ. 513-14; अ. मणि. भाग-3, पृ. 255-6.
125. अन्य गुणसम्बन्धे प्रकृतस्यातद्गुणः प्रोक्तः। अ.कौ., पृ. 405; तु.सा.सा., 8/278; अ.प्र. 84; अ.मु. 51; अ.चि. 4/284; अ. मणि. भाग-3, पृ. 254-56.
126. दे., अ.कौ., पृ. 406.
127. का.प्र., पृ. 747; अ.स. (डॉ. रामचन्द्र द्विवेदी), पृ. 314.
128. दे., अ.र., पृ. 169; संकेत, पृ. 288; सं.प्र., पृ. 407; गजेन्द्रगडकर, का.प्र. नोट्स, पृ. 450.
129. दे. सा.चू., पृ. 407; का.सं., पृ. 334; बा.बो., पृ. 747.
130. उत्तरं प्रतिवाक्ये स्यादूर्ध्वोदीच्योत्तमेऽन्यवत्। उत्तरस्तु विराटस्य तनये दिशि चोत्तरा इति विश्वः। अ.कौ., सुधा, पृ. 67 तथा 430.
131. उत्तरवचनश्रवणादुन्नयनं यत्र पूर्ववचनानाम्।
क्रियते तदुत्तरं स्यात्प्रश्नादप्युत्तरं यत्र।। काव्यालं. 7/93 तथा वही न.सा. की टीका।
132. यत्र ज्ञातादन्यत्पृष्टस्तत्त्वेन वक्ति तत्तुल्यम्।
कार्येणानन्यसमख्यातेन तदुत्तरं ज्ञेयम्।। वही, 8/72.
133. दे., न.सा., पृ. 114.
134. विदग्धगोष्ठी विनोदहेतुः पर्यनुयोगनिर्भेदः प्रश्नोत्तरम्। शृं.प्र., पृ. 385-6 तथा स.कं. 2/136/37.
135. पदार्थानां तु यः सारस्तदुत्तरमिहोच्यते। स.कं., 3/23.
136. उत्तरश्रुतिमात्रतः। प्रश्नस्योन्नयनं यत्र क्रियते तत्र वा सति। असकृद्यदसंभाव्यमुत्तरं

स्यात्तदुत्तरम्, का.प्र. 10/121/22. वही, वृत्ति, दे,. प्र.प्र., पृ. 373; सं.प्र. तथा सा.चू., पृ. 377.

137. दे., का.प्र., पृ. 710; अ.स., पृ. 197; अ.म., पृ. 323; प्रदीप, पृ. 373; सं.प्र. सा.चू., पृ. 376; संकेत, पृ. 272; सा.द., पृ. 564.

138. उत्तरात्प्रश्नोन्नयनमसकृदसंभाव्यमुत्तरं चोत्तरम्। अ.स.सू. 74 तथा वृत्ति।

139. दे., अ.स., पृ. 197; अ.म., पृ. 323; सा.द., पृ. 564; रत्नापण, पृ. 327-28.

140. अत्र त्वन्यमते उत्तरालंकारो हि युक्तोऽस्मन्मते तु वक्ष्यमाणनीत्या नियम एव। अ.र., पृ. 143.

141. दे., अ.म., 8/80.

142. अन्यापोहाभावे प्रश्नोत्तरोक्तौ न वैचित्र्यं किंचिदिति नोत्तरं पृथक् लक्षितम्। उत्तरात्प्रश्नादिप्रतिपत्तिस्त्वनुमानमेव। अ.चू., पृ. 396.

143. उत्तरवचनश्रवणात्प्रश्नोन्नयनमुत्तरम्। काव्यानु., पृ. 44.

144. प्रश्नोत्तरं क्रमेणोक्तौ स्यूतमुत्तरमुत्तरम्।। चन्द्रा., 5/108.

145. राकागम, पृ. 105.

146. दे., एका. 8/68; प्र.रु., पृ. 327; सा.द. 10/82-83; अ.कौ. 8/296-97; नं.य., पृ. 213.

147. किंचिदाकूतसहितं स्याद्गुढोत्तरमुत्तरम्।
प्रश्नोत्तरान्तराभिन्नमुत्तरं चित्रमुच्यते।। कु.का. 149-50; तु.अ.मं. का. 114-15.

148. प्रश्नप्रतिबन्धकज्ञानविषयीभूतोऽर्थ उत्तरम्। र.गं., पृ. 519.

149. दे., अ.कौ., पृ. 362-4; अ.प्र. 80; अ.मु. 39.

150. वही, सा.सा., 8/222, अ. मणि. भाग-3, पृ. 266.

151. प्रश्नपूर्वकमसंभावनीयमुत्तरं तच्च न सकृत्। तावन्मात्रेण चारुत्वाप्रतीतेः। अतश्चासकृदुपनिबन्धे द्वितीयमुत्तरम्। अ.स., पृ. 197.

152. प्रश्नस्य सकृदुपादाने उत्तरस्यानेकत्वेऽप्ययमलंकारः। उद्योत, पृ. 550.

153. एतच्चोत्तराख्यमलंकारद्वयम्। न पुनरेकः सामान्य लक्षणायोगात्। .... अतएवालंकारसारकारादिभिरेतदलंकारद्वयमपास्तम्। वि., पृ. 172.

154. इदं तु वाकोवाक्यमितिमतान्तरे प्रसिद्धम्। एका0, पृ. 325.

155. उक्तिप्रत्युक्तिर्वाकोवाक्यम्। सा षोढा ऋजूक्ति, वक्रोक्तिः, वैयात्त्योक्ति, गूढोक्तिः, प्रश्नोत्तरोक्तिः, चित्रोक्तिः। शृं.प्र., पृ. 384; स.कं., 2/131-32.

156. अयं चोत्तरालंकारो द्विविधोऽपि प्रश्नोत्तरयोरन्यतरस्योभयोश्च साभिप्रायत्वेन च चतुर्विध इत्यष्टधा। र.गं., पृ. 520; तु. अ. मणि. भाग 3, पृ. 26.

157. दे., र.गं., पृ. 520-22.

158. वही, पृ. 519.

159. दे., र.गं., पृ. 520.

160. वही, ध्व., पृ. 523-24.

161. यत्रासौ वेतसीपान्थ इत्यादौ नालंकारत्वं ध्वनिभावास्पदत्वात्। कु., पृ. 170.
162. विनाभावस्य उक्तिः विनोक्तिः। बा.बो., पृ. 674; सा.वि. 5/16 की वृत्ति।
163. दे., अ.स., पृ. 101; सा.द., पृ. 528; र.गं., पृ. 365; सा.वि., पृ. 186.
164. विनोक्तिः सा विनान्येन यत्रान्यः सन्न नेतरः। का.प्र., 10/113.
165. तु. अ.म. 8/40; चन्द्रा. 5/61; एकावली, 8/22; प्र.रु., पृ. 290; सा.द., 10/55; कु.का. 59-60; अ.कौ. 8/279; अ.मं. का. 39; अ.कौ., पृ. 331; अ.प्र. 44; अ.मु., सा.सा. 8/178; सा.वि. 5/16.
166. अलंकार भाष्यकार का ग्रन्थ अप्राप्य है। उनका लक्षण सर्वप्रथम विमर्शिनी में मिलता है—यदाहालंकारभाष्यकारः— 'नित्यसम्बन्धानामसम्बन्धवचनं विनोक्तिः' इसे जगन्नाथ, विश्वेश्वर, आदि ने भी उद्धृत किया है। दे., र.गं., पृ. 365; अ.कौ., पृ. 332; अ.प्र. 44/1.
167. अत्र शैत्यस्याविनाभावेऽपि विनाभावो निबद्धः। र.गं., पृ. 366.
168. विना शब्दानुपादाने त्वार्थीति विशेषः। संजीवनी, पृ. 102; अ.र., पृ. 69; सा.द., पृ. 528; र.गं., पृ. 365; सा.वि., पृ. 186.
169. वि., पृ. 83.
170. इयं च ……… विषमालंकारमूला। आभ्यां द्वितीया तु समालंकारमूला। अ.र., पृ. 69.
171. अलंकारान्तरसमालिंगनाविर्भूतमेवास्याहृद्यत्वम्, न स्वतः। तेन अलंकारान्तरत्वमपि शिथिलमेव। —र.गं., पृ. 366.
172. '……… विनोक्तिस्तु तथाविधहृद्यत्वपिरहात्' काव्यानु. वृत्ति, पृ. 402. '……… किं च शब्दमात्रयोगेनालंकारत्वकल्पने हा धिक् आद्युक्तावपि अलंकारत्वप्रसंगः प्राप्नोति।' वही, विवेक, पृ. 402; तु. संकेत, पृ. 262.
173. दे., अ.र., पृ. 69.

दशम अध्याय

गूढार्थप्रतीतिपरक अलंकार

सूक्ष्म

सूक्ष्म से लेकर उदात्त पर्यन्त छः अलंकारों को रुय्यक गूढार्थप्रतीति पर आधृत मानते हैं। इन सभी अलंकारों में किसी न किसी रूप में गूढ अर्थ का निबन्धन पाया जाता है, पर उनकी प्रतीति भिन्न-भिन्न रूपों में होती है। सूक्ष्मबुद्धिवेद्य आकार या इंगित से लक्षित गूढार्थ कहीं किसी से प्रकाशित किया जाता है, तो कहीं उद्भिन्न गूढ अर्थ को किसी बहाने छिपाने का प्रयास किया जाता है, तो कहीं वक्ता का अर्थ श्रोता के लिये गूढ बन जाता है, या श्रोता ही उसे गूढ बना देता है। स्वभाव आदि का सूक्ष्म वर्णन जनसाधारण के लिये सहज-वेद्य न होने के कारण गूढ ही माना जाता है। इस प्रकार इन अलंकारों में गूढार्थ निबन्धन किसी न किसी रूप में पाया ही जाता है, अतएव इन्हें गूढार्थप्रतीतिपरक मानना उपयुक्त है।

सूक्ष्म शब्द के स्तोक अल्प, श्लक्षण, कृश, तनु, कैतव, आदि अनेक अर्थ होते हैं,[1] पर यहां सूक्ष्म का तीक्ष्णबुद्धिवेद्य अर्थ ही ग्राह्य है। आकार या इंगित किसी प्रकार से ज्ञात सूक्ष्म अर्थ का प्रकाशन सूक्ष्म अलंकार माना जाता है, सूच्यते (आकारेङ्गितादिना) प्रकाश्यते यत्तत्सूक्ष्मम्। पैशुन्यार्थक सूच् धातु से स्मन् प्रत्यय (सूचेः स्मन् उ. 4/176) होने पर सूक्ष्म शब्द निष्पन्न होता है। क्षीरस्वामी के अनुसार सूक्ष्म का अर्थ है, ठीक ढंग से वपन, सुष्ठु उक्ष्यते इति सूक्ष्मम्,[2] पर इस प्रकार की व्युत्पत्ति करने पर यहां उणादि का उक्त सूत्र प्रवृत्त नहीं होगा। वस्तुतः 'सूचनात्, सूक्ष्मावगमकारणाद्वासूक्ष्मम्'[3] से ही सूक्ष्म की अन्वर्थकता है, क्योंकि संलक्षित सूक्ष्म अर्थ का प्रकाशन ही इस अलंकार का स्वरूप है। प्रायः देखा जाता है कि किसी दूसरे के गूढ़ अभिप्राय को किसी प्रकार से जानकर लोग किसी बहाने व्यक्त कर देते हैं। ऐसे स्थल जैसा कि विद्यानाथ मानते हैं, यद्यपि लोकन्याय के अन्तर्गत आते हैं, तथापि गूढार्थ का प्राधान्य होने से सूक्ष्म का इस अध्याय में विवेचन अनुपयुक्त नहीं है।

सौन्दर्य (वक्रोक्ति) का अभाव होने से भामह सूक्ष्म को अलंकार नहीं मानते।[4] भामह के इस मत का विरोध करते हुए दंडी इसे वाणी का उत्तम भूषण सिद्ध करते

हैं ।[5] उनके अनुसार इंगित (किसी के अन्तर्गत भाव को ज्ञापित करने के लिये उस प्रकार के प्रकरण में बुद्धिपूर्वक की गई उस प्रकार की कायिक चेष्टा) या आकार (भाव के अनुकूल स्वयमेव आविर्भूत भावसूचक शरीर की अन्य अवस्था) से ज्ञात अर्थ सूक्ष्म होने के कारण सूक्ष्म कहा जा जाता है ।[6] उद्‌भट तथा वामन इसका उल्लेख नहीं करते । रुद्रट ने वास्तवमूल अलंकारों में इसका भी विवेचन किया है । उनका अभिमत है कि जहां शब्द अपने अर्थ से सम्बद्ध अयुक्त किन्तु उपपत्तियुक्त अन्य अर्थ की प्रतीति कराता है, वहां सूक्ष्म अलंकार होता है । सूक्ष्म वस्तु का बोधक होने के कारण नमिसाधु इसका सूक्ष्म नाम उपयुक्त समझते हैं ।[7] सूक्ष्म के उदाहरण 'संकेतकालमनसं' तथा 'राजकन्यानुरक्तमाम्' इत्यादि को उपस्थित कर कुन्तक इस प्रकार के कथन को स्वभाव-वर्णन से अभिन्न होने के कारण अलंकार न मानकर अलंकार्य मानना उपयुक्त समझते हैं ।[8] भोजराज ने दंडी के लक्षण को स्वीकार कर लिया है ।[9] वस्तुतः कालान्तर में दंडी का लक्षण ही लोगों की मान्यता को प्राप्त कर सका, रुद्रट का लक्षण उपेक्षित रह गया । मम्मट ने दंडी-भोज के सूक्ष्म का परिष्कार मात्र किया है । उनके अनुसार जहां तीक्ष्णमतिवेद्य सूक्ष्म अर्थ इंगित, आकार आदि किसी कारण से ज्ञात होकर उसके स्मारक किसी धर्म के द्वारा प्रकाशित किया जाता है, वहां सूक्ष्म अलंकार होता है ।[10] गोविन्द ठक्कुर रूपादि के अन्यथात्व को आकार तथा चेष्टाविशेष को इंगित कहते हैं, जबकि विद्याचक्रवर्ती के अनुसार विना बुद्धि के होने वाले स्तंभ, स्वेद, आदि सात्त्विक भावों को आकार और बुद्धिकृत चक्षु-विकार आदि को इंगित कहा जाता है ।[11]

रुय्यक ने मम्मटकृत लक्षण को सूत्र और वृत्ति के माध्यम से उपस्थित किया है ।[12] शोभाकर के अनुसार सूक्ष्मार्थ का सूचक सूक्ष्म अलंकार है । वृत्ति में वह स्पष्ट करते हैं, कि गूढ होने के कारण स्थूलमति से असंलक्ष्य जो सूक्ष्म अर्थ वाक्य या संज्ञा के द्वारा दूसरे से प्रकाशित किया जाता है, वह सूक्ष्म है ।[13] नरेन्द्रप्रभसूरि मम्मट के अनुगामी हैं ।[14] हेमचन्द्र इसे अनुमान से गतार्थ करते हैं ।[15] वाग्भट प्रथम उल्लेख ही नहीं करते । वाग्भट द्वितीय का लक्षण दंडी से व्यतिरिक्त नहीं है ।[16] जयदेव सूक्ष्म का विवेचन नहीं करते । विद्याधर, विद्यानाथ, विश्वनाथ, कर्णपूर और नरसिंह का विवेचन मम्मट के समान है ।[17] अप्पय के अनुसार जहां कोई किसी दूसरे के आशय को जानकर उसके प्रति साभिप्राय चेष्टा करे, वहां सूक्ष्म अलंकार होता है । देवशंकर और अच्युतराय दीक्षित-लक्षण के समान लक्षण करते हैं ।[18] अमृतानन्दयोगी तो दंडी के अनुयायी हैं ।[19] दुर्भाग्यवश उत्तर अलंकार के बाद का रसगंगाधर अप्राप्य है (रसगंगाधर में उत्तर अलंकार का अधूरा ही विवेचन प्राप्य है, पूरा नहीं), इसलिये

जगन्नाथ का मत जानना असंभव है। विश्वेश्वर आदि के लक्षण मम्मट के समान हैं।[20]

विवेचन से स्पष्ट है कि दंडीप्रतिपादित सूक्ष्म का स्वरूप परवर्ती सभी आलंकारिकों को स्वीकार है, केवल रुद्रट इसके अपवाद हैं, जिनका लक्षण अन्य आचार्यों से मेल नहीं खाता। अतएव जहां कोई कुशाग्रबुद्धि व्यक्ति सूक्ष्म अर्थ (दूसरे के गूढ अभिप्राय) को इंगित या आकार से जानकर किसी धर्म (चिह्न आदि) के द्वारा अपर व्यक्ति से प्रकाशित कर देता है, वहां सूक्ष्म अलंकार होता है।

सूक्ष्म के भेद

सूक्ष्म अर्थ का ज्ञान इंगित और आकार दो प्रकार के होने के कारण दो भेद की उद्भावना तो दंडी ने ही कर दी थी। रुद्रट भेद-प्रदर्शन नहीं करते। भोजराज इसके छः भेद मानते हैं। सूक्ष्मार्थ का ज्ञान तीन प्रकार से होता है, इंगित, आकार और उभयरीति से। ये तीनों वाच्य और प्रतीयमान होते हैं। इस प्रकार भोज सूक्ष्म के कुल छः भेद करते हैं।[21] मम्मट और रुय्यक ने दंडी का अनुसरण किया है। शोभाकर वाक्य और संज्ञा दो प्रकार से सूक्ष्मार्थ का प्रकाशन मानकर सूक्ष्म के दो भेद स्वीकार करते हैं। उनके अनुसार रुय्यक आदि के द्वारा कहे गये दो भेद सदोष हैं तथा रुय्यक का लक्षण 'संलक्षितस्य सूक्ष्मार्थप्रकाशनं सूक्ष्मम्' भी अव्यापक है।

यत्र कर्णोत्पलन्यस्तहस्ता दीपावलोकिनी।
दृष्ट्वा वधूः प्रियोपान्ते सखीभिः प्रतिमुच्यते।। अ.र., पृ. 178

शोभाकर के अनुसार यहां वधू ने कर्णोत्पल पर हाथ रखकर दीपक को देखती हुई सखियों से रति के अभिप्राय को प्रकाशित किया है। यह कार्य संज्ञा के द्वारा हुआ है, अतएव यहां सूक्ष्म अलंकार है। इस प्रकार उनका अभिमत है कि सूक्ष्म अलंकार न केवल सूक्ष्मार्थ के प्रकाशन में होता है अपितु स्वाभिप्राय प्रकाशन में भी होता है। इसी प्रकार न केवल इंगित और आकार से ही सूक्ष्मार्थ का प्रकाशन होता है, प्रत्युत पाद, मुद्रा, आदि से भी देखा जाता है। इसलिये रुय्यक के भेद और लक्षण दोनों अव्यापक हैं।[22] जयरथ ने शोभाकर का विरोध करते हुए ऐसे स्थलों पर भी सूक्ष्म अलंकार मानने की वकालत की है। उनका अभिप्राय है कि चाहे संलक्षित सूक्ष्म अर्थ का प्रकाशन हो या प्रकाशनमात्र हो, रुय्यक के लक्षण से बहिर्भूत नहीं है।[23] वस्तुतः, पाद, मुद्रा, आदि इंगित से व्यतिरिक्त नहीं हैं। अतएव शोभाकर का उक्त मत भ्रान्त है। विश्वनाथ दो भेद और मम्मट के दोनों उदाहरण उपस्थित करते

हैं। विद्याधर तथा विद्यानाथ ने केवल एक-एक उदाहरण मात्र प्रदर्शित किये हैं। अप्पयदीक्षित भी मम्मट के समान दो उदाहरण रखते हैं। वस्तुतः दंडी के लक्षण की भांति उन्हीं के दो भेदों को भी आलंकारिकों में अधिकांश ने मान्यता प्रदान की है। आकारलक्षित सूक्ष्म का उदाहरण :

वक्त्रस्यन्दिस्वेदबिन्दुप्रबन्धैर्दृष्ट्वा भिन्नं कुकुमं कापि कंठे।
पुंस्त्वं तन्व्या व्यंजयन्ती वयस्या स्मित्वा पाणौ खड्गलेखां लिलेख।।[24]

'मुख पर से बहती हुई स्वेद बिन्दु की धारा से कंठ में लगी हुई केसर को बिगड़ी हुई देखकर तन्वी की पुरुषायित रति को व्यक्त करनेवाली किसी सखी ने उस नायिका की हथेली पर तलवार का चित्र बना दिया।' यहां स्वेदबिन्दु के कारण बिगड़े हुए केसर के आकार से नायिका का पुरुषायित व्यक्त हो रहा है, क्योंकि यदि नायिका पुरुषायित न करती तो स्वेद बिन्दु से केसर मुख पर से सीधे कंठ में न लगकर परभाग में लगता। अस्तु, स्वेद बिन्दु के कारण बिगड़े हुए केसर से संलक्षित पुरुषायित को सखी ने नायिका की हथेली पर पुरुषोचित तलवार का चित्र बनाकर स्पष्ट (प्रकाशित) कर दिया है। अतएव यहां आकारलक्षित सूक्ष्मालंकार है।[25] 'इंगितलक्षित' संकेतकालमनसं' इत्यादि सूक्ष्म के उदाहरण में ध्वनि ही होगी, अलंकार नहीं।

भाव अलंकार सूक्ष्म से व्यतिरिक्त नहीं

रुद्रट ने वास्तव मूलक अलंकारों में दो प्रकार के भाव अलंकार का विवेचन किया है।[26] जिसका विकार जिस अनियत कारण से उत्पन्न होकर उसके (कार्यकारण सम्बन्ध रूप) अभिप्राय तथा कार्यकारण सम्बन्ध रूप प्रतिबन्ध का बोध कराता है, उसे प्रथम भाव कहते हैं,[27] और जहां वाच्यार्थ को प्रकट करता हुआ उससे भिन्न सकल गुणदोष (विधि-निषेध) युक्त वाक्य अर्थान्तर की प्रतीति कराता है, वहां द्वितीय भाव अलंकार होता है।[28] नमिसाधु का मन्तव्य है कि जिससे अभिप्राय का निश्चय हो वह भाव है।[29] भोजराज के अनुसार अभिप्राय के अनुकूल प्रवृत्ति को भाव कहा जाता है। वह सोद्भेद तथा निरुद्भेद से प्रथमतः दो प्रकार का होता है। पुनः इनके एकतः, अभितः, भेद से दो-दो भेद होकर चार भेद हो जाते हैं।[30] भोज का यह भी कथन है कि हृद्य तथा सूक्ष्म अलंकार भाव से व्यतिरिक्त नहीं है, निरुद्भेद भाव ही सूक्ष्म है।[31] इससे प्रतीत होता है कि भोज से पहले हृद्य नामक अलंकार भी प्रचलित था। परवर्ती आलंकारिकों ने भाव का विवेचन नहीं

किया है, संभवतः वे इसे ध्वनि का विषय मानते हैं। रुद्रटोक्त प्रथमभाव का उदाहरण :

ग्रामतरणं तरुण्या नववंजुलमंजरीसनाथकरम्।
पश्यन्त्या भवति मुहुर्नितरां मलिना मुखच्छाया।। वही, 7/39

'ग्राण तरुण को हाथ में बेंत की नूतन मंजरी लिये हुए देखकर तरुणी के मुख की कांति अत्यन्त मलिन हो गयी।' यहां विकार या कार्य मुखमालिन्य है और उसका कारण है वंजुल की नूतन मंजरी का दिखाई पड़ना। यह कारण नियत नहीं है क्योंकि मंजरी-दर्शन से सदैव मुख-मालिन्य हो ही, आवश्यक नहीं है। मुखमालिन्य से तरुणी का मनोभाव व्यक्त हो जाता है कि वंजुल लता गृह में इस युवक से भेंट करने का संकेत किया था, पर अन्य कार्यों में लिप्त हो जाने से मैं वहां न जा सकी, जिससे मैं मिलन-सुख से वंचित हो गयी। मुख मालिन्य विकार (कार्य) से यह भी प्रतीत होता है कि इसका हाथ में ली हुई वंजुल की नवीन मंजरी रूप कारण से कार्यकारणभाव सम्बन्ध है। अतएव यहां प्रथम भाव अलंकार है।

'एकाकिनी यदबला तरुणी तथाहमस्मिन्गृहे गृहपतिश्च गतो विदेशम्।
कं याचसे तदिह वासमियं वराकी श्वश्रूर्ममान्धबधिरा ननु मूढ पान्थ।।
—काव्या., 7.41; अ.स., पृ. 189

यहां निषेध परक वाच्यार्थ से निवास-आमन्त्रण विधिरूप अर्थान्तर रूप का बोध होने से रुद्रट द्वितीय भाव अलंकार मानते हैं, जबकि रुय्यक उन्नेयप्रश्न उत्तर अलंकार।

वस्तुतः भाव अलंकार में ध्वनि-सौन्दर्य ही मनोहारी होता है। उपर्युक्त दोनों उदाहरणों में मम्मट तथा लोचनकार गुणीभूत व्यंग्य मानते हैं।[32] यद्यपि इनमें व्यंग्यकृत चारुता है, पर वह वाच्य की उपस्कारक होने से गुणीभूत होकर अलंकार मानी जाती है, वाग्भट द्वितीय का लक्षण इस बात को पुष्ट करता है[33] तथापि भाव को ध्वनि से व्यतिरिक्त मानना कठिन है। रुय्यक का यह कथन है कि 'रुद्रटेनपि भावालंकारो द्विधैवोक्तः' यह सूचित करता है कि रुद्रट ने भी ध्वनि-ज्ञान के अभाव में भाव को अलंकार स्वीकार किया है।[34] संजीवनीकार तो इसे प्रेय अलंकार की संज्ञा प्रदान करते हैं। तथा दोनों भेदों को वह भावस्थिति व भावशांति मानते हैं।[35] अतएव भाव को अलंकार नहीं मानना चाहिये। यदि अलंकार मानना ही हो तो सूक्ष्म से इसे भी गतार्थ किया जाना चाहिये। नागेश की यह उक्ति यहां सार्थक है :

'अमुं (सूक्ष्मं) भावालंकारमाह रुद्रटः'। उद्योत, पृ. 551

पिहित और उद्भेद का अन्तर्भाव

सर्वप्रथम रुद्रट ने अतिशयमूलक अलंकारों में पिहित का विवेचन किया है। जहां कोई गुण अत्यन्त प्रबल होने के कारण समान अधिकरणवाले आविर्भूत असमान अर्थान्तर (गुण) को तिरोहित कर दे, वहां पिहित अलंकार होता है।[36] भोजराज ने पिहित, अपिहित, तद्गुण तथा अतद्गुण को मीलित में अन्तर्भूत कर दिया है, यह पहले भी कहा जा चुका है।[37] मम्मट, रुय्यक, शोभाकर, नरेन्द्रप्रभ, विद्याधर, विद्यानाथ, विश्वनाथ, कर्णपूर, नरसिंह, विश्वेश्वर, आदि प्रमुख आलंकारिक इसका उल्लेख नहीं करते। शोभाकर के अनुसार निगूढवस्तु के कथंचित् प्रकाशित हो जाने पर उद्भेद नामक अलंकार होता है।[38] शोभाकर का यह उद्भेद जयदेव आदि के पिहित के समान है। पीयूषवर्ष जयदेव सूक्ष्म अलंकार का तो विवेचन नहीं करते, पर पिहित को मानते हैं, किन्तु उनका पिहित रुद्रट के पिहित से भिन्न और मम्मट आदि के सूक्ष्म के करीब है। उनके अनुसार जहां दूसरे के गूढ़ अभिप्राय को जाननेवाला साकूत (साभिप्राय) चेष्टा करे, वहां पिहित अलंकार होता है।[39] वाग्भट द्वितीय का लक्षण रुद्रट के समान है। अप्पय, देवशंकर, अच्युतराय, ब्रह्मतन्त्र, आदि इसका विवेचन जयदेव के आधार पर करते हैं।[40] यद्यपि नमिसाधु ने पिहित अलंकार से मीलित को इस आधार पर पृथक् बताया है कि मीलित में समान चिह्नवाली वस्तु से हर्ष, क्रोध, आदि का तिरस्कार होता है, पर यहां असमान वस्तु का तिरस्कार होता है,[41] तथापि जैसा कि भोज मानते हैं, आलंकारिकों ने रुद्रट के पिहित को मीलित की कुक्षि में डाल दिया। जयदेव ने सूक्ष्म का विवेचन नहीं किया था, संभवतः वह पिहित के माध्यम से ही सूक्ष्म वाली बात को व्यक्त करना चाहते थे, पर उनके अंध-अनुयायी दीक्षित ने इसे भी एक अलंकार मानकर विवेचन कर डाला, फिर तो उनके अनन्य भक्त देवशंकर कैसे चूकते। अच्युतराय और ब्रह्मतन्त्र तो दूसरों के मत ही उपस्थित करते हैं। दीक्षित पिहित के उदाहरण में पूर्वोक्त सूक्ष्म के उदाहरण 'वक्त्रस्यन्दिस्वेदविन्दु' आदि का प्रयोग करते हैं। एक कथन के सौन्दर्य को अभिव्यक्त करने वाला एक अलंकार जब पहले से वर्तमान है, तो उसी के लिये अन्य अलंकार को मानना कहां तक उचित है, विद्वज्जन ही समझ सकते हैं। वस्तुतः दीक्षित के लक्षण में कोई भी अन्तर नहीं है :

सूक्ष्मं पराशयाभिज्ञेतरसाकूतचेष्टितम्।
पिहितं परवृत्तान्त ज्ञातुः साकूत चेष्टितम्।। कु.का. 151-52

अप्पय के टीकाकार वैद्यनाथ उनकी रक्षा के लिये तथ्य को किस प्रकार ओझल कर रहे हैं, देखा जा सकता है :

'सूक्ष्मालंकारे पराभिप्रायमवगत्य साकूतचेष्टितेनोत्तरवर्णनम् ।
पिहितालंकारे तु परवृत्तान्तं ज्ञात्वा साकूतचेष्टया तत्प्रकाशमितिभेदः ।।[42]

एक में पराभिप्राय को जानकर साकूत उत्तर दिया जाता है, तो दूसरे में साकूत प्रकाशन किया जाता है। सूक्ष्म अलंकार में उत्तर-समर्पण का कोई सवाल ही नहीं उठता, क्योंकि वहां भी गूढ़ अर्थ को जानकर विदग्ध व्यक्ति किसी चिह्न आदि के द्वारा पराभिप्राय का प्रकाशन ही करता है। अतएव चन्द्रिकाकार का उक्त कथन तर्कहीन है। ब्रह्मतन्त्रस्वामी भी स्वीकार करते हैं कि पिहित को सूक्ष्म से व्यतिरिक्त नहीं मानना चाहिये :

'सर्वस्वकारादयस्तु .... पिहितनामालंकारान्तरं नानुमेनिरे। युक्तं चैतत् ।' अ. मणि. भाग-3, पृ. 286

अतएव पिहित को सूक्ष्म से पृथक् नहीं माना जा सकता।[43] पिहित के निषेध से उद्भेद का भी निषेध हो जाता है।

व्याजोक्ति

कोई गोपनीय (निगूढ) बात जब किसी कारणवश प्रकट होने लगती है, तो लोग किसी अन्य कथन के बहाने उसे छिपाने का प्रयास करते देखे जाते हैं। प्रयोक्ता की इसी मनोवृत्ति पर आधारित है, प्रकृत अलंकार व्याजोक्ति। किसी कारण से प्रकाशित निगूढ वस्तु जहां वस्त्वन्तरप्रक्षेप रूप व्याज-कथन के द्वारा छिपायी जाती है, वहां व्याजोक्ति अलंकार होता है। इस प्रकार वस्त्वन्तर प्रक्षेपरूप व्याज-कथन होने से इस अलंकार की अन्वर्थकता है।[44] व्याजोक्ति में उद्भिन्न गूढ अर्थ को छिपाने का प्रयास वर्णित होता है, अतएव यह भी गूढार्थप्रतीति पर आधृत है। यहां प्रतीति का अर्थ है, प्रक्षेप[45] क्योंकि वस्त्वन्तर प्रक्षेप-कथन से ही यहां गूढाभिप्राय को छिपाने का प्रयास किया जाता है।

भामह, दंडी तथा उद्भट इस अलंकार का उल्लेख नहीं करते। विष्णु धर्मोत्तर पुराण तथा भट्टिकाव्य में उपन्यास अलंकार का विवेचन प्राप्त है, जो इसी के समान है।[46] इसका सर्वप्रथम उल्लेख वामन के ग्रन्थ में मिलता है। उनके अनुसार सत्य से व्याज की सरूपता व्याजोक्ति है, अर्थात् व्याजोक्ति ऐसे व्याज या बहाने का वर्णन है जो सत्य के समान प्रतीत होता है।[47] उनके टीकाकार गोपेन्द्रतिप्पगोपाल

की दृष्टि में असत्य का सत्य कथन व्याजोक्ति है।[48] वामन का यह भी कथन है कि अन्य लोग इसे मायोक्ति कहते हैं।[49] इससे प्रतीत होता है कि वामन से पूर्व भी यह अलंकार उपस्थित था। रुद्रट और भोज ने व्याजोक्ति का विवेचन नहीं किया है। सर्वप्रथम मम्मट ने व्याजोक्ति का स्पष्ट स्वरूप उपस्थित किया, जिसका अनुगमन प्रायः सभी परवर्ती आलंकारिक करते हैं। उनका कथन है कि निगूढ भी वस्तुस्वरूप जहां किसी प्रकार से प्रकट हो जाती है, किसी व्यपदेश से उसका गोपन व्याजोक्ति अलंकार है। उन्होंने अपह्नुति से इसका भेद भी स्थापित किया है। अपह्नुति में भी गोपन होता है, पर उसमें प्रकृत-अप्रकृत का साम्य विवक्षित होता है, यहां उसका अभाव है।[50] रुय्यक का लक्षण मम्मट के समान है। यही नहीं मम्मट के ही अनुसार वह अपह्नुति से इसका भेद स्थापित करते हैं तथा उन्हीं के उदाहरण का उपयोग करते हैं।[51] परवर्ती आलंकारिक शोभकर, नरेन्द्रप्रभ, वाग्भट द्वितीय, जयदेव, विद्याधर, विद्यानाथ, विश्वनाथ, कर्णपूर, अप्पयदीक्षित, देवशंकर, नरसिंह, अच्युतराय, विश्वेश्वर, आदि सभी के लक्षण मम्मट के अनुवाद मात्र हैं, मात्र शब्दावली का परिवर्तन किया गया है।[52] संदेह करने वाले से छलपूर्वक वस्तुस्थिति को छिपाने का वर्णन किये जाने पर जयदेव व्याजोक्ति मानते हैं, और अप्पय का मत है कि जहां किसी दूसरे हेतु को बताकर उसके द्वारा आकार का गोपन किया जाये, वह व्याजोक्ति है। ध्यातव्य है कि इन लक्षणों में पूर्वोक्त से कोई भेद नहीं है, केवल कथन-प्रकार में अन्तर है। वाग्भट प्रथम ने इसका उल्लेख नहीं किया। हेमचन्द्र इसे अपह्नुति से गतार्थ करते हैं। अजितसेन साम्यगर्भता को आवश्यक स्वीकार करते हैं, जो वामन का प्रभाव है।[53]

लक्षण-विवेचन से एक बात स्पष्ट है कि वामनोक्त व्याजोक्ति स्वरूप को मम्मट ने परिष्कृत किया और परिष्कृत यह स्वरूप प्रायः सभी को स्वीकार हो गया। वामन इसे भी उपमा-प्रपंच मानते हैं, जिनके आधार पर अजितसेन साम्यगर्भता को आवश्यक तत्त्व मान लेते हैं। प्राचीन आलंकारिक इसे लव या लेश नाम से जानते थे। वक्रोक्ति के अभाव में भामह लेश को अलंकार मानने को उद्यत नहीं थे,[54] पर दंडी ने उसे उत्तमभूषण कहकर उसका स्वागत किया।[55] वह लेश के दो स्वरूप प्रस्तुत करते हैं : (1) निर्भिन्न अनुराग आदि वस्तु का लेश (व्याज) पूर्वक गोपन, तथा (2) व्याज से की गयी स्तुति या निन्दा को लेश कहा जाता है।[56] प्रथम लेश को वामन ने व्याजोक्ति के नाम से स्वीकार कर लिया। रुद्रट ने दंडी के द्वितीय लेश को उसी नाम से उपात्त कर लिया है। रुद्रट और भोज दोनों ही आलंकारिक गुण के दोष और दोष के गुण हो जाने को लेश मानते हैं।[57] भोजराज ने लेश से

व्याजस्तुति को अभिन्न बताकर इन दो अलंकारों की एकता को बल प्रदान किया है।[58] शोभाकर का व्यत्यास अलंकार उपर्युक्त लेश का अपर अभिधान है। आगे चलकर अप्पय, देवशंकर, अच्युतराय, आदि ने भी लेश को अपने ग्रन्थों में स्थान प्रदान किया है।[59] व्याजस्तुति प्रकारण में स्पष्ट किया जा चुका है कि लेश और व्याजस्तुति में कोई अन्तर नहीं है। दंडी के लेश से ही व्याजोक्ति और व्याजस्तुति का उद्भव हुआ है। प्रथम लेश व्याजोक्ति है, द्वितीय व्याजस्तुति।

व्याजोक्ति अलंकार का किसी ने कोई भेद नहीं किया है :

'शैलेन्द्रप्रतिपाद्यमानगिरिजाहस्तोपगूढोल्लस —
द्रोमांचादिविसंष्ठुलाखिलविधिव्यांसंगभंगाकुलः।
हा शैत्यं तुहिनाचलस्य करयोरित्यूचिवान् सस्मितं।
शैलान्तः पुरमातृमण्डलगणैर्दृष्टोऽवताद्वः शिवः।।'[60]

'हिमवान् के द्वारा प्रदीयमान पार्वती के करस्पर्श से उद्भूत रोमांच आदि के कारण समग्र अस्तव्यस्त वैवाहिक क्रियाकलाप के गड़बड़ा जाने से घबराये हुए, आह! हिमवान् के हाथ ठंडे हैं' यह कहने वाले, हिमालय के अन्तःपुरिकाओं, मातृगण तथा नन्दी आदि गणों द्वारा सस्मित देखे गये शिव तुम लोगों की रक्षा करें।' मम्मट तथा विद्याचक्रवर्ती के अनुसार यहां पार्वती के हाथ-स्पर्श से उद्भिन्न शंकर जी का रोमांच (पुलक, वेपधु) आदि सात्त्विक भाव हिमवान् के शीतकरों के कथन से छिपाया गया है,[61] जबकि प्रदीपकार तथा रुय्यक आदि के अनुसार रोमांच आदि के कारण उद्भिन्न (पार्वती के प्रति शिव के) रतिभाव को शैत्य के बहाने छिपाया गया है। अतएव व्याजोक्ति अलंकार है। अप्पय द्वारा दिये गये व्याजोक्ति के उदाहरण 'सखि पश्य गृहाराम परागैरस्मिधूसरा' तथा 'कस्य वा न भवेद्रोषः प्रियायाः सब्रणेऽधरे' इत्यादि में अलंकार न मानकर ध्वनि मानना ही उपयुक्त होगा। द्वितीय उदाहरण को ध्वनिकार भी ध्वनि के उदाहरण में प्रस्तुत करते हैं।[62]

गूढ़ोक्ति आदि अलंकारों का निराकरण

जहां अनभिहित गूढवस्तु के अनुपादान होने से गूढाक्षेपक साकांक्ष वस्तु का निबन्धन किया जाता है वहां शोभाकर गूढनामक एक नवीन अलंकार मानते हैं।[63] वस्तु के साकांक्ष होने पर भी कार्यादि के द्वारा शीघ्र ही प्रकृत अर्थ का बोध हो जाने के कारण गूढता का निराकरण हो जाता है। वस्तुतः गूढव्यंग्य को साहित्यशास्त्री गुणीभूतव्यंग्य स्वीकार करते हैं। शोभाकर गूढ के उदाहरण में पूर्वोक्त भाव अलंकार

के उदाहरण 'ग्रामतरणं तरुण्या' इत्यादि को उपस्थित करते हैं, जिसे मम्मट आदि गुणीभूतव्यंग्य का उदाहरण मानते हैं। अतएव गूढ अलंकार न होकर, ध्वनि का विषय है। अप्पयदीक्षितप्रोक्त नवीन अलंकार गूढोक्ति को भी इसी श्रेणी में रखा जा सकता है। जो कुछ जिससे कहना है, उसे तटस्थ न जान ले इसलिये उसे उससे भिन्न जिस किसी को उद्देश्य कर जो बात कही जाती है, उसे गूढोक्ति कहते हैं। बाद में इसका विवेचन, देवशंकर, अच्युतराय, ब्रह्मतन्त्र भी करते हैं।[64] वस्तुतः यह भी ध्वनि से व्यतिरिक्त नहीं है :

वृषापेहि परक्षेत्रादायाति क्षेत्ररक्षकः[65]

यद्यपि यह बात समीप में चरते हुए बैल के प्रति कही गई है, किन्तु प्रकरण आदि से उपपति का परस्त्री संसक्त होना व्यंजित हो रहा है। अतएव यहां ध्वनि है, न कि अलंकार जैसा कि दीक्षित मानते हैं। 'ना यो मे विपणिं गतो नगणयत्येषा सपत्नी च माम्' इत्यादि में गुणीभूतव्यंग्य स्पष्ट है। गूढोक्ति शब्द का अर्थ, गूढ व्यंग्यार्थ की उक्ति, कथन—ही इसे गुणीभूतव्यंग्य की श्रेणी में बैठा देता है।[66] अतएव गूढोक्ति की अलंकारता अमान्य है।

विवृतोक्ति

इसी प्रकार दीक्षितोक्त विवृतोक्ति अलंकार भी गुणीभूतव्यंग्य का विषय है। जहां किसी श्लिष्ट गुप्त वस्तु को कवि अपने कथन से प्रकाशित कर दे वहां विवृतोक्ति अलंकार होता है।[67] लोकोक्ति से इसमें केवल इतना ही अन्तर है कि उसमें गोपनीय वस्तु को ससूचन आविष्कृत किया जाता है। इसका भी विवेचन देवशंकर, ब्रह्मतन्त्र स्वामी करते हैं।[68] मम्मट ने गुणीभूतव्यंग्य के जो उदाहरण 'दृष्ट्या केशव गोपरागहृतया किंचिन्न दृष्टं मया' तथा 'गच्छाम्यच्युत दर्शनेन भवतः किं तृप्तिरुत्पद्यते' इत्यादि प्रस्तुत किये हैं, उन्हीं में दीक्षित विवृतोक्ति अलंकार मानते हैं। अलंकार्य को अलंकार मानना संभव नहीं है। अतएव विवृतोक्ति का अन्तर्भाव गुणीभूतव्यंग्य में संभव है।[69]

युक्ति

जहां अपने रहस्य का गोपन करने के लिये किसी चेष्टा से दूसरों की वंचना की जाये, वहां युक्ति अलंकार होता है।[70] इसका भी विवेचन प्रथमतः दीक्षित करते हैं।[71] वैसे भी भरत ने युक्ति नामक काव्यलक्षण का विवेचन किया है, पर जयदेव का 'युक्ति' काव्यलक्षण इस अलंकार के समीप है :

युक्तिर्विशेषसिद्धिश्चेद्विचित्रार्थान्तरान्वयात्।
नवस्त्वं नीरदः कोऽपि स्वर्णं वर्षसि यन्मुहुः।। चन्द्रा. 3/9

युक्ति को देवशंकर और ब्रह्मतंत्र स्वामी भी मानते हैं।[72]

त्वामालिखन्ती दृष्ट्वाऽन्यं धनुः पौष्पं करेऽलिखत्। कु.का. 156

दूती का नायक से कथन है—'वह तुम्हारा चित्र बना रही थी, पर किसी को समीप आता देखकर उसने हाथ में पुष्प-धनुष का चित्रण कर दिया।' व्याजोक्ति में उद्भिन्न, वस्तु को किसी व्याज से छिपाने का प्रयास वर्णित होता है, ठीक वही व्यापार यहां भी हो रहा है। उद्योतकार व्याजोक्ति में उक्ति पद का अर्थ व्यापार मात्र मानकर इसे व्याजोक्ति में अन्तर्भूत करते हैं। अतएव युक्ति को पृथक् अलंकार नहीं मानना चाहिये।[73]

लोकोक्ति

जहां लोकप्रवाद या लोकप्रचलित कथन का अनुकरण किया जाता है, वहां लोकोक्ति अलंकार होता है :[74]

'लोकप्रवादानुकृतिर्लोकोक्तिरिति भण्यते।
सहस्व कतिचिन्मासान्मुद्रयित्वा विलोचने।।'[75] कु.का. 157

लौकिक कथन में कोई वैचित्र्य नहीं होता, और प्रकृत में उसी का निबन्धन पाया जाता है। अतएव लोकोक्ति को तो अलंकार ही नहीं मानना चाहिये।[76]

छेकोक्ति

लोकोक्ति के प्रयोग में जहां अर्थान्तर छिपा हो, अप्पय वहां छेकोक्ति अलंकार मानते हैं :

छेकोक्तिर्यत्र लोकोक्तेः स्यादर्थान्तरगर्भता।
भुजंग एव जानीते भुजंगचरणं सखे।।[77] कु.का., पृ. 158

वस्तुतः ऐसे प्रयोगों से रस का उपस्कार नहीं होता, अतएव छेकोक्ति को भी अलंकार नहीं मानना चाहिये। नागेश के अनुसार कहीं-कहीं ध्वनि तथा गुणीभूतव्यंग्य से भी इसकी गतार्थता है। अतएव छेकोक्ति को भी पृथक् अलंकार नहीं कहा जा सकता।[78]

परभाग

स्वरूप मात्र से अवगत वस्तु की अन्य वस्तु की प्राप्ति के समय उससे (अवगतवस्तु की) भेद प्रतीति होने पर शोभाकर परभाग नामक एक अलंकार मानते हैं।[79] इसके उन्होंने चार भेद किये हैं। सद्रूपवस्तु से सद्रूप या उससे अन्य प्रकार की भेदप्रतीति तुच्छ या महत्त्व रूप में होकर चार प्रकार की होती है।

अन्यमहिलाप्रसंगं प्रार्थये देव कुरुष्वस्माकं दयितस्य।
पुरुषा एकत्र रता न खलु गुणदोषान् विजानन्ति।। अ.र., पृ. 172

'भाग्य। मैं प्रार्थना करती हूं कि मेरे प्रियतम का अन्य रमणी से प्रसंग (सम्बन्ध) कर दो। एकत्र रत पुरुष गुणदोष नहीं जानते।' शोभाकर के अनुसार नायिका का अभिप्राय है कि अन्य महिला के संसर्ग से प्रियतम को अपनी वल्लभा का महत्त्व ज्ञात हो जायेगा। अतएव प्रथम अवगत (अपनी वल्लभा) से भेद प्रतीति होने के कारण यहां परभाग अलंकार है। वस्तुतः यहां भी ध्वनि मानना उपयुक्त है। उक्त कथन रूप वस्तु से 'मैं तुम्हारी कितनी प्रिय हूँ, यह अन्य महिला संसर्ग से तुम्हें ज्ञात हो जायेगा' नायिका का अभिप्राय व्यंजित हो रहा है। अन्य महिलाओं से अपनी वल्लभा अधिक महत्त्वपूर्ण, श्रेष्ठ है' इस प्रकार वस्तु से व्यतिरेक ध्वनि व्यंजित हो रही है। शोभाकर अर्थान्तर-प्रतीति में तुच्छत्व और महत्त्व के वैकल्पिक योग तथा सादृश्याभाव होने के कारण इसे व्यतिरेक से व्यतिरिक्त मानते हैं।[80] तुच्छत्व या महत्त्व तो व्यतिरेक का साधक है, बाधक नहीं। रही सादृश्य की बात तो क्या व्यतिरेक के प्रत्येक भेद में सादृश्य पाया जाता है? सहृदय ही जानते हैं। अर्थान्तर प्रतीति इसकी व्यंग्यता का पोषक है। अस्तु, परभाग की अलंकारता अमान्य है।

वक्रोक्ति

गत्यर्थक भ्वादि की वंचु धातु से रक् प्रत्यय[81] होने पर वक्र शब्द निष्पन्न होता है। वक्र का अर्थ है कुटिल या टेढ़ा।[82] वक्रोक्ति में वक्ता के सीधे कथन की श्रोता द्वारा अन्यथा योजना या कल्पना कर ली जाती है। कथन का यह प्रकार वक्र या टेढ़ा कहा जा सकता है। अतएव वक्र कथन का निबन्धन होने के कारण अलंकार का वक्रोक्ति नाम सार्थक है—वक्रा उक्तिर्यत्र। रुय्यक के अनुसार यह भी गूढार्थप्रतीति पर आधृत है। वक्रोक्ति में गूढार्थ इसी अर्थ में माना जा सकता है कि इसमें एक शब्द को दो व्यक्ति दो तरह से समझते हैं, वक्ता का अपना अर्थ श्रोता के लिये गूढ़ होता है, या गूढ न होने पर श्रोता अपनी ओर से उसे गूढ बना

देता है। वक्ता के कथन की श्रोता द्वारा अन्यथा योजना कर ली जाती है, अतएव यहां प्रतीति का अर्थ होगा अर्थ-योजना।[83] यहां यह जान लेना आवश्यक है कि प्रकृत वक्रोति सर्वालंकारसामान्य या अतिशयोक्तिस्वरूप नहीं है। दूसरी बात यह है कि कतिपय आलंकारिक इसे शब्दालंकार मानते हैं।

भामह की वक्रोक्ति काव्य का वह व्यापक धर्म है, जो सम्पूर्ण अलंकारों के मूल में वर्तमान तथा लोकोत्तर है।[84] दंडी के यहां यह काव्य को द्विधा विभक्त करने का एक माध्यम भी है।[85] रत्नश्री के अनुसार वक्रोक्ति सब की प्रकाशिका है :

'वक्रोक्त्या किं न ख्याप्यते, वक्रोक्तिप्रधानत्वात्काव्यस्य।'

—रत्नश्री, पृ. 15

वामन के अनुसार वक्रोक्ति उपमामूलक अलंकार है। सादृश्य से होने वाली (साध्यवसान) लक्षणा वक्रोक्ति है।[86] वामन के निजी उदाहरण तथा टीकाकार के उदाहरण 'गंगायां घोषः' इत्यादि को देखकर तो यही प्रतीत होता है कि वामन की यह वक्रोक्ति अतिशयोक्ति से व्यतिरिक्त नहीं है। वर्तमान वक्रोक्ति अलंकार के उद्भावक आचार्य रुद्रट हैं। वह इसे शब्दालंकार तथा अर्थालंकार (श्लेष-गर्भ) दोनों मानते हैं। प्रथम के श्लेष और काकु दो भेद होते हैं। वक्ता के द्वारा भिन्न अर्थ में कही गयी बात की, जहां उसका उत्तर देने वाला पदों को विभक्त कर अन्यथा व्याख्या प्रस्तुत करे वहां श्लेष-वक्रोक्ति होती है और स्पष्ट रूप से उच्चारण किये गये स्वर वैशिष्ट्य के कारण अन्य अर्थ की प्रतीति होने पर काकु वक्रोक्ति।[87] वक्रोक्ति के ये दो भेद और स्वरूप परवर्ती सभी आलंकारिकों को मान्य हैं। जिस वाक्य में प्रकृत अर्थ से सम्बद्ध अन्य रसवाले भिन्न अर्थ की प्रतीति हो, उसे वक्रश्लेष कहते हैं।[88] भोजराज ने वाकोवाक्य अलंकार के एक भेद के रूप में वक्रोक्ति का द्विधा विवेचन किया है, निर्व्यूढा तथा अनिर्व्यूढा, पर ये दोनों क्रमशः सभङ्श्लेष वक्रोक्ति और अभङ्गश्लेष वक्रोक्ति हैं।[89] पठिति अलंकार का एक भेद काकु उन्हें भी मान्य है।[90] मम्मट इसे शब्दालंकार मानते हैं, अतएव रुद्रट की शब्दवक्रोक्ति (दोनों भेदों) को एक कारिका में निबद्ध कर दिया है। श्लेष के दो भेद होने से श्लेष वक्रोक्ति को वह द्विधा मानते हैं जो संभवतः भोज के निरूपण पर आधारित है।[91] 'काकु' की अनेकधा व्याख्या की गयी है, जिससे अर्थान्तर का ज्ञान हो अथवा काकु जिह्वा का नाम है, उसके व्यापार से संपादित होने के कारण शोक, भय, आदि से उत्पन्न ध्वनिविकार काकु है। तात्पर्य यह है कि उच्चारयिता के शोकादि का अनुमापक जातिविशेष काकु कहा जाता है।[92] काकु से होनेवाली अर्थ की अन्यथा

योजना यद्यपि व्यंजना ही है तथापि काकु के शब्द का धर्म होने के कारण, इसे शब्दालंकार माना जाता है।[93] जैसा कि भोजराज वाकोवाक्य मात्र में काकु मानते हैं, प्रदीपकार के अनुसार वह उपयुक्त नहीं है।[94]

रुय्यक वक्रोक्ति का लक्षण मम्मट के समान करते हैं।[95] पर उनकी विशेषता है, वक्रोक्ति को गूढार्थ प्रतीतिपरक अर्थालंकारों में स्थान प्रदान करना। उनका कथन है कि विच्छित्तिरूप होने से सभी अलंकार वक्रोक्तिस्वरूप हैं, किन्तु यहां वक्रोक्ति का अभिधान अलंकार विशेष में हुआ है।[96] मम्मट वक्रोक्ति के तीन भेद ही मानते हैं, जबकि रुय्यक उभयश्लेषगत वक्रोक्ति का चतुर्थ भेद् भी स्वीकार करते हैं। काकु तथा अभंगश्लेषमूला का उदाहरण मम्मट से ग्रहण किया गया है। शोभाकर का लक्षण मम्मट के लक्षण से व्यापक है, जहां वक्ता या श्रोता अन्यथा संभावित शब्द और अर्थ की प्रकारान्तर से योजना करता है, वहां वक्रोक्ति अलंकार होता है। उनके अनुसार यह श्लेष, काकु, धर्मसाम्य, औपचारिक प्रयोग में मुख्यार्थ की प्राप्ति तथा मात्र अर्थान्तर आदि के प्रयोग में होती है।[97] शोभाकर यह भी मानते हैं कि रुय्यक का द्वितीय व्याघात वक्रोक्ति से गतार्थ है,[98] जिसका जयरथ ने सविस्तार खंडन किया है।[99] नरेन्द्रप्रभसूरि इसे शब्दालंकार मानकर मम्मट का अनुगमन करते हैं।[100] हेमचन्द्र भी इसको शब्दालंकार तथा मम्मट के समान मानते हैं पर वह श्लेष में ही वक्रोक्ति मानते हैं, काकु में नहीं।[101] उनके अनुसार काकु-ध्वनि पाठ-धर्म है। पाठधर्म एक नाट्य-गुण है।[102] काकु में लौल्यार्थक 'कक्' धातु है। जहां साकांक्ष, निराकांक्ष, आदि क्रम से पठ्यमान शब्द प्रकृतार्थ से अतिरिक्त अर्थ को प्रकाशित करना चाहता है, वहां उसे लौल्य ही कहा जायेगा। अथवा यदि कु शब्द का ईषत् अर्थ लेकर कु को कादेश करके काकु शब्द की निष्पत्ति की जाये, तो काकु का अर्थ होगा हृदयस्थ भाव का ईषत् प्रकाशन। जिह्वा व्यापार से संपाद्यमान होने के कारण भी काकु शब्द का ग्रहण होता है। इस प्रकार इन उपर्युक्त अर्थों की अभिधायक काकु वक्रोक्ति कैसे हो सकती है? भरत ने सप्तस्वर, तीन स्थान, चार वर्ण, द्विविध काकु, षट् अलंकार तथा षडंग को पाठगुण माना है। हेमचन्द्र ने इनका सविस्तार विवेचन करते हुए काकु को नाट्यधर्म सिद्ध किया है।[103] राजशेखर का भी यही मत है कि अभिप्रायवान् पाठधर्म काकु अलंकार नहीं हो सकता।[104] हेमचन्द्र का यह भी कथन है कि यह गुणीभूतव्यंग्य का एक प्रभेद है, ध्वनिकार भी यह मानते हैं :

अर्थान्तरगतिः काक्वा या चैषा परिदृश्यते।
सा व्यंग्यस्य गुणीभावे प्रकारमिमव्माश्रिता।। ध्व. 3/38

पुनः वह काकु का साकांक्ष, निराकांक्ष दो भेद प्रदर्शित करते हुए उसे विधि, निषेध, आदि अर्थान्तर में पर्यवसित दिखाकर ध्वनि का विषय सिद्ध करते हैं।[105]

वाग्भट प्रथम के अनुसार जहां उत्तर-प्रदाता भंगश्लेष के द्वारा प्रस्तुत से अन्य अर्थ का अभिधान करे वहां वक्रोक्ति होती है। उन्होंने दो उदाहरण दिये हैं, द्वितीय में अभंगश्लेष से वक्रोक्ति है।[106] वाग्भट द्वितीय मम्मट का अनुगमन करते हैं।[107] जयदेव, विद्याधर, विद्यानाथ, रुय्यक के आधार पर इसका अर्थालंकार में, उन्हीं के समान विवेचन करते हैं।[108] विश्वनाथ और कर्णपूर मम्मट के अनुगामी हैं तथा शब्दालंकार मानते हैं।[109] दीक्षित, देवशंकर, नरसिंह रुय्यक का अनुगमन करते हैं।[110] अमृतानन्द योगी का अभिमत है कि कोप से जो प्रियवत् कथन है, वह वक्रोक्ति है।[111] 'साधुदूति पुनः साधु कर्तव्यं किमतः परम्' इत्यादि को वह उदाहरण में प्रयुक्त करते हैं, जो ध्वनि से व्यतिरिक्त नहीं है। केशव मिश्र का लक्षण यद्यपि रुय्यक आदि के समान है, पर लक्षण में श्लेष और काकु पद का उपन्यास उन्हें अनभिमत है। वह यह मानकर चलते हैं कि वक्रोक्ति ही वाकोवाक्य है।[112] अलंकारकौस्तुभ में विश्वेश्वर ने मम्मटप्रोक्त अर्थालंकारों को ही स्थान दिया है, पर 'अलंकारप्रदीप का उनका लक्षण केशवमिश्र के समान है।[113] अच्युतराय आदि प्राचीनों के अनुगामी हैं।[114] ब्रह्मतंत्र स्वामी श्लेष और काकु वक्रोक्ति के अतिरिक्त विकृतश्लेष, काकुविकृत श्लेषोभय, तथा दोनों के अभाव में योजना-भेद से अर्थान्तर के अवगम में भी वक्रोक्ति अलंकार मानते हैं।[115] उनका अभिमत है कि इन भेदों का प्राक्तनाद्यतन कोई आलंकारिक विवेचन नहीं करता।[116] ब्रह्मतंत्र स्वामी जी यदि शोभाकर की व्यापक वक्रोक्ति को जानते होते तो ऐसी गर्वोक्ति का सहारा न लेते।

प्राचीन तथा नव्य आलंकारिकों के मतों का विश्लेषण करने से स्पष्ट हो जाता है कि वामन की वक्रोक्ति समादृत न हो सकी। रुद्रट के वक्रश्लेष की भी यही दशा हुई। रुद्रट की शब्दवक्रोक्ति, जिसका मम्मट ने स्वागत किया, प्रायः सभी को मान्य रही, यह बात और है कि रुय्यक, शोभाकर, जयदेव, विद्याधर, विद्यानाथ, दीक्षित, देवशंकर, ब्रह्मतन्त्र, आदि इसका विवेचन अर्थालंकारों में करते हैं। जो आलंकारिक इसे शब्दालंकार मानता है, उसकी दृष्टि से इसका कारण श्लेष और काकु की शब्दधर्मता है, पर जो लोग इसे अर्थालंकार मानते हैं, उनके मत में इसका कारण अर्थ की अन्यथा योजना का होना है। एक बात और भी ध्यातव्य है कि शब्दधर्मता होने के कारण ही काकूत्थ वक्रोक्ति को अलंकार माना गया है, अन्यथा काकु गुणीभूतव्यंग्य का ही विषय है। यही कारण है कि हेमचन्द्र, केशवमिश्र और

विश्वेश्वर लक्षण में 'काकु' पद का समावेश नहीं करते। वस्तुतः 'वक्रा उक्तिः वक्रोक्तिः' के अनुसार वक्र-कथन ही वक्रोक्ति है। किसी अभिप्राय विशेष को लेकर ही वक्ता कोई बात कहता है, प्रतिवक्ता उसके अभिप्राय को समझते हुए भी विनोद के लिये अनजान सा बनकर उसका अन्य अर्थ प्रकल्पित कर लेता है। ऐसे प्रयोग तो लोक में भी बहुलता से पाये जाते हैं। स्वाभाविक है कि ऐसी स्थिति में जब एक शब्द का दो व्यक्ति दो अर्थ करते हैं, तो श्लेष की उपस्थिति हो जाये। अतएव वक्रोक्ति में श्लेष का सहारा उपयुक्त है, पर काकु में तो अर्थान्तर की व्यंजना से ही अवगति होती है। श्लेष दो प्रकार का होता है, सभंग—जहां पदभंग से अर्थान्तर की कल्पना होती है, अभंग—जहां पदभंग किये बिना ही दूसरे अर्थ का बोध हो जाता है। अतएव वक्रोक्ति को भी द्विधा मानना उपयुक्त है। इस दृष्टि से हेमचन्द्र का मत अधिक उपादेय है।

किं गौरि मां प्रति रुषा ननु गौरहं किं
कुप्यामि कां प्रति मयीत्यनुमानतोऽहम्।
जानाम्यतस्त्वमनुमानतएव सत्य—
मित्थं गिरो गिरिभुवः कुटिला जयन्ति।। काव्यालंकार, 2/15

प्रेम में कुपित पार्वती को मनाने में संलग्न शिव और पार्वती का संवाद है। 'गौरि मेरे ऊपर तुम्हारा कोप क्यों? मैं गौ (गौः + इः) हूँ क्या? किस पर कुपित हूँ? मेरे ऊपर ऐसा मैं अनुमान से जानता हूँ अतएव तुम (मुझ) पार्वती से नत (अन् + उमा + नत) नहीं हो, यह सत्य है। इस प्रकार पार्वती की वक्र उक्तियां सर्वातिशायिनी हैं।' यहां शिव के 'गौरि' और 'अनुमानतः' पद को भंग कर उमा ने दूसरा अर्थ लगा लिया है। अतएव यह सभंगश्लेष वक्रोक्ति का उदाहरण है।

अहो केनेदृशी बुद्धिर्दारुणा तव निर्मिता।
त्रिगुणाश्रूयते बुद्धिर्नतु दारुमयी क्वचित्।। का.प्र.

'अरे, किसने तुम्हारी ऐसी दारुण (कठोर) बुद्धि बनाई है।' 'बुद्धि तो त्रिगुणात्मक (सत्त्व, रजस्, तमस्) सुनी जाती है, काष्ठमयी (दारुमयी) नहीं।' दारु शब्द का कठिन और काष्ठ दोनों अर्थ होता है। अतएव पदभंग के बिना ही द्वितीय अर्थ की उपलब्धि होने से यहां अभंग श्लेषाश्रित वक्रोक्ति है। 'भवित्री रम्भोरु' इत्यादि में अप्पय विकृतश्लेष पर आधृत वक्रोक्ति मानते हैं।

स्वभावोक्ति

भवनं भावः।[117] सत्तार्थक भू धातु से भाव अर्थ में घञ् प्रत्यय होने पर भाव शब्द निष्पन्न होता है। भाव शब्द क्रिया और रूप का बोधक है।[118] स्वस्य भावः स्वभावः, वस्तु का अपना भाव ही स्वभाव कहा जाता है, वह क्रिया रूप हो सकता है। वर्णनीय वस्तु के स्वभाव (प्रकृतिसिद्ध भाव-रूप धर्म) का यथावद् वर्णन स्वभावोक्ति अलंकार है। अतएव अलंकार का यह अभिधान अन्वर्थक है—स्वस्य वर्णनीय तत्तद् वस्तुमात्रगतस्य प्रकृतिसिद्धस्य (भाव-रूप) धर्मस्य उक्तिः कथनं स्वभावोक्तिः।[119] यह बात ध्यान देने योग्य है कि वस्तु का स्वभावकथन मात्र ही स्वभावोक्ति अलंकार नहीं है, उसमें कविकल्पना का योग आवश्यक है, अन्यथा वस्तु का मात्र स्वाभाविक कथन ग्राम्य दोष माना जायेगा। यहां वस्तु स्वभाव का ऐसा वर्णन किया जाता है, जिसकी अनुभूति सामान्य जन को नहीं होती, केवल कवि ही उसका अनुभव कर पाता है। स्वभावोक्ति भी गूढार्थ प्रतीतिपरक अलंकारों की श्रेणी में रखी गयी है। यहां गूढार्थ का अभिप्राय वस्तु के सूक्ष्म वर्णन से है, जिसे कवि को छोड़कर जनसाधारण नहीं देख पाता और प्रतीति का अर्थ है अनुभूति।[120] काव्य-शास्त्रियों ने स्वभावोक्ति को अनेक अभिधान प्रदान किये हैं। भामह, उद्भट, मम्मट, रुय्यक, विद्यानाथ, विद्याधर, विश्वनाथ, कर्णपूर, जयदेव, दीक्षित, आदि इसे स्वभावोक्ति कहते हैं तो दंडी, रुद्रट, भोज, हेमचन्द्र, वाग्भट, सर्वेश्वर जाति, भामह और केशवमिश्र स्वभाव[121] कहते हैं तो अग्निपुराणकार स्वरूप।[122] इस प्रकार यह अलंकार काव्यशास्त्र में अनेक नामों से अभिहित किया गया है। बाण ने कादम्बरी के प्रारंभ में नवें तथा हर्ष चरित के पांचवें श्लोक में जाति की अत्यन्त प्रशंसा की है।

वैदिक साहित्य में स्वभाव कथन बहुलता से पाये जाते हैं। भरत ने न इसका उल्लेख किया है और न ही उनके काव्यलक्षण में इसका संकेत है। पर नाट्यशास्त्र में भावों का बड़ा ही महत्त्वपूर्ण स्थान है। भरत ने नाटक को दो प्रकार का माना है, लोकधर्मी और नाट्यधर्मी। लोकधर्मी को ही काव्य में स्वाभावोक्ति का स्थान प्राप्त हुआ। लोचनकार का स्पष्ट कथन है कि 'नाटक में लोकधर्मी और नाट्यधर्मी की भांति काव्य में स्वभावोक्ति और वक्रोक्ति के योग से रसानुभूति होती है।[123] कह सकते हैं कि स्वभावोक्ति की भी उद्भावना नाट्यशास्त्र के आधार पर हुई। अभिनवगुप्तप्रोक्त यह स्वभावोक्ति यद्यपि वाङ्मय विभाजन का एक आधार है, तथापि यही अलंकार के रूप में व्यवहृत हुई यह मानने में कोई कठिनाई नहीं है।

महत्त्व

भामह के अनुसार वक्रोक्ति और स्वभावोक्ति से काव्य का समग्र सौन्दर्य ग्राह्य है।[124] दंडी की दृष्टि में स्वभावोक्ति आद्य अलंकार है।[125] उनका अभिमत है कि काव्य और शास्त्र में इसका साम्राज्य है।[126] यही नहीं वह स्वभावोक्ति और वक्रोक्ति के रूप में काव्य का द्विधा विभाजन भी प्रस्तुत करते हैं।[127] इस प्रकार दंडी ने स्वभावोक्ति की व्यापक सत्ता का प्रकाशन किया। दंडी के बाद जैसा कि पहले कहा जा चुका है, अभिनव गुप्त ने भी स्वभावोक्ति और वक्रोक्ति को वाङ्मय विभाजन का आधार माना। यह बात और है कि अभिनव गुप्त का यह मत नाट्यशास्त्र से अधिक प्रभावित है। वस्तुतः कविता के सौन्दर्य को बढ़ाते हुए उसमें रस का निषेचन ही अलंकार का उद्देश्य है। यह कार्य वक्र तथा स्वभाव कथन की प्रक्रिया से ही संभव है। वक्रोक्तिजीवितकार तो स्वभाव को अलंकार्य मान बैठे हैं। अपने पूर्ववर्ती आलंकारिकों के मतों के संकलनकर्ता भोज वक्रोक्ति, स्वभावोक्ति और रसोक्ति के रूप में वाङ्मय को त्रिधा विभक्त कर स्वभावोक्ति की महत्ता को बनाये रखते हैं।[128] भामह के यहां स्वभावोक्ति भी यद्यपि वक्रोक्ति के समान काव्य का एक तत्त्व है, पर वह वक्रोक्ति के व्यापक क्षेत्र में एक तरह से अन्तर्भूत सी हो गयी है। दंडी भामह के मूल कथन पर ही कुठाराघात करते हैं। भामह की व्यापक वक्रोक्ति यहां श्लेषाबिद्ध होने के कारण अत्यन्त सिमट गयी है, जबकि स्वभावोक्ति का साम्राज्य चमक उठा है। उसमें किसी अलंकार के पोषण की आवश्यकता नहीं है, वह एक स्वतंत्र सत्ता है। कुन्तक स्वभावोक्ति को अलंकार्य मानकर उसे और भी उत्कृष्ट घोषित कर देते हैं। भोज के यहां काव्य में वक्रोक्ति, स्वभावोक्ति और रसोक्ति तीनों को समान अवसर प्राप्त है। प्रसिद्ध पाश्चात्य आलोचक लांजायनस का कथन है कि 'प्रस्तुत विधान का सबसे उत्तम गुण है, यथार्थता और सत्यता। (का.उ. तत्त्व, पृ. 72)

स्वभावोक्ति का सर्वप्रथम विवेचन भामह के ग्रन्थ में मिलता है। वह इसे स्वभाव नाम से व्यवहृत करते हैं, अर्थ की तदवस्था, जो वस्तु जैसी है, उसका उसी रूप में, अभिधान स्वभाव कहा जाता है। भामह का कथन है कि कुछ लोग ही (केचित्) स्वभावोक्ति को अलंकार मानते हैं।[129] इससे दो बातें सामने आती हैं, एक तो यह कि स्वभावोक्ति का उद्‌भव भामह से पूर्व ही हो चुका था, दूसरी यह कि भामह को स्वभावोक्ति की अलंकारता मान्य नहीं है। दंडी के अनुसार पदार्थों के विभिन्न अवस्था-रूपों को साक्षात् प्रकाशित करने वाली स्वभावोक्ति या जाति आद्य अलंकृति है।[130] उद्‌भट का मत है कि क्रिया में संप्रवृत्त बालक मृग आदि

का हेवाक निबन्धन स्वभावोक्ति है।[131] इन्दुराज का विचार है कि असाधारणपदार्थ स्वरूप का ध्वनन ही स्वभावोक्ति की अलंकारता है।[132] वामन इस अलंकार का विवेचन नहीं करते। रुद्रट ने इसे वास्तवमूल अलंकार वर्ग में रखा है। संसार में जिस पदार्थ का संस्थान, अवस्थान, क्रिया, आदि जिस प्रकार से चिरप्रसिद्ध है,[133] उसका उसी प्रकार से वर्णन जाति अलंकार है। बालक, मुग्ध युवती, कातर पक्षी और घबराये हुए नीच पात्रों की काल और अवस्था के अनुरूप चेष्टाओं का वर्णन होने पर वह अधिक रमणीय होती है।[134] रुद्रट की दृष्टि में जाति यद्यपि वास्तवमूलक अलंकार है, पर नमिसाधु के अनुसार वास्तव और जाति में वही भेद है जो वृक्ष और धव में है। वस्तु के स्वरूप कथन को वास्तव कहते हैं, जो सहोक्ति आदि अलंकारों में पाया जाता है। जाति अनुभव की उत्पादिका है जहां वर्ण्यमान दूसरे का स्वरूप अपना अनुभूत-सा प्रतीत होता है।[135]

कुन्तक स्वभावोक्ति को अलंकार न मानकर अलंकार्य मानते हैं। उनका कथन है कि स्वभाव से व्यतिरिक्त कुछ भी कहना असंभव है, काव्य के समग्र कथन स्वभाव रूप ही होते हैं। स्वभाव को अन्य अलंकार अलंकृत करते हैं। यदि स्वभाव को ही अलंकार्य मान लिया जाये तो अलंकार्य कौन होगा? अपने भाव का कथन ही स्वभाव है, वह काव्य का शरीरकल्प है। अलंकार्य को अलंकार नहीं कहा जाता और अलंकार्य को अलंकार मान लेंगे तो अलंकार अलंकृत किसे करेंगे? स्वभाव को अलंकार मान लेने पर दूसरे अलंकारों के निबन्धन होने पर दो ही गति होगी, उनका भेद या तो स्पष्ट होगा या अस्पष्ट। स्पष्ट होने पर दोनों के योग में संसृष्टि होगी, अस्पष्टता में संकर। इस प्रकार उपमादि अन्य अलंकारों का विषय ही समाप्त हो जायेगा।[136] कुन्तक के इस मत का महिमभट्ट ने जोरदार शब्दों में खण्डन किया है। उनका अभिमत है कि वस्तुस्वभाव दो प्रकार का होता है, सामान्य और विशिष्ट। वस्तु का विशिष्ट रूप प्रतिभापूर्ण कवियों की वाणी तथा प्रत्यक्ष का विषय है। कवि की वह प्रज्ञा ही तो प्रतिभा है, जो रस के अनुरूप शब्दार्थविचार में निमग्नचित्त होने पर स्वरूपस्पर्श से उन्मिषित होती है। वह भगवान् शंकर का तीसरा नेत्र है, जिससे तीनों लोकों के पदार्थों का साक्षात् दर्शन होता है। अर्थ-स्वभाव की उक्ति इसलिये अलंकार मानी गयी है, क्योंकि यहां प्रतिभा पदार्थों को चित्रित करती है, और वे आँखों देखे से लगते हैं। वस्तु का सामान्य स्वभाव अन्य अलंकारों का स्वरूप है।[137]

भोज ने जाति को शब्दालंकार तथा अर्थालंकार दो प्रकार का माना है। संस्कृत आदि भाषायें जो औचित्त्य-वश अलंकार मान ली गयी हैं, जाति रूप शब्दालंकार

हैं। इसका भोज ने सविस्तार विवेचन किया है, तथा यह बताया कि कौन सी भाषा कहां अधिक प्रिय है, कौन ग्राह्य है, कौन त्याज्य है, आदि। इसके वह छः भेद करते हैं, शुद्धा, साधारणी, मिश्रा, संकीर्णा, नान्यगामिनी (असाधारणी) तथा अपभ्रष्टा।[138] उनकी अर्थालंकार जाति का लक्षण तो दंडी के समान है, पर अन्य बातें रुद्रट से गृहीत हैं। वस्तुओं के अपने-अपने स्वभाव से नाना अवस्थाओं में जो रूप उत्पन्न होते हैं, उन्हें जाति कहा जाता है। अर्थव्यक्ति गुण से इसका भेद यह है कि वह सार्वकालिक वस्तुस्वरूप को अभिव्यक्त करता है और जाति में जायमान वस्तु-स्वरूप का निबन्धन होता है। इसके बाद उन्होंने यह बताया है कि जाति का हेतु-स्वरूप, संस्थान, अवस्थान, आदि है। रुद्रट की रीति से वह यह भी व्यक्त करते हैं कि मुग्ध, अंगना, आदि की चेष्टाओं के संसर्ग में वह अधिक मनोहारिणी होती है।[139] मम्मट ने डिम्भादि शब्द उद्भट से तथा 'क्रियारूप' रुद्रट से लेकर अपना लक्षण निर्मित किया है, डिम्भ आदि का स्वकीय क्रिया और रूप-वर्णन स्वभावोक्ति अलंकार है। रूप का अर्थ है, वर्ण और संस्थान।[140] स्वभावोक्ति के विवेचन में रुय्यक ने एक नयी दिशा का प्रदर्शन किया, लोकस्वभाव से काव्यस्वभाव को पृथक् करके। उन्होंने प्रतिपादित किया कि वस्तुस्वभावमात्र कथन ही स्वभावोक्ति नहीं है, ऐसा होने पर तो सभी अलंकार स्वभावोक्ति स्वरूप हो जायेंगे, क्योंकि कोई भी काव्य ऐसा नहीं है, जिसमें वस्तु-स्वभाव का वर्णन न उपलब्ध हो। अतएव सूक्ष्मवस्तु के स्वभाव का यथावत् वर्णन ही स्वभावोक्ति अलंकार हो सकता है। यहां सूक्ष्म का अर्थ है, केवल कविमात्र वेद्य। इसलिये कवि-प्रतिभा गोचरीभूत सूक्ष्मवस्तु का स्वभाव वर्णन ही स्वभावोक्ति अलंकार है।[141] इसी आधार पर रुय्यक इसे गूढार्थ प्रतीतिपरक मानते हैं। शोभाकर, नरेन्द्रप्रभ, विद्याधर, विद्यानाथ, प्रकारान्तर से विश्वनाथ अमृतानन्द, नरसिंह, विश्वेश्वर (अ.प्र.), सर्वेश्वर, आदि के लक्षण रुय्यक के समान हैं।[142] हेमचन्द्र तथा भावदेव स्वभावकथन को जाति मानते हैं।[143] स्वभावकथन अलंकार्य है, अलंकार नहीं, कुन्तक के इस मत का हेमचन्द्र महिमभट्ट की रीति से खण्डन करते हैं, और उनकी कारिका भी उद्धृत करते हैं।[144] वाग्भट प्रथम के अनुसार चेतन (सक्रिय) अथवा अचेतन (अक्रिय) पदार्थों के स्वभाव-कथन को जाति कहते हैं, यह क्षुद्र वस्तुओं तथा बालकों आदि के निबन्धन में विशेष सौन्दर्यसर्जक होती है।[145] वस्तुस्वरूप के यथास्थित वर्णन को वाग्भट द्वितीय ने जाति माना है।[146] वस्तु की जात्यादिगत स्वभाववर्णना को जयदेव स्वभावोक्ति मानते हैं।[147] वस्तुतः कर्णपूर, दीक्षित, देवशंकर, अच्युतराय, विश्वेश्वर, ब्रह्मतन्त्र, आदि के भी लक्षण मम्मट, रुय्यक से व्यतिरिक्त नहीं हैं।[148]

रुय्यक के विवेचन के पश्चात् आलंकारिकों के लिये एक ही मार्ग था कि वे उन्हीं के या मम्मट के लक्षण का अनुगमन करते और यही हुआ भी। किसी ने मम्मट का अनुगमन किया तो किसी ने रुय्यक का, पर स्वरूप में कोई भेद नहीं हुआ।

वस्तुस्वभाव दो प्रकार का होता है: स्थूल और सूक्ष्म। स्थूलस्वभाव कवितृमात्रगोचर है। उसके वर्णन में कोई अलंकार नहीं हो सकता, अन्यथा समग्र काव्य के लिये स्वभावोक्ति का प्रसंग उपस्थित हो जायेगा। विधिवत् वर्णित स्वभाव सूक्ष्म कहा जाता है, वह महाकवि मात्र गोचर है। कवि कल्पना मिश्रित सूक्ष्म स्वभाव का वर्णन ही स्वाभावोक्ति है। बालक आदि में अवस्थित तत्तद् साधारण रूप, क्रिया, आदि का शब्द से प्रतिपादन अलंकार नहीं है, अपितु जो वस्तु जिस प्रकार की है उसका उस प्रकार से असाधारणरूप वर्णन ही स्वभावोक्ति है, जहां वस्तु-संवादिनी प्रतीति होती है।[149] यद्यपि भाविक में भी वस्तु के सूक्ष्मधर्म का वर्णन पाया जाता है, पर वह स्वभावोक्ति से भिन्न है। लौकिक वस्तु में वर्तमान सूक्ष्मधर्म का वर्णन होने से स्वभावोक्ति में साधारण रूप में हृदयसंवाद (देशकाल आदि रहित अभेदानुभव) हो सकता है, पर भाविक में वस्तुओं की स्पष्ट रूप से तटस्थ प्रतीति होती है।[150] हृदयसंवादिता स्वभावोक्ति और वक्ष्यमाण रसवत् दोनों अलंकारों में होती है, किन्तु स्वभावोक्ति में वस्तुसंवाद (यह वस्तु इसी प्रकार की है, इस प्रकार का अभेदानुभव) होता है और रसवत् अलंकार में चित्तवृत्तियों का संवाद। जहां वस्तुनिष्ठ सूक्ष्मधर्म का वर्णन हो वहां स्वभावोक्ति होती है। अन्यत्र रसवत् अलंकार।[151] वस्तुतः स्वभावोक्ति वास्तवसौन्दर्य की अवलम्बिनी होने के कारण वर्ण्य-विषय में वस्तु-स्वभाव की सूक्ष्मता से साधारणीकरण द्वारा सचेतन संवाद की सृष्टि कर सौन्दर्य-विधान करती है।[152] स्वभावोक्ति दो तत्त्वों पर आधारित है : (1) कवि की नवनवोन्मेषशालिनी प्रतिभा से दृष्ट किसी वस्तु या पदार्थ का सूक्ष्म और यथावत् वर्णन, तथा (2) चमत्कार या सौन्दर्य के तत्तद्वस्तु धर्मवर्णना से साधारणीकृत वस्तुगत हृदयसंवाद।

सामान्यतया स्वभावोक्ति का भेद प्रतिपादन कोई नहीं करता। भामह और उद्भट भेद की चर्चा नहीं करते। दंडी ने जाति, गुण, द्रव्य और क्रिया के आधार पर स्वभाव का चतुर्धा विभाजन किया है। रुद्रट शिशु, मुग्धा युवती, कातर, तिर्यक्, संभ्रान्त तथा हीन पात्रों की काल, अवस्था विशेष के अनुरूप चेष्टा को जाति का विषय मानते हैं। उदाहरण केवल शिशु तथा युवती की चेष्टा का दिया है। नमिसाधु ने स्वभाविक संस्थान, अवस्थान, क्रिया व्यापार, विभव, वेषादि, कातर, तिर्यक्, संभ्रान्त तथा हीन पात्र आदि की चेष्टाओं का उदाहरण उपस्थित किया है। वस्तुतः

आलंकारिकों ने स्वभावोक्ति का भेद नहीं किया है, जिनमें मम्मट, रुय्यक, वाग्भट (दोनों), विद्याधर, विद्यानाथ, विश्वनाथ, कर्णपूर, नरसिंह, जयदेव, दीक्षित, आदि को लिया जा सकता है। हेमचन्द्र संस्थान, संस्थानक और व्यापार भेद से स्वभाव को तीन प्रकार का मानते हैं। वस्तुतः वस्तु की स्वाभाविकता या सहजता का विभाग असंभव है। अतएव स्वभावोक्ति का भेद विनिर्माण भी कुछ कठिन ही है। जात्यादि अवस्था, देश, काल, संस्थान, आदि के अनुरूप शिशु आदि की चेष्टाओं को माध्यम बनाकर विभाग करना संभव है। संस्थानाश्रयास्वभावोक्ति का उदाहरण :

'स दक्षिणापांगनिविष्टमुष्टिं नतांसमाकुंचितसव्यपादम्।
ददर्श चक्रीकृतचारुचापं प्रहर्तुमभ्युद्यतमात्मयोनिम्।।'[153] कु.सं., 3-70

'धनुष के द्वारा बाण-प्रहार के अवसर पर शरीर के संस्थानों की जो दशा होती है, उसका वर्णन होने से स्वभावोक्ति अलंकार है।

शिशु स्वभाव

धूलीधूसरतनवो राज्यस्थितिरचन कल्पितैकनृपाः।
कृतमुखवाद्यविकाराः क्रीडन्ति सुनिर्भरं डिम्भाः।। रुद्रट, 7/32

मुग्धायुवती का स्वभाववर्णन

हरति सुचिरं गाढाश्लेषे यदंगकमाकुला।
स्थगयति यथा यत् पाणिभ्यां मुखं परिचुम्बने।
यदति बहुशः पृष्टा किंचिद् ब्रवीत्यपरिस्फुटं
रमयतितरां तेनैवासौ मनोऽभिनवा वधूः।। वही, 7/33

इसी प्रकार स्वभावोक्ति के अन्य उदाहरण मूल ग्रन्थों से देखे जा सकते हैं। विष्णुधर्मोत्तर पुराण तथा भट्टिकथित वार्ता अलंकार स्वभावोक्ति से व्यतिरिक्त नहीं है।[154]

भाविक

भाव शब्द से मत्वर्थ में ठन् प्रत्यय (अत इनिठनौ, पा. 5/2/115) होने पर भाविक शब्द निष्पन्न होता है।[155] भाविक शब्द महत्त्वपूर्ण है। भाव शब्द के आधार पर उसकी अनेक व्याख्यायें की गयी हैं : (1) श्रोता के भाव से अभेदाध्यवसित जहां

कवि का भाव विद्यमान हो, उसे भाविक कहते हैं। यह व्याख्या इन्दुराज की है : कविसम्बन्धिनो भावस्य श्रोतृभावाभेदाध्यवसितस्य पुरः स्फुरद्रूपस्य विद्यामानत्वाद्भाविक व्यपदेशः। भावोऽस्मिन् विद्यते इति भाविकम्।[156] (2) भाव अर्थात् कवि का अभिप्राय—भूत और भावी पदार्थों की प्रत्यक्ष रूप में वर्णन करने की इच्छा का वर्णन होने से इसे भाविक कहते हैं।[157] मम्मट-प्रदत्त यह व्युत्पत्ति उपयुक्त नहीं है, क्योंकि इस प्रकार की उपमादि सभी अलंकारों को कवि का अभिप्राय मानकर भाविक मान लेना पड़ेगा—अत्र कवेः भावः अभिप्रायः उपमानोपमेययोः प्रतिपादनेच्छा अस्तीति।[158] (3) इसमें वर्णन इतना विशद रहता है कि कवि का अभिप्राय वाचक या श्रोता में प्रतिबिम्बित हो उठता है। यह व्याख्या रुय्यक की है, जिसका समर्थन अधिकांश विद्वान् करते हैं।[159] उपर्युक्त इन्दुराज की व्याख्या भी इसी अर्थ को अभिव्यक्त करती है।[160] संभवतः इसीलिये रुय्यक को एक दूसरी व्युत्पत्ति देनी पड़ी। (4) भाव का अर्थ है, चित्त में पुनः पुनः विनिविष्ट होनेवाली भावना, इस प्रकार की भावना का वर्णन होने से इसे भाविक कहते हैं।[161] (5) वर्णन की विशदता के कारण भूत और भावी पदार्थों का प्रत्यक्ष सा साक्षात्कार होता है, इसलिये भी इसे भाविक कहा जाता है।[162] (6) भाव का अर्थ है भावना या निरन्तर समाधि। जिस प्रकार योगी अपने योगबल से अतीत और अनागत वस्तुओं का प्रत्यक्ष किया करता है, उसी प्रकार काव्यतत्त्वार्थविद् भावना के द्वारा भूत और भावी पदार्थों का प्रत्यक्ष किया करता है, अतएव यह भाविक कहा जाता है।[163] भाविक अलंकार में भूत और भावी अर्थों का प्रत्यक्ष-सा वर्णन किया जाता है। कभी-कभी इस प्रकार के स्वकीय भावों को कवि अन्य वक्ता के माध्यम से अभिव्यक्त करता है, ऐसी स्थिति में इन्दुराज तथा रुय्यक की व्याख्या—कवि का अभिप्राय (भाव) श्रोता में प्रतिबिम्बित होता है इसलिये इसे भाविक कहते हैं—उपयुक्त होगी। आवश्यक नहीं कि अपने भाव को प्रस्तुत करने के लिये कवि किसी वक्ता का सहारा ले ही, ऐसे में मम्मट आदि की व्युत्पत्ति ग्राह्य होगी। भूत-भावी पदार्थों की प्रत्यक्षतया अनुभूति कवि, वक्ता, श्रोता सभी को होती है, इस दृष्टि से आशाधरभट्ट तथा निदर्शनाकार आदि की व्याख्या समादरणीय है। अर्थों का अद्भुत होना भावों के चित्त में पुनः पुनः विनिवेश का कारण है। अतएव रुय्यक की द्वितीय व्युत्पत्ति भी स्वीकारी जा सकती है। समष्टि रूप में सभी व्याख्यायें भाविक के स्वरूप को अभिव्यक्त करती हैं। भूत-भविष्य वृत्तान्त या चरित्र का वर्णन होने से भाविक में अर्थ की निगूढता स्वभावतः सिद्ध है। दोनों की (भूत-भविष्य वस्तु की) प्रत्यक्ष सी प्रतीति या अनुभूति होती ही है, इसलिये भाविक भी गूढार्थप्रतीति पर आधृत है।

भाविक के उद्भावक आचार्य हैं, भामह। भूत और भावी पदार्थ जहां प्रत्यक्ष से दीख पड़ते हैं, वहां भाविक होता है। कथा की विविधता, उदात्तार्थता, अद्भुभतार्थता सुन्दर अभिनीतता तथा शब्दों की अनाकुलता आदि उसके हेतु माने गये हैं। ध्यान देने योग्य है कि भामह के अनुसार यह अलंकार न होकर प्रबन्धविषयक गुण है।[164] दंडी भी भामह के समर्थक हैं। आसिद्धि (सिद्धिपर्यन्त) काव्यों में अवस्थित रहने वाला कवि का अभिप्राय भाविक दंडी की दृष्टि में प्रबन्ध गुण है। समग्र वस्तुओं की परस्पर उपकारिता, व्यर्थ विशेषणों का असन्निवेश, स्थानों (संध्यादि) का वर्णन, गंभीर वस्तु की भी क्रम से उक्ति तथा अभिव्यक्ति (व्यक्ति) तथा अन्य काव्योपयुक्त वर्णन सभी कवि के भावाधीन हैं और दंडी के अनुसार भाविक का यही स्वरूप है।[165] उद्भट का कथन है कि अत्यन्त अद्भुत भूत-भावी वस्तुओं या पदार्थों की जहां प्रत्यक्ष के समान प्रतीति तथा वाणी की अनाकुलता हो वहां भाविक होता है।[166] राजानकतिलक के शब्दों में इस प्रकार स्पष्ट किया जा सकता है, प्रध्वंसाभाव (भूत) और प्रागभाव (भविष्य) से उपलक्षित भी पदार्थ जहां अपनी महिमा तथा वाणी की स्वच्छतावश स्फुरित तन्तु की भांति दृश्यमान निबन्धित किये जाते हैं, वह भाविक है, भाव, वक्ता का आशय जहां श्रोता में निबद्ध हो।[167] वामन और रुद्रट भाविक का उल्लेख नहीं करते। भोज की दृष्टि में स्वकीय अभिप्राय, अन्य की भावना और अन्य अपदेशकथन भाविक है। उनका कथन है कि व्यक्त, अव्यक्त और उभय रूप त्रिविध उद्भेद अलंकार भाविक से व्यतिरिक्त नहीं है।[168]

मम्मट के अनुसार जहां भूत और भावी पदार्थ प्रत्यक्ष की भांति निबद्ध किये जाते हैं, वहां भाविक अलंकार होता है।[169] मम्मट-लक्षण की शब्दावली यद्यपि भामह, उद्भट के समान है, पर दोनों के अभिप्राय में भेद है। कवि समर्पित धर्मों को अलंकार माना जाता है, न कि वस्तुसन्निवेशी चन्द्रादिगत वास्तविक सौन्दर्य को। इसीलिये भामह तथा उद्भट ने शब्दों की अनाकुलता (व्यस्तसम्बन्धरहित शब्द रचना) आदि को भाविक का हेतु माना है। वस्तुनिष्ठ धर्म की प्रत्यक्षायमाणता यद्यपि स्वभाव सिद्ध होने के कारण अलंकार नहीं मानी जानी चाहिये तथापि जिस प्रकार वास्तव सौन्दर्याश्रित स्वभावोक्ति वस्तु स्वभाव की सूक्ष्मता से साधारणीकृत सचेतन संवाद के कारण विच्छित्तिमती होकर अलंकार मानी जाती है, उसी प्रकार वास्तव सौन्दर्य पर आश्रित भी कविकल्पित होने के कारण भाविक की अलंकारता मान्य है। इस दृष्टि से मम्मट का लक्षण अधिक उपयुक्त है क्योंकि उसमें 'शब्दानाकुलता' आदि पदों के सन्निवेश की आवश्यकता नहीं है।[170] भामह आदि से इसका दूसरा

वैशिष्ट्य यह है कि भामह का भाविक प्रबन्धगुण है, जबकि मम्मट का वाच्य अलंकार। वस्तुतः ध्वनिवादी जिस तत्त्व की रसभावादि के द्वारा अनुभूति करता है, प्राचीन आलंकारिक उसी का अनुभव भाविक के द्वारा करता है। इन्दुराज का यह कथन इस तथ्य को पुष्ट करता है :

> **"वाचामनाकुलता व्यस्तसम्बन्धरहितलोकप्रसिद्धशब्दोपनिबन्धात् झगित्यर्थप्रतीतिकारिता। तस्यां हि सत्यां कवेः सम्बन्धी यो भावः आशयः शृंगारादिरससंवलित चतुर्वर्गोपायभूतविशिष्टार्थोल्लेखी स कविनैव सहृदयैः श्रोतृभिः स्वाभिप्रायाभेदेन तत्तत्काव्यप्रतिबिम्बरूपतया साक्षात्क्रियते।"** —ल.वृ., पृ. 74

रुय्यक यद्यपि मम्मट के लक्षण को सम्मान प्रदान करते हैं, पर उनका विवेचन भामह-उद्भट से प्रभावित है।[171] उनके अनुसार भूत और भावी पदार्थों का, अलौकिक होने के कारण अत्यन्त अद्भुत तथा आकुल (व्यस्त) सम्बन्ध से रहित, शब्द-रचना समर्पित होने के कारण प्रत्यक्ष सा वर्णन भाविक अलंकार है।[172] रुय्यक की विशेषता यह है कि वह इसे उत्प्रेक्षा, अतिशयोक्ति, काव्यलिंग, स्वाभावोक्ति, आदि अलंकार और प्रसाद गुण से पृथक् बतलाते हैं। जिसका विवेचन आगे किया जायेगा। देशकाल अथवा स्वभाव से विप्रकृष्ट साक्षात् ग्रहण के अयोग्य भी पदार्थ की (इन्द्रिरूप) सामग्री के बल से प्रत्यक्षायमाणता को शोभकर भाविक मानते हैं।[173] नरेन्द्रप्रभसूरि रुय्यक का पूर्णतः अनुगमन करते हैं।[174] हेमचन्द्र का अभिमत है कि भूत-भावी पदार्थों का प्रत्यक्षीकरण अभिनेय ग्रन्थों में ही हो सकता है। यद्यपि मुक्तक आदि में भी वह देखा जाता है, तथापि वह आस्वाद् का विषय नहीं बनता। अतएव भाविक को अलंकार नहीं मानना चाहिये।[175] वाग्भट उभय का उल्लेख नहीं करते। जयदेव भाविक और भाविकच्छवि दो अलंकारों का विवेचन करते हैं। भूत और भावी पदार्थों का प्रत्यक्ष दृष्ट के समान वर्णन भाविक है और देश-काल से विप्रकृष्ट (दूर अवस्थित) वस्तु का प्रत्यक्ष अनुभव भाविकच्छवि है।[176] वस्तुतः भाविकच्छवि को पृथक् अलंकार मानने की आवश्यकता नहीं है। वह भी मम्मटोक्त भाविक के व्यापक लक्षण से गतार्थ है। शोभाकर का लक्षण भी इसका स्पष्ट प्रमाण है, जहां देश-काल से विप्रकृष्ट वस्तु की प्रत्यक्षायमाणता को भाविक कहा गया है। भाविकच्छवि का अर्थ भी इस बात को संपुष्ट करता है, भाविकस्यच्छविरिवच्छविर्यस्य।

विद्याधर का लक्षण मम्मट के समान है, जबकि विद्यानाथ, विश्वनाथ, नृसिंह, रुय्यक से प्रभावित हैं।[177] कर्णपूर तो मम्मट के अनुगामी हैं।[178] अप्पयदीक्षित

चन्द्रालोक में कहे गये लक्षण को ही ग्रहण कर लेते हैं, केवल 'साक्षात् दर्शनवर्णनम्' के स्थान पर 'साक्षात्कारस्य वर्णनम्' कर दिया गया है।[179] परवर्ती अन्य आलंकारिकों के लक्षण मम्मट के अनुवाद मात्र हैं।[180] वस्तुतः देखा जाये तो स्पष्ट प्रतीत होगा कि भाविक के लक्षण में भामह से लेकर नव्य आलंकारिकों तक कोई परिवर्तन नहीं हुआ है, विवेचन में भेद अवश्य है। उदाहरण के लिये भोज, शोभाकर और जयदेव को (भाविकच्छवि के विषय में) लिया जा सकता है। इसी प्रकार रुय्यक, विद्यानाथ और विश्वनाथ को भी लिया जा सकता है, जिनकी दृष्टि भामह और उद्‌भट से प्रभावित है, पर मम्मट और उनके अनुगामी आलंकारिक भामह उद्‌भट की परंपरा का परिवहन आवश्यक नहीं समझते। अस्तु।

भूत और भविष्यत् पदार्थों का जहां प्रत्यक्ष के समान दर्शन अनुभव या वर्णन होता है, वहां भाविक अलंकार होता है। यहां यह सन्देह हो सकता है कि भूत और भावी पदार्थों की प्रत्यक्षप्रतीति होने पर इसे भ्रान्ति क्यों न माना जाये? भ्रान्ति अलंकार में एक वस्तु में दूसरी की भ्रान्ति होती है, पर यहां इस प्रकार की कोई बात नहीं है, क्योंकि भूत और भावी वस्तु का भूत और भावी के रूप में ही प्रकाशन होता है, भावना में कोई भ्रान्ति नहीं होती—भावनाया अभ्रान्तिरूपत्वात् (प्र.रु., पृ. 333). भूत-भावी पदार्थों का भूत-भावी रूप में ही प्रकाशन होने से तो इसे 'रामोऽभूत्' की भांति वस्तुमात्र मानना चाहिए अलंकार नहीं? वस्तुतः यहां 'रामोऽभूत्' की तरह वस्तुमात्र का वर्णन नहीं होता अपितु भूत और भावी वस्तु से सम्बद्ध प्रत्यक्षात्मक भावना ही अधिक स्फुट रहती है। अतएव वस्तुमात्र मानना अयुक्त है।[181] भूत और भावी वस्तु की प्रत्यक्ष रूप में प्रतीति होती है, तो क्यों न भूत भावी वस्तु का प्रत्यक्ष रूप में अध्यवसान मानकर इसे अतिशयोक्ति से गतार्थ कर लिया जाये? नागेश तो असम्बन्धे-सम्बन्ध रूपा अतिशयोक्ति से इसकी गतार्थकता मानते भी हैं।[182] अतिशयोक्ति में अन्य वस्तु का अन्य वस्तु के रूप में अध्यवसान होता है, यहां वैसी स्थिति नहीं है। न तो भूत और भावी वस्तु का अभूत और अभावी रूप में अध्यवसान होता है और न अभूत और अभावी का भूत और भावी रूप में। इसी प्रकार न प्रत्यक्ष का अप्रत्यक्ष रूप में और न अप्रत्यक्ष का प्रत्यक्ष रूप में ही अध्यवसान होता है। यदि प्रत्यक्षता केवल वस्तु धर्म होती तो भूत और भावी वस्तु को अप्रत्यक्ष और वर्तमान को प्रत्यक्ष मानकर अध्यवसाय प्रक्रिया संभव थी, पर प्रत्यक्षता केवल वस्तु का धर्म नहीं है, क्योंकि प्रमाता की अपेक्षा से ही कोई वस्तु प्रत्यक्ष हो पाती है। यह नियम है कि 'जो प्रतिपत्ता के ज्ञान प्रतिमास के साथ अपना अन्वय-व्यतिरेक सम्बन्ध बनाता है, वह प्रत्यक्ष है।'

वस्तुमात्र का प्रत्यक्ष करने के लिय प्रमाता की (इन्द्रियरूप) सामग्री अपेक्षित है। लोकव्यवहार में यह सामग्री चक्षु आदि इन्द्रिय स्वरूप है और अतीन्द्रियवस्तु का प्रत्यक्ष करने वाले योगियों के लिये भावना स्वरूप। काव्यार्थ का साक्षात्कार करने में काव्यतत्त्वविद् के लिये भी वह सामग्री भावना रूप है। यह भावना काव्यवस्तु के अत्यन्त अद्भुत होने के कारण पैदा होती है क्योंकि अत्यन्त अद्भुत वस्तु को अत्यन्त आदर के साथ हृदय में धारण किया जाता है। तात्पर्य यह है कि लोक में वस्तु के साक्षात्कार की सामग्री इन्द्रियाँ हैं, और योगियों तथा काव्यविदों के लिये वह भावना है। अतएव योगियों की भांति काव्यवेत्ता को भी अतीत और अनागत वस्तु का साक्षात्कार भावना के बल से होता है। भूत और भावी का अन्यथा अध्यवसान संभव नहीं है।[183] भाविक में भूत और भावी पदार्थ प्रत्यक्ष से प्रतीत होते हैं, तो क्यों न इसे प्रतीयमान उत्प्रेक्षा मान लिया जाये? उत्प्रेक्षा में संभावना रूप अध्यवसाय होता है, यहां उसका अभाव है। भाविक में अप्रत्यक्षादि वस्तु की प्रत्यक्ष रूप में संभावना नहीं की जाती अपितु वस्तु का प्रत्यक्ष दर्शन होता है। इवार्थ के गर्भीकार मात्र से उत्प्रेक्षा मानना कठिन है। पदार्थगत इवादि उपमा का प्रयोजक है, उत्प्रेक्षा का नहीं क्योंकि उत्प्रेक्षा का स्वरूप है संभावना या अध्यवसाय और वह प्रतिपत्ता का धर्म है—अभिमानेन सा योज्या ज्ञानधर्मे सुखादिवत्। अध्यवसाय प्रमाता का धर्म है, प्रयोक्ता कवि का तो धर्म है नहीं, फिर क्यों न उसके आधार पर यहां उत्प्रेक्षा मानी जाये? ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि काव्य-विषय में कवि भी सहृदय (प्रमाता) ही माना जाता है—'कविरपि खलु काव्ये सहृदय एव' (सं., पृ. 205)। इस प्रकार भाविक का उत्प्रेक्षा में अन्तर्भाव अशक्य है।[184] अतीत और अनागत वस्तु के प्रत्यक्ष दर्शन में पदार्थ का अत्यन्त अद्भुत होना यद्यपि हेतु है, तथापि इसे काव्यलिंग मानना असंभव है, क्योंकि वहां अतीत अनागत और अद्भुत पदार्थ में परस्पर साध्य-साधक की प्रतीति नहीं होती अपितु योगियों की भांति प्रत्यक्ष रूप से प्रतीति होती है।[185]

अद्भुत वर्णन होने के कारण पुरः स्फुरद्रूप चमत्कार प्रतीति होने पर भी इसे रसवत् अलंकार नहीं कह सकते। रत्यादि चित्तवृत्ति तथा उनसे अनुरंजित विभाव, अनुभाव तथा व्यभिचारी भावों की जब—परम अद्वैत की ज्ञानी की भांति 'यह मेरा है, यह शत्रु का है' इत्यादि ज्ञान विशेष का परिहार हो जाने से—साधारणीकरण द्वारा हृदयसंवादिनी प्रतीति होती है तब रसवत् अलंकार होता है। भाविक में भूत और भावी पदार्थों की प्रत्यक्षवत् प्रतीति साधारण रूप में नहीं होती, प्रत्युत् ताटस्थ्य रूप में होती है। तात्पर्य यह है कि ताटस्थ्य ही रसवत् से इसका भेद है।[186] इसे

अद्भुत रस भी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि अद्भुत रस में विस्मय हेतु है, यहां वैसी स्थिति नहीं है।[187] सूक्ष्मवस्तुस्वभाववर्णन के कारण इसे स्वभावोक्ति नहीं कह सकते, स्वभावोक्ति प्रकरण में इसे बताया जा चुका है। वस्तुतः स्वभावोक्ति में प्रतिभा मात्रगम्य लौकिक वस्तुओं के सूक्ष्म धर्म का वर्णन होने से साधारण रूप में हृदय संवाद (अभेदानुभव) संभव है। पर यहां वस्तुओं की स्फुट रूप से तटस्थ प्रतीति होती है। कहीं-कहीं लौकिक वस्तुओं की स्फुट प्रतीति होने पर भाविक तथा स्वभावोक्ति दोनों की अवस्थिति हो सकती है।[188] विश्वनाथ के अनुसार लौकिक वस्तु गत सूक्ष्मधर्म स्वभाव का यथावत् वर्णन स्वभावोक्ति का विषय है और वस्तु की प्रत्यक्ष के समान अनुभूति भाविक का।[189] शब्दों की अनाकुलता के कारण भाविक में शीघ्र अर्थ-बोध हो जाता है, प्रसाद का स्वरूप भी यही है, झटित्यर्थ प्रतीति।[190] तथापि दोनों में भेद है। स्फुट, अस्फुट सब प्रकार के अर्थों का शीघ्र बोध कराना प्रसाद का स्वरूप है जबकि शीघ्रबोध कराने वाले वाक्यार्थ के रहने पर स्फुट रूप में अर्थ प्रतीति होने पर भाविक का स्वरूप बनता है।[191] वस्तुतः झटिति अर्थप्रतीति प्रसाद गुण है। भाविक में प्रसाद गुण के द्वारा झटिति समर्पित अर्थ की स्फुट प्रतिपत्ति होती है। तात्पर्य यह है कि कविगत भाव का श्रोता के चित्त में प्रतिबिम्बन या पुनः पुनः विनिवेशन भाविक का स्वरूप है। इस प्रकार का प्रतिबिम्बन अर्थ की स्फुट प्रतीति के बाद ही हो सकता है। अतएव प्रथम सिद्ध होने के कारण प्रसाद भाविक का अंग है और उससे उपकृत पश्चात् सिद्ध होने के कारण भाविक उससे भिन्न ही है। इस प्रकार भाविक, इतिवृत्त, अलंकार और गुणादि से व्यतिरिक्त एक स्वतंत्र अलंकार है—तस्मादयं सर्वोत्तीर्ण एवालंकारः। अ.स., पृ. 208

जिस प्रकार प्रिया-विरह से दह्यमानमानस पथिक भावना में अपनी प्रियतमा का प्रत्यक्ष दर्शन किया करता है, जिस प्रकार भावना से ही योगियों को अतीत-अनागत वस्तु का प्रत्यक्ष हुआ करता है, उसी प्रकार भाविक अलंकार में कवि या सहृदय को भावना से अतीत (भूत) और अनागत (भावी) वस्तु का प्रत्यक्ष दर्शन हुआ करता है। भूत और भावी वस्तुओं का साक्षात् वर्णन होने से भाविक भी दो प्रकार का होता है। दोनों का उदाहरण :

आसीदंजनमत्रेति पश्यामि तव लोचने।
भावि भूषणसंभारां साक्षात्कुर्वे तवाकृतिम्।।

—का.प्र., पृ. 676; सा.द., पृ. 574

'प्रिये, मैं तुम्हारी उन आंखों को देख रहा हूं, जिनमें अंजन लगे थे। भूषण संभारयुक्त तुम्हारे भावी स्वरूप का साक्षात्कार कर रहा हूं।' यहां पूर्वार्द्ध में भूतकाल के अंजनांचित नेत्रों का प्रत्यक्षीकरण वर्णित है और उत्तरार्द्ध में भावी भूषणसंभारयुक्त आकृति का। नायिका के भूत भावी रूपों का साक्षात्कार प्रेमी की भावना के कारण हो रहा है। अतएव यहां भाविक अलंकार है। रुय्यक के अनुसार भाविक में कहीं तो वर्ण्य-वस्तु की वर्णना (कविकल्पित वर्णन) के कारण वस्तु की प्रत्यक्षायमाणता होती है, जैसे उपर्युक्त उदाहरण में या रुय्यक के 'मुनिर्जयति'[192] इत्यादि में है, और कहीं प्रत्यक्षायमाण का ही वर्णन होता है :

अनातपत्रोऽप्ययमत्र लक्ष्यते सितातपत्रैरिव सर्वतो वृतः।
अचामरोऽप्येष सदैव वीज्यते विलासबालव्यजनेन कोऽप्ययम्।।[193]

'छत्र के बिना भी यहां ऐसा प्रतीत हो रहा है, मानो इसके चारों ओर छत्र लगे हों। चंवर के बिना भी इस अद्भुत व्यक्ति पर सदैव विलास के चंवर झूला करते हैं।' यहां प्रत्यक्ष प्रतीत होने वाली वस्तु का ही वर्णन किया गया है। कविकल्पित धर्म ही अलंकार माने जाते हैं, न कि वस्तुसन्निवेशी, यहां प्रकृत की प्रत्यक्षायमाणता वस्तुसन्निवेशी है। अतएव रुय्यक का अभिमत है कि प्रत्यक्षायमाण वस्तु का वर्णन भाविक अलंकार नहीं होगा। और यदि स्वभावोक्ति की रीति से यह भी कवि या कविनिबद्ध वक्ता से वर्णित हो तो अलंकार हो सकता है। वस्तुतः इस प्रकार की कठिनाई भामह, दंडी, उद्भट, रुय्यक तथा उनके अनुयायियों के लिये ही है, मम्मट और उनके अनुगामियों को नहीं क्योंकि उनका लक्षण इन सब विषयों को अपने में समाहित कर लेता है।[194] शोभाकर तथा जयरथ देश, काल और स्वभाव की विप्रकृष्टता के आधार पर काल विप्रकृष्टता के दो भेद भूत और भावी की प्रत्यक्षायमाणता मानकर भाविक के चार भेद मानते हैं।[195] अन्य आलंकारिक उपर्युक्त से कुछ अधिक नहीं कहते।

उदात्त

उत् आ उपसर्गपूर्वक दान अर्थ में पठित दा (डुदाञ्) धातु से कर्म अर्थ में क्त प्रत्यय (निष्ठा, पा. 3/2/102) तथा दा को (अच उपसर्गात्तः, पा. 7/4/47) त आदेश होने पर उदात्त शब्द निष्पन्न होता है। उत्कर्ष पूर्ण या उन्नत वस्तु के उपादान या वर्णन को उदात्त कहा जाता है—'उत्कर्षेण उच्चैर्वा आदीयते गृह्यते वर्ण्यते इति उदात्तम्'।[196] इस प्रकार इसका उदात्त नाम अन्वर्थक है,[197] क्योंकि उत्कर्षपूर्ण सम्पत्ति, ऐश्वर्य तथा उन्नत महापुरुषों का चरित वर्णन उदात्त अलंकार

है। यद्यपि ऐश्वर्य और महापुरुषचरित का वर्णन, जैसा कि विद्यानाथ मानते हैं, लोकन्याय पर आधारित माना जा सकता है, तथापि रुय्यक का अनुगमन करते हुए यहां उदात्त को गूढार्थप्रतीतिपरक अलंकारों के वर्ग में रखा गया है।

ऋग्वेद की निम्न ऋचा में उदात्त का सौन्दर्य पाया जाता है :

'तत्त्वायामि ब्रह्मणा वन्दमानस्तदाशास्ते यजमानो हविर्भिः।
अहेडमानो वरुणोहबोध्युरुशं समानः आयुः प्रमोषीः।। ऋ. 1/24/11

भरत का गुणकीर्तन नामक काव्यलक्षण, पूर्णतः तो नहीं पर कुछ-कुछ उदात्त के समीप है।[198] अभिनव गुप्त का यह कथन कि गुण अर्थात् सुचरित का निरूपण होने से इसमें चारुता है तथा लक्षण ही अलंकारों का भी चित्रण करते हैं,[199] इस कथ्य को संपुष्ट करता है।

उदात्त का सर्वप्रथम विवेचन भामह के 'काव्यालंकार' में प्राप्त होता है। भामह 'अपरे' शब्द का प्रयोग करते हैं, जिससे प्रतीत होता है कि भामह से पूर्व भी उदात्त प्रकाश में आ चुका था। वह इसके दो भेद 'द्विप्रकारमुदात्तम्' (का. 3/1) का उल्लेख करते हैं। वह उदात्त का कोई सामान्य लक्षण नहीं करते, मात्र उदाहरण प्रस्तुत करते हैं। प्रथम उदाहरण[200]—जिसमें महापुरुष का उदात्तचरित निबद्ध है—प्रस्तुत करने के बाद भामह का कथन है कि इसी की अन्य लोग प्रकारान्तर से व्याख्या करते हैं, नानारत्न आदि से युक्त जो (ऐश्वर्य) है, वह उदात्त है।[201] उनके द्वितीय उदाहरण में समृद्धियुक्त वस्तु का वर्णन है।[202] दंडी ने उदात्त का लक्षण बनाने का प्रयास किया है, आशय और विभूति की अनुत्तम महत्ता को मनीषी उदात्त कहते हैं।[203] उद्भट ने उदात्त को यथार्थ स्वरूप प्रदान किया है। उनके अनुसार समृद्धियुक्त वस्तु तथा इतिवृत्त रूप में अनागत, किसी अन्य का अंगभूत (उपलक्षणता को प्राप्त), महान् व्यक्तियों का चरित उदात्त अलंकार है।[204] इन्दुराज ने उद्भट के लक्षण की विधिवत् व्याख्या प्रस्तुत कर दी है। तथा यह भी स्पष्ट कर दिया है कि द्वितीय उदात्त को रसवत् अलंकार नहीं माना जा सकता है।[205] वामन ने इसका विवेचन नहीं किया है। रुद्रट इसे अवसर नाम से प्रतिपादित करते हैं। कथनप्रसंग में (न्यून) अर्थ को अन्य अर्थ से उत्कृष्ट अथवा सरस बनाने के लिये जो उपलक्षण किया जाता है, उसे अवसर कहते हैं।[206] इसी के अनुसार रुद्रट ने दो उदाहरण भी प्रस्तुत किये हैं। भोजराज ने उदात्त का उल्लेख नहीं किया है। कुन्तक ने सविस्तार सिद्ध करने का प्रयास किया है कि उभय प्रकार का उदात्त अलंकार्य ही है, अलंकार नहीं।[207]

मम्मट ने उद्भट के लक्षण को संक्षिप्त रूप प्रदान किया है।[208] निदर्शना टीकाकार के अनुसार जिस किसी वस्तु की असंभाव्यमान सम्पत्ति का वर्णन प्रथम उदात्त है।[209] प्रदीपकार का कथन है कि वर्णनीय वस्तु में महात्माओं के चरित का अंगभाव द्वितीय उदात्त है।[210] रुय्यक ने मम्मट की भांति दोनों भेदों को दो सूत्रों में आबद्ध कर दिया है।[211] विमर्शिनीकार के अनुसार प्रथम उदात्त असंभाव्यमान विभूतियुक्त वस्तु के वर्णन में हो सकता है, पर संभाव्यमान विभूति के वर्णन में नहीं। अलंकारसारकार तो इसे अतिशयोक्ति से गतार्थ करते हैं।[212] शोभाकर भी प्रथम उदात्त का मम्मट-प्रतिपादित उदाहरण प्रस्तुत करते हुए यह स्पष्ट करते हैं कि समृद्धिमान् वस्तु का वर्णन 'असम्बन्धे सम्बन्ध रूपा' अतिशयोक्ति से गतार्थ है।[213] अतएव उदात्त का एक ही भेद मानना चाहिये, उदार चरित लोगों का चरित जहां वस्त्वन्तर का अंग हो जाता है, वहां उदात्त होता है।[214] नरेन्द्रप्रभसूरि तो मम्मट-रुय्यक का अनुगमन करते ही हैं।[215] हेमचन्द्र मम्मटोक्त दोनों उदाहरणों को उपस्थित कर प्रथम में अतिशयोक्ति तथा कहीं-कहीं जाति और द्वितीय में रसध्वनि मानकर उदात्त की अलंकारता का निषेध करते हैं।[216] पुरुषोत्तम शर्मा चतुर्वेदी का यह कथन है कि हेमचन्द्र इसका उल्लेख नहीं करते,[217] उनकी भ्रान्त धारणा है, क्योंकि हेमचन्द्र विवेचन तो करते हैं, पर इसे अलंकार नहीं मानते। वाग्भट प्रथम भी इसका उल्लेख नहीं करते। वाग्भट द्वितीय, जयदेव, विद्याधर, अजितसेन, विद्यानाथ, विश्वनाथ, कर्णपूर, दीक्षित, देवशंकर, नरसिंह, अच्युतराय, विश्वेश्वर, आदि कोई भी परवर्ती आलंकारिक तथाकथित उद्भट और मम्मट के लक्षण से व्यतिरिक्त लक्षण नहीं कर सका।[218]

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि भामह ने उदाहरणों के द्वारा उदात्त की जो एक रूपरेखा प्रस्तुत की, उसी से दंडी ने उसका (उदात्त का) एक अस्पष्ट चित्र खड़ा किया और उसी के आधार पर उद्भट ने उदात्त का स्पष्ट स्वरूप उपस्थित किया, 'असंभवनीय उत्कृष्ट विभूति तथा वर्ण्य वस्तु के अंगरूप में निबद्ध महापुरुष के चरित का वर्णन उदात्त अलंकार है।' परवर्ती सभी आलंकारिकों ने प्रायः इसे स्वीकार किया है। रुद्रट का लक्षण, जिसमें अंगभूतवस्तु की उत्कृष्टता और सरसता का अभिधान है, उदात्त के द्वितीय स्वरूप को ही स्पष्ट करता है, आगे दिये जाने वाले उदाहरणों से यह बात स्पष्ट हो जायेगी। गागाभट्ट प्रथम उदात्त में अतिशयोक्ति का सद्भाव मानते हुए भी अतिशयोक्ति में उसके अन्तर्भाव का विरोध अवश्य करते हैं,[219] पर अलंकारसारकार, शोभाकर तथा हेमचन्द्र द्वारा उसका (प्रथम उदात्त का) अतिशयोक्ति में अन्तर्भाव, रुद्रट की मान्यता को पुष्ट

करता है। यही नहीं विद्यानाथ भी प्रथम उदात्त का विवेचन नहीं करते। यद्यपि स्वभावोक्ति, भाविक और उदात्त तीनों में वस्तु का वर्णन होता है, पर स्वभावोक्ति और भाविक में यथास्थित (लौकिक) वस्तु का वर्णन होता है, जबकि उदात्त में आरोपित या कविकल्पित वस्तु का।[220]

मुक्ताः केलिविसूत्रहारगलिताः सम्मार्जनीभिर्हृताः।
प्रातः प्रांगणसीम्निमन्थरचलद्बालाङ्घ्रिलाक्षारणाः।।
दूराद्दाडिमबीजशंकितधियः कर्षन्ति केलीशुकाः।
यद्विद्वद्भवनेषु भोजनृपतेस्तत्त्यागलीलायितम्।।[221]

'विद्वानों के घरों में रतिलीला में टूटे हार से गिरे हुए प्रातःकाल झाड़ू से बुहार कर आंगन में इकट्ठे किये गये, मन्थर गति से चलती हुई बालाओं के महावर से रक्तिम दिखाई पड़ने वाले मोतियों को क्रीडाशुक अनार के दाने समझकर जो खींच रहे हैं, वह नृपति भोज के दान की लीला है।' यहां दान-प्राप्त विद्वानों के गृह में रत्नों की यह दशा दानी नृपति भोज के अकल्पनीय अतुल सम्पत्ति को अभिव्यक्त करती है। अतएव यहां प्रथम (असंभवनीय सम्पत्ति का वर्णन) उदात्त है।

तदिदमरण्यं यस्मिन् दशरथवचनानुपालनव्यसनी।
निवसन् बाहुसहायश्चकार रक्षःक्षयं रामः।।[222]

'यह वही (दंडक) वन है, जहां निवास करते हुए दशरथ की आज्ञा के पालन में दत्तचित्त राम ने मात्र अपने बाहुबल की सहायता से राक्षसों का विनाश किया था।' रुद्रट के अनुसार यहां दंडक वन की उत्कृष्टता द्योतित करने के लिये राम का वास और उनके द्वारा राक्षस विनाश को उपलक्षण बनाया गया है, अतएव प्रथम अवसर अलंकार है। मम्मट आदि के अनुसार महापुरुष राम का चरित वर्ण्यवस्तु दंडक के अंगरूप में निबद्ध है, अतएव द्वितीय उदात्त अलंकार है। स्पष्ट है कि दोनों में कोई भेद नहीं है, मात्र दृष्टि का अन्तर है। रुद्रट का द्वितीय अवसर :

सा सिप्रानाम नदी यस्यां मङ्क्षूर्मयो विशीर्यन्ते।
मज्जन्मालवललनाकुचकुंभास्फालनव्यसनात्।। —काव्या., 7/105

'यह वह सिप्रा नाम की नदी है, जिसमें स्नान करती हुई मालवरमणियों के कुचकलशों से आहत होने के कारण लहरें शीघ्र ही छिन्न-भिन्न हो जाती हैं।' यहां मालवतरुणी रूप शृंगारवस्तु सिप्रा का उपलक्षण है, जिससे सरसता उत्पन्न हो रही है, अतएव यह द्वितीय अवसर (सरसतापादन) का उदाहरण है। उदात्त के द्वितीय तथा अवसर

के प्रथम उदाहरण से इसमें केवल इतना ही अन्तर है कि यहां शृंगार की सामग्री प्रस्तुत है। ध्यातव्य है कि रस जब किसी का अंग हो जाता है तो वहां रसवत् अलंकार होता है। 'तदिदमरण्यम्' इत्यादि में राक्षस आदि विभाव, बाहुमात्र सहाय अनुभाव, आदि से रामगत स्थायी भाव उत्साह का परिपोष होने से वीररस अभिव्यक्त हो रहा है, पर वह वर्णनीय वस्तु के विषय के अंग रूप में है, अतएव रसवत् अलंकार है। इसी प्रकार 'सा सिप्रा' इत्यादि में व्यंजित शृंगार सिप्रा के अंगरूप में वर्णित है, अतएव यहां भी रसवत् अलंकार है। प्रथम उदाहरण में सरसता न मानने का रुद्रट के लिये कारण कदाचित् यही है कि प्राचीन आचार्य शृंगार को ही सरस सामग्री मानते थे। अस्तु, रुद्रट के दोनों अवसर उदात्त के द्वितीय भेद से गतार्थ हैं। वस्तुतः प्राचीन आलंकारिक उद्भट आदि जो प्रधानभूत रस को रसवत् अलंकार मानते हैं, उनके मत में अंगभूत रस उदात्त का विषय है और ध्वनिदर्शन में तो प्रधानभूत रस अलंकार्य है। अतएव अंगभूत रस ही रसवत् अलंकार हो सकता है, वही द्वितीय उदात्त कहा जाता है :

> **'अत्रैतदाकूतं—येषामुद्भटादीनां प्रधानभूतो रसएव रसवान्, तन्मते अंगभूतो रसो द्वितीयोदात्तत्वेन संभवति। ध्वनिदर्शने तु प्रधानभूतस्य रसस्य अलंकार्यत्वादंगभूतो रसो रसवान्। स एव द्वितीयोदात्तत्वेन व्यवह्रियते।** सं.प्र., पृ. 355

ध्वनिवादियों की दृष्टि में तो वह रसवत् अलंकार का विषय है।[223]

अत्युक्ति का अन्तर्भाव

जयदेव, अप्पय, देवशंकर, भावदेव, ब्रह्मतन्त्र परकाल, आदि आलंकारिक अतथ्य, शौर्य, औदार्य, आदि के अद्भुत वर्णन में अत्युक्ति नामक एक और अलंकार मानते हैं :

> **अत्युक्तिरद्भुतातथ्यशौर्यौदार्यादिवर्णनम्।**
> **त्वयि दातरि राजेन्द्र याचका कल्पशाखिनः।।**[224] चन्द्रा. 5/116

प्रकृत राजा इतना दानी है कि याचक भी कल्पतरु (दान देने योग्य) हो गये हैं। राजा की अतिशय उदारता, दानशीलता का वर्णन होने से यहां अत्युक्ति अलंकार माना गया है। वस्तुतः उदात्त का अर्थ व्यापक है। वह शूरता, वीरता, दानशीलता, किसी भी प्रकार के औदार्य को अभिव्यक्त करने में समर्थ है, 'उदात्तं वस्तुनः सम्पत्'

में संपत् का अर्थ मात्र धन-समृद्धि नहीं है, प्रत्युत् संपत् का अर्थ वहां उत्कर्ष है। वस्तु का उत्कर्ष किसी भी प्रकार का हो, वह उदात्त है। अतएव अत्युक्ति को उदात्त से पृथक् मानना अयुक्त है।[225] नागेश के अनुसार अतिशयोक्ति के अनुप्राणक होने के कारण, अत्युक्ति को पृथक् अलंकार नहीं माना जा सकता।[226] भट्टिप्रोक्त निपुण अलंकार का भी उदात्त में अन्तर्भाव शक्य है।

अन्य अलंकारः मत का अन्तर्भाव

रुद्रट ने औपम्यमूलक अलंकारवर्ग में मत नामक अलंकार का निरूपण किया है। जहां वक्ता अन्य-अभिमत लोकप्रसिद्ध उपमेय का अभिधान कर स्वाभिप्रेत (उपमेय के) धर्म से युक्त उपमान का उपन्यास करता है, वहां मत अलंकार होता है।[227] वाग्भट द्वितीय ने इसे स्पष्ट कर दिया है, जहां प्रकृत का उत्क्षेप (निषेध) कर वक्ता अन्यथा मानता है, वहां मत होता है।[228] मत अपह्नुति से व्यतिरिक्त नहीं है। 'प्रकृतंयन्निषिध्यान्यत्साध्यते सात्वपह्नुतिः'[229] रुद्रट का लक्षण इससे भिन्न नहीं है। यह बात उदाहरण से भी सिद्ध हो जाती है :

मदिरामदभरपाटललिकुलनीलालकालिधम्मिलम्।
तरुणीमुखमिति यदिदं कथयति लोकः समस्तोऽयम्।।
मन्येऽहमिन्दुरेव स्फुटमुक्ष्येऽरुणरुचिः स्थितैः पश्चात्।
उदयगिरौ छद्मपरैर्निशातमेभिर्गृहीत इव।। काव्या. 8/70-71

यहां प्रकृत तरुणी मुख का निषेध कर उस पर चन्द्र का आरोप किया गया है। रुद्रट की दृष्टि से मत अलंकार है, पर मम्मट आदि की दृष्टि से तो यहां अपह्नुति ही होगी। अतएव मत अपह्नुति से भिन्न नहीं है।

अविशेष समासोक्ति से व्यतिरिक्त नहीं

रुद्रट ने श्लेषवर्ग अलंकारों में अविशेष अलंकार का विवेचन किया है। समान विशेषणों से रचा गया वाक्य जहां एक अर्थ से अन्य अर्थ की प्रतीति कराये, वहां अविशेष अलंकार होता है।[230] स्पष्ट है कि यह समासोक्ति से व्यतिरिक्त नहीं है :

'शरदिन्दुसुन्दररुचं सुकुमारां सुरभिपरिमलामनिशम्।
निदधाति नाल्पपुण्यः कंठे नवमालिकां कान्ताम्।।' काव्या. 10/4

'शरत्कालीन चन्द्रमा के समान कान्तिमती, कोमल, सुगन्धित-परागवती, कान्ता नवमालिका को स्वल्पपुण्यवाला व्यक्ति गले नहीं लगा सकता।' नमिसाधु के अनुसार यहां प्रकृत नायिका के समान विशेषणों के कारण अप्रकृत नवमालिका की प्रतीति हो रही है, अतएव अविशेष अलंकार है।[231] वस्तुतः यहां प्रकृत है कान्ता (मनोहर) नवमालिका (नयी माला, या मालती पुष्प), विशेषण साम्य के कारण उससे अप्रकृत नवमालिका नामक कान्ता (प्रिया) का वृत्तान्त गम्य है। अतएव समासोक्ति है। इसलिये अविशेष को समासोक्ति से व्यतिरिक्त नहीं मानना चाहिये। रुद्रटप्रोक्त उक्तिश्लेष,[232] अवयवश्लेष[233] तथा तत्त्वश्लेष[234] का क्रमशः वस्तुध्वनि, उल्लेख (श्लेषानुप्राणित) और समस्त वस्तुविषय सावयव रूपक में अन्तर्भाव शक्य है।

आशीः

भरत ने आशीः नामक काव्यलक्षण का विवेचन किया है। उनकी टीका में अभिनवगुप्त ने कहा है कि आशीः अलंकार नहीं है—न चाशीरलंकारः।[235] भामह का कथन है कि कुछ लोगों की दृष्टि में आशीः भी अलंकार है, विरोधरहित सौहार्द कथन ही इसका स्वरूप है।[236] वस्तुतः आशीः में आशीर्वादात्मक रूप से किसी के हित की कामना की जाती है। दंडी के अनुसार अभिलषित वस्तु की आशंसा, प्रार्थना आशीः अलंकार है।[237] बाद में वाग्भट द्वितीय तथा अमृतानन्दयोगी आदि भी इसका विवेचन करते हैं :[238]

'मदान्धमातंगविभिन्नशाला हतप्रवीरद्भुतभीतपौरा।
त्वत्तेजसा दग्धसमस्तलीला द्विषां पुरीः पश्यतु राजलोकः।।

भामह, 3/57

भामह ने इसे आशीः के उदाहरण में प्रस्तुत किया है। वस्तुतः यहां शत्रु विनाश रूप विभाव के द्वारा हर्ष रूप भाव की अभिव्यक्ति हो रही है।[239] अतएव आशीः भावध्वनि से व्यतिरिक्त नहीं है।[240]

अहेतु

स्वभाव या शक्ति की हानि हो जाने से जहां हेतु कार्य नहीं कर पाता वहां रुद्रट तथा भोज अहेतु अलंकार मानते हैं। कारणमाला परिसर में इसका उल्लेख किया जा चुका है। भोज कारणमाला को भी अहेतु से पृथक् नहीं मानते। अहेतु को ही अन्य लोग व्याहत भी कहते हैं।[241] वाग्भट द्वितीय के अनुसार विकार (कार्य) का हेतु रहने पर भी विकार (कार्य) न होना अहेतु अलंकार है।[242] स्पष्ट है कि

कारण के रहते हुए भी कार्य की निष्पत्ति न होने से अहेतु विशेषोक्ति से व्यतिरिक्त नहीं है। मम्मटोक्त विशेषोक्ति के उदाहरण 'निद्रा निवृत्तावुदिते द्युरत्ने' इत्यादि में वाग्भट द्वितीय, अहेतु मानते हैं। अस्तु, यह विशेषोक्ति से व्यतिरिक्त नहीं है।

प्रतिभा

शोभाकर ने उल्लेख के बाद प्रतिभा नामक अलंकार का विवेचन किया है। प्रमाणान्तर से अनवगत संभाव्यमान वस्तु की कवि की प्रतिभा से उल्लेख की भांति अनेकधा परिकल्पना प्रतिभा अलंकार है।[243] इसका विवेचन कोई और आलंकारिक नहीं करता। उल्लेख की पृथक् अलंकारता का खण्डन किया जा चुका है। अतएव उसी के आधार पर परिकल्पित अन्य अलंकार का खण्डन अपने आप हो जाता है। प्रतिभा के उदाहरणों में अनेक अलंकार पाये जाते हैं :

गतं तिरश्चीनमनूरुसारथेः प्रसिद्धमूर्द्धवज्वलनं हविर्भुजः।
पतत्यधो धामि विसारि सर्वतः किमेतदित्याकुलमीक्षितं जनैः।।
माघ, 1/2

स्वर्ग से भूलोक पर आते हुए नारद का चित्र है। शोभाकर के अनुसार नारद की संभाव्यमान अनेकधा परिकल्पना होने से यहां प्रतिभा अलंकार है। वस्तुतः नारद के तेज से द्वारकावासी यह निश्चय ही नहीं कर पाये कि यह कौन वस्तु आकाश से चली आ रही है। अतएव यहां सन्देह अलंकार है। मल्लिनाथ भी यही मानते हैं। शोभाकर के अन्य उदाहरणों में अतिशयोक्ति आदि का सौन्दर्य पाया जाता है। अस्तु, प्रतिभा को पृथक् अलंकार नहीं मानना चाहिये। सन्देह आदि से उसकी गतार्थता संभव है।

क्रियातिपत्ति

यदि आदि शब्दों के द्वारा असंभाव्य अर्थ की कल्पना में शोभाकर क्रियातिपत्ति नामक एक नवीन अलंकार मानते हैं।[244] अतिशयोक्ति में सिद्ध अध्यवसाय होने से वस्तु का निश्चय शाब्द होता है, पर यहां उसका अभाव होने से शाब्द भी नहीं होता।[245] शोभाकर के अनुसार दोनों का यही भेद है, पर इतने मात्र से इसे पृथक् अलंकार नहीं कहा जा सकता। क्रियातिपत्ति के उदाहरण में :

पुष्पं प्रवालोपहितं यदि स्यात् मुक्ताफलं वा स्फुटविद्रुमस्थम्।
ततोऽनुकुर्याद्विशदस्य तस्याः ताम्रौष्ठपर्यस्तरुचः स्मितस्य।। कु.सं. 1/44

रुय्यक यहां उत्प्रेक्षानुप्राणित असम्बन्धे सम्बन्ध रूपा अतिशयोक्ति मानते हैं।[246] मल्लिनाथ भी रुय्यक का समर्थन करते हैं।[247] पुष्प प्रवाल तथा मुक्ता विद्रुम में साक्षात् सम्बन्ध न होने पर भी सम्बन्ध बताया गया है अतएव यहां 'असम्बन्धे सम्बन्ध रूपा' अतिशयोक्ति है, वह संभावना परक है। अतएव क्रियातिपत्ति को अतिशयोक्ति से पृथक् नहीं मानना चाहिये।

विपर्यय

धर्मिधर्मभाव रूप वस्तुओं तथा धर्मों के विनिमय में शोभाकर विपर्यय अलंकार मानते हैं। जहां उपात्त धर्मी का धर्म रूप में और धर्म का धर्मी रूप में विनिमय होता है, वहां प्रथम विपर्यय होता है, और जहां अन्य सम्बन्धी धर्म का अन्य सम्बन्धी धर्म से विनिमय होता है, वहां द्वितीय विपर्यय होता है।[248] यों तो विनिमय परिवृत्ति अलंकार का विषय है, पर विपर्यय में लौकिक कथन मात्र पाया जाता है :

काचो मणिः मणिः काचो येषां तेऽन्ये हि देहिनः।
सन्ति ते सुधियो येषां काचः काचो मणिः मणिः।। अ.र., पृ. 101

पूर्वार्द्ध में पहले काच की धर्मिता और मणि की धर्मता है, पर बाद में विपर्यय हो जाता है, अतः शोभाकर के अनुसार यहां विपर्यय अलंकार है। वस्तुतः यहां लौकिक कथन के अतिरिक्त कोई सौन्दर्य नहीं है, अतएव इसे अलंकार ही नहीं मानना चाहिये और मानना ही हो तो परिवृत्ति का व्यापक लक्षण बनाकर इसे उससे गतार्थ कर देना चाहिये।

उद्रेक

जहां दोष और गुण की सजातीय विजातीय की अपेक्षा तुच्छता होती है, वहां शोभाकर उद्रेक अलंकार मानते हैं।[249] दोष के दोषान्तर की अपेक्षा या गुण की अपेक्षा, गुण के गुणान्तर की अपेक्षा या दोष की अपेक्षा उत्कट होने से उद्रेक चार प्रकार का होता है। उद्रेक ओज गुण से व्यतिरिक्त नहीं है :

कुन्तैरन्तरितप्रथेषु पृतनानाथेषु निर्मथ्नत—
स्त्वत्सेना पृथिवीभुजो यदजयत्तत्ते कियत्कौशलम्।
तच्चित्रं निरपत्रपस्य यदसौ गीर्वाणबन्दिग्रहा—
त्सुत्राम्णोऽपि कृतस्त्वयाद्य समरे साहायकायोद्यमः।। अ.र., पृ. 119

शोभाकर के अनुसार यहां पृथिवीपति विजय रूप गुण की अपेक्षा शक्रसहायता रूप गुण की उत्कृष्टता होने से उद्रेक अलंकार है। वस्तुतः यहां ओजगुण से वीररस का परिपोष हो रहा है। गुणापेक्षया दोष की उत्कृष्टता का वर्णन दोष माना जाता है। अतएव उद्रेक गुण-दोष का विषय है, अलंकार का नहीं।

तुल्य

एक दोष की निवृत्ति होने पर दोषान्तर का उदय, गुण का उदय तथा गुणान्तर की निवृत्ति होने पर दोष निवारण में अन्य गुण की प्रतीति न होने से तथा गुणाश्रयण में अन्य गुण की निवृत्ति होने से आधिक्य के अभाव के कारण तुल्य अलंकार होता है।[250]

अर्घन्तु शिशिरसमये कामिनां घनालिंगनसुखर्धयः।
जलकेलि पुनः प्रकटस्तनजघनस्स गत एव।। अ.र., पृ. 121

यहां घनालिंगन रूप गुण की उत्पत्ति और जलकेलिरूप गुणान्तर की निवृत्ति होने से दोनों की समान स्थिति होने के कारण शोभाकर तुल्य अलंकार मानते हैं। एकवस्तु का अनेकत्र अनेक वस्तु का एकत्र अवस्थान पर्याय अलंकार माना जाता है। प्रकृत में भी वही उपयुक्त है। शोभाकर दोषादि निवृत्ति होने से मात्र तुल्यता के कारण इसे पर्याय से पृथक् मानते हैं,[251] पर छोटे-मोटे तत्त्व को लेकर पृथक् अलंकार मानना अयुक्त है। अतएव तुल्य को पर्याय अथवा 'गुणक्रिया यौगपद्य' समुच्चय में अन्तर्भूत किया जा सकता है।

अनादर

अप्राप्त वस्तु की प्राप्ति के लिये तत्तुल्य वस्तु का अनादर होने पर शोभाकर अनादर अलंकार मानते हैं।[252]

अमन्दरागाकुलमाननस्य नेत्रांचलं सूचयतेऽन्यदेव।
मन्थक्षणेऽब्धेः कमलां विलोक्य जयत्यवस्थान्तरमच्युतस्य।।
अ.र., पृ. 122

शोभाकर के अनुसार यहां नेत्रांचल की चिकीर्षा से प्रथम नेत्रांचल का तिरस्कार विवक्षित है, अतएव अनादर अलंकार है। वस्तुतः यहां भगवद्विषयक रति के प्रधान होने से भावध्वनि है। यदि अलंकार ही मानना हो तो अतिशयोक्ति ही उपयुक्त

होगी। भगवान् के नेत्रांचल का अन्यत्वेन अध्यवसान हुआ है। अतएव अभेदे-भेद रूपा अतिशयोक्ति यहां समुल्लसित है। अनादर का पृथक् विवेचन संभव नहीं है।

आदर

अधिक गुण की लालसा से तुच्छ समझकर त्याग दी गई वस्तु का पुनः स्वीकार आदर अलंकार है।[253] इसे भी शोभाकर ही मानते हैं।

श्रोणीबिम्बं त्यजति तनुतां सेवते मध्यभागः।
पद्भ्यां मुक्तास्तरलगतयः संश्रितालोचनाभ्याम्।।
धत्ते वक्षः कुचसचिवतामद्वितीयं तु वक्त्रं
त्वद्गात्राणां गुणविनिमयः कल्पितो यौवनेन।। अ.र., पृ. 123

शोभाकर के अनुसार यहां श्रोणी बिम्ब आदि तनुता आदि को छोड़ देते हैं, किन्तु मध्यभाग आदि उसे ग्रहण कर लेते हैं। अतएव त्यक्त का स्वीकार होने से आदर अलंकार है। वस्तुतः यहां भी तनुत्वादि एक वस्तु का अनेकत्र अवस्थान होने से पर्याय अलंकार है। पर्याय प्रकरण में बताया जा चुका है कि इस पद्य में, मम्मट, दीक्षित, जगन्नाथ, आदि पर्याय मानते हैं। अस्तु, आदर को भी पर्याय से पृथक् नहीं माना जा सकता।

निरुक्ति

भरत ने निरुक्त नामक लक्षण का विवेचन किया है।[254] जयदेव उसे इस प्रकार उपस्थित करते हैं :

निरुक्तं स्यान्निर्वचनं नाम्नस्सत्यं तथाऽनृतम्।
ईदृशैश्चरितैर्जाने सत्यं दोषाकरो भवान्।। —चन्द्रा. 3/6

इसे ही अप्पयदीक्षित ने निरुक्ति अलंकार मान लिया है। अर्थविशेषाभिधायक नाम के यौगिक अर्थ से अर्थान्तर की कल्पना निरुक्ति अलंकार है।[255] ब्रह्मतन्त्र स्वामी आदि भी इसका उल्लेख करते हैं।[256] दीक्षित ने जयदेव के उपर्युक्त उदाहरण को ही प्रस्तुत किया है। विरहिणी की प्रियतम से उक्ति है, 'तुम्हारे इन चरित्रों (मुझे सताने) से प्रतीत हो रहा है कि तुम वास्तव में दोषाकर (दोष की खान या चन्द्रमा) हो। वैसे भी निरुक्त एक काव्य लक्षण है। विद्वान् लक्षण को अलंकार नहीं मानते। यदि मानना ही है तो श्लेष ऐसे विषयों के लिये पर्याप्त है।[257]

प्रतिषेध

भरत ने प्रतिषेध नामक काव्यलक्षण माना है।[258] उसी के आधार पर दीक्षित इसे अलंकार मान लेते हैं। प्रसिद्धनिषेध का वर्णन प्रतिषेध अलंकार है।[259]

नविषेण न शस्त्रेण नाग्निना न च मृत्युना।
अप्रतीकारपारुष्याः स्त्रीभिरेव स्त्रियः कृताः।। क., पृ. 179

स्त्रियां विष आदि से निर्मित नहीं हैं, यह प्रसिद्ध है। यहां उसी का विधान होने से निरुक्ति अलंकार है। वस्तुतः उक्त कथन से स्त्रियों का अत्यन्त पारुष्य व्यंजित हो रहा है, अतएव इसे ध्वनि से गतार्थ किया जाना चाहिये।

विधि

सिद्ध अर्थ के विधान में दीक्षित विधि अलंकार मानते हैं।

सिद्धस्यैव विधानं यत्तमाहुर्विध्यलंकृतिम्।
पंचमोदंचने काले कोकिलः कोकिलोऽभवत्।।[260] कु.का. 166

'पंचमस्वर के आविष्कार समय में कोयल कोयल हो जाती है। कोकिल तो पूर्वसिद्ध है, उसका पुनः अभिधान होने से विधि अलंकार है। वस्तुतः द्वितीय कोकिल पद अर्थान्तर संक्रमित होकर मधुरशालिता तथा समस्त विश्व की प्रियता को अभिव्यंजित कर रहा है। अतएव ऐसे स्थल ध्वनि के ही हो सकते हैं, अलंकार के नहीं।[261] प्रकृत विधि शोभाकर के विधि से भिन्न है।

संदर्भ

1. स्तोकाल्पक्षुल्लकाः श्लक्ष्णं सूक्ष्मं दभ्रं कृशं तनुः। अ.कौ., 3/61.
2. अ.को. सु., पृ. 369.
3. दंडी भोज का लक्षण देखिये तथा काव्यालंकार 7/98 पर नमिसाधु का कथन।
4. भामहालं. 2/86.
5. हेतुश्च सूक्ष्मलेशौच वाचामुत्तमभूषणम्। काव्यादर्श, 2/233.
6. इंगिताकारलक्ष्योऽर्थः सौक्ष्म्यात् सूक्ष्म इतिस्मृतः।। वही, 2/258.
7. यत्रायुक्तिमदर्थो गमयति शब्दो निजार्थसंबद्धम्।
   अर्थान्तरमुपपत्तिमदिति तत्संजायते सूक्ष्मम्।। काव्यालंकार, 7/98 तथा वही, न.सा.।
8. दे., व.जी., पृ. 221.
9. इंगिताकारलक्ष्योऽर्थः सूक्ष्मः सूक्ष्मगुणात्तुयः। स.कं., 3/21; शृं.प्र., पृ. 393.

10. कुतोऽपिलक्षितः सूक्ष्मोऽप्यर्थोऽन्यस्मैप्रकाश्यते।
धर्मेणकेनचिद्यत्र तत्सूक्ष्मं परिचक्षते।। का.प्र., 10/122-23.
कुतोऽपि इंगितादाकाराद्वा। सूक्ष्मस्तीक्ष्णमतिसंवेद्यः। वही, वृत्ति।
11. रूपादेरन्यथात्वमाकारः। चेष्टाविशेष इंगितम्। प्र., पृ. 374; अबुद्धिकारिताः स्तंभस्वेदादयः सात्त्विकाभावाः आकारः। बुद्धिकारिताश्चक्षुर्विकारः इंगितम्। सं.प्र., पृ. 378; तु. सं., पृ. 198.
12. संलक्षितसूक्ष्मार्थप्रकाशनं सूक्ष्मम्। अ.स.सू. 75 तथा वृत्ति।
13. सूक्ष्मार्थस्य सूचनं सूक्ष्मम्। अ.र. सूत्र 103 तथा वृत्ति।
14. दे. अ.म. 8/81.
15. अनुमानमेवेदमिति, न तु सूक्ष्मम्, अनुमानान्तर्भूतत्त्वात्। विवेक, पृ. 393.
16. इंगिताकारलक्ष्येऽर्थे सूक्ष्मम्। काव्यानु., पृ. 43.
17. असंलक्षितसूक्ष्मार्थप्रकाशः सूक्ष्म उच्यते। प्र.रु., पृ. 335; तु. एका. 8/69; सा.द. 10/92; अ.कौ. 8/298; नं.य., पृ. 217.
18. सूक्ष्मं पराशयाभिज्ञेतरसाकूत चेष्टितम्। कु.का., 151; तु. अ.मं.का. 116; सा.सा. 8/283; अ. मणि. भाग-3, पृ. 283.
19. इंगिताकारलक्ष्यार्थसौक्ष्म्यात् सूक्ष्मो मतो यथा। अ.सं. 5/34.
20. दे., अ.कौ., पृ. 364; अ.प्र. 67; अ.मु. 40; अ.चि. 4/317; अ.मं. का. 173.
21. वही, स.कं. 3/21-22 तथा शृं.प्र., पृ. 393.
22. अत्र चाकारेणेंगितेन वा संलक्षितस्य वार्थस्य परं प्रतिप्रकाशनमिति द्विभेदत्वमिति न वाच्यम्। ·········· पादमुद्रादिना संलक्षितस्यापि प्रकाशनस्य निदर्शनात्। ·········· निजाभिप्रायादिप्रकाशनेऽपि संभवतीति संलक्षितस्य सूक्ष्मार्थप्रकाशनं सूक्ष्मम् इति लक्षणमव्यापकम्।। —अ.र., पृ. 178.
23. दे., वि., पृ. 173-74 तथा अ. मणि. भाग 3, पृ. 286.
24. का.प्र., पृ. 712; अ.स. पृ. 19; अ.र., पृ. 178; अ.म., पृ. 324; सा.द., पृ. 572.
25. विवेचनार्थ दे., का.प्र., पृ. 712; प्र., पृ. 374; सं.प्र. सा.चू. 378-79; बा.बो., पृ. 712 तथा अ.स. और दर्पणादि ग्रन्थ।
26. रुद्रटेनापि भावालंकारो द्विधैवोक्तः। अ.स., पृ. 7.
27. यस्य विकारः प्रभवन्नप्रतिबद्धेन हेतुना येन।
गमयति तदभिप्रायं तत्प्रतिबन्धं च भावोऽसौ। —काव्यालं., 7/38.
28. अभिधेयमभिदधानं तदेव तदसदृशसकलगुणदोषम्।
अर्थान्तरमवगमयति यद्वाक्यं सोऽपरो भावः।। —वही, 7/40.
29. भवत्यस्मादभिप्राय निश्चयः इति। वही, 7/38 पर न.सा.
30. अभिप्रायानुकूल्येन प्रवृत्तिर्भाव उच्यते।
सोद्भेदोऽथ निरुद्भेदश्चैकतश्चाभितश्चसः।। स.कं., 3/43; शृं.प्र., पृ. 394; शृं.प्र. में प्रथम दो भेद ही हैं।

31. हृद्यं सूक्ष्मं च भिद्येत नहि भावात्कथंचन। स.कं. 3/44, शृं.प्र., पृ. 395. हृद्यं च भाव एव। निरुद्भेदस्तु यो भावः स सूक्ष्मस्तैर्निगद्यते।। स.कं. 3/45.
32. दे., का.प्र., पृ. 21 तथा लोचन, पृ. 134-5.
33. यत्र प्रतीयमानोऽर्थो वाच्योपयोगी सभावः। काव्यानु., पृ. 44.
34. अथ रुद्रटे रसालंकारध्वन्योर्विमतिमुपन्यस्यति। सं., पृ. 7.
35. भावालंकारःप्रेयोऽलंकारः स द्विधैवोक्तः। .... भावस्थितिभावशान्तिरूपेण रुद्रटो भावालंकारं द्विधैवोक्तवान्। सं., पृ. 7.
36. यत्रातिप्रबलतया गुणः समानाधिकरणमसमानम्।
अर्थान्तरं पिदध्यादाविर्भूतमपि तत् पिहितम्।। —काव्यालंकार, 9/50.
37. दे., स.कं., 3/41.
38. निगूढस्य प्रतिभेद उद्भेदः —अ.र. सूत्र 101.
39. पिहितं परवृत्तान्तज्ञातुः साकूतचेष्टितम्। चन्द्रा., 5/109.
40. कु. का. 152; अ.मं. का. 117; सा.सा. 8/284; अ.मणि. भाग 3, पृ. 284.
41. न.सा., पृ. 130.
42. अ.चं., पृ. 169.
43. नव्योक्तपिहितालंकारोऽप्यत्रैव (सूक्ष्मालंकारे) अन्तर्भूतः, उद्योत, पृ. 551.
44. वस्त्वन्तरप्रक्षेपरूपस्य व्याजस्य वचनात् (उक्तिः) व्याजोक्तिः। अ.स., पृ. 199; तु. एका., पृ. 326; सा.चू., पृ. 368; बा.बो., पृ. 700; सा.द. सुधा, पृ. 830.
45. डॉ. रामचन्द्र द्विवेदी, अ.मी., पृ. 194.
46. उपन्यासेन चान्यस्य यदन्यः परिकीर्त्यते।
उपन्यासमलंकारं तन्नरेन्द्र प्रचक्षते।। वि.ध., 14/9.
47. व्याजस्य सत्यसारूप्यं व्याजोक्तिः। का.स., वृ. 4/3/25.
48. असत्यस्य सत्यवचनं व्याजोक्तिरिति लक्षणार्थः।। का.धे., पृ. 143.
49. यां मायोक्तिरित्याहुः। वही, वृत्ति।
50. व्याजोक्तिश्छद्मनोद्भिन्न वस्तुरूपनिगूहनम्। का.प्र. 10/118. निगूढमपि वस्तुनो रूपं कथमपि प्रभिन्नं केनापि व्यपदेशेन यदपह्नूयते सा व्याजोक्तिः। .... न चैषापह्नुतिः प्रकृताप्रकृतोमभनिष्ठस्य साम्यस्येहासंभवात्। वही, वृत्ति। तु. प्र., पृ. 369-70; सु.सा., पृ. 651; सं.प्र., पृ. 368; सं., पृ. 271.
51. उद्भिन्नवस्तुनिगूहनं व्याजोक्तिः। अ.स. सू. 76 तथा वृत्ति।
52. उद्भेदप्रच्छादनं व्याजोक्तिः। अ.र. सूत्र 104; तु. अ.म. 8/82. उद्भिन्न वस्तुनश्छद्मना निगूहनं व्याजोक्तिः काव्यानु., पृ. 44. व्याजोक्तिः शंकमानस्य वस्तुनश्छद्मगोपनम्। चन्द्रा. 5/110; एका. 8/70; प्र.रु., पृ. 297. व्याजोक्तिर्गोपनं व्याजादुद्भिन्नस्यापि वस्तुनः। सा.द., 5/92; अ.कौ., 8/292. व्याजोक्तिरन्य हेतूक्त्या यदाकरस्य गोपनम्। कु.का. 153; अ.मं. का., 118; नं.य., पृ. 188; सा.सा. 8/285; अ.कौ., पृ. 357; अ.मु. 36; अ. मणि. भाग 3; पृ. 286; अ.मं. का., 162.

53. यत्र प्रकाशितं वस्तु साम्यगर्भत्वतः पुनः।
कुतोऽपि च्छाद्यते व्याजात्सव्याजोक्तिरितीष्यते।। अ.चि., 4/175.
54. हेतुश्च सूक्ष्मलेशश्च नालंकारतया मतः। भामहा., 2/86.
55. हेतुश्च सूमलेशौच वाचामुत्तमभूषणम्। —काव्यादर्श, 2/233.
56. लेशो लेशेन निर्भिन्नवस्तुरूपनिगूहनम्। काव्यादर्श, 2/263.
लेशमेके विदुर्निन्दां स्तुतिं वा लेशतः कृताम्।। वही, 2/266.
57. दे., का. 7/10, स.कं. 4/58 तथा शृं.प्र., पृ. 420.
58. व्याजस्तुतिरपि लेशएव। शृं.प्र., वही तथा स.कं. वही।
59. कु.का. 138; अ.मं.का. 105; सा.सा. 8/275; अ. मणि. भाग-3, पृ. 195; र.गं., पृ. 512.
60. का.प्र., पृ. 700, अ.स., पृ. 189; सा.द., पृ. 830 (काशी, चौखम्बा)।
61. अत्र पुलकवेपथूसात्विकरूपतया प्रसृतौ शैत्यकारणतया प्रकाशितत्त्वादपलपित-स्वरूपौ व्याजोक्तिं प्रयोजयतः।। का.प्र., पृ. 202; सं.प्र. तथा सा.चू., पृ. 369.
62. दे., ध्व., पृ. 76-77.
63. गूढसाकांक्षोपनिबद्धं गूढम्। अ.र. सूत्र 102 तथा वृत्ति।
64. गूढोक्तिरन्योद्देश्यं चेद्यदन्यं प्रति कथ्यते। कु.का. 154; तु. अ.मं.का. 119; सा.सा. 8/286; अ. मणि. भाग-3, पृ. 289.
65. वही, कुवलानन्द, गूढोक्ति का उदाहरण, गूढोक्ति को विश्वेश्वर गूच्छोक्ति कहते हैं—अन्यत्तात्पर्येणान्यं प्रतिकथनं गुच्छोक्तिः। अ.प्र. 62.
66. 'सखि पश्य' इत्यादौ ध्वनित्वमेव। एतेन गूढोक्तिरलंकारः परास्तः। तस्य ध्वनित्वाक्रान्तत्त्वात्। क्वचिद्गुणीभूतव्यंग्यत्वात्। अलंकारत्वं तु न वाच्यम्। उद्योत, पृ. 543.
67. विवृतोक्तिः श्लिष्टगुप्तं क्रियया मर्मगुप्तये। कु.का., 155.
68. दे., अ.मं.का. 120; अ. मणि. भाग-3, पृ. 289.
69. विवृतोक्तिर्गुप्ताविष्कारणरूपेत्यपास्तम्। गुणीभूतव्यंग्यमात्रत्वात्। वाच्यरसाद्युत्कर्षकत्वाभावाच्च। वही, उद्योत।
70. युक्तिः परातिसंधानं क्रियया मर्मगुप्तये। कु.का. 156.
71. अयमपि दीक्षितोपज्ञम्। अ. मणि. भाग-3, पृ. 299.
72. दे., अ.मं. 121; अ. मणि. भाग-3, पृ. 299; सा.सा. 8/287.
73. उक्तिर्यदस्यव्यापारमात्रपरत्वात् .... युक्तिनामालंकार इत्यपास्तम्।उ., पृ. 544; तु. अ.कौ., पृ. 358.
74. अयमप्यलंकारो दीक्षितोपज्ञमेव। अ. मणि. भाग-3, पृ. 301.
75. दे., अ.मं.का. 122; अ. मणि. भाग-3, पृ. 301.
76. '......... लोकोक्तिरिति गम्यते .... इत्यपास्तम्। .... नन्वत्र कोऽलंकार इति चेन्न, कोऽपि। उद्योत वही।
77. दे., अ.मं. वही, सा.सा. 8/294; अ. मणि. भाग-3, पृ. 303-4.

78. इति छेकोक्त्यलंकारोऽपि परास्तः। ……… क्वचिद्ध्वनित्वं, गुणीभूतव्यंग्यत्वं वा न निवारयामः। —उद्योत, पृ. 543-44.
79. अनुभूतस्यार्थान्तरोपलब्धौ परभागः। अ.र. सूत्र 100 तथा वृत्ति।
80. दे., वही, पृ. 173.
81. स्फायितंचिवंचिशकि इत्यादि। उ. 2/13.
82. अरालं वृजिनं जिह्मं ऊर्मिमत् कुंचितं नतम्।
आविद्धं कुटिलं भुग्नं वेल्लितं वक्रमित्यपि।। अ.कौ., 3/71 तथा वही सुधा।
वक्र की उपर्युक्त निष्पत्ति अमरकोष के सुधा टीकाकार के अनुसार दी गयी है। वस्तुतः यहां चुरादि की वंचु धातु से ही वक्र शब्द बनाना अधिक उपयुक्त है, क्योंकि इसका अर्थ है, प्रलम्भन। वंचयति प्रलंभयति परिकल्पयति वेति वक्रः। वक्ता के कथन का श्रोता द्वारा अन्यथा प्रकल्पन (प्रलंभन) ही तो वक्रोक्ति है।
83. डॉ. रामचन्द्र द्विवेदी। अ.मी., पृ. 194.
84. सैषा सर्वैव वक्रोक्तिरनयार्थो विभाव्यते।
यत्नोऽस्यां कविना कार्यः कोऽलंकारोऽनया विना।। काव्यालं., 2/85.
85. भिन्नं द्विधा स्वभावोक्तिः वक्रोक्तिश्चेति वाङ्मयम्। काव्याद., 2/360.
86. सादृश्याल्लक्षणा वक्रोक्तिः। का.सू. वृ. 4/38; देखिये, वृत्ति तथा का.धे. टीका वही।
87. वक्त्रा तदन्यथोक्तं व्याचष्टे चान्यथा तदुत्तरदः
वचनं तत्पदभंगैर्विज्ञेया सा श्लेषवक्रोक्तिः।। काव्यालंकार, 2/14.
विस्पष्टं क्रियमाणादक्लिष्टा स्वरविशेषतो भवति।
अर्थान्तर प्रतीतिर्यत्रासौ काकुवक्रोक्तिः।। वही, 2/6.
88. यत्रार्थादन्यरसस्तत्प्रतिबद्धश्च गम्यतेऽन्योऽर्थः।
वाक्येन सुप्रसिद्धो वक्रश्लेषः स विज्ञेयः।। वही, 10/9.
89. दे., स.कं., पृ. 296-7 तथा शृं.प्र., पृ. 384.
90. दे., स.कं., 2/56.
91. यदुक्तमन्यथा वाक्यमन्यथान्येन योज्यते।
श्लेषेण काक्वा वा ज्ञेया सा वक्रोक्तिस्तथा द्विधा। का.प्र., 9/78.
92. कायत्यर्थान्तरं इति काकुः। ……… अथवा काकुर्जिह्वा, तद्व्यापारविशेष संपाद्यत्वात् शोकभीत्यादिभिर्ध्वनेर्विकारः काकुः। ……… तदुक्तं 'भिन्नकंठध्वनिर्धीरैः काकुरित्यभिधीयते। बा.बो., पृ. 72, काकुः स्त्रियां विकारोयः शोकभीत्यादिभिर्ध्वनेः। अ.को., 1/6/12.
93. अत्र काकोः शब्दधर्मतया शब्दालंकारता, अन्यथायोजन च व्यंजनया। प्रदीपोद्योत, उद्धृत बा.बो., पृ. 494.
94. इयं च न वाकोवाक्यमात्रे, किन्तु स्वतोऽप्यन्येनोक्तमन्यथा योजनमात्रे। प्र., पृ. 288.
95. अन्यथोक्तस्य वाक्यस्य काकुश्लेषाभ्यामन्यथायोजनं वक्रोक्तिः। अ.स. सूत्र-77 तथा वृत्ति।

96. वक्रोक्ति शब्दश्चालंकारसामान्यवचनोऽपीहालंकारविशेषे संज्ञितः। वही, पृ. 202.
97. अन्यथासंभावितयोश्शब्दार्थयोरन्यथायोजनं वक्रोक्तिः। अ.र. सूत्र-105 तथा वृत्ति।
98. दे., अ.र., पृ. 114 तथा 183-4.
99. अतएव द्वितीयो व्याघातः नास्या भेदतया वाच्यः। वि.प्र., पृ. 175-77.
100. दे., अ.म. 7/23.
101. अन्यस्यान्येनान्यथा श्लेषादुक्तिर्वक्रोक्तिः। काव्यानु., 5/8.
102. दे., ना.शा. 19/37 (चौ. सं.सी.)।
103. वही, अ.चू. तथा विवेक, पृ. 333-37.
104. काकुर्वक्रोक्तिर्नाम शब्दालंकारोऽयमिति रुद्रटः। अभिप्रायवान् पाठधर्मः काकुः स कथमलंकारो स्यादिति यायावरीयः। का.मी. अ. 7, पृ. 83; (चौ. सं.सी.) राजशेखर ने ग्रन्थ के सप्तम अध्याय में काकु पर सविस्तार विचार किया है।
105. दे., वही, अ.चं., तथा विवेक।
106. प्रस्तुतादपरं वाच्यमुपादायोत्तरप्रदः।
भंगश्लेषमुखेनाह यत्र वक्रोक्तिरेव सा।। वाग्भटा. 4/14.
107. परोक्तस्य श्लेषेण काक्वा वान्यथोक्तिर्वक्रोक्तिः।। काव्यानु., पृ. 49.
108. वक्रोक्तिः श्लेषकाकुभ्यां वाच्यार्थान्तरकल्पनम्।। चन्द्रा. 2/111; तु. एका. 8/71; प्र.रु., पृ. 296-7.
109. अन्यस्यान्यार्थकं वाक्यमन्यथा योजयेद्यतः।।
अन्यः श्लेषेण काक्वा वा सा वक्रोक्तिस्ततो द्विधा।। सा.द. 10/11; तु. अ.कौ., 7/195.
110. वक्रोक्तिश्लेषकाकुभ्यामपरार्थप्रकल्पनम्।। कु.का. 159; अ.मुं., का. 123; नं.य., पृ. 184.
111. कोपात्प्रियवदुक्तिर्या वक्रोक्तिः कथ्यते यथा। अ.सं., 5/49.
112. अन्याभिप्रायेणोक्तं वाक्यमन्येनान्यार्थकतया यद्योज्यते सा वक्रोक्तिः। एतदेव वाकोवाक्यमित्युच्यते। अ.शे.
113. एकेनान्याभिप्रायेणोक्तं वाक्यं यद्यन्येनान्याभिप्रायकं कल्प्यते तदा वक्रोक्तिः। अ.प्र.
114. दे., सा.सा. 8/288, सा.वि., 5/3.
115. वही, अ. मणि. भाग-3, पृ. 305-16.
116. यद्यप्येवं विधा वक्रोक्तिः प्राक्तनैरर्वाक्तनैर्वा न विवेचिता, तथापि तादृशचमत्कृति सद्भावाद्वक्रोक्तिरेवेत्यस्माभिर्व्यवेचि।। —वही, पृ. 316.
117. भवतीति वा, भूयतेऽनेनेति वा।
118. भावो भावना उत्पादना क्रिया। भट्टोजीदीक्षित, सि.कौ., वृत्ति, पृ. 516.
119. बा.बो., पृ. 669; तु. कविप्रतिभया निर्विकल्पप्रत्यक्षकल्पया विषयीकृता वस्तुस्वभावा यत्र वर्ण्यन्ते सा स्वभावोक्तिरिति सान्वयेयं संज्ञा। का.सं., पृ. 302.

120. डॉ. रामचन्द्र द्विवेदी, पृ. 194.
121. अ.शे., पृ. 35.
122. अ.पु., 344/3.
123. काव्येऽपि च लोकनाट्यधर्मिस्थानीयेन स्वभावोक्तिवक्रोक्तिप्रकारद्वयेनालौकिकप्रसन्नमधुरौजस्विशब्दसमर्प्यमाणविभावादियोगादियमेवरसवार्ता। लो. पृ. 197.
124. युक्तं वक्रस्वभावोक्त्या सर्वमेवैतदिष्यते। भामहा. 1/30.
125. स्वभावोक्तिश्च जातिश्चेत्याद्यालंकृतिर्मता। काव्यादर्श, 2/8.
126. शास्त्रेष्वस्यैव साम्राज्यं काव्येष्वप्येतदीप्सितम्। वही, 2/13.
127. श्लेषः सर्वासु पुष्णापि प्रायो वक्रोक्तिषु श्रियम्।
भिन्नं द्विधा स्वाभावोक्तिर्वक्रोक्तिश्चेति वाङ्मयम्।। वही, 2/360.
128. वक्रोक्तिश्च रसोक्तिश्च स्वभावोक्तिश्च वाङ्मयम्।। स.कं., 5/8.
129. स्वभावोक्तिरलंकार इति केचित्प्रचक्षते।
अर्थस्य तदवस्थत्वं स्वभावोऽभिहितो यथा।। भामहा., 2/93.
130. नानावस्थं पदार्थानां रूपं साक्षाद्विवृण्वती।
स्वभावोक्तिश्च जातिश्चेत्याद्यालंकृतिर्यथा।। काव्यादर्श, 2/81.
131. क्रियायां संप्रवृत्तस्य हेवाकानां निबन्धनम्।
कस्यचिन्मृगडिम्भादेः स्वभावोक्तिरुदाहृतम्।। का.सा.सं., 2/8.
132. तस्याश्चालंकारत्वमसाधारणपदार्थस्वरूपध्वननम्।। ल.वृ., पृ. 46.
133. संस्थानावस्थानः क्रियादि यद्यस्य यादृशं भवति।
लोके चिरप्रसिद्धं तत्कथनमनन्यथा जातिः।। काव्यालं. 7/30.
134. शिशुमुग्धयुवतिकातरतिर्यक्संभ्रान्तहीनपात्राणाम्।
सा कालावस्थोचितचेष्टासु विशेषतो रम्या।। वही, 7/31.
135. अथ वास्तवस्य जातेश्च को विशेषः —यो वृक्षस्य च धवस्य च। वास्तवं हि वस्तु स्वरूपकथनं तच्च सर्वेष्वपि तद्भेदेषु सहोक्त्यादिषुस्थितम्। जातिस्त्वनुभवं जनयति, यत्र परस्थं स्वरूपं वर्ण्यमानमेवानुभवमिवैति। न.सा., पृ. 81.
136. अलंकारकृतां येषां स्वभावोक्तिरलंकृतिः।
अलंकार्यतया तेषां किमन्यदवतिष्ठते।। व.जी., 1/11-15.
137. दे., व्य.वि., 2/114-22.
138. संस्कृतप्राकृतादिर्जातिः। साषोढा—शुद्धा, मिश्रा, संकीर्णा, साधारणी, असाधारणी, अपभ्रष्टा च। शृं.प्र., पृ. 371; तु.स.कं. 2/6-17.
139. दे., स.कं. 3/4-8; शृं.प्र., पृ. 391-93.
140. स्वभावोक्तिश्च डिम्भादेः स्वक्रियारूपवर्णनम्। का.प्र., 10/111.
141. सूक्ष्मवस्तुस्वभावस्य यथावद्वर्णनं स्वभावोक्तिः। अ.स. सूत्र-78, इह वस्तुस्वभाववर्णनमात्रं नालंकारः। तत्त्वे सति सर्वं काव्यमलंकारिस्यात्। नहि तत्काव्यमस्ति यत्र वस्तुस्वभाववर्णनं न विद्यते। तदर्थं सूक्ष्मग्रहणम्। सूक्ष्मः कवितृमात्रगम्यः। अतएव

तन्निर्मित इव यो वस्तुस्वभावस्तस्य यथावदन्यूनानतिरिक्तत्त्वेन वर्णनं स्वभावोक्तिरलंकारः। वही, वृत्ति।

142. सम्यक् स्वभाववर्णनं स्वभावोक्तिः। अ.र. सूत्र 106 तथा वृत्ति, तु. अ.म. 8/82; एका. 8 /72; प्र.रु., पृ. 297; अ.सं. 5/19; सा.द., 19/92; नं.य., पृ. 188; अ.प्र.।
143. स्वभावाख्यानं जातिः। काव्यानु. 6/15; तु. का.सा.सं. 6/13.
144. कविप्रतिभया विर्विकल्पकप्रत्यक्षकल्पया विषयीकृता वस्तुस्वभावाः, यत्रोपवर्ण्यन्ते स जातेर्विषयः। एवं अलंकारकृतां येषां ·········· किमन्यदवशिष्यते। इति यत् कैश्चित् प्रत्यपादि तन्निरस्तमेव। विवेक, पृ. 380.
145. स्वभावोक्तिः पदार्थस्य सक्रियस्याक्रियस्य वा।
जातिर्विशेषतो रम्या हीनत्रस्तार्भकादिषु।। —वाग्भटा., 4/47.
146. यथास्थितवस्तुस्वरूपवर्णनग्राम्यं जातिः। काव्यानु., पृ. 32.
147. स्वभावोक्तिः स्वभावस्य जात्यादिषु च वर्णनम्। चन्द्रा. 5/112.
148. अ.कौ., 8/287; कु.का. 160; अ.मं. 124; सा.सा. 8/289; अ.कौ., पृ. 327; अ.मु. 30; सा.बि. 5-22; अ.मं.का. 123; अ. मणि. भाग-3, पृ. 316.
149. दे., अ.र., पृ. 184; तु. अ.स., पृ. 202; अ.म., पृ. 325; उद्योत, पृ. 521.
150. वही, अ.स., पृ. 206 तथा वही, सं. 206-7.
151. सत्यपि साधारण्ये वस्तुस्वभावस्य संवादः स्वभावोक्तो रसवति तु चित्तवृत्तेः। सं., पृ. 207; वही, अ.स., पृ. 206; वि., पृ. 181, 82.
152. स्वभावोक्तिः वास्तवसौन्दर्यावलम्बिनी वस्तुस्वभावसौक्ष्म्यात् साधारण्येन सचेतन-संवादाच्च विच्छित्तिमती।। —सं., पृ 210.
153. न.सा., पृ. 80; अ.म., पृ. 325.
154. यथास्वरूपकथनं वार्तेति परिकीर्तितम्। —वि.ध., 14/11.
155. विश्वेश्वर के अनुसार सप्तम्यर्थ में प्रत्यय न होगा—भावः कवेरभिप्रायः अस्त्यस्येति विषयत्वाख्यसम्बन्धपरषष्ठी समर्थात् मत्वर्थे ठन्। यत्तु अस्मिन्निति विग्रहप्रदर्शनम्, तन्न। 'सप्तम्यां च न तौ स्मृतौ' इति भाष्यकारोक्तेः। अ.कौ., पृ. 335. भावः कवेरभिप्रायः निश्चयादिप्रतीतिविषयकोऽत्रास्तीति व्युत्पत्तेः। प्रदीप, पृ. 360.
156. ल.वृ., पृ. 74.
157. भावः कवेरभिप्रायः (भूतभाविनामर्थानां प्रत्यक्षत्वेन प्रतिपादनेच्छा) अत्रास्तीति। का.प्र., पृ. 676; कवेर्भावः अभिप्रायः स्फुटोऽत्रास्तीति, अ.म., पृ. 326; तु.अ.कौ. वही।
158. गजेन्द्रगडकर, का.प्र. नोट्स, पृ. 369.
159. कविगतो भावः आशयः श्रोतरि प्रतिबिम्बितत्त्वेनास्तीति। अ.स., पृ. 203; संकेत, पृ. 263; का.सं., पृ. 307; एका., पृ. 329; सा.चू., पृ. 347; रत्नापण, पृ. 332; टिप्पण, सा.द., पृ. 574.
160. कवेः सम्बन्धी यो भावः आश्रयः स कविनैव सहृदयैः श्रोतृभिः स्वाभिप्रायेऽभेदेन

तत्तत्काव्यप्रतिबिम्बरूपतया साक्षात्क्रियते। श्रोतृणामपि स्वाभिप्रायमुद्रातत्र संक्रामति। अतः कवेर्योऽसावभिप्रायः तद्गोचरीकृता भूता भाविनोऽपि पदार्थास्तत्र सहृदयैः श्रोतृभिः स्वाभिप्रायाभेदेन प्रत्यक्षा इव दृश्यनृते। वही, ल. वृ.।

161. भावो वा भावना पुनः पुनश्चेतसि निवेशनं सोऽत्रास्तीति। अ.स., पृ. 203; तु. स.ब., पृ. 200; टिप्पण, अ.कौ. (कर्णपूर), पृ. 321; टिप्पण, सा.द., पृ. 574; सा.चू., पृ. 347.

162. भावाय साक्षात्काराय प्रभवतीति भाविकम्। आशाधर भट्ट, कु.का. व्याख्या। उद्धृत, बा.बो., पृ. 676.

163. का.प्र. निदर्शनाव्याख्या, उद्धृत बा.बो., पृ. 676.

164. भाविकत्वमितिप्राहुः प्रबन्धविषयं गुणम्।
प्रत्यक्षा इव दृश्यन्ते यत्रार्था भूतभाविनः।।
चित्रोदात्ताद्भुतार्थत्वं कथायाः स्वभिनीतता (स्वविनीतता)।
शब्दानाकुलता चेति तस्य हेतुं प्रचक्षते।। भामहा. 3/53-57.

165. तद्भाविकमितिप्राहुः प्रबन्धविषयं गुणम्।
भावः कवेरभिप्रायः काव्येष्वासिद्धि संस्थितः।।
.... भावायत्तामिदं सर्वमिति तद्भाविकं विदुः।। काव्यादर्श, 2/364-66.

166. प्रत्यक्षा इव यत्रार्था दृश्यन्ते भूतभाविनः।
अत्युद्भुताः स्यात्तद्वाचामनाकुल्येन भाविकम्।। का.सा.सं., 6/12.

167. प्रध्वंसाभावप्रागभावाक्रान्ता अपि भावाः स्वमहिम्ना वचःप्रसादवशाच्च यत् स्फुरत्तन्तव इव दृश्माना बध्यन्ते तद्भाविकम्। वक्तुराशयः श्रोतर्यत्रास्तीति। वि., पृ. 51.

168. स्वाभिप्रायकथनमन्यापदेशोऽन्यभावना च भाविकम्। उद्भेदोऽपि भाविकमेव। स त्रिधा अव्यक्ताव्यक्तउभयात्मकश्च। शृं.प्र., पृ. 426; तु. स.कं. 4/88-89.

169. प्रत्यक्षा इव यद्भावाः क्रियन्ते भूतभाविनः। तद्भाविकम्। का.प्र. 10/114.

170. कविसमर्पितानां विच्छित्तीनामलंकारत्वाद्, वर्णनायातस्यानुभवस्य प्रत्यक्षायमाणत्वं भाविकं नेन्दुसौन्दयदिरिव वस्तुसन्निवेशिनः। अतः शब्दानाकुलतेति भामहेन, व्यस्तसम्बन्धरहितशब्दसमर्पितत्वमित्युद्भटेन चानाकुलशब्दसमर्पितं प्रत्यक्षायमाणत्वं भाविकत्वमुक्तम् .... अतः शब्दानाकुलत्वं विशेषमनपेक्ष्य सर्वभेदोपसंग्रहाय 'प्रत्यक्षा इव यद्भावाः क्रियन्ते भूतभाविनः' इत्येतावदेवलक्षणं कृतम्। सं.प्र., पृ. 346, 47; तु. अ.स. तथा सं., पृ. 208-9.

171. रुचकेन तयोः (भामहोद्भटयोः) एव मतमनुसरता ग्रन्थकृन्मतमप्यासूचितम्। सं.प्र. वही।

172. अतीतानागतयोः प्रत्यक्षायमाणत्वं भाविकम्। अ.स.सू. 79, अतीतानागतयोर्भूत-भविनोरर्थयोरलौकिकत्वेनात्यद्भुतत्वादव्यस्तसम्बन्धरहितशब्दसंदर्भसमर्पितत्त्वाच्च प्रत्यक्षायमाणत्वं भाविकम्। वही, वृत्ति तथा सं.।

173. विप्रकृष्टस्य प्रत्यक्षायमाणत्वं भाविकम्। अ.र. सूत्र-107 तथा वृत्ति।

174. दे., अ.म. 8/83.

175. भाविकं तु भूतभाविपदार्थ प्रत्यक्षीकारात्मकं अभिनेयप्रबन्ध एव भवति। यद्यपि मुक्तकादावपि दृश्यते तथापि न स्वदते। अ.चू., पृ. 402-3.

176. भाविकं भूतभाव्यर्थ साक्षाद्दर्शनवर्णनम्। चन्द्रा. 5/113.
देशात्मविप्रकृष्टस्य दर्शनं भाविकच्छविः। वही, 5/114.

177. भूतस्य भाविनो वा प्रत्यक्षायमाणतार्थस्य।
विलसति सुतरामेतन्निगद्यते भाविकं कविभिः।। एका. 8/73.
अतीतानागते यत्र प्रत्यक्षे इव लक्षिते।
अत्युद्भुतार्थकथनात् भाविकं तदुदाहृतम्।। प्र.रु., पृ. 331-32; तु. सा.द. 10/93; नं.य., पृ. 215-16; अजितसेन, अ.चि. 4/303.

178. अतीतानागतार्थानां साक्षात्त्वमिव भाविकम्। अ.कौ., 8/281.

179. दे., कु.का. 161; अ.मं.का. 125.

180. भूतभाविविशेषप्रत्यक्षे भाविकम्। अ.प्र. 46; तु.अ.मु. 32; अ.कौ., पृ. 335; भूताद्यर्थस्य या साक्षात्वेनोक्तिर्भाविकं तु तत्। सा.सा. 8/295; दे., का.सा.सं. (भावदेव) 6-49; अ.मं.का. 139; अ. मणि. भाग-3, पृ. 318.

181. न चेयं भ्रान्तिः। भूतभाविनोर्भूतभावितयैव प्रकाशनात्। नापि रामोऽभूदितिवद् वस्तुवृत्तमात्रम्। भूतभाविगतस्य प्रत्यक्षत्वाख्यस्य धर्मस्य स्फुटस्याधिकस्य प्रतिलम्भात्। अ.स., पृ. 203 तथा वही, सं., तु. अ.र., पृ. 186; प्र.रु., पृ. 233 तथा वही, रत्नापण, सा.द., पृ. 575; बा.बो., पृ. 676.

182. 'असम्बन्धेसम्बन्धरूपातिशयोक्त्यैव गतार्थोऽयम्। प्रत्यक्षासम्बन्धेऽपि तत्सम्बन्धवर्णनात् ·········· साऽनुप्राणिकेति कश्चित्। उद्योत, पृ. 527.

183. योगिनां काव्यतत्त्वविदां चातीतानागतार्थसाक्षात्करणे भावना। अतो योगिवत् काव्यतत्त्वविदामतीतानागतार्थसाक्षात्कारो, नान्यथाध्यवसाय इति नातिशयोक्तिः शङ्क्या। संजी., पृ. 205; तु. अ.स., पृ. 203-4; वि., पृ. 179; सा.द., पृ. 575; अ.कौ., पृ. 335-37.

184. नापीयं भूतभाविनामप्रत्यक्षाणां प्रत्यक्षतयैव प्रतीतेरिवार्थगर्भीकारेणेयं प्रतीयमानोत्प्रेक्षा। तस्या अभिमानरूपाख्याध्यवसायस्वभावत्वात्। अ.स., पृ. 205; वही, सं., तु.वि., पृ. 179; अ.र., पृ. 186; प्र.रु., पृ. 333.

185. नापि ·········· काव्यलिंगमिदम्। लिंगलिंगिभावेन प्रतीत्यभावात्। योगिवत् प्रत्यक्षतया प्रतीतेः। अ.स. तथा सं., पृ. 205; तु. संकेत, पृ. 263.

186. यद्यपि सचमत्कारप्रतीतेः पुरः स्फुरता असाधारणी अथापि न भाविक रसवतोर्भेदः। कुतः? रतिहासादिचित्तवृत्तीनां तदनुरंजितत्त्वेन विभावानुभावव्यभिचारिणां च यदा ·········· साधारण्येन हृदयसंवादिनी प्रतीतिस्तदैव रसवतो भावः। इह तु भूतभाविनां प्रतीतिर्नसाधारण्येन अपितु प्रतिपत्तुस्ताटस्थ्येन, स्फुटतया ताटस्थ्यं हि भेदः। सं., पृ. 206 तथा वही, अ.स., वि., पृ. 181-82; प्र.रु. तथा रत्ना., पृ. 332.

187. नाप्यद्भुतो रसः, विस्मयं प्रत्यस्य हेतुत्वात्। सा.द., पृ. 575.
188. दे., अ.स. तथा सं., पृ. 206-7; संकेत, पृ. 263; बा.बो., पृ. 676.
189. न च स्वभावोक्तिः तस्य लौकिकवस्तुगतसूक्ष्मधर्मस्वभावस्यैव यथावद्वर्णनं स्वरूपम्। अस्य तु वस्तुनः प्रत्यक्षायमाणत्वरूपो विच्छित्तिविशेषोऽस्तीति। सा.द., पृ. 575; तु. प्र.रु., पृ. 332.
190. शुष्केन्धनाग्निवत् स्वच्छजलवत्सहसैव यः।
व्याप्नोत्यन्यत्प्रसादोऽसौ सर्वत्र विहितस्थितिः।। का.प्र., 8/70-71.
191. झटित्यर्थसमर्पणं प्रसादः झगिति समर्पितस्यार्थस्य स्फुटत्वेन प्रतीतिर्भाविकमित्यनयोर्महान्भेदः। वि., पृ. 182; तु. अ.स. तथा सं., पृ. 209-8; सा.द., पृ. 574-5.
192. मुनिर्जयति योगीन्द्रो महात्मा कुम्भसम्भवः।
येनैकचुकुके दृष्टौ दिव्यौ तौ मत्स्यकच्छपौ।। अ.स., पृ. 208; सा.द., पृ. 574.
193. अ.स., पृ. 209.
194. दे., अ.स., पृ. 209-10 तथा सं.प्र., पृ. 346-7.
195. अस्य च देशेन कालेन स्वभावेन वा विप्रकृष्टवस्तु विषयः कालविप्रकृष्टस्यापि भूत भावित्वेन द्विभेदतेतिचत्वारो भेदाः। अ.र., पृ. 186.
196. बा.बो., पृ. 683-84 तथा अ.कौ., सु., पृ. 65.
197. एवं चास्य नामापि सार्थकम्। वि., पृ. 184.
198. कीर्त्यमानैर्गुणैर्यत्र विविधार्थसमुद्भवैः।
दोषा न परिकल्प्यन्ते तज्ज्ञेयं गुणकीर्तनम्।। ना.शा. 16/9.
199. गुणैरिति सुचरितैरिति निरूपिते तु चारुत्वमिति गुणकीर्तनं नाम। .... लक्षणानि ह्यलंकारानपि चित्रयन्ति। वहीं, अ.भा.।
200. उदात्तं शक्तिमान् रामो गुरुवाक्यानुरोधकः।
विहायोपनतं राज्यं यथा वनमुपागमत्।। भामहा. 3/11.
201. एतदेवापरेऽन्येन व्याख्यानेनान्यथा विदुः।
नानारत्नादि युक्तं यत्तत् किलोदात्तमुच्यते।। 3/12.
202. चाणक्यो नक्तमुपयान्नन्दक्रीडागृहं यथा।
शशिकान्तोपलच्छन्नं विवेद पयसां ग(क)णैः।। वही, 3/13.
203. आशयस्य विभूतेर्वा यन्महत्त्वमनुत्तमम्।
उदात्तं नाम तं प्राहुरलंकारं मनीषिणः।। काव्यादर्श, 2/300.
204. उदात्तमृद्धिमद्वस्तु चरितं च महात्मनाम्।
उपलक्षणतां प्राप्तं नेतिवृत्तत्वमागतम्।। का.सा.सं., 4/17.
205. दे., ल.वृ., पृ. 54.
206. अर्थान्तरमुत्कृष्टं सरसं यदि वोपलक्षणं क्रियते।
अर्थस्य तदभिधानप्रसंगतो यत्र सोऽवसरः।। काव्या. 7/103.

207. उदात्तस्योभयप्रकारस्यापि अलंकार्यतैव युक्तिमती न पुनरलंकरणत्वम्। व.जी., पृ. 171-72.
208. उदात्तं वस्तुनः सम्पत् महतां चोपललक्षणम्। का.प्र. 10/115.
209. यस्यकस्यचिद्वस्तुनोऽसंभाव्यमानायाः संपत्तेवर्णनमुदात्तालंकारः। नि., उद्धृत, बा.बो., पृ. 684.
210. दे., प्र., पृ. 363.
211. समृद्धिमद्वस्तुवर्णनमुदात्तम्। अ.स. सूत्र-80 अंगभूतमहापुरुषचरितश्च। वही, सूत्र 81.
212. संभाव्यमानभूतियुक्तस्य तु वर्णनं नैतदंगम्। ·········· अलंकारसारकृतापुनरत्र-अतिशयोक्तिप्रकारत्वमुक्तम्। —वि., पृ. 184.
213. समृद्धिमद्वस्तुवर्णनमुदात्तमित्युदात्तभेदो न वाच्यः। असम्बन्धे-सम्बन्ध इत्येवं रूपाया अतिशयोक्तिः शुद्धविषयत्वात्। अ.र., पृ. 188.
214. उदारचरितांगत्वमुदात्तम्। अ.र. सूत्र-108 तथा वृत्ति।
215. दे., अ.म. 8/84.
216. 'मुक्ताः केलिविसूत्रहारगलिताः' (इत्यादौ) नह्यतिशयैश्वर्येऽपि मुक्तारत्नानामवकर प्रायत्वेन पुंजीकरणं संभवति। उक्तं च असम्बन्धे सम्बन्धात्मिकामतिशयोक्ति-मवगमयति। ·········· इत्यतिशयोक्तरेलंकारान्नभिद्यत इत्यर्थः। ·········· रामोहि पितृवचनमनुतिष्ठन्नयपराक्रमादिधर्मयोगादुत्साहयोगाच्च वीररसवानेवेति रसध्वनिरेवायम्। वि., पृ. 404-4.
217. दे., अ.क्र.वि., पृ. 326.
218. वस्तुसंपत्त्यामहदुपलक्षणेन च वर्णनमुदादत्तम्। काव्यानु. पृ. 42. उदात्तमृद्धेश्चरितं श्लाध्यं चान्योपलक्षणम्। चन्द्रा. 5/115; तु. एका. 8/74; प्र.रु., पृ. 336; सा.द. 10/94; अ.कौ. 8/284-85; कु.का. 162; अ.मं.का. 126; नं.य., पृ. 217; अ.चि. 4/319; वस्तुप्रचयमुदात्तं महतामंगत्ववचनं च। अ.मं. तु., अ.कौ., पृ. 345; अ.प्र. 50-51; अ. मणि. भा. 3, पृ. 321; अ.मं.का. 147; सा.कौ., 6/30.
219. न चोदात्तस्यासम्बन्धकथनरूपतया सम्बन्धातिशयोक्तावन्तर्भावः। दिव्यलोकगत-सम्पत् समृद्धिवर्णने केवलस्योदात्तालंकारसंभवात्। तस्मादतिशयोक्ति सद्भावेऽप्युदात्तालंकारो संभवति रा.का., पृ. 108.
220. स्वभावोक्तौ भाविके च यथावद्वस्तुवर्णनम्। तद्विपक्षत्वेनारोपितवस्तुवर्णनात्मन उदात्तस्यावसरः। अ.स., पृ. 212.
221. का.प्र., पृ. 684; अ.स., पृ. 212; काव्यानु., पृ. 403; काव्यानु (वाग्भट), पृ. 42.
222. काव्या. 7/104 तथा मम्मट, रुय्यक, नरेन्द्रप्रभसूरि, गागाभट्ट, आदि द्वारा उद्धृत।
223. अस्य चेह कीर्तनं दर्शनान्तरानुसारेण। ध्वनिदर्शनेन तु द्वितीयोदात्तविषये रसवदादय एव। सं., पृ. 212; वही, निकृष्टार्थारिका भी।
224. कु.का., 163; अ.मं.का., 127; का.सा.सं. (भावदेव, 6/32); अ. मणि. भाग-3, पृ. 325.

225. एतेनात्युक्तेः पृथगलंकारत्वं, संपदुत्कर्षे। शौर्योत्कर्षेऽत्युक्तिः भेदकथनं च परास्तम्। अ.कौ., पृ. 347; तु. अ.म. भाग-3, पृ. 329.
226. एतेन शौर्यादेस्तदुक्तावत्युक्तिनामा पृथगलंकार, इत्यपास्तम्। अत्रासम्बन्धे सम्बन्धातिशयोक्तिरस्तुप्राणिका। उ., पृ. 531.
227. तन्मतमितियत्रोक्त्वावक्तान्यमतेन सिद्धमुपमेयम्।
ब्रूयादथोपमानं तथा विशिष्टं स्वमतसिद्धम्।। काव्या. 8/69.
228. प्रकृतमुत्क्षिप्यवक्ता यदन्यथा मन्यते तन्मतम्। काव्यानु., पृ. 44.
229. का.प्र., 10/96.
230. अविशेषः श्लेषोऽसौ विज्ञेयो यत्र वाक्यमेकस्मात्।
अर्थादन्यं गमयेदविशिष्टविशेषणोपेतम्।। —काव्यालंकार, 10/3.
231. काव्यालंकार 10/4 पर नमिसाधु।
232. यत्रविवक्षितमर्थं पुष्यन्ती लौकिकी प्रसिद्धोक्तिः।
गम्येतान्या तस्मादुक्तिश्लेषः स विज्ञेयः।।
कलावतः संभृतमण्डलस्य यया हसन्त्यैव हृताशु लक्ष्मीः।
नृणामपांगेन कृतश्च कामतस्तस्याः करस्था ननु नालिकश्रीः।।काव्यालं. 10/14-15.
233. यत्रावयवमुखस्थितसमुदायविशेषणं प्रधानार्थम्।
पुष्यन्गम्येतान्यः सोऽयं स्यादवयवश्लेषः।।
भुजयुगले बलभद्रः सकलजगल्लङ्घने तथा बलिजित्।
अक्रूरे हृदयेऽसौ राजाभूदर्जुनो यशसि।। वही, 10/18-19.
234. यस्मिन्वाक्येन तथा प्रक्रान्तस्य प्रसाधयत्तत्वम्।
गम्येतान्यद्वाच्यं तत्त्वश्लेषः स विज्ञेयः।।
नयने हि तरलतारे सुतनु कपोलौ च चन्द्रकान्तौ ते।
अधरोऽपि पद्मरागस्त्रिभुवनरत्नं ततो वदनम्।। वही, 10/20-21.
235. ना.शा. 16/28 तथा वही, अ.भा.।
236. आशीरपि च केषांचिदलंकारतया मतः।
सौहृदय्या(स्या?) विरोधोक्तौ प्रयोगोऽस्याश्च तद्यथा।। भामहा., 3/55.
237. आशीर्नामाभिलषितं वस्तुन्याशंसनं यथा। काव्यादर्श, 2/355, तु.अ.सं. 5/48.
238. इष्टार्थस्याशंसनमाशीः। वाग्भट द्वितीय, काव्यानु., पृ. 46; अ.सं. 5/58.
239. अत्रापि शत्रुविनाशरूप विभावद्वारेण हर्षात्मनो भावस्योपनिबन्धात्, पूर्ववत् भावध्वनिरेव विवेक, पृ. 405.
240. आशीस्तुप्रियोक्तिमात्रं, भावज्ञापने गुणीभूतस्य वा विषयः। अ.चू., पृ. 404.
241. सत्यपि सामर्थ्येऽनुत्पादितस्वकार्यो व्याहतश्च हेतुरहेतुः। शृं.प्र., पृ. 396; तु. स.कं. 3/28-20; तु. काव्या. 9/54-55.
242. विकारहेतावप्यविकृतिहेतुरहेतुः। काव्यानु., पृ. 44.
243. संभाव्यमानस्य प्रतिभा। अ.र. सूत्र-35 तथा वृत्ति।

244. यद्यर्थोक्तावसंभाव्यमानस्य क्रियातिपत्तिः। अ.र. सूत्र-36 तथा वृत्ति।
245. दे., वही, पृ. 57.
246. दे., अ.स., पृ. 82-83 तथा वही, संजीवनी।
247. अत्र पुष्पप्रवालयोर्मुक्ता विद्रुमयोश्चासंबन्धेऽपि सम्बन्धोक्त्यातिशयोक्तिः सा च संभावना इत्यलंकारसर्वस्वकारः। कु.सं. 1/44 पर संजीवनी।
248. धर्मिधर्मभावस्य धर्माणां विनिमयो विपर्ययः। अ.र. सूत्र 57 तथा वृत्ति।
249. सजातीयविजातीयाभ्यां तुच्छत्वमुद्रेकः। अ.र. सूत्र-68.
250. निवृत्तावन्योदयस्तुल्यम्। वही, सूत्र 69.
251. यद्यप्येवमेकस्य दोषस्य निवृत्तौ क्रमेण दोषान्तरगमनात्पर्यायस्यायं विषयः सत्यम्। तथपि .... तुल्याया अत्र निष्पत्तिरेव। अ.र., पृ. 121.
252. अप्राप्तार्थं तत्तुल्यानादरोऽनादरः। अ.र., 70.
253. त्यक्तस्वीकार आदरः। वही, सूत्र-71.
254. ना.शा., 16/12.
255. निरुक्तिर्योगतोनाम्नामन्यार्थत्वप्रकल्पनम्। कु.का. 164.
256. दे., अ.मं.का. 96; अ.प्र. 66; सा.सा. 8/290; अ.म. भाग 3, पृ. 329.
257. इति निरुक्त्यलंकारः। स श्लेषविषय एव। उ., पृ. 575-6.
258. ना.शा., 16/23.
259. प्रतिषेधः प्रसिद्धस्य निषेधस्यानुकीर्तनम्। कु.का., 165; तु. अ.मं.का. 129; अ.प्र. 67; सा.सा., 8/291; अ.म. भाग-3, पृ. 336.
260. दे., अ.मं.का. 130; अ.प्र. 68; सा.सा. 8/292; अ.म. भाग-3, पृ. 338.
261. अत्र द्वितीयकोकिलपदं मधुरध्वनिशालित्वं लक्षयत्सकलजनहृद्यत्वं व्यनक्ति। तदपि (विध्यपि) ध्वनिना गतार्थम्। एवं सिद्धनिषेधानुकीर्तनमपि। उद्योत, वही।

एकादश अध्याय

चित्तवृत्तिमूलक अलंकार

रसवत्

विभाव, अनुभाव तथा व्यभिचारी भाव से अभिव्यंजित रति आदि स्थायी भाव रस कहे जाते हैं। ये (शृंगार आदि) रस सहृदय प्रमाता की चित्तवृत्तियों के विभिन्न स्वरूप हैं।[1] ध्वनिकार का कथन है कि 'चित्तवृत्तिविशेषा हि रसादयः। संभवतः इसी आधार पर रुय्यक ने रसवत् आदि को चित्तवृत्तिविशेषगत अलंकार माना है।[2] रुय्यक का अनुगमन करते हुए प्रकृत में इन्हें चित्तवृत्तिमूलक कहा गया है। उद्भट आदि के अनुसार शृंगार आदि रस जहां विद्यमान हों, वह काव्य रसवत् कहा जाता है और रस उसके अलंकार माने जाते हैं।[3] अतएव उनकी दृष्टि में रसवत् की 'रसः अस्तीति रसवत्'[4] व्युत्पत्ति ग्राह्य है। जिस वर्ण्य विषय में रस विद्यमान हो रुय्यक उसे रसवत् कहते हैं 'रसो विद्यते यत्र निबन्धने व्यापारात्मनि तद्रसवत्।[5] वर्णन व्यापार तो काव्य ही हो सकता है। इस प्रकार रुय्यक द्वारा की गई रसवत् की व्युत्पत्ति भी उपयुक्त नहीं प्रतीत होती, भले ही उनका विवेचन भिन्न हो, पर व्युत्पत्ति तो प्राचीनों के अर्थ का ही परिपोष करती है। अतएव रस शब्द से सादृश्यार्थ में वत् प्रत्यय करने पर ही रसवत् की व्युत्पत्ति उपयुक्त है। जहां रस न होकर, बल्कि रस के समान चारुता की प्रतीति हो, वह रसवत् है, रस इव भासते चारुत्वं उत्पाद्यते इति रसवत्।'[6] द्वितीय अध्याय में रसवदादि पर विचार किया जा चुका है। यहां संक्षेप में उसे अभिव्यक्त करना है।

भामह ने अपने ग्रन्थ के तृतीय अध्याय के प्रारंभ में ही प्रेय, रसवत्, ऊर्जस्वि, पर्यायोक्त तथा समाहित का विवेचन किया है, पर रसवत् के अतिरिक्त और किसी का लक्षण प्रस्तुत नहीं करते। वह शृंगार आदि रसों की स्पष्ट प्रतीति को रसवत् मानते हैं।[7] रस-पेशल वस्तु को रसवत् माननेवाले दंडी उसी परम्परा के पोषक हैं।[8] उद्भट तो लक्षण भामह से ग्रहण करते हैं, पर उसमें रसनिष्पत्तिप्रकार भी जोड़ देते हैं। इसके अतिरिक्त वह शृंगार आदि आठ रसों का परिगणन भी करते हैं।[9] उद्भट के दोनों टीकाकार इस बात पर सहमत हैं कि जहां शृंगार आदि का स्पष्ट प्रदर्शन हो, वह काव्य रसवत् है, रसादि उसके अलंकार हैं।[10] रुद्रट ने बारहवें से

पन्द्रहवें अध्याय तक रस का विवेचन किया है, पर वह रसवत् का उल्लेख नहीं करते। कुन्तक तो रसवत् को अलंकार माननेवालों के प्रबल विरोधी हैं। वह रसवत् को अलंकार्य मानते हैं, अलंकार नहीं।[11] शृंगारप्रकाश तथा 'सरस्वतीकंठाभरण' में रसों पर सविस्तार प्रकाश डालने वाले भोज, रसोक्ति को विभिन्न अलंकारों की संसृष्टि मानते हैं।[12] भोज का अभिमत है कि काव्यशोभाकर धर्म होने से गुण और रस की भी अलंकारता है।[13] वह रस की अलंकारता के विरोधी-मत का प्रत्याख्यान करते हुए दंडी-प्रोक्त रसवत् का लक्षण प्रस्तुत करते हैं।[14] भोज की निम्न उक्ति यह स्पष्ट करती है कि प्राचीन आलंकारिक रस को ही रसवत् मानते हैं :

> **रसवद्रसपेशलमित्यनेन विभावानुभावव्यभिचारिसात्विकसंयोगाद्रस-निष्पत्तिरितिरत्यादिरुपेणानेकधाविर्भवतोऽभिवर्धमानस्य परप्रकर्षगामिनः शृंगारस्य मध्या (मध्यमा) वस्था सूचयति**। स.कं., पृ. 705

स्पष्ट है कि अलंकारवादी भामह आदि की दृष्टि में रस ही रसवत् अलंकार है। काव्यात्मा का अनुसंधान हो जाने के बाद इस सिद्धान्त में पूर्ण परिवर्तन आ गया। रस को काव्य की आत्मा मानकर अलंकार्य कहा गया, अलंकारों को उसका उपस्मारक धर्म। ध्वनिकार ने रस और रसवत् अलंकार का भेद बताते हुए कहा कि रसादि जहां प्रधान रूप में हों वहां तो वे अलंकार्य होते हैं, पर जब वे किसी दूसरे के अंग बन जाते हैं और वाक्यार्थ प्रधान हो जाता है, तो रसवत् आदि अलंकार होते हैं।[15] ध्वनिकार के बाद रसवदादि के विषय में प्रायः यही विचार समग्र आलंकारिकवर्ग व्यक्त करता है। मम्मट ने इसी बात को इन शब्दों में प्रकट किया है : प्रधानतया यत्रस्थितो रसादिस्तत्रालंकार्यः। अन्यत्र तु प्रधाने वाक्यार्थे यत्रांगभूतो रसादिस्तत्र गुणीभूतव्यंग्ये रसवत्प्रेयऊर्जस्विसमाहितादयोऽलंकाराः (का.प्र. 4/26 की वृत्ति)। ध्यातव्य है कि मम्मट से पूर्व भावोदय, भावशान्ति और भावशबलता को अलंकार नहीं माना गया था। मम्मट ने कहा है कदाचित् इन्हें भी कोई अलंकार मान ले, अतएव इनका विवेचन किया गया, अन्यथा ये अलंकार नहीं हैं।[16] ध्वनिकार और मम्मट के बाद सर्वप्रथम रुय्यक आते हैं, जो रसवदादि को अलंकार मानते हैं। चित्तवृत्त्याश्रय होने के कारण वह, रसवत्, प्रेय, ऊर्जस्वि और समाहित चारों का एकसूत्र में ही विवेचन कर देते हैं।[17] उनका कथन है कि जिस दर्शन (भामह आदि के मत) में प्रधानभूत रसादि रसवदादि कहे जाते हैं, वहां रसादि के अंगभूत होने पर द्वितीय उदात्त अलंकार होता है और जिस दर्शन में (ध्वनिवादी के मत में) रसादि रसभाव आदि के अंग होकर रसवदादि बनते हैं, वहां वाक्यार्थभूत

रसादि के रसादिध्वनि में समाहित होने से उदात्त अलंकार के लिये स्थान नहीं रह जाता, क्योंकि वह रसवदादि में समाहित हो जाता है। संजीवनीकार ने इस पर प्रभूत प्रकाश डाला है।[18] शोभाकर भी एक सूत्र में ही तीन अलंकारों को निबद्ध कर देते हैं।[19] रसों के रसादि का अंग होने पर वह भी रसवत् अलंकार मानते हैं, रसानां रसादीन् प्रतिअंगत्वे रसवदलंकारः। अ.र., पृ. 189

नरेन्द्रप्रभसूरि इसका रुय्यक के समान विवेचन करते हैं।[20] हेमचन्द्र इसे अलंकार न मानकर गुणीभूतव्यंग्य का प्रभेद मानते हैं।[21] उभय वाग्भट उल्लेख नहीं करते। जयदेव रसवत् आदि सात अलंकारों का उल्लेख मात्र करते हैं।[22] विद्याधर, विद्यानाथ, नरसिंह, आदि रसवदादि का विवेचन नहीं करते। वस्तुतः रसवत् का विवेचन रुय्यक के बाद बहुत ही कम लोगों ने किया। जिन्होंने इसका उल्लेख या विवेचन किया है, उनमें प्रधान रूप से शोभाकर, नरेन्द्रप्रभसूरि, जयदेव, विश्वनाथ, अप्पयदीक्षित तथा देवशंकर को लिया जा सकता है, जो रसवत् का स्वरूप आनन्दवर्धन के अनुसार करते हैं।[23]

इस प्रकार काल-क्रम के अनुसार रसवत् का दो स्वरूप समुपलब्ध है: (1) भामह आदि के अनुसार रस ही रसवत् है, (2) ध्वनिवादी के अनुसार रस, भाव, आदि का अंगभूत रस रसवत् कहा जाता है:

क्रन्दं क्रन्दं करुणकरुणं क्रन्दति स्रस्तकेशो।
लावं लावं रणितवलयं हारवल्ली लुनाति।
श्वासं श्वासं श्वसिति विततं ताडयत्यंगमंगं।
पातं पातं पतति नृपते सुष्ठु कान्ताजनस्ते।। अ.र., पृ. 191

यहां नृपति विषयक रति भाव का करुण अंग है। अतएव रसवत् अलंकार है।

प्रेय

प्रीणाति इति प्रियः, अतिशयेन प्रियः प्रेयान्। तर्पण अर्थ में पठित प्रीञ् धातु से क प्रत्यय (इगुपधज्ञाप्रीकिरः क, पा. 3/1/135) होने पर निष्पन्न प्रिय शब्द से ईयसुन् प्रत्यय तथा प्रिय को प्र आदेश (प्रियस्थिरोरु, पा. 6/4/157) गुण आदि होकर प्रेयान् (प्रेय) शब्द निष्पन्न होता है। प्रिय का अर्थ है प्रसन्न करनेवाला। दो वस्तुओं में अन्यतर के अतिशय प्रिय होने को प्रेयान् कहा जाता है। रस और भाव में भाव के प्रियतर होने पर अलंकार होता है। अतएव इसका प्रेय (प्रेयान्) अभिधान अन्वर्थक है।[24] प्रियतर निबन्धन होने से रुय्यक तथा प्रकृष्ट प्रिय होने से विश्वनाथ इसकी अन्वर्थकता स्वीकार करते हैं।[25]

भामह लक्षण न करके मात्र उदाहरण प्रस्तुत करते हैं।[26] प्रियतर अर्थ के प्रतिपादन को दंडी प्रेय अलंकार मानते हैं।[27] उद्‌भट के अनुसार रत्यादि भाव तथा अनुभाव आदि से सूचित निर्वेद आदि भाव-निबन्धित काव्य प्रेयस्वत् (प्रेयान्) अलंकार कहा जाता है।[28] इन्दुराज भाव शब्द से, स्थायी, सात्त्विक तथा व्यभिचारी पचास भावों का ग्रहण करते हैं। यहां भावकाव्य ही प्रेय कहा जाता है, भाव अलंकार हैं और काव्य अलंकार्य।[29] कुन्तक इसे भी अलंकार्य मानते हैं।[30] भोज भी भामह दंडी के अनुयायी हैं : 'प्रेयः प्रियतराख्यानमित्यनेन च समस्तभावमूर्धाभिषिक्तायाः रतेः परप्रकर्षाधिगमाद्‌भावनापथातिक्रमे भावरूपतामुल्लंघ्यप्रेमरूपेण परिणताया उपादानाद् भावान्तराणामपि परप्रकर्षाधिगमे रसरूपेण परिणतिः।[31] देवादि विषयक रति विभाव, अनुभाव, आदि से व्यंजित निर्वेद आदि तैंतीस व्यभिचारी भाव तथा अपरिपुष्ट स्थायीभाव का प्राधान्य होने पर भावध्वनि होती है।[32] ध्वनिवादियों के अनुसार यह भाव जहां किसी अन्य भाव आदि का अंग होता है, वहां प्रेय अलंकार होता है। इस मत की स्थापना का भी श्रेय ध्वनिकार को है, जिसका अनुगमन मम्मट भी करते हैं। इसी मत का अनुसरण करते हुए मम्मटोत्तर कालीन आलंकारिक, रुय्यक, शोभाकर, जयदेव, विश्वनाथ, अप्पय, आदि भाव के अन्य का अंग होने पर प्रेय अलंकार मानते हैं।[33]

इस प्रकार प्रेय के विषय में भी दो विचारधारायें काव्यक्षेत्र में अवतीर्ण हुई हैं। अभिनव के शब्दों में भामह के अनुसार गुरु, देव, नृपति, पुत्र, आदि विषयक प्रीतिवर्णन प्रेय अलंकार है। उद्‌भट के मत में भाव अलंकार ही प्रेय है क्योंकि प्रेम से भाव उपलक्षित होते हैं।[34] तात्पर्य यह कि प्राचीनों के मत में भाव ही प्रेय है और ध्वनिवादियों के मत में भाव जहां अन्य का अंग होता है, वहां प्रेय अलंकार होता है।

गाढालिंगनवामनीकृतकुचप्रोद्भिन्नरोमोद्‌गोमा।
सान्द्रस्नेहरसातिरेकविगलच्छीमन्नितम्बाम्बरा।।
मा मानदमातिमामलमिति क्षामाक्षरोल्लापिनी।
सुप्ता नुकिंनु मृतनु किं मनसि मे लीना विलीना नु किम्।।

अ.स., पृ. 216

यहां व्यंजित नायिका का हर्ष नामक संचारीभाव श्रृंगार रस का अंग है। अतएव प्रकृत में प्रेय अलंकार है। ध्यान देने योग्य है कि प्रेय को ही भाव अलंकार भी कहते हैं। अतएव रुद्रट का भाव अलंकार इसी कोटि में आता है।[35]

ऊर्जस्वि

बलार्थक ऊर्ज धातु से भाव अर्थ में घञ् प्रत्यय (पा. 3/3/18) करने पर ऊर्ज शब्द निष्पन्न होता है, उससे मतुबर्थ में (ज्योत्स्ना तमिस्रा' इत्यादि, पा. 5/2/114) निपातनात् विन् (विनी) प्रत्यय होने पर ऊर्जस्वि शब्द की निष्पत्ति होती है। ऊर्ज का अर्थ है, बल या शक्ति। ऊर्ज या बल जिसमें विद्यमान हो उसे ऊर्जस्वि कहते हैं—ऊर्जो बलम् विद्यते यत्र तत् ऊर्जस्वि।[36] रस और भाव का अनुचित निबन्धन[37] रसाभास तथा भावाभास कहा जाता है। वे जब किसी अन्य रसादि का अंग बन जाते हैं, तो ऊर्जस्वि अलंकार होता है। रस की अनुचित रूप से प्रवृत्ति उसमें दुर्बलता लाती है, पर उसका निबन्धन होने से बलयोग हो जाता है। अतएव यह अन्वर्थक है।

भामह ऊर्जस्वि का भी उदाहरण मात्र प्रस्तुत करते हैं।[38] दंडी के अनुसार आरुढ अहंकार ऊर्जस्वि है।[39] उद्भट का कथन है कि काम, क्रोध, आदि कारणों से अनौचित्यप्रवृत्त रस और भाव निबन्धित काव्य (बन्ध) ऊर्जस्वि कहा जाता है।[40] इन्दुराज ने उद्भट के मत को इन शब्दों में उपस्थित किया है :

> **यत्र शास्त्रसंविदविरुद्धेन रूपेण तेषां (रसभावानां) उपनिबन्धस्तत्र प्रेयोऽलंकारो रसवदलंकारश्चाभिहितः। यत्र तु तद्विरुद्धत्वं तन्मूललोक-व्यवहारविरुद्धत्वं च तद्विषयाणां रसभावानामुपनिबन्धे सत्यूर्जस्विकाव्यं भवति। तत्र हि रागद्वेषमोहकारणका अनौचित्येन रसभावा उपनिबध्यन्ते। अतएव तत्र स्वकल्पना परिकल्पितत्त्वेन ऊर्जसो बलस्य विद्यामानत्वात् ऊर्जस्वि व्यपदेशः।**[41] (ल.वृ., पृ. 651)

स्पष्ट है, कि प्राचीनों की दृष्टि में रसाभास और भावाभास ही ऊर्जस्वि माना गया है। कुन्तक इसकी भी अलंकारता नहीं मानते।[42] भोजराज दंडी के लक्षण की इन शब्दों में व्याख्या करते हैं :

> **'ऊर्जस्वि रूढाहंकारमित्यनेनात्मविशेषनिष्ठस्योत्कृष्टादृष्टजन्मनोऽनेक-जन्मानुभवसंस्कारासादितद्रढिम्नः समग्रात्मगुणसंपदुदयातिशयहेतोर-लंकारविशेषस्योपसंग्रहादलंकारभिमानशृंगाराद्यपरनाम्नो रसस्य मानमयविकाररूपेणाभिमानिनां मनसि जाग्रतः पूर्वां कोटिमुपवर्णयति। .... ऊर्जस्विरसवतोरलंकारविवक्षायामतिशायने भूम्नि वा मत्वर्थीयः।**
>
> शृं.प्र., पृ. 436-37

ध्वनिकार के बाद आलंकारिक ऊर्जस्वि को भी उपर्युक्त से भिन्न रूप में देखते

हैं। रसाभास और भावाभास जहां किसी अन्य रस भावादि के अंग रूप में निबद्ध होते हैं, वहां ऊर्जस्वि अलंकार होता है। ऊर्जस्वि का यह स्वरूप रुय्यक, शोभाकर, नरेन्द्रप्रभ, विद्यानाथ, जयदेव, विश्वनाथ, आदि सभी परवर्ती विद्वान् स्वीकार करते हैं।[43] स्पष्ट है कि रसवत् आदि की भांति ऊर्जस्वि के विषय में भी आलंकारिकों में दो विचारधाराएं हैं। प्राचीन आचार्य रसाभास और भावाभास ध्वनि को ही ऊर्जस्वि मानते हैं, जबकि, ध्वनिवादी रसाभास और भावाभास के किसी का अंग होने से गुणीभूत हो जाने पर। यहां वाक्यार्थ ही प्रधान होता है और रसाभास, भावाभास अप्रधान उसके उपस्कारक।

वनेऽखिलकलासक्ताः परिहृत्य निजस्त्रियः।
त्वद्वैरिवनितावृन्दे पुलिन्दाः कुर्वते रतिम्।। सा.द., पृ. 577

परस्त्री में पुलिन्दों की रति होने से यहां शृंगार रस का अनुचित निबन्धन होने के कारण शृंगाराभास है, वह राज विषयक रति भाव का अंग है। अतएव यहां ऊर्जस्वि अलंकार है। इसी प्रकार भावाभास के अन्य का अंगभूत होने पर भी ऊर्जस्वि अलंकार होता है।

समाहित

समाधीयन्ते व्यज्यमानाः भावाः यत्र तत् समाहितम्। सम् आ उपसर्गपूर्वक धारण-पोषण अर्थ में पठित धा (डुधाञ्) धातु से कर्मार्थ में क्त प्रत्यय तथा ध हो हि आदेश (दधातेर्हि, पा. 7/4/42) होने पर समाहित शब्द बनता है। समाहित का अर्थ है, परिहार। वह प्रशम का अपर पर्याय है। जहां व्यज्यमान कोई भाव (व्यभिचारी), अभिव्यंजित किसी विरुद्ध भाव के कारण प्रशमित हो जाता है वहां भावशांति ध्वनि होती है। वह जहां किसी का अंग होती है, भाव का प्रशम या परिहार होने के कारण उसे समाहित अलंकार कहा जाता है। अतः इसका अभिधान अन्वर्थक है।[44]

भामह आदि प्राचीन आलंकारिक ऊर्जस्वि के बाद पर्यायोक्त, ततः समाहित का विवेचन करते हैं। क्योंकि वे ध्वनि का अनुभव पर्यायोक्त से भी करते थे, इसलिये समाहित के पूर्व वह इसको उपस्थित करते हैं। भामह का उदाहरण तो समाहित के स्वरूप को प्रकट नहीं करता, प्रत्युत उससे कारणान्तर के योग से कार्य की सुकरता रूप समाधि अलंकार का ही बोध होता है।[45] दंडी का समाहित मम्मट आदि की समाधि को व्यक्त करने में समर्थ है :

किंचिदारभमाणस्य कार्यं दैववशात्पुनः।
तत्साधनसमापत्तिर्या तदाहुः समाहितम्।। काव्यादर्श, 2/296

यही नहीं दंडी का उदाहरण 'मानमस्या निराकर्तुं' इत्यादि को भी मम्मट आदि उद्धृत करते हैं। उद्भट भामह और दंडी से भिन्न विचार रखते हैं। उनके अनुसार अन्य भावादि के अनुभव से शून्य, रस, भाव, रसाभास और भावाभास का निबन्धन समाहित अलंकार है।[46] इन्दुराज ने उद्भट की व्याख्या में स्पष्ट करते हुए कहा है कि रसभावादि का समाधान या परिहार समाहित अलंकार है। अन्य रसादि के अनुभाव से यह पूर्णतः शून्य होता है। पूर्व रसादि की वासना के उपशमित हो जाने पर अन्य रसादि का स्वरूप आविर्भूत नहीं होता और यदि होता भी है तो किसी कार्यवश तिरोभूत हो जाता है, अतएव इसे समाहित कहते हैं।[47] कुन्तक इसे भी अलंकार्य मानते हैं।[48] वामन, रुद्रट तथा भोज की समाहित प्रकृत से भिन्न है, जिसका विवेचन समाधि-प्रकरण में किया जा चुका है।

भावशान्ति जहां अन्य का अंग होती है, ध्वनिवादी वहां समाहित अलंकार मानता है। मम्मट ने यद्यपि संकेत मात्र किया है, पर रुय्यक इसका विवेचन भी प्रस्तुत करते हैं।[49] शोभाकर समाहित आदि को अलंकार मानने के पक्ष में नहीं हैं। उनका अभिमत है कि गर्भदास की भांति निर्वेद आदि व्यभिचारी भावों की प्रधानता असंभव है। ऐसी स्थिति में भावोदय आदि को अलंकार मानने पर तो इन ध्वनिभेदों का अभाव हो जायेगा। इसलिये व्यभिचारी भाव की अपेक्षा से प्रेय, ऊर्जस्वि, समाहित, भावोदय, भावसन्धि तथा भावशबलता को पृथक् अलंकार नहीं माना जा सकता। वह मम्मट आदि के इस मत के भी आलोचक हैं, राजानुगत विवाह प्रवृत्त भृत्य की भांति कभी-कभी ये भाव प्रधान बन जाते हैं।[50] जयरथ शोभाकर के उपर्युक्त मतों का सतर्क खंडन करते हैं।[51] विद्यानाथ का निम्नकथन रसवत् आदि चार अलंकारों के स्वरूप को स्पष्ट करता है :

'तत्र रसादेरप्राधान्ये रसवदाद्यलंकारा भवन्ति। अन्यांगत्वेन रसनिबन्धने रसवदलंकारः। भावनिबन्धने प्रेयोऽलंकारः। रसाभासभावाभासनिबन्धने ऊर्जस्विदलंकारः। भावशान्तिनिबन्धने समाहित्यलंकारः। तथा भावोदयादयोऽपि। एतदलंकारसर्वस्वे प्रपंचेनोक्तम्।[52]

विश्वनाथ, अप्पयदीक्षित, देवशंकर, आदि भी समाहित का विवेचन करते हैं।

विवेचन से स्पष्ट है कि भामह, दंडी का समाहित समाधिअलंकार है। उद्भट का समाहित भावशान्ति ध्वनि है तथा ध्वनिवादी आलंकारिक की दृष्टि में अन्य

रसादि का अंगभूत भावशान्ति समाहित अलंकार है।[53]

'अक्ष्णोः स्फुटाश्रुकलुषोऽरुणिमाविलीनः।
शान्तं च सार्धमधरस्फुरणं भ्रकुट्या।
भावान्तरस्य तव चण्डि गतोऽपि रोषो
नोद्गाढवासनतया प्रसरं ददाति।।' —अ.स., पृ. 217

'कोप में अश्रुकलुषित आंखों की लालिमा विलीन हो गयी हैं, भौंह के तनाव के साथ होठों का स्फुरण शान्त हो गया है, यद्यपि तुम्हारा क्रोध समाप्त हो गया है, तथापि वह गंभीर संस्कार के कारण दूसरे भावों को बढ़ने का अवसर प्रदान नहीं करता।'

यहां क्रोध रूप भाव की शांति का वर्णन है, उसके कान्ताविषयक रति का अंग होने से समाहित अलंकार है।

भावोदय

भावों की उद्गमावस्था या उत्पत्स्यमान भाव को भावोदय कहा जाता है। वह जब किसी का अंग होता है, तो गुणीभूत होने के कारण उसे अलंकार कहते हैं। यहां भाव से केवल व्यभिचारी भावों का ग्रहण होता है। इसका भी विवेचन रुय्यक, नरेन्द्रप्रभसूरि, विद्यानाथ, विश्वनाथ, अप्पय, देवशंकर, ब्रह्मतन्त्र स्वामी करते हैं।[54] मम्मट से पूर्व इन्हें अलंकार नहीं माना गया था। मम्मट संभावनावश इसकी अवतारणा करते हैं कि शायद कोई इन्हें भी अलंकार मान ले :

'यद्यपि भावोदय भावसंधि भावशबलत्वानि नालंकारतयोक्तानि तथापि कश्चिद् ब्रूयादित्येवमुक्तम्।' —का.प्र., पृ. 201

इसलिये रुय्यक का यह कथन कि उद्भट आदि के द्वारा पृथक् प्रतिपादन किये जाने के कारण प्रकृत में भी इन्हें पृथक् माना गया है,[55] अयुक्त है। उद्भट काव्यालंकार में भावोदय आदि का उल्लेख नहीं करते।

'तदद्य विश्रम्य दयालुरेधि मे दिनं निनीषामि भवद्विलोकिनी।
अदर्शि पादेन विलिख्य पत्रिणा तवैव रूपेण समः स मत्प्रियः।।

—नै. 9. 66

यहां नल के प्रति दमयन्ती के औत्सुक्य भाव का उदय वर्णित है, वह श्रृंगार का अंग है, अतएव भावोदय अलंकार है।

भावसन्धि

एककाल में ही समकक्ष दो भावों का आस्वाद भावसन्धि कही जाती है, अंगरूप में उसका निबन्धन अलंकार माना जाता है। इसकी भी अलंकारता के पोषक रुय्यक, नरेन्द्रप्रभ, जयदेव, विद्यानाथ, विश्वनाथ, अप्पय, देवशंकर, ब्रह्मतन्त्र, आदि हैं।[56]

'दीर्घकाल विरहव्यथाकुलां जानकीं रणधुरं च चिन्तयन्।
स्विन्नकण्टकितगल्लभासुरो जानकीपतिरसौ पुनातु वः।। अ.मं., पृ. 23

यहां जानकी विषयक राम की रति तथा रणविषयक औत्सुक्य भाव का युगपत् निबन्धन होने से भावसन्धि है, वह राम विषयक रति का अंग है, अतएव भावसंधि अलंकार है।

भावशबलता

पूर्व-पूर्व भावों का उपमर्दन करते हुए अनेक भावों का एकत्र निबन्धन भवशबलता ध्वनि है, उसके किसी का अंग होने पर अलंकार होता है। इसके भी समर्थक रुय्यक आदि हैं।[57]

पश्येत्कश्चिच्चल चपल रे का त्वराहं कुमारी।
हस्तालम्बं वितर हहहा व्युत्क्रमः क्वासि यासि।।
इत्यं पृथ्वीपरिवृढ भवद्विद्विषोऽरण्यवृत्तेः।
कन्या कश्चित्फलकिसलयान्याददानाभिधत्ते।। सा.द., पृ. 578

यहां 'कोई देख लेगा' से शंका, 'चंचल हटो' से असूया, 'जल्दबाजी की क्या आवश्यकता' से धृति, 'मैं कुमारी हूं' से स्मृति, 'हाथ का आलम्बन दो' से श्रम, 'आह कष्ट कर है' से दैन्य, 'बड़ा विपरीत है' से विवोध, 'कहां हो? जा रहे हो?' से औत्सुक्य व्यंजित हो रहा है। अनेक भावों का निबन्धन होने से भावशबलता ध्वनि है, वह राजविषयक रतिभाव का अंग है, अतएव अलंकार है।

रस, भाव, रसाभास-भावाभास, भावशांति, भावोदय, भावसन्धि और भावशबलता को ध्वनिवादी प्रधान व्यंग्य की दशा में ध्वनि मानता है। ये जब किसी के अंग, गुणीभूत या अप्रधान होते हैं तो क्रमशः, रसवत्, प्रेय, ऊर्जस्वि, समाहित, भावोदय, भावसन्धि और भावशबलता अलंकार माने जाते हैं। ध्वनिपूर्व तक रस, भाव, रसाभास, भावाभास तथा भावशांति को ही रसवत् प्रेय, ऊर्जस्वि तथा समाहित

माना जाता था, यह उद्भट के लक्षण से स्पष्ट है। भावोदय आदि को प्राचीन आचार्य अलंकार नहीं मानते थे, अन्यथा मम्मट को यह कहने की आवश्यकता न पड़ती कि इनका विवेचन किसी ने नहीं किया है।[58] रस में चित्तवृत्ति ही प्रधान है। अतएव इन्हें चित्तवृत्तिमूलक माना गया है :

तदेते चित्तवृत्तिगतत्त्वेनालंकाराः प्रतिपादिताः। अ.स., पृ. 219

संदर्भ

1. व्यंजितो रत्यादिः सामाजिकचित्तवृत्तिविशेषः श्रृंगारादिको रसः। संजी., पृ. 213.
2. चित्तवृत्तिविशेषस्वभावत्वाच्चरसादीनामिह तद्वदलंकाराणां च प्रस्तावः। अ.स., पृ. 213.
3. श्रृंगारादि रसाविर्भावो दर्श्यत (यत्र) तत्काव्यं रसवत्। रसाः खलु तस्य अलंकाराः। ल.वृ., पृ. 50.
4. विवृत्ति, पृ. 34.
5. अ.स., पृ. 214.
6. त. रसेन वर्तते तुल्यम्। व.जी., पृ. 175. भोजराज दोनों प्रकार—मतुबर्थवत्यर्थ—से इसकी निष्पत्ति मानते हैं। परवत्यर्थ पर उनका भी विशेष आग्रह है। दे., श्रृं.प्र., पृ. 437.
7. रसवद्दर्शितस्पष्टश्रृंगारादि रसं यथा। भामह, 3/6.
8. रसवद्रसपेशलम्। काव्यादर्श, 2/273.
9. रसवद्दर्शितस्पष्टश्रृंगारादिरसोद्भवम्।
   स्वशब्दस्थायि संचारि विभावाभिनयास्पदम्।। का.सा.सं., 4/4 तथा 5.
10. तेषां (रसानां) आस्पदं यत्काव्यं बध्यते, तत्काव्यबन्धनं रसवत्। विवृत्ति, पृ. 34; तु. ल.वृ., पृ. 50.
11. दे., व.जी., पृ. 156-66.
12. नानालंकारसंसृष्टेः प्रकारश्च रसोक्तयः। स.कं. 5/11.
13. नानालंकारग्रहणं गुणरसानामुपसंग्रहार्थम्। तेषामपि हि काव्यशोभाकरत्वेनालंकारत्वात्। स.कं. 703; तु. प्र., पृ. 435.
14. अयुक्तं तु रसादीनामलंकारतेति तेषां गुणानामिवालंकारव्यपदेशाभावात्। नायुक्तं युक्तोत्कर्षाणां ऊर्जस्विरसवत्प्रेयसामलंकारेषूपदेशात्। श्रृं.प्र., पृ. 435-36; तु. स.कं., पृ. 704.
15. प्रधानेऽन्यत्र वाक्यार्थे यत्रांगं तु रसादयः।
    काव्ये तस्मिन्नलंकारो रसादिरिति मे मतिः।। ध्व. 2/5.
16. यद्यपि भावोदयभावसन्धिभावशबलत्वानि नालंकारतया उक्तानि, तथापि कश्चिद्ब्रूयादित्येवमुक्तम्। का.प्र., पृ. 201.

17. रसभावतदाभास तत्प्रशमानां निबन्धे रसवत्प्रेय ऊर्जस्विसमाहितानि। अ.स. सूत्र 80.
18. दे., अ.स., पृ. 215 तथा वही, संजीवनी।
19. रसभाव तदाभासानां रसाद्यंगत्वे रसवत्प्रेयऊर्जस्वीनि। अ.र., सूत्र-109.
20. दे., अ.म. 8/85-86.
21. रसवत्प्रेयऊर्जस्विभावसमाहितानि गुणीभूतव्यंग्यप्रकारा एव। काव्यानु., पृ. 404.
22. दे., चन्द्रा. 5/117-18.
23. दे., सा.द., 10/95-96, चित्तवृत्तिविशेषोरसः, स यत्रापरस्यांगं भवति, तत्र रसवदलंकारः। कु., पृ. 183; दे. अ.मं., पृ. 227-28; अ. मणि. भाग-4, पृ. 1-6.
24. कुछ लोग प्रेयस्वत् भी कहते हैं। प्रेयस्वत् में मत्वर्थ में मतुप् प्रत्यय होगा।
25. प्रियतरं प्रेयो निबन्धनमेव द्रष्टव्यम्। अ.स. तथा सं., पृ. 214; प्रकृष्टप्रियत्वात्प्रेयः, सा.द., पृ. 576.
26. प्रेयो गृहागतं कृष्णमवादीत् विदुरो यथा।
अद्य या मम गोविन्द जाता त्वयि गृहागते।।
कालेनैषा भवेत् प्रतीतिस्तवैवागमनात् पुनः।। भामह, 3/5.
27. प्रेयः प्रियतराख्यानम्। काव्यादर्श, 2/273.
28. रत्यादिकानां भावानामनुभावादिसूचने।
यत्काव्यं बध्यते सद्भिस्तत्प्रेयस्वदुदाहृतम्।। का.सा.सं. 4/2.
29. प्रेयः शब्दवाच्येन प्रियतरेण रत्यालम्बनेन विभावनेन रतिरूपलक्ष्यते। तथा च साहचर्याद्रत्यादयो भावाः पंचाशदवगम्यन्ते। एवं च भावकाव्यस्य प्रेयस्वदिति लक्षणया व्यपदेशः। अत्र च भावानामलंकारता, काव्यमलंकार्यम्। ल.वृ., पृ. 48.
30. दे., व.जी., पृ. 167-69.
31. वही, शृं.प्र., पृ. 436.
32. रतिर्देवादिविषया व्यभिचारी तथांजितः। भावः प्रोक्तः। का.प्र., 10/35-36.
33. एवं निर्वेदादीनां रसव्यक्तौ सहकारित्वम्, अंगित्वेध्वनित्वम्, अंगत्वे चालंकारत्वमितिविषयविभागः। वि.प्र., 188; अ.स. तथा सं., पृ. 214. भावस्य देवविषयस्य रत्यादेस्स्थायिनः प्राधान्ये रसाद्यंगत्वे तु प्रेयोलंकारः। अ.र., पृ. 189; सा.द. वही, विभावानुभावाभ्याममभिव्यंजितो निर्वेदादयस्त्रयस्त्रिंशद्भेदो देवतागुरुशिष्य द्विजपुत्रादावभिव्यंज्यमानारतिश्च भावः। स यत्रापरस्यांगं तत्र प्रयोलंकारः। कु. पृ. 183; तु. अ.मं., पृ. 228; अ.मं. 8/85, 86; अ. मणि. भाग-4, पृ. 6.
34. भामहेन हि गुरुदेवनृपतिपुत्रविषयप्रीतिवर्णनं प्रेयोलंकार इत्युक्तम्।.........उद्भटमते हि भावालंकारः एव प्रेय इत्युक्तः। लो., पृ. 202-3.
35. एष एव च भावालंकारः। अ.स., पृ. 217; प्रेयान् भावालंकारश्चेति पर्यायौ। वही, सं., कु., पृ. 184; अ.म.अ. 4, पृ. 6.
36. अ.स., पृ. 214; तु. ऊर्जोबलम्, अनौचित्यप्रवृत्तौ तदत्रास्तीति ऊर्जस्वि। सा.द., पृ. 577.

37. अनौचित्यप्रवृत्तत्वे आभास रसभावयोः। सा.द. 3/262 तथा वही, 263-67. तु. तदाभासात्वनौचित्यप्रवर्तिताः। का.प्र., 4/36.
38. ऊर्जस्वि कर्णेन यथा पार्थाय पुनरागतः।
द्विः सन्दधाति किंकर्णः शल्येत्यहिरपाकृतः।। काव्यालंकार, 3/7.
39. ऊर्जस्वि रूढाहंकारः। काव्याद., 2/273.
40. अनौचित्यप्रवृत्तानां कामक्रोधादिकारणात्।
भावानां च रसानां च बन्ध ऊर्जस्वि कथ्यते।। का.सा.सं., 4/9.
41. तु. विवृत्ति —ऊर्जसो बलस्य विद्यमानत्वाच्चोर्जस्विता। पृ. 35.
42. तदेवमयं प्रधानचेतनलक्षणोपकृतातिशयविशिष्टं चित्तवृत्तिविशेषवस्तुस्वभाव एव मुख्यतया वर्ण्यमानत्वादलंकार्यो न पुनरलंकारः। व.जी., पृ. 170-71.
43. अनौचित्यप्रवृत्तत्वे रत्यादेः रसाभास भावाभासयोः प्रधानत्वे ध्वनिः, अंगत्वेपुनरुर्जस्कालंकारः। अ.र., पृ. 189; तु. अ.स., पृ. 215; अ.म., पृ. 328-29; सा.द., पृ. 576-77, अनौचित्येन प्रवृत्तो रसो भावश्च रसाभासो भावाभासश्वेत्युच्यते, सयत्रापरस्यांगं तदूर्जस्वि। कु., पृ. 183; तु. अ.मं., पृ. 227; रसस्य परांगत्वे रसवदलंकारः। भावस्य परांगत्वे प्रेयो नामालंकारः। रसाभास भावाभासयोः परांगत्वे ऊर्जस्वि। अ.प्र. 106-8.
44. समाहितः परिहारः। स च प्रकृतत्त्वादुक्तभेदविषयः प्रशमापरपर्यायः। अ.स., पृ. 214; तु. वही सं., समाहितं परिहारः। सा.द., पृ. 577.
45. समाहितं राजमित्रे यथा क्षत्रिययोषिताम्।
रामप्रसक्त्यै यान्तीनां पुरोऽदृश्यत नारदः।। भामह, 3/8.
46. रसभावतदाभासवृत्तेः प्रशमबन्धनम्।
अन्यानुभावनिःशून्यं रूपं यत्तत्समाहितम्।। का.सा.सं., 4/14.
47. तत्र हि तेषां रसभावानां समाधानं समाधिः परिहारो भवति।
समाहितमिति भावेक्तः।.......... यत्र पूर्वेषां रसादीनां वासनाया दाढ्र्येन तेषूपशान्तेष्वपि रसाद्यन्तराणां न स्वरूपमाविर्भवति, आविर्भवदपि वा कार्यवशेन केनचित्तिरोधीयते, तत्र समाहितालंकारो भवति। ल.वृ., पृ. 52-53.
48. एवं समाहितस्याप्यलंकार्यत्वमेव न्याय्यम्, न पुनरलंकारभावः। व.जी., पृ. 172-3.
49. दे., अ.स., पृ. 214.
50. व्यभिचारिभूतस्य निर्वेदादेर्भावस्य गर्भदासवत् कदाचिदपि स्वप्राधान्याभावात् सर्वथा रसाद्यलंकारत्वेऽभिधीयमाने भावस्थित्युदयसन्धिशबलताप्रशमाख्यानां ध्वनिभेदानामभावः प्रसज्यते। तस्माद् व्यभिचारिभावापेक्षया प्रेयऊर्जस्विसमाहितभावोदयसन्धिशबलत्वानि न पृथगलंकाराणि। अ.र., पृ. 189-90.
51. दे., वि., पृ. 185-191.
52. प्र.रु., पृ. 208.
53. दे., सा.द., पृ. 576-77; भावस्य प्रशाम्यदवस्था भावशान्तिः। तस्यापरांगत्वे समाहितम्। कु., पृ. 183; तु. अ.मं., पृ. 227; अ. मणि. भाग-4, पृ. 9.

54. भावोदयभावसन्धिभावशबलताश्च पृथगलंकाराः। अ.स. सूत्र-83. भावस्यांकुरस्योदयः उद्गमावस्था। वही, वृत्ति।
भावस्य चोदये सन्धौ मिश्रत्वे च तदाख्यकाः। सा.द. 10/89.
भावस्योद्गमावस्था भावोदयः। कु., पृ. 183; तु. अ.मं, पृ. 228; अ. मणि. भाग-4, पृ. 9.

55. एते च पृथग्रसवदादिभ्यो भिन्नालंकाराः। एतत्प्रतिपादनं चोद्भटादिभिरेषां पृथगलंकारत्वेन निर्दिष्टत्वात्। —अ.स., पृ. 218.

56. सन्धिरेककालमेव तुल्यकक्षयोरास्वादः। प्र., पृ. 94; सन्धिर्द्वयोः विरुद्धयोः स्पर्धित्वेनोपनिबन्धः। अ.स., पृ. 218; द्वयोर्विरुद्धयोर्भावयोः परस्परस्पर्धाभावो भावसन्धिः। कु., पृ. 183; तु. अ.मं., पृ. 228; भावांगत्वे भावसन्धेर्भावसन्धिरलंकृतिः। अ.म. भाग-4, पृ. 10.

57. शबलता तु कालभेदेन निरन्तरया पूर्वपूर्वोपमर्दित्वम्। प्र., पृ. 94; शबलता च बहूनां पूर्वपूर्वोपमर्देनोपनिबन्धः। अ.स., वही। बहूनां भावनां पूर्वपूर्वोपमर्देनोत्पत्तिर्भावशबलता। एतेषां (भावोदयभावसिन्ध भावशबलतानां) इतरांगित्वे भावोदयाद्यास्त्रयोऽलंकाराः। कु., वही, दे., वही, अ.मं., भावांगत्वे भावशाबल्ये भावशाबल्यमुच्यते। अ. मणि. भाग-4, पृ. 11.

58. एते च गुणीभूता रसादयो रसवदाद्यलंकारव्यपदेशो भजन्ते। ननु गुणीभूतो रसो रसवत्, भावस्तु प्रेयः, रसभावाभासावूर्जस्वि, भावशांतिः समाहित, इत्यस्त्येव पूर्वेषामलंकारव्यवहारः, न पुनर्भावोदयादिषु। तत्कथमेतदुच्यत इति चेत्। यद्यन्यवचनं विना मद्वचसि नादरस्तर्हि कश्चित्प्रेक्षावानवश्यं ब्रूयात् ‘रसादिना तुल्य न्यायत्वात्, इति। —प्र., पृ. 138.

द्वादश अध्याय

मिश्र अलंकार

संसृष्टि-संकर

स्वर्ण, मणि, आदि से बने विभिन्न लौकिक अलंकारों की अपनी-अपनी पृथक् जगमगाहट होती है। कभी-कभी जब ये विभिन्न अलंकार एक साथ पहने जाते हैं, तो उनके संघटन में एक अलग ही शोभा की सृष्टि होती है। यह शोभा एकाकी धारण किये जाने वाले अलंकारों से निश्चय ही भिन्न और नवीन होती है। इसी प्रकार काव्यालंकार उपमा आदि की पृथक् अवस्थिति में सौन्दर्य का उभार तो होता ही है, पर उनके परस्पर सम्मेलन, संघटन या मिश्रण से एक पृथक् और नवीन सौन्दर्य की सृष्टि होती है। मिश्रण दो रीति से होता है, संयोग न्याय और समवाय न्याय से। मिश्रण होने पर भी जहां भेद की उत्कट प्रतीति होती है, वहां संयोग न्याय होता है और जहां भेद की अनुत्कट प्रतीति होती है वहां समवाय न्याय। मिश्र अलंकारों की उत्कट प्रतीति में तिलतण्डुल न्याय होता है, अनुत्कट प्रतीति में नीरक्षीर न्याय। प्रथम में संसृष्टि अलंकार माना जाता है, द्वितीय में संकर। जिस प्रकार तिल और तण्डुल मिला देने पर भी, उनका भेद स्पष्ट रूप से परिलक्षित किया जा सकता है, उसी प्रकार अनेक अलंकारों के संघटन में जहां उनकी पृथक् प्रतीति संभव हो, वहां संसृष्टि होती है और जिस प्रकार जलमिश्रित दूध में, कौन पानी है, कौन दूध यह स्पष्ट कर पाना कठिन होता है, वैसे ही जहां एकत्र अनेक अलंकार इस ढंग से निबद्ध हों कि उनका निर्णय कर पाना कठिन हो तो संकर अलंकार होता है।[1] अलंकारों के परस्पर संश्लेष या सम्मिश्रण पर आधृत होने के कारण इन्हें मिश्र अलंकार माना गया है।

सम् उपसर्गपूर्वक विसर्गार्थक सृज् धातु से भावस्त्रीत्व में क्तिन् प्रत्यय (स्त्रियां क्तिन्, पा. 3/3/94) होने पर संसृष्टि शब्द की निष्पत्ति होती है। संसृष्टि का अर्थ है, संश्लेष या संघटन। जैसा कि पहले कहा गया है, संसृष्टि में अनेक अलंकार इस प्रकार निबद्ध या संश्लिष्ट होते हैं कि उनकी पृथक् सत्ता का आसानी से प्रतिभान हो जाता है। अतएव अलंकार का संसृष्टि नाम अन्वर्थक है; संसृज्यन्ते पृथक्-पृथक् सत्तावत्वेन एकत्र निबध्यन्ते अलंकाराः यस्यां सा संसृष्टिः। सम् उपसर्गपूर्वक

विक्षेपार्थक कृ धातु से अप् प्रत्यय (ऋदोरय, पा. 3/3/57) करने पर संकर शब्द की निष्पत्ति होती है। अनेक पदार्थ एक-दूसरे में इस प्रकार परस्पर घुल-मिल जायें कि उनकी पृथक् प्रतीति न हो तो उसे संकर कहा जाता है। अनेक अलंकारों के संश्लेष रूप संकर में यही बात पायी जाती है। अतएव इसका संकर अभिधान अन्वर्थ है; संकीर्यन्ते परस्पराश्रयवत्वेन एकत्र निबध्यन्ते अलंकाराः यत्र स संकरः।

सर्वप्रथम भामह ने संसृष्टि का विवेचन प्रस्तुत किया है। उनके अनुसार अनेक अलंकारों के संयोग से निर्मित रत्नमाला की भांति (उपमा आदि अनेक अलंकारों के संश्लेष से निर्मित) संसृष्टि उत्तम भूषण है। इसके दो उदाहरण उपस्थित करते हुए वह कहते हैं कि इसी रीति से अन्य अलंकारों की भी संसृष्टि करनी चाहिये, सबका विवेचन अशक्य है।[2] भामह संकर का उल्लेख नहीं करते। वस्तुतः उस समय तक अलंकारों की उतनी बारीकियों में नहीं पैठा जा सका था। अतएव भामह की संसृष्टि दोनों (संसृष्टि और संकर) को अभिव्यक्त करती है। दंडी तक इसमें काफी परिवर्तन आ गया। यद्यपि संकर को संसृष्टि से पृथक् तो नहीं किया जा सका, पर उसकी भूमिका अवश्य तैयार कर दी गयी। दंडी का संसृष्टि-लक्षण तो भामह जैसा ही है, किन्तु उसके दो भेद—अंगांगिभाव (सापेक्षत्व) और समभाव (निरपेक्षत्व) की स्थापना दंडी की विशेषता है।[3] आगे चलकर दंडीकृत संसृष्टि का प्रथम भेद संकर और द्वितीय संसृष्टि के रूप में स्वीकृत हुआ। उद्भट ने संकर को संसृष्टि से न केवल पृथक् किया, बल्कि दोनों का लक्षण भी ऐसा बनाया, जो परवर्ती सभी आलंकारिकों को प्रायः मान्य हो सका। यहां से संसृष्टि संकर पृथक्-पृथक् अलंकार माने जाने लगे। अतएव संक्षेप में पहले संसृष्टि पर विचार कर लेना उपयुक्त होगा। उद्भट के अनुसार परस्पर निरपेक्ष दो या अनेक अलंकारों का एकत्र निबन्धन संसृष्टि अलंकार है।[4] संसृष्टि और संकर का भेद बतलाते हुए प्रतिहारेन्दुराज ने कहा है कि परस्पर निरपेक्ष दो या अनेक अलंकारों का शब्द अथवा अर्थगत निबन्धन संसृष्टि है तथा परस्पर सापेक्ष अनेक अलंकारों का शब्दार्थगत निबन्धन संकर। इन्दुराज के इस मत का अनुमोदन राजानकतिलक भी करते हैं।[5] इस प्रकार उद्भट के टीकाकारों की दृष्टि में संसृष्टि शब्द और अर्थगत होने से दो प्रकार की होती है। वामन का कथन है कि शुद्ध अलंकारों की भांति मिश्र अलंकारों का विवेचन भी शक्य है। वह अलंकार की अलंकारयोनिता को संसृष्टि मानते हैं। तात्पर्य यह है कि जहां पर एक अलंकार अन्य अलंकार का जनक (योनि) हो, वहां संसृष्टि होती है। संसृष्टि का अर्थ है, संसर्ग या सम्बन्ध, जिसके आधार पर गोपेन्द्र तिप्पभूपाल का अभिमत है कि कार्यकारणभावप्राप्त अलंकारों

का सम्बन्ध ही संसृष्टि है।[6] वामन संसृष्टि के दो भेद करते हैं : उपमारूपक और उत्प्रेक्षावयव।[7] उत्प्रेक्षा प्रकरण में बताया जा चुका है कि उत्प्रेक्षावयव उत्प्रेक्षा से व्यतिरिक्त नहीं है। वामन-प्रदत्त उत्प्रेक्षावयव के उदाहरण में रुय्यक आदि अंगांगिभाव संकर मानते हैं। रुद्रट मात्र संकर का विवेचन करते हैं। वह चारों (वास्तव, औपम्य, अतिशय तथा श्लेष) प्रकार के अलंकारों के आपस में संकीर्ण होने को संकर मानते हैं, उसके अगणित भेद हो सकते हैं।[8] पुनः वह इसके प्रकारान्तर से दो भेद करते हैं : अलंकारों की संकीर्णता तिलतण्डुल तथा दुग्धजल की भांति व्यक्त, अव्यक्त रूप से दो प्रकार की होती है।[9] रुय्यक की दृष्टि में प्रथम संसृष्टि का विषय है, द्वितीय संकर का। अतएव रुद्रट की संसृष्टि दोनों को व्यक्त करती है।

भोजराज इसे (संसृष्टि को) उभयालंकार तो मानते ही हैं, रस-प्रकरण में संसृष्टि पर भी प्रभूत प्रकाश डालते हैं। अनेक अलंकारों का संकर-संसृष्टि उभयालंकार है। उसके तीन भेद हैं : व्यक्तरूप, अव्यक्तरूप तथा व्यक्ताव्यक्तरूप। प्रथम में तिलतण्डुल तथा छाया-आदर्श की भांति, द्वितीय में दुग्ध जल तथा धूलिजल की भांति और तृतीय में नरसिंह तथा चित्रवर्ण की भांति विभिन्न अलंकारों का संकर पाया जाता है।[10] भोज के अनुसार रसोक्तियां विभिन्न अलंकारों की संसृष्टि हैं।[11] यहां रस और गुण को भी अलंकार माना जाता है, क्योंकि काव्यशोभाकर धर्म होने के कारण वे भी अलंकार हैं। इस प्रकार वह रसालंकार संकर को छह प्रकार का मानते हैं : गुणसंकर, अलंकारसंकर, गुणालंकारसंकर, रससंकर, रसगुणसंकर और रसालंकारसंकर। ध्यातव्य है कि भोज संकर-संसृष्टि में कोई भेद नहीं मानते। अलंकार संकर पहले तीन प्रकार का कहा जा चुका है। भोजराज उसे असाधारण मानकर पुनः प्रकारान्तर से साधारण संकर का भी विवेचन करते हैं। वह छः प्रकार का होता है : शब्दालंकारसंकर, अर्थालंकारसंकर, उभयालंकारसंकर, शब्दार्थालंकार-संकर, शब्दार्थोभयालंकारसंकर तथा अर्थोभयालंकारसंकर। क्योंकि वह गुण को भी अलंकार मानते हैं, अतएव गुणालंकारसंकर भी उनकी दृष्टि में छः प्रकार का होता है : शब्दगुणप्रधान, अर्थगुणप्रधान, दोषगुणप्रधान, शब्दालंकारप्रधान, अर्थालंकारप्रधान तथा उभयालंकारप्रधान। रससंकर को भी वह अलंकार संकर की भांति तिलतण्डुल आदि प्रकार से छः प्रकार का मानते हैं। तिलतण्डुल और छायादर्श की भांति गुणरस की समकक्षता में वह रसगुण संकर के भी छः भेद मानते हैं : गुणप्रधान, रसप्रधान, उभयप्रधान, उभयाप्रधान, गुणाधिक तथा रसाधिक। पुनः वह रसालंकारसंकर के प्रकारान्तर से दो भेद करते हैं : रसप्रधान और अलंकारप्रधान।

तत्पश्चात् वह दंडीकृत संसृष्टि के दो भेद अंगांगिभाव और समकक्षत्व—का विवेचन करते हैं।[12] गुण, अलंकार और रस तीनों को अलंकार मान लेने के कारण भोज को संसृष्टि (संकर) का इतना बड़ा प्रपंच खड़ा करना पड़ा है। कुन्तक का संसृष्टि-संकर विवेचन अस्पष्ट है।

उद्भट का अनुसरण करते हुए मम्मट ने संसृष्टि-संकर को दो पृथक् अलंकार मानकर दो लक्षण प्रस्तुत किये हैं। उनके अनुसार अलंकारों की परस्पर भेदपूर्वक (अनपेक्ष्य) स्थिति संसृष्टि अलंकार है।[13] 'भेद' शब्द की व्याख्या में प्रदीपकार का कथन है कि स्वरूप या विषय से वस्तुओं की परस्पर अनपेक्षा अथवा विषय भेद होने पर भी उनकी परस्पर अनपेक्षा को भेद कहते हैं।[14] इन्दुराज ने संसृष्टि को शब्द-अर्थ गत मानकर दो प्रकार का माना था। मम्मट शब्द, अर्थ के अतिरिक्त तीसरा भेद शब्दार्थोभयगत का भी मानते हैं। संसर्ग का नाम संसृष्टि है। शब्दालंकार और अर्थालंकार क्रमशः शब्द और अर्थ के आश्रित हैं। दो भिन्न वस्तुओं का संसर्ग असंभव है, फिर तो शब्दार्थोभय संसृष्टि कैसे हो सकती है? मम्मट ने इसका समाधान यह कहकर किया है कि यहां शब्दालंकार या अर्थालंकार का एक वाक्य या छन्द में समवेत रूप से सम्बन्ध होता है। अतएव कोई विरोध नहीं है।[15] रुय्यक का लक्षण और भेद-विवेचन मम्मट के समान है।[16] उनकी विशेषता है दोनों को मिश्र अलंकार बताकर पृथक् सिद्ध करना। पूर्वाचार्यों द्वारा प्रतिपादित संसृष्टि या संकर को वह व्यवस्थित रूप प्रदान करते हैं। उनका कथन है कि अलंकारों का संश्लेष द्विधा होता है, संयोग रूप और समवाय रूप। प्रथम, भेद की उत्कट प्रतीति में होता है तो द्वितीय अनुत्कट प्रतीति में। यह प्रतीति क्रमशः तिलतण्डुल तथा नीरक्षीर की भांति होती है। प्रथम संसृष्टि का विषय है तो द्वितीय संकर का।[17] संसृष्टि सजातीय और विजातीय दोनों प्रकार के अलंकारों की हो सकती है। समग्र अलंकारों के अभाव की आशंका तथा सौन्दर्याभाव के कारण शोभाकर संसृष्टि को पृथक् अलंकार मानने के लिये उद्यत नहीं हैं।[18] नरेन्द्रप्रभसूरि रुय्यक का अनुसरण करते हैं।[19] हेमचन्द्र तथा वाग्भट द्वितीय संसृष्टि को पृथक् अलंकार न मानकर संकर से गतार्थ करते हैं।[20] वाग्भट प्रथम के अनुसार संसर्ग ही संकर है। वह भेद और संसृष्टि की चर्चा नहीं करते।[21] जयदेव इनकी पृथक् सत्ता के विरोधी हैं।[22] विद्याधर, विद्यानाथ तथा नरसिंह कवि रुय्यक के अनुगामी हैं।[23] अप्पयदीक्षित कोई लक्षण नहीं करते। उनका कथन है कि जैसे अनेक लौकिक अलंकारों का एक में सम्मेलन चारुता का विधान करता है, वैसे ही अनेक काव्यालंकारों का नरसिंह न्यास से एकत्र मिश्रण चारुता की सृष्टि करता है। नरसिंह मानव और सिंह का समवेत स्वरूप

है, पर उनका पृथक् प्रतिभास भी होता रहता है। वैसे ही अनेक काव्यालंकारों का मिश्रण होने पर भी उनकी भेद-प्रतीति संभव है। तिलतण्डुल न्याय से स्पष्ट भेदप्रतीति होने पर संसृष्टि और नीरक्षीरन्याय से अस्पष्ट भेद-प्रतीति होने पर संकर होता है।[24] देवशंकर तो दीक्षित के अनुयायी हैं। रसगंगाधर अपूर्ण है, अतएव इस विषय पर जगन्नाथ का मत जानना कठिन है। विश्वनाथ और विश्वेश्वर मम्मट का अनुगमन करते हैं।[25] पर अन्य परवर्ती आलंकारिक रुय्यक के मत का सहारा लेते हैं।[26] स्पष्ट है कि उद्भट ने संसृष्टि संकर को पृथक् अवस्थापित किया। मम्मट ने उनका अनुगमन किया। भोज का संसृष्टि प्रपंच औरों से विलक्षण है। रुय्यक के बाद आलंकारिक प्रायः उन्हीं के मत का सहारा लेते हैं।

सर्वप्रथम उद्भट ने संकर का त्रिधा विवेचन किया है, संदेह, एक वाक्यानुप्रवेश तथा अनुग्राह्यानुग्राहक भाव। द्वितीय के उनके टीकाकार दो भेद करते हैं। इन्दुराज उन्हें शब्दार्थवर्ती तथा एकशब्दाभिधान कहते हैं तो राजानक तिलक एक पदाभिधान और अनेक पदाभिधान। इस प्रकार उद्भट की कारिकाओं से संकर के चार भेदों की उद्भावना होती है। अनेक अलंकारों के उल्लेख में उनकी युगपत् समानवृत्तिता असंभव होने के कारण किसी एक के ग्रहण में न्यायदोष का अभाव होने पर प्रथम (संदेह) संकर होता है।[27] उद्भट का लक्षण क्लिष्ट हो गया है। साधक प्रमाण को न्याय और बाधकप्रमाण को दोष कहा जाता है। अतएव संक्षेप में कहा जा सकता है कि अनेक अलंकारों के उल्लेख में साधक-बाधक प्रमाण का अभाव होने से जहां किसी का भी ग्रहण नहीं हो पाता वहां संदेह संकर होता है।[28] एकवाक्य अथवा वाक्यांश में शब्दार्थवर्ती अनेक अलंकार होने पर द्वितीय संकर होता है।[29] उद्भट के दोनों टीकाकार इसकी भिन्न-भिन्न व्याख्यायें करते हैं। इन्दुराज के अनुसार एकवाक्य में शब्दार्थवर्ती अनेक अलंकारों का संसर्ग होने पर द्वितीय तथा एकवाक्य या वाक्यैकदेश में अनेक अलंकारों का अनुप्रवेश होने पर तृतीय संकर होता है।[30] राजानकतिलक इन्दुराज की इस व्याख्या के विरोधी हैं। उनका कथन है कि वाक्य के भिन्न देश या एकदेश रूप में शब्दार्थगत अलंकार का सन्निवेश होने पर अनेक पदाभिधान तथा एकपदाभिधान संकर होता है।[31] संसर्ग प्राप्त अनेक अलंकारों की पृथक् स्वरूपप्रतीति न होने के कारण, जहां उनका परस्पर उपकार्य-उपकारक भाव से निबन्धन होता है, वहां चतुर्थ (अनुग्राह्यानुग्राहक) संकर होता है।[32] सन्देह संकर में अनेक अलंकारों का विकल्प किया जाता है। शब्दार्थवर्ती संकर में शब्द-अर्थ गत अनेक अलंकार विभिन्न आधारों में अवस्थित होते हैं, अतएव वहां व्यवस्था समाश्रय पाया जाता है। समुच्चय रीति से एक वाक्यांश में

अनेक अलंकार निबन्धन होने पर एकशब्दाभिधान संकर होता है। अनुग्राह्यानुग्राहक संकर में अनेक अलंकारों का अंगांगिभाव पाया जाता है। इस प्रकार संकर अनेक अलंकारगत विकल्प, व्यवस्था, समुच्चय और अंगांगिभावसमाश्रय रूप में चार प्रकार का होता है।[33]

मम्मट ने विवेचन-क्रम में परिवर्तन कर दिया है। वह अंगांगिभाव को प्रथम, संदेह को द्वितीय तथा एकपदानुप्रवेश को संकर का तृतीय भेद मानते हैं। प्रथम संकर का लक्षण उद्भट के समान है, विशेषता केवल यह है कि वह इसे शब्दालंकार के भी अंगांगिभाव में मानते हैं।[34] संदेह संकर की परिभाषा भी उद्भट से ली गयी है। न्यायदोषाभाव की व्याख्या इन्दुराज से गृहीत है।[35] मम्मट के तृतीय भेद की विशेषता यह है कि वह इसे एक ही पद में शब्द-अर्थ गत अलंकारों के निबन्धन में स्वीकार करते हैं,[36] जबकि राजानकतिलक के अनुसार यह अनेक पदाभिधान में भी हो सकता है। इस प्रकार मम्मट भी संकर के तीन प्रमुख भेद मानते हैं,[37] पर इसके आनन्त्य के आगे वह भी अपना सिर झुका लेते हैं—प्रकारान्तरेण च न शक्यते व्याकर्तुम्, आनन्त्यात्तत्प्रभेदानाम् (का.प्र., पृ. 766)। परस्पर अनुग्राह्य-अनुग्राहक भाव होने से अंगांगिभाव संकर में अलंकारों की परस्पर सापेक्षता स्पष्ट है। संदेह संकर में कोटिद्वय की समानप्रतिपत्ति के लिये वह आवश्यक ही है। तृतीय में अनुप्रविश्यमान पद की अपेक्षा से वह संभव ही है। अतएव अलंकारों का परस्पर सापेक्षभाव से एकत्र अवस्थान संकर अलंकार है।[38] रुय्यक यद्यपि मम्मट के अनुसार संकर के तीन भेद मानते है। तथापि उनका कुछ निजी वैशिष्ट्य भी है। वह शब्दालंकार को अंगांगिभाव संकर का विषय नहीं मानते, जो मम्मट को स्वीकार है। उनकी दृष्टि से ऐसे स्थल संसृष्टि अथवा एकवाचकानुप्रवेश संकर के हो सकते हैं।[40] एकवाचकानुप्रवेश संकर दो प्रकार का होता है, सजातीय और विजातीय। उद्भट-प्रोक्त शब्दार्थालंकार संकर को वह संसृष्टि का विषय मानते हैं।[41]

शोभाकर का कथन है कि उपमा आदि सभी अलंकार अंगी (प्रधान) रूप में निबद्ध किये जाते हैं। उनका अंगभाव होने पर अन्य अलंकार संकर होता है। प्रधानभूत अलंकारों में भी कभी-कभी अन्य अलंकारों का अंगभाव देखा जाता है, पर मात्र वैसा होने के कारण वहां उनका उस प्रकार निदर्शन दिया जाता है, न कि अलंकारत्व होने के कारण। ऐसी स्थिति में यद्यपि प्रधान अलंकार से व्यतिरिक्त विच्छित्ति का प्रतिभास होता है, तथापि यह प्रतीति छायासंकर या भंग्यन्तर अभिधान के कारण आमुख में ही होती है, विवेचन के बाद तद्रूप (प्रधानरूप) से निश्चय हो जाता है। अतएव यहां अन्य अलंकार की संभावना नहीं करनी चाहिये।[42]

वाक्यार्थीभाव होने के कारण अन्य से उपस्कार्यता तथा बलवत्ता होने पर अलंकार की प्रधानता होती है। इसके विपरीत अन्य अलंकार का उपस्कारक होने से अंगभाव तथा दुर्बलत्व होने पर संकर अलंकार होता है। तात्पर्य यह है कि उपकार्य-उपकारक रूप अंगता ही संकर है। इसलिये उनकी दृष्टि से संकर का 'अंगांगित्वे तु संकरः' लक्षण नहीं करना चाहिये क्योंकि अंगत्व की भांति अलंकारों के अंगित्व में भी संकर मानने पर तो प्रधानभूत उपमा आदि अलंकारों का विषय समाप्त हो जायेगा। अतः प्रधानता में उपमा आदि का अपना-अपना नाम होता है, अंगता में संकर।[43] वह संदेह संकर तथा एक वाचकानुप्रवेश संकर को इसका विषय नहीं मानते।[44] नरेन्द्रप्रभसूरि संकर के स्वरूप और भेद-विवेचन में मम्मट का अनुगमन करते हैं।[45] हेमचन्द्र की परिभाषा से ही संकर का चार भेद स्पष्ट हो जाता है। उनके अनुसार स्वतंत्र, अंग, संशय तथा एकपद्यत्व रूप से अनेक अलंकारों का एकत्र निबन्धन संकर अलंकार है। अलंकारों की परस्पर निरपेक्षता ही स्वातंत्र्य है, वह मम्मट आदि की संसृष्टि है। अन्य तीन भेद अंगांगिभाव, संदेह तथा एकपदानुप्रवेश संकर के हैं।[46] इस प्रकार हेमचन्द्र संसृष्टि को भी संकर का एक भेद मानते हैं। वाग्भट द्वितीय हेमचन्द्र का अनुगमन करते हैं।[47] विद्याधर, विद्यानाथ तथा नरसिंह कवि पूर्णतः रुय्यक का अनुसरण करते हैं।[48] विश्वनाथ तथा कर्णपूर मम्मट के अनुयायी हैं।[49] अमृतानन्दयोगी नाना अलंकारों के संयोग को संकर मानते हैं।[50] अप्पयदीक्षित संकर के चार भेद—अंगांगिभाव, समप्राधान्य, सन्देह तथा एकवाचकानुप्रवेश के अतिरिक्त पांचवां संकरसंकर भी मानते हैं।[51] दीक्षित का समप्राधान्य संकर सन्देहसंकर से व्यतिरिक्त नहीं है। देवशंकर, अच्युतराय तथा ब्रह्मतन्त्र स्वामी अप्पय के अनुसार संकर के चार भेद तो प्रदर्शित करते हैं, पर पांचवें का ये लोग उल्लेख नहीं करते।[52] आचार्य विश्वेश्वर तो मम्मट के अनुसार, चलते ही हैं।[53] मम्मट का अनुगमन करने वाले कर्णपूर शब्द-अर्थ अलंकार की संसृष्टि संकर को मिलाकर संकर के कुल 568700847 भेदों का संकेत करते हैं।[54] उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि शोभाकर और अप्पय को छोड़कर संकर के विषय में सभी आलंकारिक उद्‌भट का अनुगमन करते हैं।

शब्दालंकार संसृष्टि

कुसुमसौरभलोभपरिभ्रमद्‌भ्रमरसंभ्रमसंभृतशोभया।
चलितया विदधे कलमेखलाकलकलोऽलकलोलदृशाऽन्यया।।

—माघ, 6/14

यहां पूर्वार्द्ध में भकार तथा उत्तरार्द्ध में लकार की अनेकधा आवृत्ति होने के कारण वृत्त्यनुप्रास है और 'लकलोलकलो' अंश में यमक। अतएव दो विजातीय शब्दालंकारों का एकत्र निबन्धन होने से यहां विजातीय शब्दालंकार संसृष्टि है। उत्तरार्द्ध में ही 'कलोलकलोल' तथा 'लकलोलकलो' रूप से दो यमकों की संसृष्टि होने से सजातीय संसृष्टि भी है। 'लिम्पतीव तमोऽङ्गानि' इत्यादि में उत्प्रेक्षा और उपमा दो विजातीय अर्थालंकारों की संसृष्टि है। इसी प्रकार अन्य उदाहरण मूल ग्रन्थों से देखना चाहिये।

संकर का प्रायः तीन भेद आलंकारिकों को मान्य है। अनेक अलंकारों के परस्पर उपकार्य-उपकारक-भाव से एकत्र निबन्धन में अंगांगिभाव संकर होता है :

अंगुलीभिरिव केशसंचयं संनियम्य तिमिरं मरीचिभिः।
कुङ्मलीकृतसरोजलोचनं चुम्बतीव रजनीमुखं शशी।।

—अ.स., पृ. 222

यहां 'अंगुलीभिः इव' में उपमा है, जो 'सरोजलोचनम्' में उपमा की साधक है। रजनीमुख में श्लेषमूला अतिशयोक्ति है, क्योंकि आरंभ और वदन दो मुख्य अर्थों का अभेदाध्यवसाय हो गया है। इस प्रकार इनका परस्पर अंगांगिभाव है। दोनों प्रकृत उपमायें तथा श्लेषमूला अतिशयोक्ति 'चुम्बतीव' इस उत्प्रेक्षा की अनुग्राहक है। इस प्रकार अनुग्राह्य-अनुग्राहक का एकत्र सौन्दर्य निबन्धन होने के कारण यहां अंगांगिभाव संकर है। साधक-बाधक प्रमाण के अभाव में जहां किसी अलंकार का निश्चय नहीं हो पाता है, वहां संदेहसंकर होता है :

नयनानन्ददायीन्दोर्विम्बमेतत् प्रसीदति।
अधुना विनिरुद्धाशमविशीर्णदिदं तमः।। का.प्र.सं., पृ. 421

यहां विभिन्न अलंकारों का सन्देह हो रहा है, कामोद्दीपन काल वर्तमान है, इस प्रकार भंग्यन्तर अभिधान होने से क्या पर्याय है? अथवा वदन का इन्दुरूप से अध्यवसान होने से अतिशयोक्ति है? एतत् शब्द मुख को निर्देश करके कहा गया है, अतएव इन्दुबिम्ब का आरोप होने से क्या रूपक है? अथवा मुख और चन्द्र की समुच्चय विवक्षा से दीपक तुल्ययोगिता है? अथवा प्रदोषकालीन विशेषणसाम्य से मुख की प्रतीति होने से समासोक्ति है? अथवा अप्रस्तुत इन्दु की प्रशंसा से प्रस्तुत मुखनैर्मल्य का अवगम होने से अप्रस्तुतप्रशंसा है? इस प्रकार यह संदेहसंकर का उदाहरण है। जहां एक वाचक पद में अनेक अलंकार अनुप्रविष्ट हों उसे एकतावाचकानुप्रवेश संकर कहते हैं। अप्पय के अनुसार यही एकवचनानुप्रवेश कहा जाता है :

स्पष्टोच्छ्वसत् किरणकेसरसूर्यबिम्बविस्तीर्णकर्णिकमथोदिवसारविन्दम् ।
श्लिष्टाष्टदिग्दलकलापमुखावतारबद्धान्धकारमधुपावलि संचुकोच ।।

यहां एक पद 'किरणकेसरसूर्यबिम्बविस्तीर्णकर्णिकम्' तथा 'शिलष्टाष्टदिग्दलकलाप' में अनुप्रास और रूपक दो अलंकारों का बोध होने से एकवाचकानुप्रवेश संकर है।

वस्तुतः संसृष्टि तथा संकर के दो भेद—संदेह और एकवाचकानुप्रवेश—को प्रथक् अलंकार नहीं मानना चाहिये। जहां अनेक लौकिक अलंकारों का संयोग होता है, वहां भी एक की प्रधानता अवश्य रहती है। उदाहरणार्थ हार और मणि के संयोग को लिया जा सकता है। दोनों के संयोग में उनकी पृथक् प्रतीति होने पर भी हार-मणि तो नहीं कहा जा सकता, बल्कि हार ही कहा जाता है। इनका आपस में संयोग गुण-प्रधान भाव से ही होता है। स्वर्ण आदि से बनाये गये हार में प्रधानता उसी की होती है, यह अवश्य है कि मणि आदि के संयोग से हार का उत्कर्ष बढ़ जाता है। कह सकते हैं कि मणि हार का उपस्कारक होता है। मणि की प्रधानता में मणि के आगे स्वर्ण हतप्रभ हो जाता है, पर वह भी हार ही कहा जाता है। और ऐसी स्थिति में दोनों में संदेह हो ऐसी कोई समस्या नहीं पैदा होती। एक ही हार में जैसे अनेक मणि मूंगे आदि का संयोग हार की प्रधानता सूचित करता है, वैसे ही काव्य में एक ही प्रधान अलंकार के अनेक अलंकार प्रायः अंगरूप में निबद्ध देखे जाते हैं। संसृष्टि में तिलतण्डुलन्याय से सभी अलंकारों का सम्मिश्रण नहीं हो सकता, क्योंकि वैसी स्थिति में स्वतंत्र अलंकारों की सत्ता नहीं रह जायेगी। प्रायः सर्वत्र एक से अधिक अलंकार पाये जाते हैं। अनुप्रास होने पर भी उपमा आदि अर्थालंकार देखे जाते हैं या उपमा आदि के निबन्धन में अनुप्रास तो प्रायः रहता ही है। इस प्रकार उपमा आदि को शुद्ध तथा संसृष्टि को मिश्र अलंकार कहना ही अयुक्त है, क्योंकि अन्ततः सर्वत्र कोई न कोई अलंकार मिलेगा ही। वृत्त्यनुप्रास, अतिशयोक्ति, स्वभावोक्ति, पर्यायोक्त तथा रसादि अलंकारों में से कोई न कोई सर्वत्र पाया जाता है। संसृष्टि को अलंकार मान लेने पर तो शुद्ध अलंकारों की सत्ता ही समाप्त हो जायेगी। यदि किसी तरह शुद्ध अलंकार मिल भी जाये, तो रसादिरहित काव्य होना तो कठिन है। इस प्रकार अलंकारान्तरशून्य या असंकीर्ण अलंकारों के अभाव में संसृष्टि और संकर दो ही प्रधान अलंकार रह जायेंगे, अनुप्रास, उपमा, आदि को उनका भेदमात्र कहना पड़ेगा, स्वतंत्र अलंकार नहीं। यदि किसी प्रकार से अलंकारान्तर रहित शुद्ध उदाहरण खोज भी लिया जाये तो यह कोई अन्तिम निर्णय होगा, यह कहना अशक्य है। जहां एक व्यक्ति शुद्ध अलंकार पाता है, वहीं विद्वान् प्रतिभावश अन्य अलंकार की कल्पना कर ही सकता है। और यदि बहुत छानबीन

करके दो-चार उदाहरण शुद्ध अलंकार के खोज भी लिये जायें तो क्या शुद्ध अलंकारों की प्रविरलविषयता नहीं हो जायेगी? संसृष्टि के कारण कोई विशेष सौन्दर्य की वृद्धि भी तो नहीं होती। मौक्तिक, पद्‌मराग, आदि लौकिक अलंकारों की बात भिन्न है। काव्य में सर्वत्र लोक का सहारा लेना संभव नहीं है। काव्य में शब्द और अर्थ के अलंकार भिन्न-भिन्न होते हैं। विजातीय संसर्ग कब अच्छा माना जाता है? 'लिम्पतीव तमोऽङ्गानि' इत्यादि में यदि विजातीय संसर्गकृत सौन्दर्य है, तो क्या वहां प्रक्रमभंगरूप दोष नहीं है? और दोष न भी मानें तो भी वहां अंगांगिभाव संकर मानने में कोई विशेष कठिनाई नहीं है। अयःशलाका की भांति एक ही वाक्य में अनेक अलंकारों का संविधान असंभव है। दो या अनेक अलंकारों का परस्पर सम्बन्ध गुण-प्रधान भाव को ही लेकर हो सकता है, क्योंकि एक ही वाक्य में दो प्रधान या अप्रधान अलंकारों का अवस्थान असंभव है। जहां गुण-प्रधान भाव होगा वहां अंगांगिभाव संकर मानने में कोई आपत्ति नहीं होगी।

एक वाचकानुप्रवेश संकर में एक ही शब्द या वाक्य में दो या अधिक अलंकारों का संकर पाया जाता है। ऐसे में यदि अलंकारों का पृथक् स्वरूप ज्ञात होता है, तब तो परस्पर निरपेक्षभाव रूप संसृष्टि ही होगी। कह चुके हैं कि संसृष्टि अंगांगिभाव संकर से गतार्थ है। यदि वैसा न भी हो तो वाक्य में जिस अलंकार की प्रथम प्रतीति होगी, वह प्रधान तथा अन्य अप्रधान होंगे। प्रधान अंगभाव में अंग संकर माना जाता है। संदेह संकर भी अंगांगिभाव संकर से गतार्थ हो जाता है। एक ही विषय में सबको, सर्वत्र, सदा सन्देह हो ही, यह नहीं कहा जा सकता। 'स्थाणुर्वा पुरुषो वा' इस प्रकार का सन्देह किसी कारण विशेष से ही उत्पन्न होता है, उस कारण के दर्शन से उसकी निवृत्ति हो जाती है। एक वस्तु जो दूरस्थ व्यक्ति के लिये सन्देह का विषय होती है, निकटस्थ के लिये वही निश्चय का विषय बन जाती है। अलंकार-लक्षण सर्वदा ऐसा बनाया जाता है, जो सर्वत्र सभी प्रतिपत्ता के लिये समान हो। ऐसा तो कोई नियम नहीं है कि जो वस्तु संदिग्ध व्यक्ति के लिये अलंकार है, अन्य के लिये अलंकार न होगी। संदेह सभी प्रमाता में हो ही यह भी नहीं कहा जा सकता। यह भी नहीं कह सकते कि एक विषय में जहां किसी को कभी संदेह हुआ था, आज तक उसका निवारण नहीं हो सका, निश्चय नहीं हुआ। तर्कों के द्वारा संदेह का बाध हो ही जाता है। अतएव संदेहसंकर पृथक् भेद नहीं हो सकता। 'यः कौमारहरः स एव हि वरः' इत्यादि में रुय्यक आदि सन्देह संकर मानते हैं। वस्तुस्थिति तो यह है कि अभिधा या श्रुतिबोध्य अर्थ ही सहज गम्य होता है। अभिधा से अर्थ-बोध न होने पर लक्षणा आदि का सहारा लिया जाता है। अतएव

जो अलंकार विषय के श्रवण मात्र से बुद्धि में उपारूढ हो जाता है, वही वहां प्रधान अलंकार होता है तथा प्रकारान्तर से ज्ञात अलंकार अप्रधान। 'यः कौमार' इत्यादि में हेतु का अभाव होने पर उत्कंठा रूप कार्य की उत्पत्ति का प्रथम ज्ञान होने से, विभावना प्रधान अलंकार है और अर्थलम्य विशेषोक्ति अप्रधान। इस प्रकार यहां भी अंगांगिभाव संकर ही मानना चाहिये। इस दृष्टि से संसृष्टि, संदेह तथा एकवाचकानुप्रवेश संकर को अंगसंकर से पृथक् न माननेवाले शोभाकर प्रशंसा के पात्र हैं।[55]

संदर्भ

1. अ.स., पृ. 220; सा.चू., पृ. 410; कु. पृ. 193; प्र.रु., पृ. 340.
2. वराविभूषा संसृष्टिर्बह्वलंकारयोगतः।
   रचिता रत्नमालेव सा चैवमुदिता यथा। —भामह, 3/49.
   अन्येषामपि कर्तव्या संसृष्टिरनया दिशा।
   कियदुद्घटितज्ञेभ्यः शक्यं कथयितुं मया।। —वही, 3/52.
3. नानालंकारसंसृष्टिः संसृष्टिस्तु निगद्यते।
   अंगांगिभावावस्थानं सर्वेषां समकक्षता।।
   इत्यलंकार संसृष्टेर्लक्षणीया द्वयी गतिः।। काव्यादर्श, 2/359-60.
4. अलंकृतीनां बह्वीनां द्वयोर्वापि समाश्रयः।
   एकत्र निरपेक्षाणां मिथः संसृष्टिरुच्यते।। —का.सा.सं., 6/9.
5. बहूनामलंकाराणां परस्परनिरपेक्षाणां द्वयो वा तथाविधयोरेकत्र शब्द एव अर्थ एव वा उपनिबन्धे सति संसृष्टिरलंकारः। यत्र तु परस्परसापेक्षत्वं तत्र सन्देहैकशब्दा-भिधानानुग्राहकसंकरास्त्रयः। यत्र च शब्दार्थलक्षणाश्रयद्वितयनिष्ठतया अनेकालंकारोपनिबन्धस्तत्रापि शब्दार्थवर्त्यनेकालंकारसंकरः उक्तः, एतद्वैलक्षण्येन तु संसृष्टिः। ल.वृ., पृ. 73; तु. विवृत्ति, पृ. 50-51.
6. कार्यकारणभावापन्नयोरलंकारयोः सम्बन्धः संसृष्टिः। का.धे., पृ. 145.
7. एते चालंकाराः शुद्धाः मिश्राश्च प्रयोक्तव्या इति विशिष्टानामलंकाराणां मिश्रत्वं संसृष्टिरित्याहः —अलंकारस्यालंकारयोनित्वं संसृष्टिः।का.सू.वृ., 4/3/30. संसृष्टिः संसर्ग सम्बन्ध इति, वही,- वृत्ति। तद्भेदावुपमारूपकोत्प्रेक्षावयवौ, उपमाजन्यं रूपकमुपमारूपकम्। उत्प्रेक्षाहेतुरुत्प्रेक्षावयवः। वही, 4/3/31-33.
8. एषां तु चतुर्णामपि संकीर्णानां स्युरगणितभेदाः।
   तन्नामानस्तेषां लक्षणमंशेषु संयोज्यम्।। काव्यालं. 10/24.
9. योगवशादेतेषां तिलतण्डुलवच्च दुग्धजलवच्च।
   व्यक्ताव्यक्तांशत्वात्संकर उत्पद्यते द्वेधा।। —काव्यालं. 10/25.
10. नानालंकारसंकरः संसृष्टिः। सा त्रिधा व्यक्तरूपा, अव्यक्तरूपा, व्यक्ताव्यक्तरूपा

च। तासु व्यक्तरूपा तिलतण्डुलवच्छायादर्शवच्च। अव्यक्तरूपा क्षीरजलवत् पांसूदकवच्च। व्यक्ताव्यक्तरूपा नरसिंहवच्चित्रवर्णवच्च। शृं.प्र., पृ. 427-28; तु. स.कं. 4/90-92.

11. दे., स.कं., पृ. 703.

12. एवमवस्थापिते गुणरसानामलंकारत्वे षट्प्रकारो रसालंकार संकरः भवति—गुणसंकरः, अलंकारसंकरः, गुणालंकारसंकरः, रससंकरः, रसगुणसंकरः रसालंकारसंकरः इति। .... व्यक्ताव्यक्तोभयात्मतया तिलतण्डुलादि भेदैः .... पुरस्तादुक्तः तथापि तेषां गुणादि संकरासाधारणत्वात्संप्रति साधारणः प्रकार उच्यते। सषोढा, शब्दालंकारसंकरः, अर्थालंकारसंकरः, उभयालंकारसंकरः, शब्दार्थालंकारसंकरः, शब्दार्थोभयालंकारसंकरः, अर्थोभयालंकारसंकरश्च। क्वचिद् .... गुणालंकारयोः संकरव्यवहारः प्रवर्तते। स षोढा—शब्दगुणप्रधानः, अर्थगुणप्रधानः, दोषगुणप्रधानः, शब्दालंकारप्रधानः, अर्थालंकारप्रधानः, उभयालंकारप्रधानश्च। .... रसालंकारोऽपि चालंकारसंकरवदेव। .... गुणरसानां .... संकरव्यवहारः प्रवर्तत एव। स षोढा—गुणप्रधानः, रसप्रधानः, उभयप्रधानः, उभयाप्रधानः, गुणाधिकः रसाधिकः इति। .... तत्र रसालंकारो द्विधा—रसप्रधानोऽलंकारप्रधानश्च। "अंगांगिभावास्थानं सर्वेषां समकक्षता। इत्यलंकारसंसृष्टेर्लक्षणीया द्वयीगतिः।" स.कं., पृ. 703-32; शृंगारप्रकाश में कुछ परिवर्तन के साथ यही विवेचन प्राप्त है। वहां रसालंकारसंकर के छः भेद—शब्दालंकारप्रधान, अर्थालंकारप्रधान, उभयालंकारप्रधान, भावप्रधान, आभासप्रधान तथा रसप्रधान—माने गये हैं। रससंकर का सर.कं.भ. में भी नामोल्लेख है, यहां भी वे हैं: भावसंकर, रससंकर, भावाभाससंकर, रसाभाससंकर, भावप्रशमसंकर तथा रसप्रशमसंकर। दे., शृं.प्र., पृ. 435-60.

13. सैषा संसृष्टिरेतेषां भेदेन यदिह स्थितिः। का.प्र. 10/53.

14. भेदः स्वरूपतो विषयतो वा परस्परमनपेक्षत्वम्। यद्वाविषयभेदे सति परस्परानपेक्षत्वम्। प्र., पृ. 338-39.

15. नन्वनयोः शब्दार्थरूपाश्रयभेदेन कथमेकार्थसमवायलक्षणासंसृष्टिरितिचेत् एक वाक्ये छन्दसि चासमवेतत्वात्। प्र., पृ. 389; तु. बा.बो., पृ. 753; सं., पृ. 337; सं.प्र., पृ. 412; सा.चू., पृ. 413; का.प्र. नोट्स, पृ. 467-8.

16. एषां तिलतण्डुलन्यायेन मिश्रत्वे संसृष्टिः। अ.स. सूत्र-84, तत्र तिलतण्डुलन्यायेन भवन्तीसंसृष्टिस्त्रिधा। शब्दालंकारगतत्त्वेन, अर्थालंकारगतत्त्वेन, उभयालंकारगतत्त्वेन च। वही, वृत्ति।

17. दे., अ.स., पृ. 219-20; तु. एका., पृ. 232; अ.म., पृ. 329; प्र.रु., पृ. 340; कु., पृ. 193.

18. न संसृष्टिः पूर्वहानाच्चारुत्वाभावाच्च। अ.र. सूत्र-111.

19. दे., अ.म. 8/87 तथा वृत्ति।

20. दे., काव्यानु., 6/31 तथा काव्यानु., पृ. 43.

21. संसर्गः संकरं विदुः। वाग्भटा. 4/143.
22. शुद्धिरेकप्रधानत्वं तथा संसृष्टिसंकरौ।
एतेषामेव विन्यासान्नालंकारान्तराण्यमी।। चन्द्रा. 5/119.
23. दे., एका. 8/75-76; प्र.रु., पृ. 340; नं.य., पृ. 220.
24. वही, कु., पृ. 193; तु. अ.मं., पृ. 233-34.
25. मिथोऽनपेक्षयैतेषां स्थितिः संसृष्टिरुच्यते। सा.द. 10/98; तु. अ.कौ., पृ. 408; अ.पु. 104.
26. दे., सा.सा., 8/307; अ. मणि. भाग-4, पृ. 84-85.
27. अनेकालंक्रियोल्लेखे समं तद्वृत्त्यसंभवे।
एकस्य च ग्रहे न्यायदोषाभावे च संकरः।। का.सा.सं., पृ. 5/20.
28. यत्र तु साधकबाधकप्रमाणाभावस्तत्र संदेह एव। ल.वृ., पृ. 64.
29. शब्दार्थवर्त्यलंकारा वाक्य एकत्र भासिनः।
संकरो वा, एकवाक्यांशप्रवेशाद्वाभिधीयते।। वही, 5/22.
30. यत्रैकस्मिन् वाक्ये शब्दवर्तिनोऽर्थवर्तिनश्चालंकाराः संसर्गमुपयान्ति स शब्दार्थालंकारः। .... एकस्मिन् वाक्यांशे वाक्यैकदेशे वा यत्रानेकस्यालंकारस्यानुप्रवेशः स एकशब्दाभिधानसंकरः। ल.वृ., पृ. 65.
31. भिन्नदेशतयैकदेशतया वा शब्दार्थालंकारनिवेशेनैकपदाभिधानैकपदाभिधानात्मकमयत् संकरद्वयम्। .... यत्त्वेकवाक्यांशेत्यादिनाऽर्थालंकारसंकरो व्याख्यातस्तदसत्। चतुर्थे संकरे संसृष्टौ वा अस्यान्तर्भावात्। वि., पृ. 46-47.
32. परस्परोपकारेण यत्रालंकृतयः स्थिताः।
स्वातन्त्र्येणात्मलाभं नो लभन्ते सोऽपि संकरः।। वही, 5/25.
33. अतोविकल्पव्यवस्थासमुच्चयांगांगिभावसंश्रया एते चत्वारः संकरभेदाः। ल. वृ., पृ. 66.
34. अविश्रान्तिजुषामात्मन्यंगांगित्वे तु संकरः। का.प्र., 10/140.
एवं रूपश्च संकरः शब्दालंकारयोरपि दृश्यते। वही, पृ. 758.
35. एकस्य च ग्रहे न्यायदोषाभावादनिश्चयः। वही, 10/140 तथा वृत्ति।
36. स्फुटमेकत्र विषये शब्दार्थालंकृतिद्वयम्। व्यवस्थितं च। वही, 10/141.
अभिन्ने एव पदे स्फुटतया उभावपि शब्दार्थालंकारौ व्यवस्थां समासादयतः सोऽप्यपरः संकरः। वही, वृत्ति।
37. तेनासौ त्रिरूपः परिकीर्तितः। वही, 10/141.
38. दे., सा.चू., पृ. 426.
39. क्षीरनीरन्यायेन तु संकरः। अ.स. सूत्र-85. मिश्रत्वमेव। तच्च मिश्रत्वमंगांगिभावेन, संशयेन, एकवाचकानुप्रवेशेन च त्रिधाभवत्संकरं त्रिभेदमुत्थापयति। वही, पृ. 222.
40. शब्दालंकारसंकरस्तु कैश्चिदुदाहृतो यथा—'राजति तटीयमभिहत' इत्यादौ। एतत्तु न सम्यगावर्जकम्। .... शब्दालंकारसंसृष्टिस्त्वत्रश्रेयसी। यद्वा, अत्र

शब्दालंकारद्वयमेकवाचकानुप्रविष्टमिति तृतीयः संकरो ज्ञेयः। वहीं, पृ. 224-25.

41. शब्दार्थालंकारसंकरस्तु भट्टोद्भटेन प्रकाशितः संसृष्टावन्तर्भावितः इति। वही, पृ. 230.

42. एतेऽङ्गित्वेऽलंकाराः। अ.र. सूत्र-110. वही, वृत्ति भी।

43. अंगत्वे तु संकरः। वही, सूत्र 112.
प्राधान्ये पूर्वेषामलंकाराणां यथोक्तमलंकारत्वम्। .... उपकार्योपकारकत्वं ह्यंगताख्यो हि संकरः। .... एवं सति अंगांगित्वे तु संकर इति लक्षणं न कार्यम्। .... तेन प्रधानतायां उपमादीनां निजं निजं नाम, अंगत्वे, पुनरेषां संकरधीः। वही, पृ. 198.

44. एकवाचकाभिधानानुप्रवेशलक्षणस्तु संकरो नास्मादि्भन्नः। .... अतश्च न संदेहः। अ.र., पृ. 198-200.

45. दे., अ.म., 8/89.

46. स्वातंत्र्यांगत्वसंशयैकपद्यैरेषामेकत्रस्थितिः संकरः। काव्यानु., 6/31 तथा वृत्ति।

47. स्वातंत्र्येणांगत्वेन संशयेनैकपद्येन वा अलंकाराणामेकत्रावस्थानं संकरः। काव्यानु., पृ. 45.

48. दे., एका., 8/76; प्र.रु., पृ. 341-44; नं.य., पृ. 221-23.

49. अंगांगित्वेऽलंकृतीनां तद्वदेकाश्रयस्थितौ।
संदिग्धत्वे च भवति संकरस्त्रिविधस्ततः।। सा.द., 10/98; दे., अ.कौ., 8/317-19.

50. नानालंकारसंयोगात्कथ्यते संकरो यथा। अ.सं., 5/49.

51. स चांगांगिभावेन, समप्राधानान्येन, संदेहेन, एकवाचकानुप्रवेशेन च चतुर्विधः। .... क्वचित्संकराणामपि संकरो दृश्यते। कु., पृ. 193-202.

52. दे., अ.मं., पृ. 234-35; सा.सा. 8/308 तथा सरसामोद, अ. मणि. भाग-4, पृ. 87-170.

53. अ.कौ., पृ. 409-16; अ.मु. 53; अ.प्र. 105.

54. दे., अ.कौ., 8/320-21.

55. वही, अ.र., पृ. 194-99.

उपसंहार

संसार की समग्र वस्तु अनुकृति है, सादृश्य है। नन्हा सा बालक भी वृद्धव्यवहार से बोलना सीखता है, भाषा भी अनुकार है। इसलिये काव्य में अलंकार का उद्‌भव जहां मनोवैज्ञानिक है, वहीं वह अनुकृति या सादृश्य भी है। यह एक लोकसिद्ध वस्तुतथ्य है कि भावों को अधिक सजीव, सशक्त और दूसरों को सहज बोध-गम्य बनाने के लिये उक्ति में कल्पना का प्रयोग किया जाता है। प्रत्येक कल्पना में विषय के प्रति प्रयोक्ता का अतिशयभाव निगूढ़ रहता है, यही अतिशय काव्य-जगत् में अलंकार के नाम से व्यपदिष्ट होता है। आलंकारिक इसे वक्रोक्ति या अतिशयोक्ति भी कहते हैं। कल्पना या अतिशय-योग से भाषा में एक बांकपन आ जाता है। इस प्रकार स्वभावतः कथन के दो भेद हो जाते हैं : अतिशय या वक्रकथन और वास्तव या स्वभावकथन। भामह की यह घोषणा :

"युक्तं वक्रस्वभावोक्त्या सर्वमेवैतदिष्यते।" —काव्या., 5/130

इसी तथ्य का साक्षात्कार है। कवि की अलौकिक प्रतिभा का संसर्ग पाकर स्वभाव भी चमत्कृत हो उठता है, सुन्दर बन जाता है :

"प्रसिद्धानेकस्वभावानुसरणरूपया स्वभावोक्त्यापि तावदुपनिबध्यमानैर्निरवधिः काव्यार्थः सम्पद्यते।"

ध्व., पृ. 584

दंडी के अनुसार काव्यशोभाकर समस्त तत्त्व अलंकार हैं, इसलिये जब वह वक्रोक्ति और स्वभावोक्ति के रूप में वाङ्मय का दो विभाग करते हैं, तो प्रकारान्तर से अलंकार-विभाग ही प्रस्तुत करते हैं। प्राचीन आलंकारिक इन्हीं दो तत्त्वों के आधार पर अलंकार-योजना करते थे, अलंकार-विकास के ये मूलाधार थे, भरत के काव्य-लक्षण इस प्रक्रिया में सहायक अवश्य बन गये। ध्वनिकार आनन्दवर्द्धन और अभिनव गुप्त आदि ध्वनिवादी भी वक्रोक्ति (अतिशयोक्ति) तथा स्वभावोक्ति के प्रति पर्याप्त श्रद्धा रखते हैं।

संस्कृत काव्यशास्त्र के इतिहास में ध्वनि का आविर्भाव एक युगान्तकारी घटना है। ध्वनि-प्रतिष्ठा से चिन्तन की दिशा ही बदल गयी, अलंकार-विवेचन ध्वनि के परिप्रेक्ष्य में होने लगा, और तत्सम्बन्धी सभी प्राचीन मान्यतायें प्रायः अमान्य सिद्ध हो गयीं। इससे यह न समझना चाहिये कि काव्य-जगत् में अलंकार की प्रतिष्ठा कम हो गयी, उसका स्थान अवश्य परिवर्तन हुआ, पर महत्त्व नहीं घटा। ध्वनिवाद में अलंकार जहां काव्य की तृतीय श्रेणी में खड़ा दिखायी देता है, वहीं उसे व्यंग्यत्रयी में भी उपयुक्त स्थान मिल गया है। व्यंग्यप्रधान अलंकार समासोक्ति आदि यहां काव्य की द्वितीय श्रेणी में आ गये हैं। भामह आदि रसादि को भी अलंकार मानने के पक्षपाती हैं, पर यहां वह अलंकार्य बन गया है। अलंकारवादी और ध्वनिवादी दोनों ही रसवत् अलंकार की कल्पना करते हैं, पर दोनों के दृष्टिकोण में महान् अन्तर है। प्रथम तो प्रधान व्यंग्य रसादि को भी अलंकार मानता है, द्वितीय गुणभाव प्राप्त रसादि को रसवदादि कहता है। इस प्रकार ध्वनिवाद, जहां काव्यात्मा का सही अनुसंधान करता है, वहीं काव्य के अन्य तत्त्वों का स्थान भी नियत करता है, अलंकार को काव्यात्मभूत अलंकार्य प्रधान ध्वनि रस का उपस्कारक धर्म स्वीकार करता है। ध्वनि स्थापना से काव्य तत्त्वों को उचित स्थान तो मिला ही, पर अलंकार-विकास की गति में मन्दता नहीं आयी। ध्वनिवादीसम्मत काव्य का द्वितीय भेद, गुणीभूत व्यंग्य, भावी अनेक अलंकारों का आधार बना। बाद में शोभाकर, जयदेव और अप्पयदीक्षित ने नवीन अलंकार सृष्टि के लिये जहां काव्यलक्षणों का चुनाव किया, वहीं गुणीभूतव्यंग्य और कभी-कभी तो ध्वनि प्रभेदों को भी नहीं छोड़ा। इस प्रवृत्ति के मूल में भोज की उद्घोषणा—वक्रोक्तिश्च रसोक्तिश्च स्वभावोक्तिश्च वाङ्मयम्—को सहज ही देखा जा सकता है। विभिन्न अलंकारों के आविर्भाव और कालक्रमानुसार उनके बदलते स्वरूप के लिये काव्य के प्रति बदलती मान्यतायें ही प्रधान रूप से जिम्मेदार हैं।

संस्कृत काव्यशास्त्र के सुदीर्घ काल में निरन्तर नूतन अलंकारों का आविर्भाव होता रहा है, अबाधगति से बढ़ते अलंकार-कुल के प्रति बीच-बीच में विद्वानों ने उपेक्षा-दृष्टि भी अपनायी है, हेमचन्द्र, जगन्नाथ तथा विश्वेश्वर इस श्रेय के अधिकारी कहे जा सकते हैं। वर्धिष्णु तथा अविरामगति से प्रवहमान अलंकार सरित् प्रवाह का नियमन अशक्य है, क्योंकि वाग्विकल्प ही अलंकार है। उनकी इतिमात्रता नहीं है :

"**वाग्विकल्पानामानन्त्यात्।**" —ध्व., पृ. 27

सुधीजन से मात्र यह अभ्यर्थना है:

"अभ्यर्थके मय्यनुकम्पया वा साहित्यसर्वस्व समीहया वा।
मदीयमार्या मनसा निबन्धममुं परीक्षध्वममत्सरेण।।"

"अल्पज्ञत्वात्प्रमादाद्वा स्खलितं तत्र तत्र यत्।
संशोध्य गृह्यतां सद्भिः शिलष्टावकरदृष्टिवत्।।"

।। ॐ पूर्णमिदम् ।।

सहायक ग्रन्थ-सूची

संस्कृत : काव्यशास्त्रीय

अच्युतराय - साहित्यसार तथा सरसामोद टीका

अजितसेन - अलंकार चिन्तामणि, जैनेन्द्र मुद्रणालय, कोल्हापुर, शक, 1829

अप्पयदीक्षित - चित्रमीमांसा, काव्यमाला, 38, 1941. तथा वाणी विहार, वाराणसी, 1965. कुवलयानन्द, निर्णय सागर प्रेस, बम्बई, 1955

अभिनवगुप्त - अभिनव भारती, ओरियन्टल इन्स्टीच्यूट, बड़ौदा, 1934. ध्वन्यालोक लोचन, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, 1965

अमृतानन्दयोगी - अलंकार संग्रह, आड्यार लाइब्रेरी, 1946

अरुणगिरिकवि - गोदवर्मयशोभूषण, त्रिवेन्द्रम, 1947

आनन्दवर्धन - ध्वन्यालोक, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, 1965

उद्भट - काव्यालंकार सार संग्रह, निर्णय सागर प्रेस, बम्बई, 1915, ओरियन्टल इन्स्टीच्यूट बड़ौदा, 1931, प्राच्य विद्या संशोधन मन्दिर, पूना, 1925

कविकर्णपूर - अलंकार कौस्तुभ, राजशाही, बंगाल, 1926

कुन्तक - वक्रोक्तिजीवित, (सं.) डॉ. दे, कलकत्ता, 1961

कुमारस्वामी - रत्नापण (प्र.रु. की टीका) बाल मनोरमा प्रेस, मद्रास, 1950

केशव मिश्र - अलंकार शेखर, चौखम्बा संस्कृत सीरीज, 1927

क्षेमेन्द्र - औचित्यविचारचर्चा, कल्याण प्रेस, वाराणसी, वि.सं., 2017

गागाभट्ट - राकागम (चन्द्रलोक की टीका) चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस, बनारस, 1938

गोपेन्द्रतिप्पभूपाल - कामधेनु (काव्यालंकार सूत्रवृत्ति की टीका), वाणी विलास प्रेस, श्रीरंगम्, 1909

गोविन्दठाकुर - काव्य प्रदीप, (काव्य प्रकाश-टीका), निर्णय सागर प्रेस, 1933

चन्द्रशेखर पाण्डेय - काव्यदीपिका, साहित्य निकेतन, कानपुर, वि.सं. 2089

चिरंजीव भट्टाचार्य - काव्यविलास, सरस्वती भवन टेक्स्ट नं. 16, 1925

छज्जूराम शास्त्री - साहित्य विन्दु, नरेन्द्र प्रिंटिंग प्रेस, दिल्ली-1961

जगन्नाथ पंडितराज - रसगंगाधर, निर्णय सागर प्रेस, बम्बई, 1916, चौखम्बा विद्या भवन, वाराणसी, 1966

जगद्धर - सरस्वती कंठाभरण विवरण, निर्णय सागर प्रेस, 1934

जयदेव पीयूषवर्ष - चन्द्रालोक, चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस, बनारस-1938, पूर्णमासी टीकायुक्त, हरिदास ग्रन्थमाला 57, चौखम्बा, 1950

जयरथ - विमर्शिनी (अलंकार सर्वस्व विमर्शिनी) निर्णय सागर प्रेस, बम्बई, 1893

अलंकारोदाहरण, पाण्डुलिपि, भंडारकर प्राच्य विद्या संस्थान, पूना

तिलक - विवृति (काव्यालंकारसारसंग्रह टीका) ओरियंटल इन्स्टीच्यूट बड़ौदा, 1931

दंडी - काव्यादर्श (प्रेमन्द्र तर्कवागीश की टीका साहित) सं. मुकुन्द रंजन राय, 1961

धरानन्द - सुधा (चित्रमीमांसा-टीका) वाणी विहार, वाराणसी, 1965

नमिसाधु - वृत्ति (रुद्रट के काव्यालंकार पर टीका) निर्णय सागर प्रेस, बम्बई, 1928

नरेन्द्रप्रभसूरि - अलंकार महोदधि, ओरियंटल इन्स्टीच्यूट, बड़ौदा, 1942

नरसिंह (अभिनवकालिदास) -नंजराज यशोभूषण, ओरियंटल इंस्टीच्यूट, बड़ौदा, 1930

नागेशभट्ट - उद्योत (काव्य प्रकाश प्रदीप-टीका), आनन्द आश्रम संस्कृत ग्रन्थावली, 1911

गुरुमर्म प्रकाश (रसगंगाधर टीका) निर्णय सागर प्रेस, बम्बई, 1916

प्रतिहारेन्दुराज - लघुवृत्ति (का.सा.सं.-टीका) निर्णय सागर प्रेस, बम्बई, 1915

पुंजराज - शिशुप्रबोधालंकार, ओरियंटल इन्स्टीच्यूट, बड़ौदा, 1965

भट्टगोपाल - साहित्य चूडामणि (काव्यप्रकाश-टीका), अनन्तशयन संस्कृत ग्रन्थावली, 1930

भट्टदेवशंकर पुरोहित - अलंकार मंजूषा, ओरियन्टल मैन्स्कृप्ट्स लाइब्रेरी, उज्जैन, 1940

भरत - नाट्यशास्त्र, ओरियन्ट रिसर्च इन्स्टीच्यूट, बड़ौदा, 1934

भामह - काव्यालंकार, चौखम्बा संस्कृत सीरीज, 1928

भावदेव सूरि - काव्यालंकार सार, ओरियंटल इंस्टीच्यूट, बड़ौदा, 1942

भीमसेन दीक्षित - सुधासागर (का.प्र. टीका), चौखम्बा संस्कृत सीरीज, आफिस, बनारस, 1928

भोजराज - सरस्वती कंठाभरण, निर्णय सागर प्रेस, 1934. शृंगार प्रकार, भाग-12, सं. गोम. रामानुज जोसर, मैसूर, 1955

मल्लिनाथ - तरल (एकावली-टीका), संस्कृत एण्ड प्राकृत सीरीज, नं. 63, बम्बई, 1903

मम्मट - काव्यप्रकाश, अनन्तशयन संस्कृत ग्रन्थावली नं. 100, 1930, आनन्द आश्रम संस्कृत ग्रन्थावली, 1921. राजस्थान प्राच्य विद्या प्रतिष्ठान, जोधपुर, 1959. ओरियंटल बुक एजेन्सी पूना-2, 1951. (वामनाचार्य की टीका बालबोधिनी सहित), भंडारकर ओरियन्टल रिसर्च इन्स्टीच्यूट, पूना, 1965

महिमभट्ट - व्यक्तिविवेक, काशी संस्कृत सीरीज, वि.सं., 1993. चौ.सं.सी., 1964

माणिक्यचन्द्र - काव्यप्रकाशसंकेत, आनन्द आश्रम संस्कृत ग्रन्थावलि, सं. 89, 1921

रत्नश्रीज्ञान - रत्नश्री (काव्यादर्श टीका), मिथिला विद्यापीठ, 1957

राजशेखर - काव्यमीमांसा, मिथिला विद्यापीठ, 1956. बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना, 1954

रामसिंह - दर्पण (सरस्वती कंठाभरण टीका) निर्णय सागर प्रेस, 1934

रामचन्द्र विद्यावागीश - काव्य (अलंकार) चन्द्रिका, वेंकटेश्वर मुद्रणालय, सं. 1969

रुद्रट - काव्यालंकार, निर्णय सागर प्रेस, बम्बई, 1928

रुय्यक - अलंकारसर्वस्व, निर्णय सागर प्रेस, 1893. त्रिवेन्द्रम संस्कृत सीरीज, 1926; भारत भारती प्रेस, दिल्ली, 1965; मोतीलाल बनारसीदास, 1965. व्यक्ति विवेक विचार, चौखम्बा विद्या भवन, वाराणसी, 1964

वाग्भट प्रथम - वाग्भटालंकार, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, 1957

वाग्भट द्वितीय - काव्यानुशासन, निर्णय सागर प्रेस, 1915

वामन - काव्यालंकारसूत्रवृत्ति, वाणी विलास प्रेस, श्रीरंगम्, 1909

विद्याधर - एकावली, संस्कृत एण्ड प्राकृत सीरीज नं. 63, बम्बई, 1903

विद्यानाथ - प्रतापरुद्रयशोभूषण, बाल मनोरमा प्रेस, मद्रास, 1905

विश्वनाथ - साहित्यदर्पण, निर्णय सागर प्रेस, बम्बई, 1915. चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस, बनारस, 1955

विश्वेश्वर - अलंकार कौस्तुभ, काव्यमाला 66, निर्णय सागर प्रेस, 1898
- अलंकार (कुल) प्रदीप, हरिदास संस्कृत ग्रन्थमाला, 1923
- अलंकार मुक्तावली, काव्यमाला 54, चौखम्बा संस्कृत सीरीज, 1884
- कवीन्द्रकर्णाभरण, काव्यमाला गुच्छक 8, निर्णय सागर प्रेस, बम्बई, 1911

वेणीदत्त - अलंकार मंजरी, मिथिला संस्कृत विद्यापीठ, दरभंगा, 1961

वैद्यनाथ तत्सत् - प्रभा (का.प्र. टीका) निर्णय सागर प्रेस, 1933.

- अलंकार चन्द्रिका (कुवलयानन्द टीका), निर्णय सागर प्रेस, 1955

व्यास - अग्निपुराण (काव्य प्रकरण), निर्णय सागर प्रेस, 1938. आनन्दाश्रम संस्कृत ग्रन्थावली 41, 1957

- विष्णुधर्मोत्तर पुराण, काव्यशास्त्रीय भाग

शोभाकर - अलंकार रत्नाकर, ओरियंटल बुक एजेन्सी, पूना, 1942

श्रीकृष्णब्रह्मतन्त्रपरकाल संयमीन्द्र - अलंकार मणिहार (चार भागों में) मैसूर, 1921-29

श्रीवत्सलांछन - काव्य परीक्षा, मिथिला विद्यापीठ, दरभंगा, 1956

श्रीविद्याचक्रवर्ती - संप्रदाय प्रकाशिनी (का.प्र. टीका), अनन्तशयन ग्रन्थावली 100, 1930

संजीवनी (अलंकार सर्वस्व टीका), भारत भारती प्रेस, दिल्ली 1965. मोतीलाल बनारसीदास, 1965

समुद्रबन्ध - समुद्रबन्ध व्याख्या (अ.स. टीका), त्रिवेन्द्रम्, 1926

सर्वेश्वर - साहित्य सार, युनिवर्सिटी मन्स्क्रृप्ट्स, लाइब्रेरी, त्रिवेन्द्रम्, 1948

सिद्धचन्दगणि - काव्यप्रकाश खण्डन, सिन्धी जैन ग्रन्थमाला 40, 1953

व्याख्या (वाग्भटालंकार) चौखम्बा सं.सी., वाराणसी, 1957

हेमचन्द्र - काव्यानुशासन, अलंकार चूड़ामणिविवेक, श्रीमहावीर जैन विद्यालय, बम्बई, 1964

वैदिक ग्रन्थ

अथर्ववेद संहिता - सं. सातवलेकर, अजमेर

ऐतरेय उपनिषद् - वाणी विलास प्रेस, श्रीरंगम्

ऋग्वेद संहिता - वैदिक संशोधन मण्डल, पूना तथा गायत्री प्रकाशन, मथुरा

कठोपनिषद् - वाणी विलास प्रेस, श्रीरंगम्

छांदोग्योपनिषद् - वाणी विलास प्रेस, श्रीरंगम्

तैत्तिरीय संहिता ब्राह्मण -

तैत्तिरीय उपनिषद् - वाणी विलास प्रेस, श्रीरंगम्

निरुक्त - मुकुन्द वक्शी सं., नि.सा. प्रेस, बम्बई, 1930

प्रश्नोपनिषद् - वाणी विलास प्रेस, श्रीरंगम्

बृहद्देवता, शौनक प्रणीत - मोतीलाल बनारसीदास, 1965

मुण्डकोपनिषद् - श्रीरंगम्

मैत्रायणीय आरण्यक तथा मैत्र्युपनिषद् - सं. सातवलेकर

यजुर्वेद (दयानन्द सरस्वती भाष्य) - वैदिक यंत्रालय, अजमेर

शतपथ ब्राह्मण - वेंकटेश्वर प्रेस, बम्बई, 1940

श्वेताश्वतर उपनिषद् - वाणी विलास प्रेस, श्रीरंगम्

व्याकरण एवं कोष ग्रन्थ

कात्यायन - वार्तिक (अष्टाध्यायी पर)

काशकृत्स्न - धातुपाठ, भारतीय प्राच्य विद्या प्रतिष्ठान, अजमेर, वि.सं., 2022

कैय्यट - प्रदीप (महाभाष्य पर टीका)

जिनेन्द्रबुद्धि - न्यास (पदमंजरी पर टीका), तारा पब्लिकेशन्स, वाराणसी, 1965-67

नागेश - उद्योत (महाभाष्य प्रदीप टीका)

पतंजलि - व्याकरण महाभाष्य (अष्टाध्यायी पर), निर्णय सागर प्रेस, कीलहार्न सं. भंडारकर, ओरियंटल रिसर्च इर्न्स्टीच्यूट, पूना, 1962

पाणिनि - अष्टाध्यायी, धातु पाठ, शिक्षा

भट्टोजीदीक्षित - वैयाकरण सिद्धान्त कौमुदी, चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस, वाराणसी, 1959

भर्तृहरि - वाक्यपदीय (हेलाराज की टीका सहित) त्रिवेन्द्रम, 1942,. पूना विद्यापीठ, 1965

बरदराजाचार्य - लघुसिद्धान्त कौमुदी

वामन जयादित्य - काशिकावृत्ति (अष्टाध्यायी पर), तारा पब्लिकेशन्स, वाराणसी, 1965-67

हरदत्त - पदमंजरी (न्यास पर व्याख्या), तारा पब्लिकेशन्स, वाराणसी, 1965-67

- अमरकोष (सुधा टीका सहित), निर्णय सागर प्रेस

- अभिधान राजेन्द्र, जैन प्रिंटिंग प्रेस, रतलाम्।

- वाचस्पत्यम्, चौखम्बा प्रकाशन

- शब्दकल्पद्रुम

- संस्कृत शब्दार्थ कौस्तुभ

काव्य, नाटक, अभिलेख, आदि

अश्वघोष - सौन्दरनन्द, बुद्धचरित

आपदेव - मीमांसा न्यायप्रकाश, भंडारकर रिसर्च इन्स्टीच्यूट, पूना, 1937

ईश्वरकृष्ण - सांख्यकारिका, बालराम उदासीन टीका सहित, गुजराती प्रिंटिंग प्रेस, बम्बई

कालिदास - रघुवंश महाकाव्य, चौखम्बा सं.सी.आ. 1961
- कुमार संभव, सं. सूर्यकान्त, साहित्य अकादमी, दिल्ली, 1968
- मालविकाग्निमित्र, चौखम्बा, सं.सी.आ., 1951
- विक्रमोर्वशीय, चौखम्बा, सं.सी.आ., 1963
- मेघदूत, मोतीलाल बनारसीदास, 1961

कौटिल्य - अर्थशास्त्र, पंडित पुस्तकालय, काशी

जयचन्द्र विद्यालंकार - सं. उत्कीर्ण लेखांजलि (पांच लेखों का संग्रह—गिरिनार शिलालेख, महरौली, लौहस्तंभ—चन्द्रअभिलेख, दशपुर पहवाय श्रेणि—शिलालेख, दशपुर कूपशिलालेख, विग्रह राज—दिल्ली स्तंभ लेख) मास्टर प्रिंटिंग वर्क्स, वाराणसी, सं. 2016

जगदीशचन्द्र भट्टाचार्य - तर्कामृतम्, मास्टर प्रिंटिंग वर्क्स, वाराणसी, 1954

जैमिनि - मीमांसा सूत्र, शाबर भाष्य सहित, आ.आ. सं.सी., पूना

बाण - कादम्बरी, नि.सा. बम्बई. हर्षचरित, सं. काणे

बादरायण - वेदान्तसूत्र, नि.सा. बम्बई, 1934

भवभूति - मालतीमाधव

भट्ट नारायण - वेणी संहार, चौ.सं.सी.आ., वाराणसी, 1959

माघ - शिशुपाल वध, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, 1961

मैत्रेयरक्षित - अभिसमयालंकार, सं.प.ल. वैद्य, दरभंगा, 1960

राजशेखर - बालरामायण

लौगाक्षिभास्कर - अर्थ संग्रह, चौखम्बा संस्कृत सी., बनारस, 1953

लक्ष्मीनारायण सिंह - अलंकार प्रस्थान विमर्श, शोधग्रन्थ, गोरखपुर विश्वविद्यालय, 1963

भट्टि - भट्टिकाव्य, नि.सा.प्रे., बम्बई, 1914

वात्स्यायन - कामसूत्र (जयमंगला सहित)

वाल्मीकि - रामायण, गीताप्रेस, गोरखपुर, वि.सं., 2020

व्यास - भागवत महापुराण, नि.सा. प्रेस, 1923
- महाभारत, गीताप्रेस, गोरखपुर

श्रीहर्ष - नैषधीय चरित, नि.सा. प्रेस
- आसुरी कल्प
- दत्तात्रेय तन्त्र

हिन्दी

उपाध्याय, बलदेव - भारतीय साहित्य शास्त्र, प्रसाद परिषद्, काशी, 2007

ओम्प्रकाश - रीतिकालीन अलंकार साहित्य का शास्त्रीय विवेचन, हिन्दी साहित्य संसार, दिल्ली, 7, 1965

काणे, पा.वा. - संस्कृत काव्यशास्त्र का इतिहास, मोतीलाल बनारसीदास, 1966

कीथ, ए.बी. - संस्कृत साहित्य का इतिहास, मोतीलाल बनारसीदास, 1960

चतुर्वेदी, पुरुषोत्तम शर्मा - अलंकारों का क्रमिक विकास, मोतीलाल बनारसीदास, 1967

त्रिपाठी, जयशंकर - आचार्य दंडी एवं संस्कृतकाव्यशास्त्र का इतिहासदर्शन, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, 1968

त्रिपाठी, रमाशंकर - काव्यचिन्ता, चौखम्बा, वि.भ., वाराणसी, 1963

त्रिपाठी, विश्वंभरनाथ - चन्द्रालोक सुधा

दासगुप्त, शशिभूषण - उपमाकालिदासस्य, नेशनल पब्लिशिंग हाऊस, दिल्ली, 1962

द्विवेदी, रामचन्द्र - अलंकार मीमांसा, मो.ब., 1965

देशपाण्डे, गणेश त्र्यंबक - भारतीय साहित्य शास्त्र, पांट्युलकर बुक डिपो, बम्बई, 1960

नगेन्द्र - रस सिद्धान्त

- काव्य में उदात्त तत्त्व
- (भूमिका) हिन्दी काव्यालंकार सूत्रवृत्ति
- (संपादक) भारतीय काव्यशास्त्र की परंपरा, नेशनल पब्लिशिंग हाऊस, दिल्ली

पाण्डेय, कान्तिचन्द्र - स्वतंत्र कला शास्त्र, प्रथम भाग, चौखम्बा संस्कृत स., 1967

भारद्वाज, शिवप्रसाद - अलंकार सिद्धान्त (उदय भानुसिंह सं. भारतीय काव्य शास्त्र) सामयिक प्रकाशन, दिल्ली

मिश्र, पं. रामदहिन - काव्यदर्पण, ग्रन्थमाला कार्यालय, पटना, 1951

- काव्य में अप्रस्तुत योजना, ग्रन्थमाला कार्यालय, पटना, सं. 2005

मिश्र, जयन्त - काव्यात्ममीमांसा, चौखम्बा, वि.भ., वाराणसी, 1964

मिश्र, राधेश्याम - हिन्दी वक्रोक्तिजीवित, चौ.सं.सी., वाराणसी, 1967

राय, जयचन्द्र - आचार्य रामचन्द्र शुक्लः सिद्धान्त और साहित्य, भारतीय साहित्य मंदिर, दिल्ली

व्यास, भोलाशंकर - भारतीय साहित्य शास्त्र और काव्यालंकार, भाग-1, चौ.वि.भ., वाराणसी, 1965

- हिन्दी कुवलयानन्द, चौ.वि.भ., 1963
- सौन्दर्यबोधः द्रष्टा की दृष्टि से, बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय पत्रिका, प्रज्ञा भाग-8(1), अक्तूबर, 1962

विद्यालंकार, वागीश - कालिदास और उनकी काव्यकला, मोती. बना., 1963
विश्वेश्वर (आचार्य) - हिन्दी काव्य प्रकाश, ज्ञान. मं. लि., 1960
- हिन्दी वक्रोक्तिजीवित, हिन्दी अनुसंधान परिषद्, ग्रन्थमाला
शुक्ल, आचार्य रामचन्द्र - रसमीमांसा, चिन्तामणि
शुक्ल, पं. रामदेव - हिन्दी काव्यालंकार (रुद्रट), चौ.वि.भ., 1966
सिंह, फतेह - भारतीय सौन्दर्यशास्त्र की भूमिका, नेश. पब्लि. हा., दिल्ली, 1967
सिंह, सत्यव्रत - साहित्यदर्पण, चौ.सं.सी., 1957
- काव्यप्रकाश, चौ.सं.सी., 1965
सुधांशु, लक्ष्मीनारायण - जीवन के तत्त्व और काव्य के सिद्धान्त
सूर्यकान्त - वैदिक कोष, बनारस हिन्दू वि.वि., 1963
शुक्ल, द्विजेन्द्रनाथ - हिन्दू प्रासाद की चतुर्मुखी पृष्ठभूमि
हीरा, राजवंशसहाय - काव्यशास्त्र के प्रतिनिधि सिद्धान्त चौ.वि.भ., 1967
कृष्णमूर्ति, के. - *संस्कृत क्रिटिसिज़्म एंड अलंकार,*
- जर्नल ऑफ दि कर्नाटक युनिवर्सिटी, वाल्यूम 7, 1963, पृ. 218-28
कपाड़िया, बी.एम. - सोम इन पोइटिक सेटिंग, विश्वेश्वरानन्द इन्डोलाजिकल जर्नल, 1964
कत्रे, सदाशिव लक्ष्मीधर - इन्ट्रोडक्शन टू अलंकार मंजूषा, 1940
काणे, पी.वी. - हिस्ट्री ऑफ संस्कृत पोइटिक्स, बाम्बे, 1951
- इन्ट्रोडक्शन टू साहित्य दर्पण, 1923
- आऊट लाइन्स ऑफ दि हिस्ट्री ऑफ अलंकार लिट्रैचर इंडियन एण्टीक्वेरी, 41, 1912
खोंदा, जे. - रिमार्क्स ऑन सिमिलीज इन संस्कृत लिट्रेचर, 1949
- स्टाइलिस्टिक रिपिटीशन इन वेद,
- द मीनिंग ऑफ वर्ड अलंकार, ए वाल्यूम ऑफ ईस्टर्न 8, इंडियन स्टडीज़ इन आनर ऑफ एफ.डब्ल्यू. टामस, बाम्बे, 1939
गदकर, गजेन्द्र एस.एन. - इन्ट्रोडक्शन टू काव्यप्रकाश एण्ड नोट्स ऑन टेन्थ फ्लैश, बाम्बे, 1959
गोडे, डी.पी. - दि प्रॉब्लम ऑफ दि क्लासिफिकेशन ऑफ अलंकारास्, भ.ओ.रि.इ. वाल्यूम 2, 1929, पृ. 69-72
गोर्डन चाइल्ड, बी. - न्यू लाइट आन दि मोस्ट एशियेन्ट ईस्ट, लन्दन, 1952, फ. 13, 14-19
चन्द्रोरकर - इन्ट्रोडक्शन टू काव्य प्रकाश, पूना

चैतन्य, कृष्ण - संस्कृत पोइटिक्स, एशिया पब्लिशिंग हाऊस
जानकी, एस.एस. - इन्ट्रोडक्शन टू अलंकार सर्वस्व, दिल्ली 1965
जेम्स, इ.ओ. - प्रिहिस्टारिकल रिलीजन, 1957
- दि विगिनिंग्स ऑफ रिलीजन, 1958
चौधुरी, एन.एन. - फिलॉसफी ऑफ पोइट्री, मोती. बना., 1959
दिवेकर, एच्.आर्. - लेस् फलूअर्स दि रिटहॉरिक उन्सले इन्दि पेरिस, 1930
दे., सुशील कुमार - आस्पेक्ट्स ऑफ संस्कृत लिटरेचर, कलकत्ता, 1959
- हिस्ट्री ऑफ संस्कृत पोइटिक्स, वाल्यूम 1, 2, कलकत्ता, 1960
द्विवेदी, कपिलदेव - उपमान, उपमेय एण्ड सामान्य वचन, एकार्डिंग टू दि वाक्यपदीय ऑफ भर्तृहरि, वि.इ.ज., 1965
- भर्तृहरि ऑन दि रिलेशन बिट्वीन उपमान एण्ड उपमेय, वि.इ.ज., 1964
दवीयनोव, सी.एल. - ले ग्रात द ग्रिमाल्दी, भाग 2
नोली - दि एस्थेटिक एक्सपीरियन्स एकार्डिंग टू अभिनवगुप्त रोम ओरियन्टल सीरीज़, 1956
पर्डकर, एम.डी. - सिमिलीज इन मनुस्मृति, मोती. बना., 1960
पाण्डेय, कान्ति चन्द्र - कम्परेटिव एस्थेटिक्स, वाल्यूम-1, चौ. सं. सीरीज, 1959
पीटर्सन - संपा—हाइमन्स फ्राम दि रिग्वेद, 1937
फ्लीट - गुप्ता इन्सक्रिप्शन्स
बर्गेन, ए. - कलकस आब्जर्वेशन्स सरलेस फिगर्स डोरेटहोरिक, डान्सले रिग्वेद, एम.एस.एल. 4, 1881
ब्यूहलर - इंडियन इन्सक्रिप्शन्स एण्ड ओरिजिन ऑफ आर्टीफिसियल पोइट्री, 1913
ब्रोई - लात्रोपोलाजी, भाग 23, 1912
ब्रैडले - आक्सफोर्ड लेक्चर्स ऑन पोइट्री, नि.सं. 2
भट्टाचार्य, शिवप्रसाद - स्टडीज़ इन इन्डियन पोइटिक्स, 1964
भंडारकर, एस.एस. - इज अर्थान्तर न्यास बेस्ड ऑन तर्क ऑर नॉट? एनल्स, भंडारकर ओरियन्टल रिसर्च इन्स्टीच्यूट, भाग-2, पृ. 191-61
मुनरो, थामस् - ओरियन्टल एस्थेटिक्स, ओहियो, यू.एस.ए.
राघवन्, वी. - भोजास् शृंगार प्रकाश, मद्रास, 1963
- दि नम्बर ऑफ रसास्, आड्यार लाइब्रेरी, 1940
- स्टडीज ऑन सम कन्सेप्ट्स ऑफ दि अलंकारशास्त्र, आड्यार लाइब्रेरी, मद्रास, 1929
राडिन, पाल - प्रिमिटिव रिलीजन

रेमन्ड - पोइट्री इज ए प्रजेन्टेशन
लाहिड़ी, पी.सी. - कन्सेप्ट ऑफ रीति एण्ड गुण, इन संस्कृत पोइटिक्स, यूनिवर्सिटी ऑफ ढाका, 1937
वर्मा, महेन्द्र कुमार - पोइटिक ब्यूटी ऑफ दि रिग्वेद, आर्ट प्रिंटर्स, इलाहाबाद, 1963
विलियम, एम.एम. - संस्कृत इंग्लिश डिक्शनरी
स्मित, आर.आर. - दि डिलूवियाल फोल्र्साड् दाइजिलांज, 1912
सोवानी, वी.वी.एस. - दि हिस्ट्री एण्ड सिग्नीफिकेंस ऑफ उपमा एनल्स, बी.ओ.आर.आई., 1919-20
- प्रि-ध्वनि स्कूल्स ऑफ अलंकार, भंडारकर कामेमोरेशन वाल्यूम, 1, पृ. 267
एच. टॉयक्राफोर्ड - रिलेशन बिटवीन मैजिक एण्ड रिलीजन, जर्नल ऑफ अमेरिकन ओरियन्टल सोसायटी, भाग-2
संकरन्, ए. - सम आस्पेक्ट्स ऑफ लिटरेरी क्रिटिसिज़्म, मद्रास यूनिवर्सिटी, 1929
सूर्यकान्त - क्षेमेन्द्र स्टडीज़
शुक्ल, द्विजेन्द्रनाथ - हिन्दू साइन्स ऑफ आर्किटेक्चर
- हिन्दू कैनन्स ऑफ पेंटिंग
- रायल आर्ट्स, सिक्स फाइन आर्ट्स
- शिल्पशास्त्र



बुद्ध्या विशुद्धया युक्तो धृत्यात्मानं नियम्य च ।
शब्दादीन्विषयांस्त्यक्त्वा रागद्वेषौ व्युदस्य च ॥५१॥
विविक्तसेवी लघ्वाशी यतवाक्कायमानसः ।
ध्यानयोगपरो नित्यं वैराग्यं समुपाश्रितः ॥५२॥
अहङ्कारं बलं दर्पं कामं क्रोधं परिग्रहम् ।
विमुच्य निर्ममः शान्तो ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥५३॥

राधा पब्लिकेशन्स
4378/4B, अंसारी रोड़, दरियागंज,
नई दिल्ली-110002
दूरभाष : 3261839, 3254306

